वक्तव्य

यद्यपि मेरे सदृश अल्पज्ञ और अपुण्यकर्मा के लिए ऐसे पवित्र कीर्तिशाली सत्कवि के स्तवनीय अक्षरों पर लेखनी उठाने का साहस करना ही अतीव उपहासास्पद और असम्भव था, तथापि जिस परमोदार अन्तःकरणवाले, कारुणिक शिरोमणि ने मुझ पंगु पर निष्कारण ही करुणार्द्र हो छात्रावस्था में ही मुझे इस अद्भुत और सुदुर्लभ ग्रन्थरत्न का जीर्णोद्धार रूप सेवा के लिए प्रेरित कर ऐसे अयोग्य प्राकृत शिशु पर भी वात्सल्य प्रकट किया, उस कौपीनमात्र परिकरवाले अचिन्त्यानन्तकरुणाशक्तिशाली 'दिगम्बर' का मैं जन्म-जन्मान्तर से ही ऋणी हूँ।

इसके साथ ही साथ जिन उदारचेता महानुभावों की सद्भावना से यह अयोग्य शिशु इस पुनीत कृत्य में उत्कण्ठित, प्रवृत्त एवं सफल हुआ उन सत्कीर्तिशाली दो सहृदय और मान्यवरों को श्रद्धाञ्जलि समर्पण किये बिना भी मुझसे नहीं रहा जाता।

प्रथम तो हैं स्वनामधन्य, प्रातःस्मरणीय, आचार्य प० महावीरप्रसादजी द्विवेदी जिनके 'सरस्वती' पत्र में प्रकाशित अतीव हृदयाकर्षक उद्दाम लेखों ने ही मुझे सर्वप्रथम इस ग्रन्थरत्न के समास्वादन के लिए लालायित कर इन अक्षर रत्नों पर लेखनी उठाने के लिए उत्कण्ठित किया, तथा बिना परिचय के जिन्होंने ऐसे अयोग्य शिशु की त्रुटिपूर्ण, प्राथमिकी कृति को हृदय से अपनाकर इसके प्रकाशन में सहायता का उद्योग करने में कष्ट उठाया। और द्वितीय महानुभाव हैं 'गङ्गातरङ्ग'-निवासी पूज्यपाद प० गङ्गाशङ्कर जी मिश्र एम० ए० (Librarian of Benares Hindu University) महोदय, जिन्होंने इस कार्य के लिए आरम्भ से ही अपनी पुस्तक प्रदान कर आर्थिक सहायता में भी पूर्ण सहयोग देकर मुझे धैर्यच्युत नहीं होने दिया, अथवा यों कहना चाहिए कि ऐसे अयोग्य और पैतृक-सम्पत्ति विहीन शिशु से इसका निर्विघ्न सम्पादन हो जाना, आपके ही उदार अवलम्बन के समाश्रयण का फल है।

इसके साथ ही साथ, व्याकरणाचार्य पं० श्री सभापतिजी उपाध्याय, श्रीयुत पं० गदाधर जी ब्रह्मचारी, श्रीमान् सहृदयवर सेठ गौरीशङ्कर जी गोयनका, सहृदयवर बाबू हरिशङ्कर जी खत्री, स्वर्गीय श्री चण्डीप्रसादजी जगनानी, (श्रीमान् बाबू मुरारीलाल जी केडिया द्वारा) श्री श्री बहिन वासन्तीदेवी और श्रीमती भागीरथी बाई, प्रभृति जिन जिन सहृदय भावुकों ने इस ग्रन्थ के प्रकाशित करने में आर्थिक सहायता से सहयोग प्रदान किया, उन सभी पुण्यात्माओं का मैं अति कृतज्ञ हूँ।

मुद्रण-कार्य की कठिनाइयों का भी मेरा यह प्रथम ही प्रथम अनुभव होने के कारण मेरे मान्यवर साहित्याचार्य पं० श्रीकृष्ण जी पन्त, अच्युत-ग्रन्थमालाध्यक्ष, ने जो अपने सम्पादकीय कार्य आदि से अवकाश न मिलने पर भी मेरे साथ निःस्वार्थ सहानुभूति रखते हुए अपनी उदार सहृदयता का परिचय दिया, उसके लिए मैं उनका अति कृतज्ञ और आभारी हूँ।

अन्त में अब सहृदयपद के प्रेमी पाठकों और विद्वद्-रत्नों की भी सेवा में मेरी विनीत प्रार्थना है कि शिशु ने अपनी छात्रावस्था में, तत्रापि रुग्णावस्था में, आधिव्याधिशताकुलित चित्त से, अनुरागवश अभी सर्वप्रथम इसी ग्रन्थ पर लेखनी उठाने का साहस किया है। उस पर भी बाल्यस्वभाव की चपलता से, या इस ग्रन्थ की दुष्प्राप्यता के न सहन कर सकने के कारण अकिञ्चन होकर भी इसे शीघ्र प्रकाशित करने की त्वरा में, अपनी प्राथमिकी लिपि के दुबारा स्वयं भी न देख, तथा किसी विशेषज्ञ सहृदय को न दिखा, सकने के कारण संस्कृत या हिन्दी में, जहाँ कहीं भी असंगति, पुनरुक्ति, या न्यूनता हो गई हो, उन दोषों के लिए क्षमा करते हुए सहृदय जन इस ग्रन्थ रत्न के पठन-पाठन के द्वारा सत्कवि की कीर्ति का समस्त विश्व में विस्तार करने हुए अनुवादक की इस सेवा को सफल करने की दया करें।

विनीत—

प्रेमवल्लभ त्रिपाठी

स्तुति-कुसुमाञ्जलिः

नमः शिवाय निःशेषक्लेशप्रशमशालिने । त्रिगुणग्रन्थिदुर्भेदभवबन्धविभेदिने ॥

THE G. A. PRESS, GORAKHPUR

समर्पणपत्रम्

(१)

यत्पादपद्मकरुणालवमात्रतोऽपि
मायाविलासरचितभ्रमभीरपैति ।
कोऽपि प्रपन्नजनतापहृतौ पटीया-
न्योगीश्वरो विजयते करुणार्द्रचेताः ॥

(२)

लोकोत्तरश्रुतगुणैरनुरञ्जितेव
यस्याश्रयं न विजहाति वचोधिदेवी ।
तस्य प्रभोः परमहंसशिरोविभूतेः
प्रीत्यै भवेत्कृतिरियं शरणागतस्य ॥

दौलतपुर (ज़िला रायबरेली)

५ जुलाई ३८

श्रीमत्सु धर्म्मशास्त्राचार्यमहोदयेषु प्रणतयो विलसन्तु ।

आज सुबह उठकर अपने कमरे में आया। आँखें बन्द करके प्रार्थना करने लगा—

> पापः खलोऽयमिति नार्हसि मां विहातुं
>
> किं रक्षया कृतमतेरकुतोभयस्य ।
>
> यस्मादसाधुरधमोऽहमपुण्यकर्म्मा
>
> तस्मात्तवास्मि नितरामनुकम्पनीयः ॥

इतने ही में एक रजिस्टरीशुदा पैकेट डाकख़ाने से मिला। भेजनेवाले कोई D. L. Shah I. F. S., Deputy Conservator of Forests, Cawnpore मालूम हुए। समझ में न आया, ये कौन महाशय हैं।

ख़ैर, पैकेट खोला तो आपका पत्र मिला। साथ ही ५४४ पृष्ठों तक 'स्तुति-कुसुमाञ्जलि' की कापी। यत्र-तत्र देखा।

विश्वास कीजिए आपकी इस सत्कृति को देखकर और प्राप्त करके मुझे जो सुख, समाधान और सन्तोष हुआ, उसकी इयत्ता नहीं। मुझे तो यह पुस्तक क्या एक निधि सी मिल गई। मुझे स्वप्न में भी कभी यह ख़याल नहीं आया था, कि मेरे सदृश अल्पज्ञ और अपुण्यकर्म्मा का पृष्ठ-पोषक भी कभी कहीं मिलेगा। उस विचार को आपने असत्य साबित कर दिया। धन्योऽसि।

शङ्करः शं करोतु ते।

महाराज, आपने बड़ा काम किया। संस्कृत और हिन्दी दोनों टीकायें परमोत्तम हैं। हिन्दी को तो टीका नहीं, अनुवाद ही कहना चाहिए। कवि के भाव को आपने बड़े सुन्दर शब्दों में व्यक्त कर दिया है।

इस 'कुसुमाञ्जलि' की जैसी भक्तिभाव-पूर्ण कविता संस्कृत-साहित्य में भी शायद ही अन्यत्र कहीं मिले। श्रीमद्भागवत में कुछ स्थल ऐसे जरूर हैं जिनके आकलन से हृदय द्रवीभूत हो जाता है। जैसे—

× × ×

× × ×

नो चेद् वयं विरहजाग्न्युपयुक्तदेहा
ध्यानेन याम पदयोः पदवीं सखे ते ॥

मैं आपको शतशः साधुवाद प्रदान करता हूँ। आपने इस पुस्तक को लिखकर एक बहुत ही पुण्य का काम कर दिया।

आशा है, कविता के प्रेमी और रसिक भक्त इस पुस्तक से परमानन्द की प्राप्ति कर सकेंगे।

मैं बहुत बूढ़ा हूँ। दृष्टि भी क्षीण हो रही है। अधिक नहीं लिख सकता। क्षम्यताम्।

* * *

ता० २०-१०-३८

नमो नमस्ते विदुषां वराय,

१६ ता० का कृपापत्र मिला। स्तुति-कुसुमाञ्जलि के फार्म भी। प्राक्कथन पढ़ा। परमानन्द हुआ। आप बड़े ही भावुक और सच्चे काव्य परिज्ञाता हैं। काशी में इतने पण्डितों और शिवभक्तों के होते हुए भी किसी और की नज़र जगद्धर भट्ट की इस अद्भुत कृति की ओर न गई, यह बड़े ही आश्चर्य और परिताप की बात है। ख़ैर, आपने विश्वनाथजी की नगरी की इज्जत रख ली। भगवान् सदाशिव आपका कल्याण करें।

कृतार्थीकृत

महावीरप्रसाद द्विवेदी

श्रीश्री साम्बसदाशिवाय नमः

प्राक्कथन

——:*:——

भूतभावन भगवान् सदाशिव की मङ्गलमयी अनन्त ब्रह्माण्ड-पावनी लीलाओं का सामस्त्येन वर्णन करना मनुष्य की तो कौन कहे, ब्रह्मादि देव-शिरोमणियों के लिए भी असम्भव है। तथापि निज निज मति के अनुरूप, मनोवागादि की शुद्धि के लिए, सभी सहृदयों ने वर्णन किया है।

वास्तव में देखा जाय तो जीव को अपनी कृतार्थता के ही लिए तो सब प्रयत्न करने पड़ते हैं, यदि भगवान् के परमपावन गुणगणार्णव के एक तुषारमात्र से ही प्राणी सदा के लिए कृतकृत्य हो जाता है तो सबकी आवश्यकता ही क्या है? तथापि 'श्रेयसि केन तृप्यते' इस न्याय से भक्तजन भर-शक्ति प्रभु के मङ्गलमय परम पवित्र चरित्र का गायन करते हैं।

आशुतोष भगवान् सदाशिव तो—'सकृत प्रणाम किये अपनाये' के अनुसार सकृन्नमन से ही भक्त को स्वात्मसमर्पण कर देते हैं। वेद, वेदान्तादि निखिल सच्छास्त्रतात्पर्य के विषयीभूत अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड-नायक भगवान् मृत्युञ्जय अपने अनन्य भक्तों के तो—ध्येय, ज्ञेय, परमाराध्य सर्वस्व हुई हैं, अन्यान्य भावाभिलाषुकों की भी अभिलषित सिद्धि विना परम समर्थ शिवचरण समाश्रयण के नहीं हो सकती।

इच्छित फल विनु शिव आराधे।
लहहिं कि कोटि योग जप साधे॥

प्राणी के अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि का परम अव्यभिचरित उपाय 'शिवाराधन' ही है। भगवान् श्रीरामभद्र, भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र आदि अन्यान्य भगवत्स्वरूपों के उपासकों का भी विना श्रीशिवाराधन के काम चलना असम्भव है, यहाँ तक कि अपने इष्टदेव में सुस्थिर प्रीति ही नहीं हो सकती।—

शिव-पद कमल जिनहिँ रति नाहीँ।
रामहिँ ते सपनेहुँ न सुहाहीँ॥

ठीक ही है; भला भगवान् सदाशिव तो श्रीविष्णु, श्रीराम, श्रीकृष्णचन्द्र आदि समस्त भगवत्स्वरूपों के इष्टदेव हैं; फिर शिवविमुख शव-समान उस प्राणी के ऊपर भगवान् की कृपा कैसे हो सकती है? नित्य, निरतिशय, अखण्ड, अनवधिक ऐश्वर्यशाली भगवान् भूतभावन के पाद-पङ्कज में सात्त्विक-शिरोमणि श्रीविष्णु प्रभृति की तो प्रीति होनी उचित ही है; राजस, तामस स्वभाववाले दैत्य, दानव, राक्षस, नाग, प्रेत, पिशाच पर्यन्त भी प्रभु से विमुख नहीं हो सकते। यहाँ तक कि नाग, प्रेत, पिशाच आदि ही प्राधान्येन प्रभु के परिकर हैं।

जगज्जननी—उमा 'श्रीअन्नपूर्णा' जिनकी गृहिणी हों, षडानन—श्रीस्वामि कार्त्तिकेय और गजानन जिनके पुत्र हों, साक्षात् धर्मस्वरूप श्रीनन्दीगण जिनके वाहन हों, श्रीकालभैरव प्रभृति विश्वविख्यात पराक्रमी देवता जिनके परमान्तरङ्ग पार्षद हैं, और मुक्ति जन्मभूमि श्री श्रीकाशीनगरी जिनकी प्रधान राजधानी हो, ऐसा परम उदार परमेश्वर जिनका इष्टदेव हो, वास्तव में वे परम सौभाग्यशाली हैं। भगवान् सदाशिव के स्वरूप और गुणगणों का माहात्म्य वेदों में पर्याप्त वर्णित है। पुराण और इतिहास, काव्य और नाटकों में भी भूतभावन का चरित्र कम नहीं है।

महाकवि श्रीमज्जगद्धर भट्ट की 'स्तुति-कुसुमाञ्जलि' तो भगवान् सदाशिव के लोकोत्तर पवित्र चरित्रों से भरपूर और अतीव हृदयाकर्षक

है। उसकी विलक्षण सूक्तियों का प्रभाव अविकठोर चित्तवाले प्राणियों पर भी बिना पड़े नहीं रहता। उसने आजन्म शान्त और करुण-रस की ही कविता-रचना से भगवान् सदाशिव के स्वात्म-समर्पण कर देने में ही अपनी कवित्वशक्ति खर्च की है।

काव्य में—(१) शृङ्गार, (२) हास्य, (३) करुण, (४) अद्भुत, (५) वीर, (६) रौद्र, (७) भयानक, (८) बीभत्स, और (९) शान्त, यह ९ रस माने गये हैं। जिस कविता में जो रस प्रधान रहता है, वह कविता उसी रस की होती है। रस का अनुभव सबसे अधिक सहृदयों को होता है, अतः सहृदयता की न्यूनता या अधिकता से रस के अनुभव में भी न्यूनता या अधिकता होती है, यानी जिसमें जितनी अधिक सहृदयता होती है, उसको उतना ही अधिक रस का अनुभव और कवि के भावों का रहस्य ज्ञात होता है।

कविता में भी प्रधान रस की मात्रा जितनी अधिक रहती है, उसका प्रभाव सहृदयों के हृदय पर उतना ही अधिक पड़ता है; हास्य-रस की मात्रा अधिक हो तो उसे सुनते ही हँसी आ जाती है, करुण-रस की अधिकता होने से नेत्रों से अश्रुपात होने लगता है, और यदि कविता में शान्त-रस का आधिक्य हो तो हृदय में शान्ति का संचार होता है।

स्तुतिमयी कविताओं को साहित्यशास्त्र में शान्त रस के ही अन्तर्गत माना है। हाँ, कतिपय विद्वानों ने दास्यभावपूर्ण कविताओं में दास्य-रस, सख्यभाव-पूर्ण कविता में सख्यरस और वात्सल्यभाववाली उक्तियों में वात्सल्यरस एवं भक्ति-भाव-पूर्ण कविता में भक्ति रस की कल्पना की है। यह भाव देवताओं या परमेश्वर की स्तुतियों में अधिक पाया जाता है, अस्तु।

इस प्रकार स्तुतिमय कविता में चाहे शान्त या दास्य आदि जो भी रस माना जाय, उसमें भावुकों के सुकोमल अन्तःकरण में एक

विलक्षण हो चमत्कार हो उठता है। इससे यह सुस्पष्ट ही प्रतीत होता है कि कविता सरस और उसका निर्माता सहृदय है। ऐसी कविताओं के पठन या श्रवण से भावुकों का हृदय द्रवीभूत हुए विना नहीं रहता।

यद्यपि अन्य रसों की कविताओं के पठन से भी तल्लीनता प्राप्त हो सकती है, तथापि स्तुतिमयी कविताओं में यह अपूर्व विलक्षणता होती है कि उसका सम्बन्ध किसी देवता या परमेश्वर से होता है, प्राकृत वस्तु से नहीं; इस कारण ऐसे काव्य-रचयिता या पाठक के हृदय में एक अलौकिक भाव का आविर्भाव होता है, और वह उतने समय के लिए किसी दिव्यलोक मे चला जाता है; उस समय सासारिक भावों का एक दम तिरोभाव सा हो जाता है और मनुष्य कुछ का कुछ हो जाता है।

क्यों न हो, चरित्र-चित्रण की सुन्दर रीति जिन सत्कवियों को विज्ञात है, वे अवश्य ही अपने कवित्व-पाटव से भावुकों के हृदय को द्रवीभूत कर वहाँ चरित्र-नायक को सदा के लिए आसीन कर देते हैं।

जिन बहिर्मुखों का चित्त प्रभु-सम्मित वेद वाक्यों और सुहृत्स-म्मित पुराणवाक्यों से भी प्रभु की ओर नहीं प्रवाहित होता है उनका भी चित्त कान्ता-सम्मित कवि वाक्यों से भगवदुन्मुख होकर सदा के लिए कृतकृत्य हो जाता है। सब रसों की अपेक्षा स्तुतिमयी या करुण-रस की कविताओं के पाठ से चित्त अधिक *द्रवीभूत होता है।* भावुकों को यही अभीष्ट होता है कि द्रवीभूत चित्त पर परिपूर्ण परमा-नन्दघन भगवान् का स्थायिभावेन प्राकट्य हो। जिस किसी भी तरह से प्रभु सम्बन्ध में चित्त की द्रवता अपेक्षित होती है।

सांसारिक आपदाओं के जाल मे फँसे हुए भावुक जन जिस समय शान्त रस की स्तुतिमयी कविता सुनाकर प्रभु से आत्म निवेदन करते हैं, उस समय वे अपना तात्कालिक दुःख ही नहीं भूल जाते, वरन् उनकी दशा ही विलक्षण हो जाती है। शरीर रोमाञ्चित, नेत्र अश्रु-

पूर्ण, और वाणी गद्गद हो जाती है। ऐसी दशा में वे विवश होकर रो उठते हैं। यह रोना कोई प्राकृत रोना नहीं है, इसमें अवश्य ही एक अलौकिक आनन्द छिपा रहता है; पर इसका अनुभव वही कर सकते हैं जो उस दशा को प्राप्त हैं।

सांसारिक पापतापों से सन्तप्त पुरुष जब अपने इष्टदेव की शरण में जाता है, तब भावावेश में कभी तो वह उसकी स्तुति करता है, कभी उसे उपालम्भ देता है, और कभी अपनी दुरवस्था पर विलाप करता है। उस समय उसकी अश्रुवर्षा से उसके हृदय का दुःखभार तो जरूर ही हलका पड़ जाता है। अस्तु;

उक्त कवि (श्रीजगद्धर भट्ट) परम सहृदय और भगवान् सदाशिव का अनन्य भक्त है। उसकी विलक्षण कवित्व-शक्ति का प्रभाव पाषाण-सदृश चित्तवालों के अन्तःकरण में भी अमोघ असर करता है। क्यों न हो, जिसने अपने शिव-सम्बन्धी भक्तिभाव को इतना ऊँचा कर दिया, और अपने दास्यभाव का इतना हृदयहारी वर्णन कर भक्ति की पराकाष्ठा दिखाकर समस्त जीवन को प्रभु की ही स्तुति में समर्पण करके अपनी कवित्व-शक्ति को सार्थक और वाणी को पुनीत किया है, ऐसे सत्कवि की सूक्तियाँ यदि पाठकों के हृदय में परमानन्द की प्राप्ति कराकर कुछ देर के लिए उन्हें आत्म-विस्मरण करा दें, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

यद्यपि गन्धर्वराज का 'महिम्नस्तोत्र', और पण्डितराज की 'गङ्गा-लहरी' आदि स्तोत्र भी स्तुतियों में सर्वोपरि हैं, तथापि इस कुसुमाञ्जलि के अवलोकन से तो यह निष्पक्ष प्रतीत होता है कि 'स्तुति-साहित्य' में इससे बढ़कर कोई ग्रन्थ ही नहीं है। इसमें तो कवि ने अपनी कवित्व-शक्ति की पराकाष्ठा दिखा दी है। इसकी कविता अतीव सरस और सरल है, उसके अधिकांश करुणा-रस से भरे हैं। कवि ने ऐसे-ऐसे प्रभावोत्पादक और हृदय-द्रावक ढङ्ग से प्रभु को आत्म-निवेदन

किया है कि कोमल अन्तःकरणवाले रसिकों से तो रोये बिना रहा ही नहीं जाता !

इस काव्य में ३९ सर्ग हैं। सभी एक से एक बढ़कर और स्तुतिमय हैं। कवि ने प्रत्येक स्तोत्र को एक एक कुसुम मानकर उनकी अञ्जलि अपने इष्टदेव को समर्पण की है। उसकी नई नई उक्तियाँ, विचित्र विचित्र उपालम्भन और विलक्षण ढङ्ग के करुणाक्रन्दन पाठकों के हृदय को आकर्षित किये बिना नहीं रहते !

ग्रन्थ में कवि ने बाइसवें सर्ग से लेकर तीसवें सर्ग तक नव स्तोत्रों की रचनाओं में चित्र काव्य का आश्रय लेकर किसी में 'कादिपदबन्ध', किसी में 'शृङ्खलाबन्धन', किसी में 'द्विपद-यमक', किसी में 'आदियमक', किसी में 'पादान्तयमक' और 'महायमक' तक को गुम्फन करके अपनी कवित्व-शक्ति की सामर्थ्य और लोकोत्तर प्रतिभा को दिखाया है और विशेषता यह है कि उसकी ऐसी काव्य-रचना में विशेष क्लिष्टता नहीं है; कहीं 'च', 'तु' और 'हि' शब्द भी निरर्थक नहीं हैं। श्लोक का पदच्छेद करते ही भाव समझ में आ जाता है। शब्दश्लेष (अक्षरमैत्री), अनुप्रास और यमक के मिलान में तो संस्कृत-साहित्य में शायद ही इस कवि से कोई बढ़ा होगा। उदाहरणार्थ—

देवालये वसतिमर्थयते कपोतः
सिन्धौ षणिरभजति शुचिमशङ्कपोतः।
पृष्ठे श्रियं वहति नित्यमनेकपोऽतः
त्वद्भक्तिमेमि सरसीमिव भेकपोतः ॥ ९ । ४२ ॥

कैसा सुन्दर भाव है! कैसा सुन्दर स्वाभाविक अनुप्रास है! कितना प्रसाद और माधुर्यगुण भरा है! कपोतः, अशङ्कपोतः, अनेकपोतः और भेकपोतः—ये सभी पद सरल हैं। इस प्रकार

सर्वत्र 'कपोत' की सिद्धि होने पर भी अर्थ-ज्ञान में बाधा नहीं है। पद्य का अर्थ है—

'प्रभो ! कपोत (कबूतर) उपद्रवों की आशङ्काओं से रहित देवालय में निवास चाहता है, पोतवणिक् (जहाज का व्यापारी) निःशङ्क होकर समुद्र में जीविका (द्रव्योपार्जन) करता है और अनेकप अर्थात् हाथी नित्य अपनी पीठ पर महालक्ष्मी को धारण किये चलता है, अतः जैसे भेक-पोत (मेंढक का बच्चा) निर्मल सरसी (सरोवर) का आश्रय लेता है वैसे ही, मैं आपकी भक्ति की शरण लेता हूँ।

और भी कवि-कौशल देखिए—

किमाम्रवन्या सुमरालवालया
प्रियाकचर्या किमरालवालया।
सरःश्रिया किं समरालवालया
धृतेशभक्तिर्ह्य मराऽलवाऽलया ॥ २९ । १६ ॥

× × × ×

इस तरह सभी उक्तियाँ निर्दुष्ट और हृदयहारिणी हैं। वैसे तो इस ग्रन्थ के सभी स्तोत्र सरस और सुमनोहर हैं, तथापि कृपणाक्रन्दन, करुणाक्रन्दन और दीनाक्रन्दन नामक नवें, दसवें और ग्यारहवें स्तोत्रों में तो कवि ने समूचा ही करुण-रस लाके भर दिया है। देखिए—

दीर्घाण्ययान्यधिशुचीव भवन्त्यहानि
हानिर्यलस्य शरदीव नदीजलस्य।
दुःखान्यसत्परिभवा इव दुःसहानि
हा निःसहोऽस्मि कुरु निःशरणेऽनुकम्पाम् ॥ ९ । ३६ ॥

× × × ×

चिन्तामणिः स्फटिकजातिरचेतनोऽपि
कल्पद्रुमः कठिनकाष्ठविनिर्मितोऽपि।

तिर्यग्दशामपि गता किल कामधेनुः
भाग्यैरभीष्टफलदा कृतिनां भवन्ति ॥ १० । ६५ ॥

त्वं तु प्रभो त्रिभुवनैकमहेश्वरोऽपि
पर्याप्तशक्तिरपि पूर्णकृपार्णवोऽपि ।
आक्रन्दतोऽपि करुण विधिवञ्चितस्य
त्यक्तादरोऽसि मम दर्शनमात्रकेऽपि ॥ १० । ६६ ॥

× × × ×

हे नाथ ! आप सदृश—एक निमेष में ही त्रैलोक्य का उद्धार कर सकनेवाले करुणासागर के द्वारा जो बिना ही कारण हम-सरीखे शरणहीन अनाथों का तिरस्कार (उपेक्षा) होता है, प्रभो ! यह तो अमृतमय चन्द्रमण्डल से वज्रपात का अभ्युद्गम और भगवान् श्री दिनमणि (सूर्य) के मण्डल से अन्धकार का प्रादुर्भाव होता है—

अभ्युद्गमोऽयमशनेरमृतांशुबिम्बा-
त्स्वामिन्नसौ दिनमणेस्तिमिरप्ररोहः ।
युष्मादृशस्य करुणाम्बुनिधेरकस्मा-
दस्मादृशेष्वशरणेष्ववधीरणं यत् ॥ ११ । ६६ ॥

भगवन् ! क्या मुझे आप अधम, पापात्मा और खल समझकर तो मेरी उपेक्षा नहीं कर रहे हो ? नहीं, नहीं, ऐसा समझना तो आप करुणासागर के लिए उचित नहीं है। क्योंकि, अकुतोभय पुण्यात्मा को आपकी रक्षा की क्या आवश्यकता है ? आपकी अनुकम्पा तो हम सरीखे असाधु, अधम और पापात्माओं पर ही सार्थक हो सकती है; अतः हम लोग ही आपकी दया के पात्र हैं। हाँ, यह बात अवश्य है कि—

स्वैरेव यद्यपि गतोऽहमधः कुकृत्यै-
स्तत्रापि नाथ तव नास्म्यवलेपपात्रम् ।

दृप्तः पशुः पतति यः स्वयमन्धकूपे
नोपेक्षते तमपि कारुणिको हि लोकः ॥ ११ । ३८ ॥

यद्यपि मैं अपने ही किये कुकृत्यों से इस अधोगति को प्राप्त हुआ हूँ, तथापि, हे नाथ ! मैं आप करुणा-सागर के तिरस्कार का पात्र नहीं हूँ। भगवन् ! ज़रा देखिए तो !—यदि कोई तारुण्य के मद से गर्वित, उद्धत पशु अपनी ही उद्दण्डता के वश किसी अन्धकूप में गिर जाता है, तो उसको भी दयालु लोग वहाँ से निकाल ही लेते हैं।'

कितने सुन्दर भाव हैं, कैसी अद्भुत करुणामयी भावना उक्त श्लोकों से व्यक्त होती है ! अस्तु।

इस तरह कवि ने अपने दास्यभाव के हृदयद्रावक करुणाक्रन्दन से प्रभु को स्वात्म-समर्पण करते करते उन्हें उपालम्भ देने में भी कुछ कसर नहीं रक्खी। वह कहता है—

आः किं न रक्षसि नयत्ययमन्तको मां
हेलावलेपसमयः किमयं महेश।
मा नाम भूत्करुणया हृदयस्य पीडा
व्रीडापि नास्ति शरणागतमुज्झतस्ते ॥ ११।१०२ ॥

अर्थात् एक निमेष में ही त्रैलोक्य का उद्धार कर सकनेवाले हे परमेश्वर ! यह यमराज मुझे ले जाने को आ गया है। आह ! क्यों आप मेरी रक्षा नहीं करते ? क्या यह हँसी-दिल्लगी करने का समय है ? हाय, हाय ! मेरी इस दुर्दशा को देखकर करुणा से आपके हृदय में कुछ पीड़ा तो नहीं ही होती, पर मुझ अनाथ शरणागत का परित्याग करते हुए आपको कुछ लज्जा भी नहीं आती ! और भी—

अज्ञोऽसि किं, किमबलोऽसि, किमाकुलोऽसि,
व्यग्रोऽसि किं, किमघृणोऽसि, किमक्षमोऽसि।
निद्रालसः किमसि, किं मदघूर्णितोऽसि,
यत्क्रन्दन्तमन्तकभयार्तमुपेक्षसे यत् ॥ ११ । १०३ ॥

कैसी अनन्य प्रीति है! कैसा विचित्र उपालम्भ है!! कैसी करुणाभरी उक्तियाँ हैं!!! कहीं-कहीं तो कवि ने अत्यन्त आर्त होकर भावावेश में प्रभु को महा शठ, निठुर और निर्दयी तक कह डाला है—

पश्चात्पुरः प्रतिदिशं च विमृश्य पश्य-
न्क्रूरं कृतान्तहतक फणिपाशपाणिम्।
भूमौ पतामि कृपण प्रलपामि पाद-
पीठे लुठामि शठवत्कठिनोऽसि कस्मात्॥ ११।१०१॥

इत्यादि दुष्ट इव निष्ठुरपुष्टभाषी
यत्किंचन ग्रहगृहीत इवाऽस्तशङ्क।
आर्त्या मुहुर्मुहुरयुक्तमपि ब्रवीमि
तत्रापि निष्कृप भिनत्सि न मौनमुद्राम्॥ १२।१०५॥

मैं तो आर्त्ति से पीडित होने के कारण, दुष्ट अन्तःकरणवाले, खल के समान अत्यन्त कठोर भाषण करता हूँ, और पिशाचग्रस्त पुरुष की तरह निःशङ्क होकर इस प्रकार की अयुक्त—खरी खोटी—भी बातें कह सुनाता हूँ। तो भी हे निष्करुण! हे निठुर! आप अपनी मौन-मुद्रा नहीं छोडते! इत्यादि,

अस्तु, जैसी सुन्दर कविता हो, वैसा ही सुन्दर यदि व्याख्याता और श्रोता का हृदय हो, तभी कवि-भावना की चमत्कृति पूर्णतया व्यक्त होती है। फिर भगवद्-विषयिणी कविताओं का भाव तो भक्ति-परिपूरित हृदय में ही सुव्यक्त होता है। 'स्तुति-कुसुमाञ्जलि' के हिन्दीभाषानुवादक एक परम आस्तिक धर्माचार्य और भगवत्प्रेम के पिपासु हैं, प्रेम से ही प्रेरित होकर वह इस कार्य में प्रवृत्त हुए हैं। आशा है कि उनके इस प्रयत्न से कविता-प्रेमीजन और सहृदय भक्तों को यथेच्छ सन्तोष होगा।

'ॐ तत्सत्'

—कश्चिद्भिक्षुः

ग्रन्थकार का परिचय

इस 'कुसुमाञ्जलि' के रचयिता महाकवि श्रीमज्जगद्धर भट्ट काश्मीर के रहनेवाले थे। उनके पितामह का नाम गौरधर, और पिता का नाम रत्नधर था। पितामह भगवान् शङ्कर के अनन्यभक्त थे, और समस्त शास्त्रों के पारङ्गत थे। उन्होंने यजुर्वेद का 'वेद-विलास' नामक भाष्य बनाया था।

रत्नधर भी महा पण्डित थे। सरस्वती ने विवश होकर उनके हृदय का आश्रय ले लिया था। उनकी सूक्तियों को सुनकर सहृदयजन आश्चर्य-चकित हो जाया करते थे।

महाकवि श्रीजगद्धर की बुद्धि अत्यन्त तीक्ष्ण थी। तर्कशास्त्र में तो वह इतने निपुण थे कि उनके सामने प्रतिवादी जनों के मुँह पर मुहर-सी लग जाती थी। सरस्वती की उनपर इतनी कृपा थी कि उसने उनके मन-मन्दिर को अपना स्वेच्छा-विहारस्थल बना लिया था। वह अतीव सहृदय, निर्मत्सर, मधुरभाषी, अतिशय-विनीत थे। कविता में तो वह इतने प्रौढ़ थे कि सुन्दर और सरस उक्तियों ने एकमात्र उन्हीं की शरण ले ली थी। शास्त्रों का परिशीलन और कविता-प्रेम तो उनकी वंशपरम्परा से ही चला आता था।

इनका स्थितिकाल सन् १३५० ईसवी के लगभग माना जाता है। इसका पता ऐसे लगता है कि इन्होंने अपने पुत्र यशोधर के पढ़ने के लिए एक और भी ग्रन्थ रचा है। वह है 'बालबोधिनी' नामक कातन्त्रवृत्ति। उसके आरम्भ और समाप्ति में उन्होंने स्वयं कहा है—

"स्वसुतस्य शिशार्यशोधरस्य स्मरणार्थं विहितो मया श्रमोऽयम्।
उपयोगमियाद्यदि प्रसङ्गादपरत्रापि ततो भवेदवन्ध्यः॥"

तथा—"इति मितमतिबालबोधनार्थं परिहृतवक्रपथैर्मया वचोभिः।
लघु ललितपदा व्यधायि वृत्तिर्दुसरला खलु बालबोधिनीयम्॥"

इस वृत्ति की एक संस्कृत-टीका भी है। उसके निर्माता राजानक शितिकण्ठ हैं। वह भी काश्मीर के ही अन्तर्गत पद्मपुर के रहनेवाले थे और जगद्धर के दौहित्र की दौहित्री के पुत्र थे। यह बात शितिकण्ठजी ने अपने व्याख्यान के आरम्भ में स्वयं लिखी है—

यो बालबोधिन्यभिधां बुधेन्द्रो जगद्धरो यां वितवान वृत्तिम्।
तत्नप्तृकन्यातनयातनूजो व्याख्यामि तां श्रीशितिकण्ठकोऽन्यम्॥

शितिकण्ठजी ने बहुत से देशों में भ्रमण किया, शास्त्रों की खूब समालोचना की। गुजरात के अधिपति मुहम्मदशाह ने उनका यथेष्ट सम्मान किया। जिस समय हैदरशाह का लड़का हसनशाह काश्मीर देश का राज्य करता था, उस समय उन्होंने यह व्याख्या की थी, यह बात भी उन्होंने अपने व्याख्यान के प्रारम्भ में लिखी है—

....

भूजानौ हस्सनाख्ये भुवमवति मया तन्यते ग्रन्थ एषः॥

मुहम्मदशाह ने सन् १४५८ से सन् १५११ ईसवी तक गुजरात का, और हसनशाह ने सन् १४७२ से सन् १४८४ ईसवी तक काश्मीर का राज्य किया। इसी समय शितिकण्ठ ने जगद्धर के ग्रन्थ का व्याख्यान किया। इसके सौ-सवा सौ वर्ष पहले ही जगद्धर हुए होंगे, क्योंकि शितिकण्ठ उनकी छठी पीढ़ी में हुए थे, अतएव सन् १३५० ई० के लगभग जगद्धरजी के स्थिति-काल का अनुमान होता है।

इस 'स्तुति कुसुमाञ्जलि' की एक संस्कृत टीका भी है। यह मूल के साथ ही साथ, निर्णयसागर प्रेस बम्बई से, 'काव्यमाला' के अन्तर्गत

प्रकाशित भी हुई थी। इसके कर्ता राजानक रत्नकण्ठ हैं। वे भी बड़े ही विद्वान् थे, और भगवान् पुरारि के अनन्यभक्त थे। उनके बनाये काव्यप्रकाश-टीकासारसमुच्चय, चित्रभानुशतक, युधिष्ठिर-विजय-टीका आदि कई ग्रन्थ पाये जाते हैं। वह औरङ्गजेब के समय में विद्यमान थे। उन्होंने विक्रम संवत् १७३८ में इस 'स्तुति-कुसुमाञ्जलि' की टीका बनाई थी। उन्होंने अपनी टीका के अन्त में लिखा है—

वस्वग्न्यत्यष्टिभिर्वर्षै मिते विक्रमभूपतेः।
अवरङ्गमहीपाले कृत्स्नां शासति मेदिनीम्॥
बालानां सुखबोधाय हर्षाय विदुषां कृता।
जगद्धरकवेः काव्ये तेनैषा लघुपञ्चिका॥

जगद्धर कवि के बनाये हुए केवल दो ही ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। एक तो यही 'स्तुति-कुसुमाञ्जलि', दूसरी पूर्वोक्त 'कातन्त्रवृत्ति'। कुछ विद्वानों का कथन है कि वासवदत्ता, वेणीसंहार और मालतीमाधव नाटकों के टीकाकार भी यही जगद्धर थे, परन्तु उन ग्रन्थों का पर्यालोचन करने से यह स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि उनका टीकाकार जगद्धर कोई अन्य ही था और दूसरी बात यह भी है कि जगद्धरजी का अन्तःकरण बाल्यावस्था ही से सदाशिव की आराधना की ओर झुक गया था; इस कारण सुधा के सहोदर शम्भुस्तवन को छोड़कर अन्य कोई ग्रन्थ लिखने की ओर उनकी प्रवृत्ति ही नहीं हुई। उन्होंने शिव स्तुति से ही अपनी मनुष्यता, पुरुषता, ब्राह्मणता, मनीषिता और सत्कविता को कृतार्थ मानकर आजन्म यही कार्य किया।

काशी, संवत् १९९५ }
विजयादशमी }

—अनुवादक

स्तोत्र-नाम	श्लोक	पृष्ठ
२१ अर्धनारीश्वरस्तोत्रम्	२४	५१६
२२ कादिपदबन्धस्तोत्रम्	१२	५२९
२३ शृङ्खलाबन्धस्तोत्रम्	२७	५३३
२४ द्विपदयमकस्तोत्रम्	२८	५४३
२५ रुचिरञ्जनस्तोत्रम्	२७	५५३
२६ पादादियमकस्तोत्रम्	३५	५६५
२७ पादमध्ययमकस्तोत्रम्	३४	५८२
२८ पादान्तयमकस्तोत्रम्	२७	५९७
२९ एकान्तरयमकस्तोत्रम्	३६	६१४
३० महायमकस्तोत्रम्	८१	६३२
३१ नतोपदेशस्तोत्रम्	२०	६७४
३२ शरणागतोद्धरणस्तोत्रम्	८	६८८
३३ वर्णपूरस्तोत्रम्	४५	६९३
३४ श्रम् यवर्णस्तोत्रम्	१२	७१९
३५ ईश्वरदर्शनास्तोत्रम्	२५	७२९
३६ स्तुतिपक्षमाग्निस्तोत्रम्	४१	७४४
३७ स्तुतिदर्शनास्तोत्रम्	२०	७६५
३८ पुण्यपरिणामस्तोत्रम्	३०	७७३
३९ वंशवर्णनम्	१६	७९२

समुदितश्लोकसंख्या १४०९

(४)

किंवाऽनेन मदीयकातरमनोवृत्तेन चेद्सद्गुरोः
कारुण्यस्मितवीक्षणं मयि भवेत्किम्नाम दैन्यं महत्।
यत्पादाम्बुजचिन्तनेन विविधब्रह्माण्डजन्मस्थली-
माया-निर्मित संभ्रमोत्थित-भियां नामाऽपि न श्रूयते॥

(५)

विद्या गुण विहीनेऽपि, वात्सल्यमुररीकृतम्।
मयि येन स शं कुर्यात्, 'कोऽपि' देव. कृपापरः॥

प्रायः अपनी लौकिक कविता से लोक को प्रसन्न करनेवाले 'कवि' बहुत मिलते हैं, परन्तु अपनी लोकोत्तर-कविता-चातुरी से मनुष्य की तो बात ही क्या, साक्षात् परमेश्वर को मन्त्र-मुग्ध और आकृष्ट करनेवाले काव्य के निर्माता 'सुकवि' बहुत थोड़े—अङ्गुलीगण्य—ही होते हैं। ऐसे ही पुरुष समस्त संसार के अलङ्कारस्व होते हैं।

हमारे 'स्तुति कुसुमाञ्जलिकार' 'श्रीमज्जगद्धर भट्ट' जी ऐसे ही कविकुल के तिलक हैं। आपकी कविता परम पवित्रता है। उसने लोकोत्तर सरसता सम्पादन करते हुए विलक्षण भव्य-भावों से भगवान् श्रीमदाशिव को ही परमात्र प्रसन्न किया है और मुग्ध किया है। उसका मनन करने से निष्पक्ष अनुभव होता है कि भगवान 'श्री भोलेबाबा' ने अवश्य ही आपकी कविता पर मुग्ध होकर आपको कृतकृत्य कर दिया है।

ऐसे—अनेकों जन्मों में उपार्जित अनेकाऽनेक पुण्यकर्मों के परिपाक से प्राप्त, अनिर्वाद भक्तिरसाऽमृत के आमोद से सुगन्धित,—इस 'स्तुति-रूप कुसुमाञ्जलि' को त्रिलोकी के नाथ 'भगवान भोलेनाथ' (श्री सदाशिव) के चरणकमलों में समर्पण करने में अपने को कृतकृत्य समझते हुए हमारे कविराज, 'अन्यन्त प्रौढ़ सूक्तियों' की चतुरता से, अपनी सरस्वती की उत्कर्षता प्रकट करते हुए ग्रन्थारम्भ के पहिले 'ह्लादयद्भिः' इत्यादि पाँच श्लोकों द्वारा वक्ष्यमाण ग्रन्थ (स्तुति-कुसुमाञ्जलि) की प्रस्तावना करते हैं—

प्रथमं स्तोत्रम्

ह्लादवद्भिरमलैरनर्गलैर्जीवनैरघहरैर्नवैरियम् ।
स्वामिनः श्रमशमक्षमैः क्षणं, रोद्धुमर्हति मनः सरस्वती ॥१॥

अन्वय—यथा सरस्वती (नदी) ह्लादवद्भिः अमलैः अनर्गलैः अघहरैः श्रमशमक्षमैः नवैः जीवनैः (जलैः) मनः क्षणम् रोद्धुम् अर्हति; तथा इयम् [मम] सरस्वती ह्लादवद्भिः अमलैः अनर्गलैः जीवनैः अघहरैः श्रमशमक्षमैः नवैः (स्तवैः) स्वामिनः (श्रीसदाशिवस्य) मनः क्षणम् रोद्धुम् अर्हति ।

अर्थ—जैसे, सरस्वती नदी परम आनन्ददायक, निर्मल, कायिक वाचिक और मानसिक त्रिविध पापों के हरने में समर्थ, एवं अप्रतिहत (बिना रोक-टोक के) प्रवाहवाले और मरुस्थल में भ्रमण करने से उत्पन्न हुए खेद (थकावट) को हरनेवाले अपने नवीन जलों से (पिपासु) लोगों के चित्त को क्षण भर शान्त कर देती है, वैसे ही यह मेरी सरस्वती (मेरी वाणी) सहृदय और कवि लोगों को परम आनन्द देनेवाली, निर्मल—अर्थात् सोलह प्रकार के 'श्रुतिकटु' आदि पद-दोष, और बारह प्रकार के 'अपुष्टता' आदि अर्थ दोष रूपी मलों से रहित—तथा श्रीगङ्गा की तरङ्गों के समान अविच्छिन्न गतिवाली, और इस संसाररूपी मरुस्थल के भ्रमण से खिन्न हुए जिज्ञासुओं को 'शिवभक्ति' (आत्मज्ञान) की प्राप्ति द्वारा परम तृप्ति संपादन करनेवाली, एवं समस्त अमङ्गल को हरनेवाली, और अविद्या-अस्मिता-राग-द्वेष व अभिनिवेश रूप पाँच क्लेशों के द्वारा उत्पन्न हुए खेद को शान्त करनेवाली 'सुमनोहर-स्तुतियों' से, उस महान् ऐश्वर्यशाली—अनन्तकोटि-ब्रह्माण्ड-नायक भगवान् 'सदाशिव' के मन को क्षण भर रोकने—दूर करने—के लिए समर्थ है।

सारांश यह है कि, यह मेरी वाणी अपनी अलौकिक अद्भुत स्तुतियों (रचनाओं) के द्वारा श्री भगवान् 'शङ्कर' के मन को अवश्य मुग्ध (अपने वश में) कर लेगी; जिससे प्रभु मेरी प्रार्थना को अवश्य स्वीकार करेंगे। [इस कथन से 'कवि' का श्रीशङ्कर के चरण-कमल में एक अलौकिक अद्भुत-अनुराग (उत्कट प्रेम) सूचित होता है।]

[यद्यपि इस पद्य में उपमावाचक 'इव' आदि शब्द का प्रयोग न होने के कारण यहाँ विशुद्ध 'उपमा' नहीं है; तथापि यहाँ शब्द की शक्ति द्वारा उपमा की 'ध्वनि' है। इसी प्रकार अग्रिम चार श्लोकों में भी (शब्दशक्ति-मूलक ही) उपमाध्वनि है। और इस पद्य के आदि में 'ह्लाद' पद केवल सुख-वाचक ही नहीं, किन्तु परम-आनन्द-वाचक है; अतएव ग्रन्थ के आदिश्लोक में कवि ने पदांश में 'श्रवण'कटु' भी इस ह्लाद पद का प्रयोग किया। इसी अभिप्राय से 'श्री मम्मटाचार्य'जी ने भी अपने 'काव्यप्रकाश' नामक ग्रन्थ के आरम्भ में श्रीभारती (सरस्वती) को प्रणाम करने के लिए 'ह्लादैकमयीम्' इस पद में श्रवण-कटु भी इस 'ह्लाद' पद का प्रयोग किया। अतएव आगे दोषों के निरूपण करने के अवसर में उन्होंने (हां) कहा है कि—"दोषोऽपि गुणः क्वचित्, क्वचिन्नोभौ।"

अर्थात् कहीं पर 'शान्तरस' अथवा 'भक्ति' के विषय में 'श्रुति-कटु' और 'पुनरुक्त' आदि दोष भी गुण हो जाते हैं, और कहीं काव्य-रीति से गुण, दोष कुछ नहीं होते।]

स्वामिनः स्थिरगुणा सवक्रिमा, कर्णयोरमृतवर्षिणी मनः।
कर्तुमर्हति मुहुर्तमुज्झित-स्वैरचापलमियं सरस्वती ॥ २ ॥

अन्वय—यथा स्थिरगुणा सवक्रिमा कर्णयोः अमृतवर्षिणी सरस्वती (वीणा) [जनस्य] मनः मुहूर्तम् उज्झितस्वैरचापलम् कर्तुम् अर्हति; तथा

(१) श्रुतिकटु।

इयम् स्थिरगुणा सत्क्रिमा कर्णयोः अमृतवर्षिणी [मम] सरस्वती (वाणी) स्वामिनः मनः मुहूर्त्तम् उज्झितस्वैरचापलम् कर्त्तुम् अर्हति ।

अर्थ—जैसे, निश्चल-तन्त्रियों (तारों) वाली और टेढ़ी, एवं श्रोताओं के कानों में अमृत की वर्षा करनेवाली 'वीणा' अपनी सुमनोहर ध्वनि से लोगों के मन को क्षण भर—कुछ देर के लिए—मुग्ध कर देती है; वैसे ही अपने ओजः, प्रसाद और माधुर्य नामक (तीन प्रकार के) शब्दगुण और अर्थगुणों से युक्त, एवं श्लिष्ट शब्दात्मक विचित्रता से सुमनोहर, तथा सहृदय कवि और भावुक जनों के कर्णों में अमृत के समान परम आनन्द की वृष्टि करनेवाली यह मेरी वाणी—मेरी स्तुति—उस महान् षडैश्वर्यशाली परमेश्वर (भगवान् सदाशिव) के मन को कुछ देर तक—स्वेच्छामय चाञ्चल्य से रहित—अर्थात् अत्यन्त मुग्ध—करने में समर्थ हो। (क्योंकि [प्रभु के] मन के मुग्ध हो जाने पर, प्रभु मेरी 'हृद्गत प्रार्थना' को अवश्य ही सुनेंगे।)

रम्यरीतिरनघा गुणोज्ज्वला, चारुवृत्तरुचिरा रसान्विता ।
रञ्जयत्वियमलङ्कृता मनः, स्वामिनः प्रणयिनी सरस्वती ॥३॥

अन्वय—यथा रम्यरीतिः अनघा गुणोज्ज्वला चारुवृत्तरुचिरा रसान्विता अलङ्कृता प्रणयिनी, स्वामिनः (स्वपत्युः) मनः रञ्जयति; तथा इयम् रम्यरीतिः अनघा गुणोज्ज्वला चारुवृत्तरुचिरा रसान्विता अलङ्कृता प्रणयिनी [मम] सरस्वती स्वामिनः मनः रञ्जयतु ।

अर्थ—जैसे अति सुन्दर (रमणीय) व्यवहार या सुशीलता आदि कुलाङ्गनाओं के सद्गुणों से सम्पन्न, और निर्दोष (निष्पाप) एवं मनोहरता-दया-दाक्षिण्य आदि गुणों से उज्ज्वल तथा सच्चरित्रवती और अपने प्रियतम (पति) विषयक स्थिर अनुराग से पूर्ण, व सुन्दर मुक्ताहार आदि आभूषणों से सुसज्जित 'कामिनी' अपने प्रियतम (पति-देव) के मन को अपने पर अनुरञ्जित (अनुरक्त) कर लेती है; उसी प्रकार रमणीय (अति सुन्दर) वैदर्भी-रीति से सम्पन्न तथा

पद-दोष और अर्थ-दोषों से रहित एवं ओज, प्रसाद, माधुर्य आदि गुणों से उज्ज्वलित और 'वसन्त-तिलका' 'शार्दूल-विक्रीडित' आदि सुमनोहर छन्दों वाले, तथा शान्त आदि रसों से युक्त, वक्रोक्ति आदि शब्दालङ्कार एवं उपमा आदि अर्थालङ्कारों से अलङ्कृत और अपने अभीष्ट (मनोरथ) की प्राप्ति के लिए भगवान् से साग्रह प्रार्थना करनेवाली यह मेरी सरस्वती—मेरी स्तुति—भगवान् महेश्वर (श्री सदाशिव) के मन को (अपने ऊपर) अनुरक्त करने में समर्थ हो।

जैसे कोई सद्गुणवती, सच्चरित्रवती, पतिव्रता स्त्री अपने प्रियतम-पति को परम अनुराग द्वारा अपने वश में कर लेती है; वैसे ही मेरी यह निर्दोष वाणी, अपनी सूक्तियों (अलौकिक स्तुतियों) से भगवान् सदाशिव को अतीव प्रसन्न करके उन्हें अपने वश में कर ले।

सत्त्वधाम वरलाभयाचितश्लाघ्यवर्णविशदा विशत्वियम् ।
निर्मलं सघनकालविप्लवा, मानसं स्मरजितः सरस्वती ॥४॥

अन्वय—यथा, आभयाचितश्लाघ्यवर्णविशदा सघनकालविप्लवा वरला (हंसिनी) सत्त्वधाम निर्मलम् मानसम् (मानसरोवरम्) विशति; तद्वत्—वरलाभयाचितश्लाघ्यवर्णविशदा सघनकालविप्लवा इयम् [मम] सरस्वती सत्त्वधाम स्मरजितः निर्मलम् मानसम् विशतु ।

अर्थ—जैसे, अत्युज्ज्वल सुमनोहर श्वेतवर्ण से देदीप्यमान और वर्षा-काल रूपी उपद्रव से उद्वेजिता 'हंसिनी', मकर-मत्स्य आदि प्राणियों के आश्रयभूत, सुनिर्मल 'मानसरोवर' में चली[1] जाती है, वैसे ही स्वाभिलषित मनोरथों की प्राप्ति के लिए की हुई याचना द्वारा अति श्लाघ्य वर्णों (अक्षरों) से सुशोभित और घन-काल (कराल यमराज) के अति भयानक उपद्रवों से, या इस वर्तमान कलि काल में होनेवाले उपद्रवों से भयभीत हुई यह मेरी 'सरस्वती' (वाणी) परमप्रकाशमय

(१) वर्षा काल में हंस 'मानसरोवर' को चले जाते हैं। यह बात शास्त्रों में सुप्रसिद्ध है।

सत्त्व गुण (अथवा धैर्य) के आधारभूत, और कामदेव का विजय करनेवाले, अतीव दयालु परमेश्वर (श्री सदाशिव) के परम निर्मल चित्त में प्रविष्ट हो जाय।

[यहाँ पर कवि ने 'सरस्वती' का 'सघनकालविप्लवा' (अर्थात् काल के उपद्रवों से भयभीत हुई) यह विशेषण देकर इस बात को सूचित किया कि मैंने उस यमराज के भय का निराकरण करने के लिए ही यह (स्तुति-कुसुमाञ्जलि रूप) स्तुति की, क्योंकि आगे चलकर आपने स्वयं ही कहा है—'क्रन्दन्तमन्तकभयात्त सुपेक्षसे यत्' ?]

भक्तितः सपदि सर्वमङ्गला, बोधिता निजधियैव मेऽनया।
आरिराधयिषतीश्वरं वरं, लब्धुमीप्सितमियं सरस्वती ॥५॥

अन्वय—यथा, मेनया निजधिया बोधिता [अपि] सर्वमङ्गला (पार्वती) ईप्सितम् वरम् लब्धुम् भक्तितः सपदि ईश्वरम् एव आराधितवती तद्वत्—अनया मे निजधिया बोधिता सर्वमङ्गला इयम् [मम] सरस्वती ईप्सितम् वरम् लब्धुम् भक्तितः सपदि ईश्वरम् एव आरिराधयिषति।

अर्थ—जैसे, माता श्री मेनका के बहुत समझाने पर भी पार्वतीजी ने अपने मनोभीष्ट वर (श्री सदाशिव) को प्राप्त करने के लिए, अति गाढ़ भक्ति से शीघ्र एकमात्र 'सदाशिव' का ही आराधन किया; उसी तरह इस मेरी बुद्धि से प्रेरित की हुई, मन-वचन और कर्म से निरन्तर श्रीशिव के ही ध्यान में तन्मय होने के कारण सम्पूर्ण मङ्गलों से परिपूर्ण, यह मेरी सरस्वती अपने अभिलषित वर को प्राप्त करने के लिए अति गाढ़ भक्ति (उत्कट प्रेम) से एकमात्र 'सदाशिव' का ही शीघ्र आराधन करना चाहती है।

[इस कथन में ग्रन्थकार ने स्तुति के द्वारा अपने को ईश्वर (श्रीशिव) का दर्शन होना सूचित किया, अर्थात् जैसे श्रीपार्वतीजी ने तपस्या करके अवश्य ही सदाशिव को प्राप्त किया, वैसे ही यह मेरी वाणी भी अपने भगवान् (शिव) को अवश्य प्राप्त करेगी।]

अब यहाँ से हमारे कविराज 'स्तुतिप्रस्तावना' नामक प्रथम स्तोत्र को प्रारम्भ करते हुए कहते हैं—

ओमिति स्फुरदुरस्यनाहतं, गर्भगुम्फितसमस्तवाङ्मयम् ।
दन्ध्वनीति हृदि यत्परं पदं, तत्सदक्षरमुपास्महे महः ॥ ६ ॥

अन्वय—यत् सत् अक्षरम् गर्भगुम्फितसमस्तवाङ्मयम् 'ओम्' इति परम् पदम् [अस्माकम्] उरसि स्फुरत् अनाहतम् [एव] हृदि दन्ध्वनीति, तत् महः [वयम्] उपास्महे ।

अर्थ—जो सत्तामात्र, अर्थात् सत्य (सनातन), स्वरूप से अच्युत, एवं परम उत्कृष्ट ॐ यह अकार, उकार और मकारात्मक 'प्रणव रूप पद' वक्ष स्थल (हृदय देश) में स्फुरित होता हुआ कण्ठ, ताल्वादि अभिघात के बिना ही, अर्थात् बिना किसी से उच्चारित किया हुआ ही (हमारे) हृदय रूप आकाश में अत्यन्त शब्दायमान हो रहा है, और जिसके अन्दर (गर्भ में) समस्त वाङ्मय प्रपञ्च (चतुर्दश[1] विद्याएँ) लीन है, 'तन्महः वयम् उपास्महे' = उस 'ॐकार रूप' परम-ज्योतिर्मय ब्रह्म (भगवान् शिव) की हम उपासना करते हैं।

[कवि ने इस श्लोक में 'ॐ' 'तत्' 'सत्' इन परब्रह्म के तीनों नामों के निर्देश से अपने उपास्यदेव (शिव) को शुद्ध, सच्चित्, आनन्द स्वरूप, निर्विशेष पूर्ण परब्रह्म से अभिन्न सूचित किया है।

वक्तव्य—यद्यपि यहाँ पर कवि को 'वयम् तन्महः उपास्महे' (हम उस परम ज्योति का उपासना करते हैं) ऐसा न कहकर 'अहम् तन्महः उपासे' (मैं उस परम ज्योति की उपासना करता हूँ) ऐसा कहना उचित था, तथापि अतिगाढ भक्ति (उत्कट प्रेम) के उद्रेक से शिव के साथ तन्मय भावना की उत्कर्षता से अपने को श्लाघ्य (धन्य)

---

(१) शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष, पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद ।

समझते हुए उसने 'उपास्महे' इस बहुवचन के क्रियापद का उल्लेख किया है, अतः यह (कोई) दोष नहीं हो सकता।]

भानुना तुहिनभानुना बृहद्भानुना च विनिवर्तितं न यत्।
येन तज्झगिति[1] शान्तिमान्तरं ध्वान्तमेति तदुपास्महे महः ॥७॥

अन्वय—भानुना तुहिनभानुना बृहद्भानुना च यत् न विनिवर्तितम्; तत् आन्तरम् ध्वान्तम् येन झगिति शान्तिम् एति तत् महः [वयम्] उपास्महे।

अर्थ—सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि के द्वारा किसी प्रकार भी नहीं निवृत्त (दूर) हो सकनेवाला हृदय का अज्ञान-रूप गाढ़ अन्धकार जिसकी कृपा से शीघ्र ही शान्त (निवृत्त) हो जाता है, उस परम *ज्योति-स्वरूप परमेश्वर (शिव) की हम उपासना करते हैं।*

कीचकादिकुहरेष्विवाऽम्बरं, बिम्बमम्बरमणेरिवोर्मिषु।
एकमेव चिदचित्स्वनेकधा, यच्चकास्ति तदुपास्महे महः ॥८॥

अन्वय—कीचकादिकुहरेषु अम्बरम् इव, ऊर्मिषु अम्बरमणेः बिम्बम् इव, यत् एकम् एव चिदचित्सु अनेकधा चकास्ति; तत् महः (वयम्) उपास्महे।

अर्थ—जैसे एक ही आकाश, पोले बाँस या घट आदि तत्-तत् उपाधियों से विशिष्ट होकर, तत्-तत् उपाधि के आकार से आकारित होता हुआ 'वंशाकाश' या 'घटाकाश' रूप में अभिव्यक्त होकर अनेक प्रकार का-सा भासित होता है; एवं जैसे एक ही सूर्य का बिम्ब जल की तरङ्गों में (प्रतिबिम्बित होकर) अनेक प्रकार का-सा भासमान होता है; इसी तरह जो एक अद्वितीय पूर्ण परब्रह्म चेतन और अचेतन सब में कई तरह से देदीप्यमान हो रहा है, उस परमज्योति—परम ब्रह्म—रूप सदाशिव को हम उपासना (ध्यान) करते हैं।

[अद्वैत-सिद्धान्त के अनुसार एक ही पूर्ण परब्रह्म में वस्तुतः 'उपास्य' और 'उपासक' भाव हो नहीं सकते; अतः यहाँ 'स्वम्' पदार्थ

---

(१) 'झटिति' इति प्रतिभाति पाठः ।

(जीव) और 'तत्' पदार्थ (परमेश्वर) की एकता (अभेदज्ञान) ही उपासना है।]

तर्ककर्कशगिरामगोचरं, स्वानुभूतिममर्यैकसाक्षिणम्।
मीलिताखिलविकल्पविप्लवं, पारमेश्वरमुपास्महे महः ॥ ९ ॥

अन्वय—तर्ककर्कशगिराम् अगोचरम्, स्वानुभूतिममर्यैकसाक्षिणम्, मीलिताखिलविकल्पविप्लवम्, पारमेश्वरम् महः (वयम्) उपास्महे।

अर्थ—अतर्क्य-ऐश्वर्यशाली 'श्री परमेश्वर' के विषय में—(१) "ईश्वर किस आधार पर है? (२) और उसका कैसा शरीर है? (३) एवं उसकी चेष्टाएँ किस प्रकार की हैं? (४) और वह किन किन उपायों (साधनों) से त्रिभुवन को रचता है?" इत्यादि इत्यादि अनेक प्रकार की मूर्ख लोगों की कुतर्कनाओं से कर्कश (कठोर) हुई वाणियों का जो अत्यंत अगोचर है और केवल एक स्वयंप्रकाश स्वानुभव सिद्धान्त ही जिस परम ज्योति में प्रमाण है, अर्थात् जो स्वयंप्रकाश है; यानी जैसे घट-पटादि पदार्थों के प्रकाशन के लिए सूर्य के प्रकाश की अपेक्षा होती है, किन्तु सूर्य के प्रकाशन के लिए किसी प्रकाशान्तर की अपेक्षा नहीं होती, क्योंकि सूर्य स्वयंप्रकाश है, वैसे ही जो परमात्मा सकल चराचर को प्रकाशित करता है उस 'स्वयंप्रकाश' के प्रकाशन के लिए किसी भी प्रमाणान्तर की अपेक्षा नहीं है। एवं जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस आदि समस्त विषय रूप उपाधियों के संसर्ग से विवर्जित अर्थात् विशुद्ध निर्विशेष (निराकार) स्वरूप है, उस अतर्क्य महा ऐश्वर्यशाली परमेश्वर (श्रीशिव) के तेज का[1] हम ध्यान करते हैं।

स्वावभासमयमेव मायया, येन भिन्नमवभास्यते जगत्।
चित्रमिन्द्रधनुरभ्रलेखया, भास्वतेव तदुपास्महे महः ॥१०॥

अन्वय—स्वावभासमयम् एव, मायया भिन्नम् जगत्, येन अभ्रलेखया चित्रम् इन्द्रधनुः भास्वता इव—अवभास्यते; तत् महः [वयम्] उपास्महे।

(१) यहाँ 'राहोः शिरः' की तरह औपचारिक भेद है।

अर्थ—जैसे, स्वय प्रकाश ही सूर्य, मेघ-रेखा के संयोग से नाना वर्ण (चित्र-विचित्र) सा बनकर इन्द्र-धनुष रूप मे परिणत होकर सूर्य द्वारा प्रकाशित होता है; वैसे ही सुर, नर, तिर्यक् आदि रूप स्वयप्रकाश परमात्म स्वरूप ही जगत्—एक मायातत्त्व के द्वारा भिन्न प्रकार का होकर, अनेक नाम-रूपात्मक सा प्रतीत होता हुआ जिस परमात्मा के द्वारा प्रकाशित होता है, उस परम ज्योति (शिव) की हम उपासना करते हैं।

हृद्गुहागहनगेहगूहितं, भासिताऽखिलजगत्त्रयोदरम् ।
कन्दकन्दरदरीमुखोद्गत-प्राणमारुतकृतस्थिरस्थितिम् ॥ ११ ॥†
त्यक्तसर्वदशमक्षयोदयं, रूपवर्जितमभित्तिसंश्रयम् ।
यं निरञ्जनमनक्षगोचरं, दीपमद्भुतमुशन्ति तं स्तुमः ॥ १२ ॥

(युग्मम *)

अन्वय—[ज्ञानिनः] यम् (परमात्मानम्) हृद्गुहागहनगेहगूहितम् भासिताखिलजगत्त्रयोदरम्, कन्दकन्दरदरीमुखोद्गतप्राणमारुतकृतस्थिरस्थितिम्, त्यक्तसर्वदशम् अक्षयोदयम् रूपवर्जितम् अभित्तिसश्रयम् निरञ्जनम् अनक्षगोचरम् 'अद्भुतम् दीपम्' उशन्ति, तम् [वयम्] स्तुमः ।

अर्थ—ज्ञानी लोग जिस परमात्मा को, हृदय-रूपी गुहा के अति गहन मन्दिर मे गुप्त होते हुए भी, तीनो भुवनों को प्रकाशित करनेवाला एवं उपस्थ और नाभि के मध्यस्थलवर्त्ती गुहा के मुँह मे निकले हुए प्राणवायु मे सुस्थिर स्वरूप स्थितिवाला†; बाल्य आदि अवस्थाओं से रहित एव क्षय (नाश) और उदय (उत्पत्ति) से रहित; रूप मे

---

* द्वाभ्यां युग्ममिति प्रोक्तं त्रिभिः श्लोकैर्विशेषकम् ।
कलापकं चतुर्भिः स्यात्तदूर्ध्वं कुलकं स्मृतम् ॥
अर्थात् जहाँ दो श्लोकों का एक साथ अन्वय हो, वह 'युग्म', तीन का 'विशेषक', चार श्लोकों का 'कलापक' और उसके उपरान्त ५ या अधिक श्लोकों का 'कुलक' कहा जाता है।

† यद्यपि परमात्मा तो सदा सुस्थित ही है, तथापि मन के चाञ्चल्य से उसमे भी चाञ्चल्य सा प्रतीत होता है, अतः फिर वह समाधि काल मे

रहित; और विना आधार (भित्ति) के ही स्थित; निरञ्जन (अविनाशी) एवं इन्द्रियों का अगोचर, इत्यादि प्रकार का एक अद्भुत-आश्चर्यमय दीपक बतलाते हैं; उस परमेश्वर की हम स्तुति करते हैं।

[यहाँ दोनों श्लोकों में 'विरोधाभास' नामक अलङ्कार है, क्योंकि यहाँ आपाततः ऐसा विरोध प्रतीत होता है कि "जो (चिदानन्दमय दीपक) स्वयगुप्त है, वह बाह्य वस्तु को कैसे प्रकाशित कर सकता है? (२) वायु से तो दीपक शान्त हो जाता (बुझ जाता) है, स्थिर कैसे हो सकता है? और (३) लौकिक दीपक तो दशाओं (बत्तियों) से और क्षय, उदय तथा रूप से रहित नहीं होता किन्तु, यह चिदानन्दमय दीपक तो दशाओं (बाल्य आदि अवस्थाओं) से तथा क्षय और उदय से रहित है। (४) एवं लौकिक दीपक तो निरञ्जन अर्थात् अञ्जन (कज्जल) से रहित और इन्द्रियों का अगोचर नहीं होता। किन्तु यह हृदय में रहनेवाला चिदानन्दमय दीपक तो निरञ्जन (अविनाशी) और इन्द्रियों का अगोचर है। अतएव ज्ञानी लोगों ने इस (चिदानन्दमय) दीपक को लौकिक दीपकों से विरुद्ध (विलक्षण) बतलाया है।"]

यस्य शस्यमहसो निरर्गलं, योगमाप्य चरणाब्जरेणु[१]भिः ।
अद्भुतां दधति नीरजस्कतां, तं जगत्पतिमुमापतिं स्तुमः ॥१३॥

अन्वय—शस्यमहसः यस्य चरणाब्जरेणुभिः निरर्गलम् योगम् आप्य (भक्ताः) अद्भुताम् नीरजस्कताम् दधति, तम् जगत्पतिम् उमापतिम् (वयम्) स्तुमः।

सुषुम्ना नाड़ी के मुँह से उद्गत (ऊर्ध्वगत) हुए प्राणवायु से अपनी सुस्थिर स्वरूप-स्थिति को प्राप्त हो जाता है।

(१) यद्यपि यहाँ पर कवि को विरोध स्पष्ट करने के लिए 'चरणाब्जरेणुभिः' न कहकर 'चरणाब्जरजोभिः' कहना उचित था, किन्तु यति (विराम) भङ्ग के भय से 'रेणुभिः' ऐसा कहने से प्रक्रम के भङ्ग होने पर भी, 'भक्ति विषयक' होने के कारण, यह दोष नहीं हो सकता।

अर्थ—जिस मनोहर परम तेजोमय परमेश्वर के चरणारविन्द की रज का अति घनिष्ठ संयोग प्राप्त करते हो, भक्त लोग, अतिअद्भुत नीरजस्कता (अति अद्भुत निर्मलता) अर्थात् रज तम रूप मल से विरहित विशुद्ध सत्त्वमयी भगवदीय भावना को प्राप्त हो जाते हैं, उस जगत्पति 'श्रीपार्वती-पति' की हम स्तुति करते हैं।

[यहाँ कवि के 'अद्भुताम्' कहने का अभिप्राय यह है कि, रज के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होने से सरजस्कता (मलिनता) हो होती है, 'नीरजस्कता' कैसे हो सकती है? अतएव वस्तुतः यह आश्चर्य है।]

चारुचन्द्रकलयोपशोभितं, भोगिभिः सह गृहीतसौहृदम्।
अभ्युपेतघनकालशात्रवं, नीलकण्ठमतिकौतुकं स्तुमः ॥१४॥

अन्वय—चारुचन्द्रकलयोपशोभितम् भोगिभिः सह गृहीतसौहृदम् अभ्युपेतघनकालशात्रवम् अतिकौतुकम् 'नीलकण्ठम्' (वयम्) स्तुमः।

अर्थ—मनोहर चन्द्रमा की कला से सुशोभित, वासुकि आदि सर्पों के साथ मित्रता करनेवाले और कठोर काल (यमराज) के साथ शत्रु-भाव रखनेवाले, भगवान सदाशिव रूप अति अद्भुत नीलकण्ठ (मयूर) की हम स्तुति करते हैं।

[समुद्रमन्थन के समय कालकूट (हालाहल विष) का पान करने से कण्ठ नीला हो गया; इसी से भगवान् 'शिव' का नाम 'नीलकण्ठ' हो गया। और गले में नील होने के कारण मयूर (मोर) को भी 'नीलकण्ठ' कहते हैं, अतः यहाँ 'शब्दश्लेष' से इस प्रकार इस (शिवरूप) मयूर की लौकिक मयूरों से अति विलक्षणता दिखलाई है—अर्थात् लौकिक मयूर तो चारु चन्द्रक (मनोहर पङ्ख) के होने से ही उपशोभित होता है, उनके नष्ट (नष्ट) हो जाने से नहीं उपशोभित होता, किन्तु यह (शिवरूप) मयूर तो 'चारु चन्द्रकलया उपशोभित' अर्थात् मनोहर चन्द्रकला से सुशोभित है। और लौकिक मयूर भोगियों (सर्पों) से

सौहृद (मित्रता) नहीं ग्रहण करता बल्कि अधिक द्वेष करता है, किन्तु यह (शिवरूप) मयूर तो भोगियों—सर्पों—से अत्यधिक सौहृद—प्रीति—रखता है एवं लौकिक मयूर घन-काल (वर्षा काल) के साथ शत्रुता नहीं रखता, प्रत्युत और अधिक प्रेम रखता है, किन्तु यह (शिव रूप) मयूर तो घन-काल (कठोर काल अर्थात् यमराज) के साथ शत्रुता रखता है। अतएव 'अतिकौतुकम्' (अति आश्चर्यजनक) कहकर कवि ने इस भगवान् (सदाशिव) को एक विलक्षण ही मयूर बतलाया।]

इच्छयैव भुवनानि भावयन्, यः प्रियोपकरणग्रहोऽपि सन्।
अप्रियोपकरणग्रहोऽभवत्, तं स्वशक्तिसचिवं शिवं स्तुमः ॥१५॥

अन्वय—प्रियोपकरणग्रहः अपि सन्, यः इच्छया एव भुवनानि भावयन्, अप्रियोपकरणग्रहः अभवत्; तम् स्वशक्तिसचिवम् शिवम् [वयम्] स्तुमः।

अर्थ—प्राणियों का उपकार करने मे अतिशय प्रिय आग्रह रखते हुए भी जिस (प्रभु) को केवल अपनी इच्छाशक्ति से ही सकल भुवनों के निर्माण करने मे किन्हीं भी उपकरणों (साधनों) का ग्रहण करना प्रिय (अच्छा) नहीं लगता, उस 'स्वेच्छाशक्ति-सहायक' सदाशिव की हम वन्दना करते हैं*।

अर्थात्, जैसे तक्षक (किसी कारीगर) को किसी वस्तु के निर्माण करने में वास्य आदि साधनों की आवश्यकता होती है; वैसे, सकल भुवनों के निर्माण (रचना) करने मे भगवान् शिव को किन्हीं साधनों की आवश्यकता नहीं पड़ती। क्योंकि आप तो 'स्वेच्छाशक्ति'वाले हैं।

पद्मसद्म-करमर्दलालितं, पद्मनाभ-नयनाब्जपूजितम्।
पद्मबन्धु-मुकुटांशु-रञ्जितं, पादपद्मयुगमैश्वरं स्तुमः ॥१६॥

---

* यहाँ भी 'विरोधाभास' अलंकार है, क्योंकि जो 'उपकारग्रहप्रिय' है, वह 'उपकारग्रहअप्रिय' कैसे हो सकता है ?

अन्वय—पद्मसद्मकरमर्दलालितम् पद्मनाभनयनाब्जपूजितम् पद्मबन्धुमुकुटांशुरञ्जितम् ऐश्वरम् पादपद्मयुगम् [वयम्] स्तुमः।

अर्थ—पद्मसद्म (श्री ब्रह्माजी) के कर-कमलों के मर्दन से लालित और पद्मनाभ (श्री विष्णु) के नेत्र-कमल से पूजित, एवं पद्मबन्धु (श्रीसूर्य) की मुकुट-किरणों से रञ्जित, 'श्रीमदाशिव' के पाद-पद्म-[1]युगल की हम प्रेमपूर्वक वन्दना करते हैं।

अंघ्रियुग्ममरेशमस्तक-स्रग्भिरुज्ज्वलमुरश्च भस्मभिः।
शेखरञ्च हिमरश्मि-रश्मिभिर्यो बिभर्ति तमुपास्महे विभुम् ॥१७॥

अन्वय—यः अमरेशमस्तकस्रग्भिः उज्ज्वलम् अङ्घ्रियुग्मम्, भस्मभिः उज्ज्वलम् उरः च; तथा हिमरश्मिरश्मिभिः उज्ज्वलम् शेखरम् च बिभर्ति; तम् विभुम् [वयम्] उपास्महे।

अर्थ—जो परमेश्वर इन्द्र के मस्तक की पुष्पमाला से उज्ज्वलित चरणकमलों को और भस्म से उज्ज्वलित (देदीप्यमान) वक्षःस्थल को एवं चन्द्रकिरणों से उज्ज्वलित मुकुट को धारण करता है, उस विभु—व्यापक—सदाशिव की हम उपासना करते हैं।

मूर्ध्नि चन्द्रकर-सुन्दरत्विषं, फेनपिण्डपरिपाण्डुरस्मिताम्।
देहिनां वहति तापहारिणीं, सिद्धसिन्धुमतनुं तनुं च यः ॥१८॥

अन्वय—यः, मूर्ध्नि चन्द्रकरसुन्दरत्विषम् फेनपिण्डपरिपाण्डुरस्मिताम्, देहिनाम् तापहारिणीम् अतनुम् सिद्धसिन्धुम् वहति; यश्च चन्द्रकरसुन्दरत्विषम् फेनपिण्डपरिपाण्डुरस्मिताम् देहिनाम् तापहारिणीम् अतनुम् तनुम् च वहति; (तम् अविषादम्[2] विषादम्[3] अहम् आश्रये, इत्यग्रिमश्लोकेन महाऽन्वयः)।

अर्थ—जो (प्रभु) चन्द्रमा की किरणों के समान स्वच्छ कान्तिमयी, फेन के समान श्वेत वर्णवाली और देहधारियों (जीवों) के

(१) दोनों चरण-कमलों की।
(२) अविद्यमानो विषादो यस्य सः, तम्।
(३) विषम् (कालकूटम्) अत्तीति विषादः तम्।

आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक समस्त तापों को हरनेवाली अति विशाल 'देव-गङ्गा' (श्री मन्दाकिनी) को अपने मस्तक पर धारण करता है। एवं चन्द्रकिरणों के सम्पर्क से अति सुमनोहर कान्तिवाली, फेन-पिण्ड के समान स्वच्छ मन्द-हास्य से युक्त और प्राणियों के समस्त तापों को हरनेवाली अति सुमनोहर 'विशाल-आकृति' (दिव्यमूर्त्ति) को धारण करता है, उस कालकूट (विष) को भक्षण करनेवाले, विषाद (खेद)-रहित अर्थात् परमआनन्दस्वरूप भगवान् 'शिव' की मैं शरण लेता हूँ।

कर्त्तुमुत्सहत· एव सेवको, यस्य कस्य न मनः सकौतुकम्।
नैति शान्तनव-विग्रहोऽपि सन्, भीष्मतां न च विचित्रवीर्यताम्॥१९॥

अन्वय—यस्य सेवकः कस्य मनः सकौतुकम् कर्तुम् न उत्सहते[1] एव! यत्, (सः) शान्तनवविग्रह सन् अपि भीष्मताम् न एति, विचित्रवीर्यताम च न एति, तम् अविषादम् विषादम् [अहम्] आश्रये, इति पूर्वसम्बन्ध·।

अर्थ—भगवान् सदाशिव का सेवक, अपने लोकोत्तर कार्यों से किसके मन में आश्चर्य नहीं भर देता? क्योंकि यह अनुभव की बात है कि जब मनुष्य किसी से नया नया वैर कर लेता है, तो उसमें भयानकता और क्रोध आ जाते हैं, धैर्य लुप्त हो जाता है।

परन्तु चमत्कार की बात तो यह है कि 'शिव-भक्त' उस नवीन वैर-भाव के शान्त होने तक भी भयानकता को नहीं प्राप्त होता और क्रोध को नहीं आने देता; एवं चित्त के धैर्यभाव से न्युन भी नहीं होता। धन्य! ऐसे प्रभु की मैं शरण लेता हूँ।*

---

(१) अपि तु सर्वस्यापि मन· सकौतुकम् कर्तुमुत्सहत इत्यर्थः।

* इस तरह 'शिवभक्त' के हृदयगत भावों का वर्णन करते हुए कवि ने इस बात को काव्य के सर्वस्व शब्दश्लेष-मूलक ध्वनि में विरोधाभास का संपुट देकर और भी चमत्कृत कर दिया है। कवि कहता है कि यह शान्तनु के शरीर से उत्पन्न होकर भी 'भीष्मता' या 'विचित्रवीर्यता' को नहीं प्राप्त होता। वाह, कितना अच्छा हृदयग्राही भाव है!

आपतन्तमयमं यमं पुरो, यः सविग्रहमविग्रहं व्यधात् ।
दर्पकं व्यधित योऽप्यदर्पकं, तं विषादमविषादमाश्रये ॥२०॥

(तिलकम्)

अन्वय—यः (प्रभुः) पुरः आपतन्तम् सविग्रहम् यमम् अविग्रहम् अयमम् व्यधात्, तथा—य दर्पकम् (कामम्) अदर्पकम् व्यधित, तम् अविषादम् विषादम् अहम् आश्रये।

अर्थ—जिस विभु—व्यापक—परमेश्वर ने राजा श्वेत और मार्कण्डेय आदि भक्तो को डराने के लिए आगे आते हुए सविग्रह—वैर-भाव से युक्त—यम(राज) को अविग्रह यानी शरीर से ही रहित एवं अयम अर्थात् प्रयत्न से भी रहित (निश्चेष्ट) कर दिया और जिस प्रभु ने कामी लोगो को दर्पित करनेवाले कामदेव को दर्प [अहङ्कार] से रहित कर दिया, उस कालकूट विष का भक्षण करनेवाले विषाद[खेद]रहित 'सदा प्रसन्न' भगवान् शिव की मैं शरण हूँ*।

अम्बरेण गगनेन संवृतं, जीवनैः शिरसि वारिभिः श्रितम् ।
भोगिभिश्च भुजगैर्विभूषितं, शङ्करं शुभकरं भजामहे ॥२१॥

अन्वय—गगनेन अम्बरेण संवृतम्, जीवनैः वारिभिः शिरसि श्रितम्, भुजगैः भोगिभिः च विभूषितम् शुभकरम् शङ्करं [वयम्] भजामहे।

अर्थ—आकाश-रूपी वस्त्र से वेष्टित अर्थात् 'दिगम्बर' और पिपासुओ को परम तृप्ति सम्पादन करनेवाले शिरःस्थ मन्दाकिनी के जल से सुशोभित एवं भुजाओं में लिपटे हुए सर्पों से विभूषित तथा तीनो लोकों के मङ्गल-दायक, परम कल्याण (मोक्ष) के देनेवाले भगवान शङ्कर का हम भजन करते हैं।

---

*यहाँ भी सर्वत्र विरोधाभास है—क्योंकि 'यम' अयम और 'सविग्रह' अविग्रह तथा 'दर्पक' अदर्पक, एवं 'विषाद' अविषाद, कैसे हो सकता है, आपाततः ऐसा प्रतीत होता है।

[इस श्लोक में अम्बरेण, गगनेन और जीवनैः, वारिभिः तथा भोगिभिः, भुजगैः एवं शङ्करम्, शुभकरम्, इन (समानार्थक) पदों में आपाततः जो पुनरुक्तभाव (सा) प्रतीत होता है वह वस्तुतः पर्यवसान में अन्यार्थक होने से यहाँ पुनरुक्त दोष नहीं है, किन्तु 'पुनरुक्तवदाभास' अलङ्कार है।]

पावकेन शिखिनोपशोभितं, भासितं सितरुचा हिमांशुना ।
भास्वता च रविणा विराजितं, लोचनत्रयमुपास्महे विभोः ॥२२॥

अन्वय—[ललाटे] पावकेन शिखिना उपशोभितम् [वामे] सितरुचा हिमांशुना भासितम्, [दक्षिणे] भास्वता रविणा च विराजितम्, विभोः लोचनत्रयम् [वयम्] उपास्महे ।

अर्थ—अति पवित्र अग्नि से सुशोभित और स्वच्छ कान्तिमान् चन्द्रमा से प्रकाशित एवं तेजोमय (प्रकाशमान) सूर्य से विराजित उन सर्वत्र व्यापक शिव के तीनों नेत्रों की हम उपासना करते हैं।

अभयङ्करमाश्रितं स्वरूपं, दधदुद्दामसमग्रधामयोगम् ।
शुचितारकमीश्वरस्य नेत्रत्रितयं शूलशिखात्रयं च वन्दे ॥२३॥

अन्वय—[अहम्] अभयङ्करम् स्वरूपम् आश्रितम्, दधदुद्दामसमग्रधामयोगम् शुचितारकम् ईश्वरस्य 'नेत्रत्रितयम्' 'शूलशिखात्रयम्' च वन्दे ।

अर्थ—समस्त जीवों को अभयदान देनेवाले और स्वरूप में स्थित एवं अति उद्भट तेजोमय सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि के साथ सम्बन्ध रखनेवाले तथा स्वच्छ तारकाओं से सुशोभित, उन ईश्वर के तीनों नेत्रों को मैं प्रणाम करता हूँ, एवं भय से रहित और परमतेजोमय तथा दैत्यों के संग्राम से सम्पूर्ण देवताओं को तारने(बचाने)-वाले, अति पवित्र, श्रीशङ्करजी के त्रिशूल की तीनों शाखाओं को भी मैं प्रणाम करता हूँ।

मीलद्विलोचन-सपुद्‌ग-समुद्गताऽश्रु-
स्रोतःसु तिस्नपित-मूलकपोलभागाः ।

देवं शशाङ्ककलया कलितावतंसं
शंसन्ति सन्त इह शङ्कर शङ्करेति ॥ २४ ॥

अन्वय—इह मीलद्विलोचनसमुद्ग-समुद्गताश्रुस्रोतःस्रुतिस्नपितमूल-कपोलभागाः सन्तः शशाङ्ककलया कलितावतंसम् देवम् हे शङ्कर ! हे शङ्कर !! इति शंसन्ति ।

अर्थ—भक्त लोग जब भगवद्ध्यान में तल्लीन होकर मग्न हो जाते हैं तब, भावावेश की विशेषता से, उनके नेत्रों से प्रेमाश्रुओं का प्रवाह झरने लगता है; उस अश्रुप्रवाह से उनके समस्त कपोल मानो स्नान करके अति विशुद्ध हो जाते हैं। ऐसे ही समय में वे सत्पुरुष लोग 'चन्द्रखण्ड का भूषण' धारण करनेवाले देव (सदाशिव) की 'शङ्कर !' 'शङ्कर !' कहते हुए स्तुति करते हैं।

भ्रान्तोऽस्मि वैशसमये समयेऽहमत्र
मिथ्यैव दिग्भ्रमहतो महतोऽपमार्गान् ।
विश्रम्य नन्दनवने नवने शिवस्य
खेदस्तु सम्प्रति समेति स मेऽवसानम् ॥ २५ ॥

अन्वय—अहम् अत्र वैशसमये समये दिग्भ्रमहतः सन् महतः अपमार्गान् मिथ्या एव भ्रान्तः अस्मि, [दिष्ट्या] सम्प्रति तु शिवस्य नवने नन्दनवने विश्रम्य सः मे खेदः अवसानम् समेति ।

अर्थ—हाय ! मैं इस दुःसमय कलियुग के समय, अथवा काम-क्रोधादि से दुःखद तारुण्य अवस्था में नाना प्रकार की आशाओं के कारण दिग्भ्रम हो जाने से वृथा ही दुःखी हुआ, अर्थात 'मुझे सुख के साधनों की प्राप्ति अवश्य होगी' इस विचार से नाना प्रकार की दुष्ट अभिलाषाओं के वश अनेकों दिशाओं में फिर-फिरकर, वहाँ कुछ भी न पाकर, खिन्न होता हुआ बड़े-बड़े गड्ढों (दुर्गों) से युक्त कुमार्गों में वृथा ही घूमा। किन्तु, सद्भाग्यवश अब इस समय सदाशिव की स्तुति-रूप नन्दन वन

मे विश्राम पाकर मेरा वह संसाररूपी मरुस्थल में निरर्थक भ्रमण करने से उत्पन्न हुआ सम्पूर्ण खेद समाप्त हो रहा है।

यत्पार्वणेन्दुकर-सुन्दरवाह-हंस-
संवासदुर्ललितयाऽपि वचोधिदेव्या ।
विश्रम्यते मनसि नः समले सलीलं
तत्सौभगं भगवतो जयतीन्दुमौलेः ॥ २६ ॥

अन्वय—पार्वणेन्दुकरसुन्दरवाहहससवासदुर्ललितया अपि वचोधिदेव्या यत् न. समले मनसि विश्रम्यते तत् भगवतः इन्दुमौले. सौभगम् जयति ।

अर्थ—पूर्ण चन्द्रमा की किरणों के समान स्वच्छ वाहन (हंस) के सहवास से कुछ विलक्षण गर्ववाली भी 'सरस्वती' जो हमारे इस कलुषित (मलिन) चित्त में अपनी लीलाओ के सहित विश्राम (निवास) किया करती है, यह श्रीभगवान् शङ्कर के सर्वोत्कृष्ट सौभाग्य की विजय है।

सारांश यह है कि श्री सदाशिव के साथ चित्त के निरन्तर तन्मय हो जाने से श्रीसरस्वती भी अपने वाहन 'हंस' को छोड़कर अपनी उत्तम-उत्तम रचनाओं (कविताओं) के सहित सदैव हमारे चित्त में निवास किया करती है ।

यं भूषयन्ति कमनीयमहीनभोगाः
स्तुत्वा भवन्ति कृतिनो यमहीनभोगाः ।
चित्तोचितं तमपहाय महीनभोगाः
कर्तुं परत्र धृतसंयम ! ही न भो गाः ॥ २७ ॥

अन्वय—हो भोः ! धृतसयम ! चित्त ! यम् कमनीयम् अहीनभोगा. भूषयन्ति, तथा कृतिन यम् स्तुत्वा अहीनभोगा. भवन्ति , तम् अपहाय परत्र (अन्य विषये) मही नभो गा॰ गा. कर्तुम् [तव] न उचितम् ?

अर्थ—अरे ! शान्त स्वरूप को धारण करनेवाले चित्त ! बड़े खेद की बात है कि जिस परम मनोहर सदाशिव को वासुकि आदि

सर्पों के शरीर विभूषित करते हैं और अतिशय पुण्यशाली ज्ञानी लोग जिसकी स्तुति करके नाना प्रकार के भोगों से परिपूर्ण होते हैं, ऐसे भगवान् आशुतोष (श्री सदाशिव) को छोड़कर अन्य विषय में तमाम पृथ्वी और आकाश में गूँजनेवाली वाणियों—स्तुतियों—की रचनाएँ करना तुम्हें उचित नहीं है ? अर्थात्, जिस 'आशुतोष' की किञ्चिन्मात्र स्तुति करने से परम अकिञ्चन लोग भी सकल सम्पत्तियों से परिपूर्ण होकर परम आनन्द के सौख्य में मग्न हो जाते हैं, ऐसे करुणासागर—'शिव'—की स्तुति न करके अन्य प्राकृत लोगों की स्तुति (प्रशंसा) करना तुम्हें उचित नहीं है।

अवाप्य गुरुभिर्गुणैर्जगति गौरवं ध्यायत-
स्तमीरमणशेखरं भवति गौरवन्ध्या यतः।
अतस्तमुमया समं कृतमहाविलासं प्रति
स्तुतौ विरचिता मया मतिरनाविला सम्प्रति ॥२८॥

अन्वय—यतः तमीरमणशेखरम् ध्यायतः (पुंसः) गौः अवन्ध्या भवति, अतः मया जगति गुरुभिः गुणैः गौरवम् अवाप्य, सम्प्रति उमया समम् कृतमहाविलासम् तम् (शिवम्) प्रति स्तुतौ मतिः अनाविला कृता।

अर्थ—जिस 'चन्द्रमौलि' का ध्यान करनेवाले भक्त की वाणी अवन्ध्य अर्थात् अमोघ हो जाती है, एवं जिसकी कृपा से मुझे जगत् में पाण्डित्य, कवित्व आदि सद्गुणों से यह गौरव प्राप्त हुआ उस श्री पार्वती के साथ महालीलाएँ करनेवाले भगवान् 'शङ्कर' की स्तुति करके इस समय मैंने अपनी मति को अतीव स्वच्छ किया।

मत्त्वा सद्यः सुकृतसुलभं दुर्लभं जीवलोकं
लब्ध्वा सर्वव्यसनशमनं मित्रमेकं विवेकम्।
धन्याः केचित्कृतकुमुदिनीकान्तलेखावतंसं
हंसं शंसन्त्यपलमधुरैर्भक्तिसिक्तैर्वचोभिः ॥२९॥

अन्वय—सुकृतसुलभम् जीवलोकम् [पुनः] दुर्लभम् मत्वा, सर्वव्यसनशमनम् एकम् विवेकम् मित्रम् लब्ध्वा, केचित् धन्याः सद्यः कृतकुमुदिनीकान्तलेखावतंसम् हरम् अमलमधुरैः वचोभिः शंसन्ति ।

अर्थ—पुण्य के मित्र अर्थात् पुण्य से प्राप्त होनेवाले इस जीवलोक (मनुष्य-देह) को फिर अति दुर्लभ समझकर और सम्पूर्ण व्यसनों को समूल नष्ट करनेवाले एक विवेकरूपी मित्र को पाकर कोई विरले बड़भागी धन्य पुरुष तत्काल (स्वस्थावस्था में) ही भक्ति-रूप अमृत से सींचे हुए निर्मल मधुर वचनों से चन्द्रमौलि 'भगवान् सदाशिव' की स्तुति करते हैं ।

अन्तःशून्यं गुणविरहितं नीरसं सर्गहीनं
काव्यं हृद्यं ननु सुमनसां न स्थलाम्भोरुहाभम् ।
तत्रापीशः श्रवणपुलिने गाढरागानुबन्ध-
प्रोद्यद्भक्तिप्रगुणितमदः कर्तुमर्हत्यगर्हम् ॥ ३० ॥

अन्वय—ननु अन्तःशून्यम् गुणविरहितम् नीरसम् सर्गहीनम् [इदम्] स्थलाम्भोरुहाभम् काव्यम् सुमनसाम् हृद्यम् न [भविष्यति], तत्रापि ईशः गाढरागानुबन्धप्रोद्यद्भक्तिप्रगुणितम् अगर्हम् अदः [काव्यम्] श्रवणपुलिने कर्तुम् अर्हति ।

अर्थ—यद्यपि अन्तःशून्य अर्थात् कर्णिकाओं से रहित और सूक्ष्म तन्तुओं से रहित तथा जल के संसर्ग से हीन 'स्थल-कमल' उत्तम पुष्पों के मध्य में प्रिय नहीं लगता, तथापि नित्य लालिमा के संयोग से उदय होनेवाली शोभा के द्वारा श्रेष्ठ हो जाने से दोषरहित होने के कारण उसे फिर कानों में धारण किया ही जाता है। इसी प्रकार यद्यपि यह 'स्तुति-कुसुमाञ्जलि' रूप काव्य 'अन्तःशून्य' अर्थात् लक्ष्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ से रहित और ओज, प्रसाद एवं माधुर्यादि गुणों से वर्जित तथा शृङ्गारादि रस से हीन एवं सर्ग बन्धों से रहित और 'स्थलकमल' के समान शुष्क होने से विद्वानों को चाहे प्रिय न लगे, तथापि मन, वचन और शरीर की तन्मयता (शिवैकपरायणता) द्वारा

उदय हुई भक्ति द्वारा सम्पादित किये अनेक सद्गुणो से परिपूर्ण एवं सहृदय भावुक जनों से श्लाघनीय इस मेरे 'काव्य' को परम ऐश्वर्य के महासागर श्री सदाशिव तो अवश्य अपने कानों से सुनेंगे।

अर्थात् यद्यपि अपने पाण्डित्य के दर्प मे चूर हुए अहङ्कारग्रस्त पण्डितम्मन्य लोग इस काव्य की कीमत न समझकर भले ही इसकी उपेक्षा करे, किन्तु भगवान् आशुतोष तो इस भक्ति-परिपूर्ण काव्य को आदरपूर्वक (प्रेम से) सुनेंगे ही।

उक्त (पहिले के) श्लोक से विशेष सन्तुष्ट न होकर इसी बात का समर्थन फिर दूसरी तरह से करते हैं —

अथवाऽमृतबिन्दुवर्षिणीन्दुद्युतिरानन्दममन्दमर्पयन्ती ।
नयति ध्रुवमार्द्रतामियं गीर्गिरिजाजीवितनाथमिन्दुकान्तम्॥३१॥

अन्वय—अथवा अमृतबिन्दुवर्षिणी इन्दुद्युतिः अमन्दम् आनन्दम् अर्पयन्ती इयम् [मम] गीः गिरिजाजीवितनाथम् इन्दुकान्तम् ध्रुवम् आर्द्रताम् नयति।

अर्थ—अथवा जैसे अमृत की बूँदें बरसानेवाली और परम आनन्द प्रदान करनेवाली 'चन्द्रमा की कान्ति' चन्द्रकान्त मणि को पिघलाकर उसे जलार्द्र (सजल) कर देती है उसी प्रकार अमृत-बिन्दुओं को बरसाती हुई एवं वक्ता और श्रोताओं को अतीव आनन्दित करनेवाली यह मेरी वाणी—मेरी स्तुति—श्री पार्वती के प्राण-प्रिय चन्द्रमौलि (सदाशिव) के चित्त को अवश्य ही कृपा-रूप अमृत से आर्द्र करेगी।

इति श्री 'प्रेममकरन्दो'पेन काश्मीरक महाकवि 'श्रीमज्जगद्धरभट्ट'
विरचिते भगवतो महेश्वरस्य 'स्तुति-कुसुमाञ्जलौ'
'स्तुति-प्रस्तावना'नामकं प्रथमं स्तोत्रम्।

द्वितीयं स्तोत्रम्

अब इसके बाद हमारे कविराज 'नमस्कारात्मक' द्वितीय स्तोत्र को प्रारम्भ करते हुए कहते हैं—

ॐ नमः परमार्थैकरूपाय परमात्मने ।
स्वेच्छावभासिताऽसत्य-भेदभिन्नाय शम्भवे ॥ १ ॥

अन्वय—ॐ परमार्थैकरूपाय स्वेच्छावभासिताऽसत्यभेदभिन्नाय शम्भवे परमात्मने नमः (अस्तु) ।

अर्थ—'ओऽम्' शब्द मङ्गलवाचक है। परम उत्कृष्ट 'मोक्ष'-स्वरूप, अथवा 'ज्ञान-स्वरूप, और स्वेच्छा (शक्ति) से प्रकट किये हुए 'मिथ्या-भेद' (द्वैत प्रपञ्च) से पृथक् स्थित*, उस परम कल्याण-स्वरूप, व्यापक (सच्चिदानन्दघन) परमात्मा 'सदाशिव' के लिए नमस्कार है ।

नमः शिवाय निःशेष-क्लेश-प्रशमशालिने ।
त्रिगुणग्रन्थिदुर्भेद-भवभेदविभेदिने ॥ २ ॥

अन्वय—निःशेषक्लेशप्रशमशालिने त्रिगुणग्रन्थिदुर्भेदभवभेदविभेदिने शिवाय नमः ।

अर्थ—पाँच प्रकार के स्थूल और सूक्ष्म क्लेशों (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश) के त्रैकालिक सम्बन्ध से रहित एवं प्रीति, अप्रीति और विषाद-स्वरूप—सत्त्व, रज और तमोगुण की ग्रन्थि (गाँठ) से अति दुर्भेद्य—अर्थात् अत्यन्त दृढ़ बने हुए भव-बन्धन यानी देह, इन्द्रिय और विषयों के सम्बन्ध से उत्पन्न हुए

---

* अर्थात्—भगवान् सदाशिव ही एक अद्वितीय परब्रह्म-स्वरूप हैं और उनके प्रतिबिम्ब रूप ही सब देव, मनुष्यादि हैं ।

संसार-चक्र के बन्धन को भेदन करनेवाले भगवान् 'सदा शिव' के लिए नमस्कार है ।

[यहाँ पर 'क्लेश' शब्द कर्म, विपाक और आशय का भी उपलक्षण है, अत: इसका अभिप्राय यह है कि—"क्लेश, कर्म, विपाक और आशय इनके संसर्ग से रहित उस 'ईश्वर' के लिए नमस्कार है ।" योग-सूत्रकार श्री पतञ्जलिजी ने भी 'ईश्वर' का स्वरूप ऐसा ही बतलाया है—'क्लेश-कर्म-विपाकाशयैरपरामृष्ट: पुरुषविशेष ईश्वर:' अर्थात्—क्लेश, कर्म, विपाक और आशय के संसर्ग से रहित 'पुरुष विशेष' (ही) ईश्वर है ।]

अथवा—(दूसरे प्रकार से उक्त श्लोक का अर्थ यों भी हो सकता है—) क्लेशों की पूर्ति करनेवाले जो प्रमाद आदि समस्त दोष हैं उनका मूलोच्छेदन करने से सुशोभित, अर्थात्—मायाकृत बन्धनों से रहित एवं त्रिगुणात्मक ग्रन्थि से युक्त जो परम तत्त्व के अनभिज्ञ (जीव) लोग हैं उनके अत्यन्त दुर्भेद (दृढ़) भव-बन्धन अर्थात् स्व स्वरूप के 'अज्ञान' को समूल नष्ट करनेवाले यानी जीवों के समस्त संसार-बन्धनों को समूल ही नष्ट करके उन्हें परम कल्याण-(मोक्ष)-धाम में पहुँचाने-वाले भगवान् 'शङ्कर' को नमस्कार है* ।

नमः समस्तगीर्वाण-किरीटघटिताङ्घ्रये ।
जगन्नगरनिर्म्माण-नर्म-शर्मद-कर्म्मणे ॥ ३ ॥

अन्वय—समस्तगीर्वाण-किरीटघटिताङ्घ्रये, जगन्नगरनिर्माण-नर्मशर्मद-कर्मणे (शिवाय) नमः (अस्तु) ।

अर्थ—समस्त देवताओं के शिरो-मुकुटों से मिले हुए जिसके चरण कमल हैं एवं जगद्रूप नगर का निर्माण करना ही जिसका सुमनोहर कल्याणदायक कर्म (क्रीड़ा) है उस शङ्कर को प्रणाम है ।

---

* यहाँ 'वृत्त्यनुप्रास' नामक अलङ्कार है—
"अनेकस्यैकधा साम्यमसकृद्वाऽप्यनेकधा ।
एकस्य सकृदप्येष वृत्त्यनुप्रास उच्यते ।" (सा० द०)

नमस्तमस्वतीकान्त-खण्ड-मण्डित-मौलये ।
तापान्धकारनिर्वेदखेदविच्छेदवेदिने ॥ ४ ॥

*अन्वय—तमस्वतीकान्त-खण्ड मण्डित-मौलये, तापान्धकारनिर्वेदखेद-*विच्छेदवेदिने (श्रीशिवाय) नमः (अस्तु) ।

अर्थ—जिसका मस्तक चन्द्रमा की कला से सुशोभित है एवं संसारी जीवों के अथवा भक्तजनों के आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक सन्ताप तथा अविद्यामय मोहरूप अन्धकार से उत्पन्न हुई (तीव्र) वेदना द्वारा जो खेद होता है उसके विच्छेद (नाश करने के उपाय) को जाननेवाले अर्थात् उस खेद को समूल ही नष्ट करनेवाले उस करुणामय सदाशिव को प्रणाम है ।

नमः समस्तसंकल्पकल्पना-कल्पशाखिने ।
विकासिकलिकाकान्तकलापाय स्वयम्भुवे ॥ ५ ॥

अन्वय—समस्तसंकल्पकल्पना कल्पशाखिने, विकासिकलिकाकान्त-कलापाय, स्वयम्भुवे नमः (अस्तु) ।

अर्थ—प्रार्थना करनेवाले सेवकों की समस्त मनोभिलषित वस्तुओं की पूर्ति करनेवाले एवं विकसित कलिकाओं से अर्थात् दिव्य कुसुमों के सुपुष्पित कुड्मलों (गोफलों) से सुशोभित-शाखावाले स्वयम्भू अर्थात् कल्पवृक्ष की तरह भक्तों के ऐहिक और पारलौकिक समस्त मनोभिलषित संकल्पों को सम्पादन (पूर्ण) करनेवाले एवं विकसित चन्द्र-कला से अति सुमनोहर *जटाजूट वाले स्वयम्भू* अर्थात् अनादि शिव के लिए नमस्कार है[1] ।

नमस्तमःपराभूत-भूतवर्गानुकम्पिने ।
स्वैतभानुबृहद्भानु-भानुभासितचक्षुषे ॥ ६ ॥

---

(१) यहाँ भी 'वृत्त्यनुप्रास' नामक अलङ्कार है ।

अन्वय—तमःपराभूतभूतवर्गानुकम्पिने, श्वेतभानु बृहद्भानु-भानुभासित-चक्षुषे, नमः (अस्तु) ।

अर्थ—अविद्या-रूप अज्ञान (अन्धकार) से घेरे (दबाये) हुए दीन प्राणियों के प्रति निष्कारण (ही) अनुकम्पा (दया) करने वाले एवं चन्द्रमा, अग्नि और सूर्य से जिनके (तीनों) नेत्र भासमान हो रहे हैं ऐसे आशुतोष को नमस्कार है ।

नमः शमनहुङ्कार-कातराऽऽतुरहर्षिणे ।
भवाय भवदावाग्नि-विविग्नाऽमृतवर्षिणे ॥ ७ ॥

अन्वय—शमनहुङ्कार-कातरातुरहर्षिणे, भवदावाग्नि विनिग्नामृतवर्षिणे, भवाय नमः ।

अर्थ—यमराज के अति भयानक हुङ्कार (गर्जन) से कातर (भयभीत) हुए आतुर लोगों को अभयदान देकर हर्षित करनेवाले एवं संसार-रूप दावाग्नि (वनाग्नि) से व्याकुल हुए दीनों के प्रति अमृत की वर्षा करनेवाले सदाशिव को हमारा प्रणाम है ।

नमः समदकन्दर्पदर्पज्वर-भरच्छिदे ।
दुर्वारभवरुग्भङ्गभिषजे वृषलक्ष्मणे ॥ ८ ॥

अन्वय—समदकन्दर्पदर्पज्वर-भरच्छिदे, दुर्वारभवरुग्भङ्गभिषजे, वृषलक्ष्मणे नमः ।

अर्थ—जिसने मदोन्मत्त कामदेव के अहङ्कार रूप ज्वर के भार का छेदन किया एवं जो इस दुर्निवार्य (अत्यन्त अगाध्य) संसार-रूपी व्याधि का (एक ही) चिकित्सक (वैद्य) है, उस वृषभकेतु (वृषभध्वज) शिव को हमारा नमस्कार है ।

नमो जन्मजरामृत्युभीतिसातङ्कपालिने ।
करुणामृतसम्पर्कपेशलाय कपालिने ॥ ९ ॥

अन्वय—जन्मजरामृत्युभीतिसातङ्कपालिने करुणामृतसम्पर्कपेशलाय कपालिने नमः ।

अर्थ—जन्म, जरा और मृत्यु के भय से दुःखितों की पालना करनेवाले, कृपारूप अमृत के सम्पर्क (सम्बन्ध) से अति कोमल और हाथ में कपाल (खप्पर) को धारण करनेवाले शङ्कर को नमस्कार है।

नमो निसर्ग-निर्विघ्न-प्रसादामृत-सिन्धवे ।
संसार-मरु-सन्ताप-तापितापन्न-बन्धवे ॥ १० ॥

अन्वय—निसर्ग निर्विघ्नप्रसादामृतसिन्धवे संसार-मरु-संताप-तापितापन्न-बन्धवे नमः ।

अर्थ—समस्त विघ्नो को अतिक्रमण (नाश) करनेवाली स्वाभाविकी प्रसन्नता रूपी अमृत के महासागर तथा संसार-रूप मरुस्थल में आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तापो से सन्तापित हुए विपत्ति-ग्रस्त अथवा शरणागत जनो के निष्कारण बान्धव 'सदा शिव' को नमस्कार है।

नमः सान्द्राऽमृतस्यन्दिघनध्वनितशोभिने ।
महाकालाय भीष्मोष्मभवग्रीष्मक्लमच्छिदे ॥ ११ ॥

अन्वय—सान्द्रामृतस्यन्दिघनध्वनितशोभिने, भीष्मोष्मभवग्रीष्मक्लमच्छिदे, महाकालाय नमः ।

अर्थ—सघन जल को बरसानेवाले मेघो की ध्वनि से सुशोभित एवं अति भयावह उष्णता (गरमी) के उत्पादन करनेवाले ग्रीष्मकाल से उत्पन्न हुए क्लम (थकावट) को हरनेवाले महाकाल अर्थात् वर्षाकाल के समान अतिगाढ 'कृपारूप' अथवा 'कल्याण (मोक्ष)-रूप' अमृत को टपकानेवाले प्रसाद-वाक्यों से अर्थात् भक्तो को अभयदान देनेवाले 'मा भैषीः ! मा भैषीः !!' (मत डरो ! मत डरो !!) ऐसे प्रसाद वाक्यों से सुशोभित एवं अतिभयानक संसार रूप ग्रीष्मकाल से उत्पन्न हुए खेद का छेदन करनेवाले उस महाकाल अर्थात् प्रलयकाल में समस्त प्रपञ्च का संहार करनेवाले शिव को प्रणाम है।

नमो वाङ्मनसातीत-महिम्ने परमेष्ठिने ।
त्रिगुणाष्टगुणाऽनन्तगुण-निर्गुण-मूर्त्तये ॥ १२ ॥

अन्वय—वाङ्मनसातीतमहिम्ने निर्गुणाष्टगुणाऽनन्तगुणनिर्गुणमूर्त्तये परमेष्ठिने नमः।

अर्थ—जिसकी महिमा वाणी और मन से परे है और जो सत्त्व, रज एवं तमोगुणानुरूप त्रिमूर्ति को, तथा बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म और अधर्म-स्वरूप अष्ट (गुण) मूर्त्ति को अथवा अनन्त गुणवती मूर्ति को या निर्गुण मूर्ति को धारण करता है उस परमेष्ठी अर्थात् सृष्टि-कार्य के लिए ब्रह्मारूप धारण करनेवाले शङ्कर के लिए प्रणाम है।

हंसाय दीर्घदोषान्तकारिणेऽम्बरचारिणे।
स्वमहोमहिमध्वस्तसमस्ततमसे नमः॥ १३॥

अन्वय—दीर्घदोषान्तकारिणे, अम्बरचारिणे, स्वमहोमहिमध्वस्तसमस्ततमसे हंसाय नमः (अस्तु)।

अर्थ—महारात्रि का अन्त (नाश) करनेवाले, आकाश में विचरण करनेवाले और स्वकीय तेज की महिमा से संसार भर के समस्त अन्धकार को नष्ट करनेवाले हंस (अर्थात् सूर्य) के समान, अद्वय-स्वरूप (आत्म-स्वरूप) के आवरक (अज्ञान आदि) महान् दोषों को नाश करनेवाले, परम ज्योति रूप से हृदय (रूप) आकाश में विचरनेवाले एवं स्वकीय तेज की महिमा से समस्त अज्ञान-रूप अन्धकार को नष्ट करनेवाले उस हंस अर्थात् 'परम शिव परमात्मा' को नमस्कार है।

यः सुवर्णेन चन्द्रेण गाङ्गेयेनाग्निजन्मना।
काञ्चनेनश्रियं धत्ते तस्मै स्मरजिते नमः॥ १४॥

अन्वय—यः, सुवर्णेन चन्द्रेण, गाङ्गेयेन अग्निजन्मना, काञ्चन इनश्रियम् धत्ते, तस्मै स्मरजिते नमः।

अर्थ—जो (ईश्वर) सुन्दर वर्णवाले चन्द्रमा, गणपति और कार्त्तिकेय इनके संयोग से स्वच्छन्द प्रभुशोभा (राजशोभा) को धारण करता है उस कामदेव को जीतनेवाले (महाशिव) के लिए प्रणाम है।

निजाङ्गभङ्गभङ्ग्यापि भक्तानुग्रहकारिणे ।
नमः स्तम्भितजम्भारि-भुजस्तम्भाय शंभवे ॥ १५ ॥

अन्वय—निजाङ्गभङ्गभङ्ग्या अपि भक्तानुग्रहकारिणे स्तम्भितजम्भारि-भुजस्तम्भाय शम्भवे नमः ।

अर्थ—जो 'सदाशिव' अपने अङ्ग (लिङ्ग नामक पुरुष-चिह्न) के भङ्ग (नाश) से भी भक्तों (पूजा करनेवालों) के प्रति महान् अनुग्रह करते हैं* और जिन्होंने इन्द्र के भुज-(बाहु-) दण्ड को स्तम्भित कर दिया उन परम कल्याणमय प्रभु को हमारा नमस्कार है ।

निःसामान्याय मान्याय न्यायमार्गोपदेशिने ।
मूर्धन्याय वदान्याय धन्याय स्वामिने नमः ॥ १६ ॥

---

* स्वच्छन्द होने के कारण स्वेच्छानुसार लोकोत्तर चर्या में निरत भगवान् श्री भोलेनाथ किसी समय कहीं दिगम्बर वेष में विहरण कर रहे थे । उनके परम सुमनोहर अप्राकृत सौन्दर्य्य की छटा देखकर मुनियों की पत्नियाँ अत्यन्त मुग्ध हो गईं । तब अपनी पत्नियों की ऐसी दशा देखकर उन मुनियों ने कुपित हो भगवान् शिव को शाप दिया कि—'आपके लिंग का भङ्ग (पतन) हो जाय ।' तब भगवान् शिव का लिङ्ग पृथ्वी पर गिर गया, इससे तमाम संसार में अनेक तरह के अकाल और उपद्रव होने लगे; तब अत्यन्त भयभीत हो ब्रह्मादि देवताओं ने भक्ति-श्रद्धा पुरस्सर सदाशिव के उस ज्योतिर्लिङ्ग (की स्थापना कर उस) का अर्चन किया, जिससे कि सबका मनोरथ परिपूर्ण हो गया । तब से समस्त भूमण्डल में शिव के (ज्योतिर्मय) लिङ्ग के अर्चन की महिमा विस्तृत हुई । इससे सिद्ध होता है कि भगवान् सदाशिव की आकस्मिकी अश्लील चेष्टाओं से भी प्राणियों का परम कल्याण (मोक्ष) होता है तब उनकी वास्तविकी चेष्टाओं का तो कहना ही क्या है । कहा है—

अपूर्वं लावण्यं विरसनतनोस्ते विमृशतां
मुनीनां दाराणां समजनि स कोऽपि व्यतिकरः ।
यतो भग्ने गुह्ये सकृदपि सपर्यां विदधतां
ध्रुवं मोक्षोऽश्लीलं किमपि पुरुषार्थप्रसवि ते ॥

अन्वय—निःसामान्याय मान्याय न्यायमार्गोपदेशिने मूर्धन्याय वदान्याय धन्याय स्वामिने नमः (अस्तु)।

अर्थ—कोई (सदृश) उपमान न होने के कारण जो (शिव) समानता से रहित और परम पूज्य है तथा जो भक्तों को सत्य मार्ग का उपदेश करता है अथवा कणाद आदि महर्षि रूप से जो न्याय-शास्त्र का उपदेश करता है, उस ब्रह्मादि देवों में अग्रगण्य एवं भक्तों को मनोवाञ्छित फल देनेवाले धन्य महेश्वर को प्रणाम है।

नमः संहृतकालाय कालायसगलत्विषे ।
गङ्गाधौतकलापाय कलापायमविन्दते ॥ १७ ॥

अन्वय—संहृतकालाय कालायसगलत्विषे गङ्गाधौतकलापाय कलाऽपायम् अविन्दते (शिवाय) नमः।

अर्थ—यमराज के भय से भयभीत राजा श्वेत एवं मार्कण्डेय आदि (भक्तों) को अभय-दान देकर काल का नाश करनेवाले, (कालकूट के पान करने से) जिनके कण्ठ (गले) की कान्ति काले लोह के समान भासमान होती है और गङ्गा के प्रवाह से जिनका जटाजूट अतीव स्वच्छ है एवं जिसके मस्तक पर विराजमान चन्द्रकला का कभी भी ह्रास नहीं होता, उस अपार करुणासिन्धु को हमारा नमस्कार है।

जिष्णुना जिष्णुना लोकान् विष्णुना प्रभविष्णुना ।
ब्रह्मणा ब्रह्मणाद्येन स्तुताय स्वामिने नमः ॥ १८ ॥

अन्वय—लोकान् जिष्णुना जिष्णुना, प्रभविष्णुना विष्णुना, आद्येन ब्रह्मणा, ब्रह्मणा (च) स्तुताय, स्वामिने नमः।

अर्थ—लोकजित् इन्द्र, सृष्टि के पालक-विष्णु; वेद भगवान् और ब्रह्मा जिनकी स्तुति करते हैं ऐसे स्वामी सदाशिव को हमारा प्रणाम है।

कुलशैलदलं पूर्ण-सुवर्ण-गिरि-कर्णिकम् ।
नमोऽधितिष्ठतेऽनन्तनालं कमलविष्टरम् ॥ १९ ॥

अन्वय—कुलशैलदलम्-पूर्ण-सुवर्ण-गिरि-कर्णिकम् अनन्तनालम् कमल-विष्टरम् अधितिष्ठते नमः ।

अर्थ—हिमालय, निषध, विन्ध्य, मलयाचल, पारियात्रक, गन्धमादन, सह्य और नील ये आठ कुल-पर्वत जिसके दल हैं और महान् सुमेरु पर्वत जिसकी कर्णिका है एवं (अनन्त) शेषनाग जिसकी नाल है ऐसे भूलोकरूपी कमल के आसन पर सृष्टि-कार्य के लिए जो ब्रह्मा रूप में अधिष्ठित (बैठा) है, उस सदा शिव को प्रणाम हो।

निमित्तमन्तरेणापि यः सपङ्कजनाभये ।
प्रवर्तते विभुस्तस्मै नमः पङ्कजनाभये ॥ २० ॥

अन्वय—य विभु सपङ्कजनाभये निमित्तम् अन्तरेण अपि प्रवर्त्तते, तस्मै पङ्कजनाभये नमः ।

अर्थ—जो सर्वव्यापक ईश्वर सपङ्क-जनों (पापी-पुरुषों) को भी अभयदान देने में बिना निमित्त (कारण) ही प्रवृत्त होता है, उस पङ्कज-नाभि (कमल-नाभि) अर्थात् सृष्टि की स्थिति (पालन) के लिए श्री विष्णुरूप धारण किये सदाशिव को प्रणाम है।

नमः सोमार्धदेहाय सोमार्धकृतमौलये ।
श्वेताभयसमुद्भूत-श्वेताभयशसे नमः ॥ २१ ॥

अन्वय—सोमार्धदेहाय नमः, सोमार्धकृतमौलये श्वेताभयसमुद्भूत-श्वेताभ यशसे नमः ।

अर्थ—जिसके अर्धाङ्ग में श्री पार्वती जी और ललाट पर अर्ध-चन्द्रमा विराजित हैं एवं राजा श्वेत को अभयदान देने मे जिसकी कीर्ति लोक में अत्यन्त विख्यात है उस शिव को नमस्कार है।

विनतानन्दनं नागविग्रहोग्रमुखं दृशा ।
विनायकमुपासीनं भजते स्वामिने नमः ॥ २२ ॥

अन्वय—विनतानन्दनम् 'नागविग्रहोग्रमुखम् उपासीनम् विनायकम्, दृशा भजते स्वामिने, नमः ।

अर्थ—जो परमेश्वर नम्रजनों को अति आनन्द देनेवाले एवं उग्र गज-मुख को धारण कर सेवा करने में उपस्थित हुए श्री गणेशजी को अपनी प्रसन्न (स्नेहभरी) दृष्टि से देखकर परम अनुकम्पित करते हैं उन शङ्करजी को प्रणाम है।

अथवा—विनता के पुत्र और सर्पों से वैरभाव होने के कारण कुटिलमुख को धारण कर सेवा के लिए समुपस्थित हुए पक्षिराज (श्री गरुड़) को जो अपनी अनुकम्पापूर्ण स्नेहभरी दृष्टि से देखते हैं उन श्रीविष्णुरूपधारी शिव को प्रणाम है।

नमो ब्रह्म-हरि-त्र्यक्षश्रवसे भवसेतवे।
जगत्सर्ग-स्थिति-ह्रास-हेतवे वृषकेतवे ॥ २३ ॥

अन्वय—ब्रह्म-हरि-त्र्यक्षश्रवसे, भवसेतवे जगत्सर्गस्थिति-ह्रासहेतवे वृषकेतवे नमः।

अर्थ—अपने यश की ख्याति के लिए ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र रूपधारी एवं संसार-रूप सागर से तारनेवाले तथा जगत् की सृष्टि, स्थिति और संहार करनेवाले अर्थात् कार्य के लिए जो ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र रूप धारण करते हैं उन श्रीवृषभध्वज (सदाशिव) को हमारा प्रणाम है।

कर्णिकादिष्विव स्वर्णमर्णवादिष्विवोदकम्।
भेदिष्वभेदि यत्तस्मै परस्मै महसे नमः ॥ २४ ॥

अन्वय—कर्णिकादिषु स्वर्णम् इव, अर्णवादिषु उदकम् इव, भेदिषु यत् अभेदि, तस्मै परस्मै महसे नमः।

अर्थ—जैसे केवल कर्णिका, कटक, कुण्डल आदि नाममात्र द्वारा भिन्न से प्रतीयमान पदार्थों में एक (उनसे) अभिन्न ही सुवर्ण है और समुद्र, नद, नदी आदि केवल नाममात्र उपाधि से भिन्नवत् प्रतीयमान जलाशयों में 'यह समुद्र का जल है' और 'यह नदी का है' इत्यादि प्रकार से जैसे केवल नाममात्र से भिन्न सा प्रतीत होना

हुआ वास्तव में एक ही अभिन्न जल विद्यमान है ; उसी तरह सुर, नर, पशु, पक्षी, मृग, सर्प आदि केवल नाममात्र से भिन्नवत् प्रतीयमान रूपों में जो एक (शिव) ही परमार्थ रूप से व्याप्त है उस परमज्योति-चिदानन्द घन-स्वरूप परम शिव को हमारा प्रणाम है।

यमेकमेव श्रयतो न जायते
स्पृहा परस्मै महतेऽपि नाकिने।
नमः समस्तापदुपेतपालन-
व्रताय तस्मै विभवे पिनाकिने ॥ २५ ॥

अन्वय—यम् एकम् एव श्रयतः महते अपि परस्मै नाकिने स्पृहा न जायते, तस्मै समस्तापदुपेतपालन व्रताय विभवे पिनाकिने नमः।

अर्थ—जिस एक ही प्रभु को शरण लेनेवाले भक्त को फिर (किसी) दूसरे महान् (बड़े) देवता की (सेवा करके वरदान प्राप्त करने की) इच्छा ही नहीं होती, ऐसे—समस्त आपदाओं में डूबे हुए (दीन) जनों का पालन रूप व्रत को धारण करनेवाले सर्वसमर्थ सर्वव्यापी महेश्वर को अनेक बार नमस्कार है।

विधौ जगत्सर्गविधौ यदाहितं
प्रतिष्ठितं यत्स्थितिकारणे विधौ।
समूढमूढार्ध-विधौ लये च यत्
पराय तस्मै महसे नमो नमः ॥ २६ ॥

अन्वय—[भगवता] जगत्सर्गविधौ यत् विधौ आहितम्, स्थिति-कारणे यत् विधौ प्रतिष्ठितम्, लये च यत् ऊढार्धविधौ समूढम्, तस्मै पराय महसे नमो नमः।

अर्थ—परमेश्वर (सदाशिव) ने जगत् की सृष्टि के लिए जिस (अपने तेज) को श्रीब्रह्माजी में निर्धारित किया और जगत् के पालन के निमित्त जिस (तेज) को श्रीविष्णु (रूप) में संस्थापित किया एवं

जगत् के संहार के निमित्त जिसे श्री रुद्र रूप में धारण किया उस ईश्वरीय परमतेज को बारम्बार नमस्कार है।

नमः समुत्पादिततारकद्विषे
नमस्त्रिधामाश्रित-तारकत्विषे।
नमो जगत्तारकपुण्यकर्मणे
नमो नमस्तारकराजमौलये ॥ २७ ॥

अन्वय—समुत्पादिततारकद्विषे नमः, त्रिधामाश्रिततारकत्विषे नमः, जगत्तारकपुण्यकर्मणे नमः, तारकराजमौलये नमो नमः।

अर्थ—जिस (सदाशिव) ने तारकासुर दैत्य को मारनेवाले स्वामी कार्त्तिकेय को उत्पन्न किया उसके लिए हमारा प्रणाम है। और सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि (इन तीनों तेजों) ने जिसके नेत्र-गोलकों की कान्ति को आश्रित किया है उसको हमारा नमस्कार है; एवं जिसका अति पवित्र मनोहर चरित्र इस जगत् को समस्त दुःखों से पार कर देता है उसके प्रति हमारा प्रणाम है तथा जिसके मस्तक में तारक राज अर्थात् चन्द्रदेव विराजमान हो रहे हैं उस करुणासागर को बारम्बार हमारा नमस्कार है।

नमो नमस्तेऽमृतभानुमौलये
नमो नमस्तेऽमृतसिद्धिदायिने।
नमो नमस्तेऽमृतकुम्भपाणये
नमो नमस्तेऽमृतभैरवात्मने ॥ २८ ॥

अन्वय—(हे परमेश!) अमृतभानुमौलये ते नमो नमः, अमृतसिद्धिदायिने ते नमो नमः, अमृतकुम्भपाणये ते नमो नमः, अमृतभैरवात्मने ते नमो नमः।

अर्थ—हे परमेश्वर! आप चन्द्रशेखर को बारम्बार नमस्कार है, अमृतसिद्धि अर्थात् मोक्षसिद्धि के देनेवाले आपको सदा प्रणाम है एवं

सुधाम्लश (अमृत के कलश) को अपने कर-कमल में धारण करनेवाले हे मृत्युञ्जय ! आपको प्रणाम है और अपने भीषण चरित्रों से समस्त संसार को हरनेवाले हे भैरव ! आपके प्रति सर्वदा नमस्कार है।

नमस्तमःपारपरार्ध्यवृत्तये
नमः समस्ताध्वविभक्तशक्तये।
नमः क्रमव्यस्त-समस्त-मूर्त्तये
नमः शमस्थार्पितभक्तिमुक्तये ॥ २९ ॥

अन्वय—तमःपारपरार्ध्यवृत्तये नमः, समस्ताध्वविभक्तशक्तये नमः, *क्रमव्यस्तसमस्तमूर्त्तये नमः, शमस्थार्पितभक्तिमुक्तये नमः।*

अर्थ—जिसकी उत्कृष्ट-स्थिति अज्ञान से परे है उस परमेश्वर शिव को हमारा नमस्कार है, समस्त मार्गों में (अर्थात् पदमार्ग, वर्ण-मार्ग, मन्त्रमार्ग, तत्त्वमार्ग, कालमार्ग और भुवनमार्ग इन छः मार्गों में) जिस (ईश्वर) ने अपनी अमोघ शक्ति को विभक्त (तत्तत्स्थलों में सस्थापित) किया है उसको प्रणाम है; एवं ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र आदि रूप से जिसने अपनी समस्त मूर्तियों को पृथक् किया है उस परम दयालु को हमारा नमस्कार है और शांति में स्थित हुए (संतोषी) पुरुषों को भक्ति और मुक्ति देनेवाले शङ्कर को हमारा प्रणाम है।

विजयजयप्रदाय शबराय वराय नमः
सकलकलङ्कसङ्कर-हराय हराय नमः।
जगदगद-प्रगल्भ-विभवाय भवाय नमः
प्रवरवरप्रकाशित-शिवाय शिवाय नमः ॥ ३० ॥

अन्वय—विजयजयप्रदाय वराय शबराय नमः, सकलकलङ्कसङ्कर-हराय हराय नमः, जगदगद प्रगल्भ विभवाय भवाय नमः, प्रवरवरप्रकाशित-शिवाय शिवाय नमः।

अर्थ—अर्जुन को विजय प्रदान करने के लिए अतिविचित्र किरात-रूप को धारण करनेवाले (शिव) को प्रणाम है, मन, वचन,

शरीर द्वारा उपार्जित किये पापों के दोषों को हरनेवाले महेश्वर को प्रणाम है ; एवं जिसका ऐश्वर्य समस्त जगत् को हठात् निष्कण्टक बना देता है उस लोक-कल्याणकारी शिव को नमस्कार है और जिसने भक्त (लोगों) को श्रेष्ठ वरदान देकर अपने शिव (कल्याण) स्वरूप को प्रकट (प्रकाशित) किया है उस परम-कल्याण दायक सदाशिव को प्रणाम है।

इति श्रीप्रेममकरन्दनाम्न्या टीकया समेत काश्मीरकमहाकवि
श्रीजगद्धरभट्टविरचिते भगवतो महेश्वरस्य 'स्तुति-
कुसुमाञ्जलौ' नमस्कारात्मक द्वितीय स्तोत्रम् ।

तृतीयं स्तोत्रम्

अब हमारे कविराज भगवद्भक्ति में तन्मय (विभोर) हो अद्भुत प्रेम द्वारा भगवान् शङ्कर को प्रसन्न कर उनकी परम कृपा से उनके स्वरूप का यथार्थ साक्षात्कार करके कृतकृत्य हो संसारी लोगों को शिव-तत्त्व (आत्म-तत्त्व) के साक्षात्कार द्वारा अनादि अविद्या (माया) के चक्र से छुड़ाकर परम आनन्द (मोक्षधाम) सम्पादन करने का अधिकारी बनाने के लिए लोगों के हृदय में 'श्री शिवभक्ति'-रूप कल्पलता को प्रफुल्लित करने के वास्ते 'आशीर्वाद-स्वरूप' तृतीय स्तोत्र का प्रारम्भ करते हुए कहते हैं—

नित्यं निरावृति निजानुभवैकमान-
मानन्दधाम जगदङ्कुरबीजमेकम् ।
दिग्देशकाल कलनादि-समस्त-हस्त-
मदोसहं दिशतु शर्म महन्महो नः ॥ १ ॥

अन्वय—नित्यम् निरावृति निजानुभवैकमानम् आनन्दधाम एकम् जगदङ्कुरबीजम् दिग्देशकाल-कलनादि समस्त हस्त-मर्दासहम् (तत्) महत् महः, नः शर्म दिशतु।

अर्थ—अतीत वर्त्तमान और भविष्यद् रूपों मे सत्ता (अस्तित्व) रूप मे नित्य विद्यमान, अविद्यात्मक माया के आवरण से रहित और केवल एक अपना अनुभव ही जिसका प्रमाण है ऐसी एव आनन्द का परम धाम और समस्त जगत्-रूप अङ्कुरों का एक ही मूल कारण तथा समस्त दिशा देश और काल के परिच्छेद अर्थात् मापकों की माप के सहन न करनेवाली, यानी दिक्कृत, देशकृत एव कालकृत परिच्छेद से शून्य वह महान् ज्योति (शङ्कर का तेज) हमारे लिए कल्याण (मङ्गल) प्रदान करे।

व्योम्नीव नीरदभरः सरसीव वीचि-
व्यूहः सहस्रमहसीव सुधांशुधाम।
यस्मिन्निदं जगदुदेति च लीयते च
तच्छाम्भवं भवतु वैभवमृद्धये नः ॥ २ ॥

अन्वय—व्योम्नि नीरदभरः इव, सरसि वीचिव्यूहः इव, सहस्रमहसि सुधांशुधाम इव, यस्मिन् इदम् जगत् उदेति लीयते च, तत् शाम्भवम् वैभवम् नः ऋद्धये भवतु।

अर्थ—आकाश मे मेघ माला के समान, सरोवर में तरङ्ग समूह के समान एव सूर्य मे चन्द्रमा के तेज के समान, जिस (अचिन्त्य, अनन्त-महामहिम शक्तिशाली परमेश्वर के वैभव) में अघटित-घटना पटीयसी माया के योग से यह समस्त जगत् उदय (उत्पन्न) और अस्त (नाश) होता है वह श्रीशङ्करजी का अतुलनीय वैभव हमारी समृद्धि के लिए हो।

लोकत्रयस्थितिलयोदयकेलिकारः
कार्य्येण यो हरि-हर-द्रुहिणत्वमेति।

देवः स विश्वजनवाङ्मनसातिवृत्त-
शक्तिः शिवं दिशतु शश्वदनश्वरं वः ॥ ३ ॥

अन्वय—यः कार्य्येण लोकत्रयस्थितिलयोदयकेलिकारः हरिहरद्रुहिणत्वम् एति, सः विश्वजनवाङ्मनसातिवृत्तशक्तिः देवः, वः शश्वत् अनश्वरम् शिवम् दिशतु।

अर्थ—जीवों के उपकार के लिए तीनों लोकों की स्थिति (पालना) संहार और उत्पत्ति-रूप क्रीडा करता हुआ जो क्रमशः विष्णु, रुद्र और ब्रह्मा रूप को धारण करता है, एवं जिसकी शक्ति समस्त प्राणियों की वाणी और मन से अत्यन्त अगम्य है वह स्वयंप्रकाश परमेश्वर (सदाशिव) आप लोगों को सदैव अक्षय कल्याण (मोक्ष) प्रदान करे।

सर्वः किलायमवशः पुरुषाणुकर्म-
कालादिकारणगणो यदनुग्रहेण ।
विश्वप्रपञ्चरचनाचतुरत्वमेति
स त्रायतां त्रिभुवनैकमहेश्वरो वः ॥ ४ ॥

अन्वय—अयम् सर्वः अवशः पुरुषाणुकर्मकालादिकारणगणः यदनुग्रहेण विश्वप्रपञ्चरचनाचतुरत्वम् एति, सः त्रिभुवनैकमहेश्वरः वः त्रायताम्।

अर्थ—यह सम्पूर्ण पराधीन—पुरुष, परमाणु और शुभाशुभ कर्म एवं काल आदि इस जगत् के उपादान, निमित्त और सहकारि कारणों का—गण, जिस परमेश्वर की कृपा से इस जगत् के विस्तार का निर्म्माण करने में निपुण (समर्थ) होता है, वह त्रिलोकी का ईश्वर आप लोगों की रक्षा करे।

इसका भाव यह है कि जैसे कुम्भकार के घटादि पदार्थों के निर्माण करने में मृत्तिका उपादान कारण और दण्ड निमित्त कारण एवं चक्र चीवर आदि सहकारि कारण हैं, वैसे ही इस संसार की रचना करने में परम ज्योतिर्मय परमेश्वर की इच्छा ही कुम्भकार के स्थान में

है, परमात्मा के ही अति सूक्ष्म अंश 'प्रतिबिम्बपदवाच्य' जीवों के अदृष्ट से सहकृत परमाणु या प्रकृति आदि ही मृत्तिका के समान उपादान कारण हैं, और जीवों का शुभाशुभ कर्म ही दण्ड के समान निमित्त कारण है, एवं काल आदि ही चक्र के समान सहकारि कारण हैं। और ये सब (कारणवर्ग) अस्वतन्त्र होने से उसी परमेश्वर के आधीन एवं उसी की सत्ता-स्फूर्ति से अपने अपने कार्य मे तत्पर होते हैं।

एकस्य यस्य सकलः करणानपेक्ष-
ज्ञानक्रियस्य पुरतः स्फुरति प्रपञ्चः ।
पश्यञ्जगत् करतलाऽमलकीफलाभं
लाभं स पुष्यतु परं परमेश्वरो वः ॥ ५ ॥

अन्वय—करणानपेक्षज्ञानक्रियस्य यस्य एकस्य पुरतः सकलः प्रपञ्चः स्फुरति, करतलाऽमलकीफलाभम् जगत् पश्यन्, सः परमेश्वरः वः परम् लाभम् पुष्यतु ।

अर्थ—किन्हीं भी साधनो (कारणो) की अपेक्षा नहीं रखनेवाले—ज्ञान-शक्ति और क्रिया-शक्ति से सम्पन्न जिस एक अद्वितीय परमेश्वर के आगे यह समग्र जगत् रूप प्रपञ्च केवल इच्छामात्र मे समभ्युदित (प्रकट) होता है वह हथेली मे (रखे हुए) आमलकी-फल (आँवले) के समान सम्पूर्ण जगत् को देखता हुआ परमेश्वर (सदाशिव) आप लोगो के परमलाभ को खूब परिपुष्ट करे ।

यः कन्दुकैरिव पुरन्दर-पद्म-सद्म-
पद्मापति-प्रभृतिभिः प्रभुरप्रमेयः ।
खेलत्यलङ्घ्यमहिमा स हिमाद्रिकन्या-
कान्तः कृतान्तदलनो लघयत्वघं वः ॥ ६ ॥

अन्वय—यः अप्रमेयः प्रभुः, पुरन्दर पद्म-सद्मपद्मापति-प्रभृतिभिः,कन्दुकैः इव खेलति, सः कृतान्तदलनः अलङ्घ्यमहिमा हिमाद्रिकन्याकान्तः, वः अघम् लघयतु ।

अर्थ—ब्रह्मादि देवों से भी अपरिच्छेद्य जो प्रभु इन्द्र, ब्रह्मा और विष्णु आदि देवताओं से गेंद के समान खेल (क्रीड़ा) करता है, अर्थात् जैसे बालक गेंद को कभी ऊपर और कभी नीचे पटकता है, वैसे ही जो परमेश्वर ब्रह्मादि देवों का क्षण में ही अधःपात और क्षण में ही उत्थापन करता है, वह यमराज के दर्प को दलन करनेवाला, अलङ्घनीय-महिमाशाली गिरिजापति (भगवान् सदाशिव) आपके सब पापों को हरे।

सेवानमन्निखिलखेचरमौलिरत्न-
रश्मिच्छटा-पटल-पाटल-पादपीठः ।
पुष्णातु धाम कपिशीकृत-शैलशृङ्ग-
त्वङ्गन्मृगाङ्क-मधुराकृतिरीश्वरो वः ॥ ७ ॥

अन्वय—सेवानमन्निखिलखेचरमौलिरत्न-रश्मिच्छटा - पटल पाटलपाद-पीठः कपिशीकृत-शैलशृङ्गत्वङ्गन्मृगाङ्क-मधुराकृतिः ईश्वर., वः धाम पुष्णातु ।

अर्थ—सेवा के लिए हाथ जोड़कर खड़े हुए समस्त ब्रह्मादि देवों के मुकुटों पर जड़े हुए रत्न-किरणों की छटाओं से पादपीठ (आसन) के पीले हो जाने के कारण, जिसकी शोभा गैरिक (गेरू) आदि धातुओं से पीले बने हुए पर्वत के शिखर पर विराजमान चन्द्रमा के समान भासमान होती है, वह ईश्वर आपके धाम को पुष्ट करे।

अङ्गं भुजङ्गरचिताङ्गदभङ्गि तुङ्गं
त्वङ्गत्तरङ्ग-गगनाङ्गनसङ्गि-गङ्गम् ।
बिभ्रद्विशुविहितरङ्गदनङ्गभङ्ग-
मङ्गीकरोत्वरमभङ्गुरमिङ्गितं वः ॥ ८ ॥

अन्वय—विभुः, भुजङ्गरचिताङ्गदभङ्गि त्वङ्गत्तरङ्गगगनाङ्गनसङ्गिगङ्गम विहितरङ्गदनङ्गभङ्गम् तुङ्गम् अङ्गम् बिभ्रत्, वः, अभङ्गुरम् इङ्गितम्, अरम —अङ्गीकरोतु ।

है, परमात्मा के ही अति सूक्ष्म अंश 'प्रतिबिम्बपदवाच्य' जीवों के अदृष्ट से सहकृत परमाणु या प्रकृति आदि ही मृत्तिका के समान उपादान कारण हैं, और जीवों का शुभाशुभ कर्म ही दण्ड के समान निमित्त कारण है, एवं काल आदि ही चक्र के समान सहकारि कारण हैं। और ये सब (कारणवर्ग) अस्वतन्त्र होने से उसी परमेश्वर के आधीन एवं उसी की सत्ता-स्फूर्ति से अपने अपने कार्य में तत्पर होते हैं।

एकस्य यस्य सकलः करणानपेक्ष-
ज्ञानक्रियस्य पुरतः स्फुरति प्रपञ्चः ।
पश्यञ्जगत् करतलाऽमलकीफलाभं
लाभं स पुष्यतु परं परमेश्वरो वः ॥ ५ ॥

अन्वय—करणानपेक्षज्ञानक्रियस्य यस्य एकस्य पुरतः सकलः प्रपञ्चः स्फुरति, करतलाऽमलकीफलाभम् जगत् पश्यन्, सः परमेश्वरः वः परम् लाभम् पुष्यतु ।

अर्थ—किन्हीं भी साधनों (कारणों) की अपेक्षा नहीं रखनेवाले-ज्ञान-शक्ति और क्रिया शक्ति से सम्पन्न जिस एक अद्वितीय परमेश्वर के आगे यह समग्र जगत् रूप प्रपञ्च केवल इच्छामात्र से समभ्युदित (प्रकट) होता है वह हथेली में (रखे हुए) आमलकी-फल (आँवले) के समान सम्पूर्ण जगत् को देखता हुआ परमेश्वर (सदाशिव) आप लोगों के परमलाभ को खूब परिपुष्ट करे।

यः कन्दुकैरिव पुरन्दर-पद्म-सद्म-
पद्मापति-प्रभृतिभिः प्रभुरप्रमेयः ।
खेलत्यलङ्घ्यमहिमा स हिमाद्रिकन्या-
कान्तः कृतान्तदलनो लघयत्वघं वः ॥ ६ ॥

अन्वय—यः अप्रमेयः प्रभुः, पुरन्दर पद्म-सद्मपद्मापति प्रभृतिभिः कन्दुकैः इव खेलति; सः कृतान्तदलनः अलङ्घ्यमहिमा हिमाद्रिकन्याकान्तः, वः अघम् लघयतु ।

अर्थ—ब्रह्मादि देवों से भी अपरिच्छेद्य जो प्रभु इन्द्र, ब्रह्मा और विष्णु आदि देवताओं से गेंद के समान खेल (क्रीडा) करता है, अर्थात् जैसे बालक गेंद को कभी ऊपर और कभी नीचे पटकता है, वैसे ही जो परमेश्वर ब्रह्मादि देवों का क्षण में ही अधःपात और क्षण में ही उत्थापन करता है, वह यमराज के दर्प को दलन करनेवाला, अलङ्घनीय महिमाशाली गिरिजापति (भगवान् सदाशिव) आपके मन पापों को हरे।

> सेवानमन्निखिलखेचरमौलिरत्न-
> रश्मिच्छटा-पटल-पाटल-पादपीठः ।
> पुष्णातु धाम कपिशीकृत-शैलशृङ्ग-
> त्वङ्गन्मृगाङ्क-मधुराकृतिरीश्वरो वः ॥ ७ ॥

अन्वय—सेवानमन्निखिलखेचरमौलिरत्न-रश्मिच्छटा - पटल पाटलपाद-पीठः कपिशीकृत-शैलशृङ्गत्वङ्गन्मृगाङ्क मधुराकृति ईश्वर, व धाम पुष्णातु।

अर्थ—सेवा के लिए हाथ जोडकर खड़े हुए समस्त ब्रह्मादि देवों के मुकुटों पर जड़े हुए रत्न किरणों की छटाओं से पादपीठ (आसन) के पीले हो जाने के कारण, जिसकी शोभा गैरिक (गेरू) आदि धातुओं से पीले बने हुए पर्वत के शिखर पर विराजमान चन्द्रमा के समान भासमान होती है, वह ईश्वर आपके धाम को पुष्ट करे।

> अङ्गं भुजङ्गरचिताङ्गदभङ्गि तुङ्ग
> त्वङ्गत्तरङ्ग-गगनाङ्गनसङ्गि-गङ्गम् ।
> बिभ्रद्विभुर्विहितरङ्गदनङ्गभङ्ग-
> मङ्गीकरोत्वरमभङ्गुरमिङ्गितं वः ॥ ८ ॥

अन्वय—विभु, भुजङ्गरचिताङ्गदभङ्गि त्वङ्गत्तरङ्गगगनाङ्गनसङ्गिगङ्गम् विहितरङ्गदनङ्गभङ्गम् तुङ्गम् अङ्गम् बिभ्रत्, व, अभङ्गुरम् इङ्गितम्, अरम् अङ्गीकरोतु।

अर्थ--जिसमें शेषनाग प्रभृति सर्पो ने केयूर अर्थात् बाजूबन्द की शोभा बनाई है, ऐसी उन्नत भुजाओं तथा उछलती हुई तरङ्गोंवाली आकाशगङ्गा (मन्दाकिनी) से विराजमान विशाल मस्तक एवं कामदेव का भङ्ग करनेवाले दिव्य ललाट को धारण करता हुआ वह व्यापक शिर आपकी अखण्डित अभिलाषाओं को शीघ्र अङ्गीकार करे अर्थात् आपकी अभिलाषाओं की पूर्ति करे।*

यः कुण्डमण्डलकमण्डलुमन्त्रमुद्रा-
ध्यानार्चनस्तुतिजपाद्युपदेशयुक्त्या ।
भोगापवर्गदमनुग्रहमानतानां
व्यानञ्ज रञ्जयतु स त्रिजगद्गुरुर्वः ॥ ९ ॥

अन्वय—यः, (दैशिकमुखेन) कुण्डमण्डलकमण्डलुमन्त्रमुद्राध्यानार्चनस्तुतिजपाद्युपदेशयुक्त्या, आनतानाम् भोगापवर्गदम् अनुग्रहम् व्यानञ्ज, सः त्रिजगद्गुरुः, वः रञ्जयतु।

अर्थ—जिसने (भक्तजनों के प्रति कृपादृष्टि करके) गुरुओं (ब्राह्मणों) के मुख से अग्निकुण्ड, यागमण्डल, कमण्डलु, मन्त्र और आवाहन आदि मुद्रा, एवं ध्यान, पूजन, स्तुति और जप आदि का उपदेश देकर, भक्त लोगों को भुक्ति और मुक्ति देनेवाला महान् अनुग्रह (प्रसाद) प्रकट किया, वह त्रिलोकी का ईश्वर श्री भवानीश्वर आपके सकल मनोरथों को पूर्ण कर आपको रञ्जित करे।

शंभोरदभ्रशरदभ्रतुषारशुभ्र-
भ्राजिष्णु-भूतिभर-शीभर-भास्वराभम् ।
दिश्याद्वपुर्भसल-नीलगलं कलङ्का-
लङ्कारशारदशशाङ्कनिभं शुभं वः ॥ १० ॥

---

* यहाँ पर 'पूर्ण ईप्सितं ददातु' ऐसा कहने के बदले में 'अभङ्गुरं इङ्गितं अङ्गीकरोतु' इस तरह उपचार द्वारा 'वक्रोक्ति' है।

अन्वय–अदभ्रशरदभ्रतुषारशुभ्रम् भ्राजिष्णु-भूतिभर-शीभर-भास्वराभम् भ्रमलनीलगलम् कलङ्कालङ्कारशारदशशाङ्कनिभम् शम्भोः वपु, वः शुभम् दिश्यात्।

अर्थ—शरद् काल के सघन मेघ और हिम के समान शुभ्र (स्वच्छ) तथा अति सुमनोहर भस्म पटल से चमकती हुई कान्ति से भासमान, एव भ्रमर के समान नीले कण्ठ से विराजित और कलङ्करूप आभूषण से विभूषित जो शरद् काल का पूर्ण चन्द्रमा है, उसके समान अतिरम्य वह शङ्करजी का दिव्य शरीर आपको कल्याण प्रदान करे।

येनोपदिष्टमनपायमुपायमाप्य
स्वर्गापवर्गविभवैर्विभवो भवन्ति ।
देवः स वः सकलकर्मफलोपलम्भ-
विस्रम्भभूमिरभिवाञ्छितसिद्धयेऽस्तु ॥ ११ ॥

अन्वय—येन उपदिष्टम् अनपायम् उपायम् आप्य [भक्ताः] स्वर्गापवर्गविभवैः विभवः भवन्ति, सः सकलकर्मफलोपलम्भविस्रम्भभूमिः देव., वः अभिवाञ्छितसिद्धये अस्तु।

अर्थ—जिससे उपदिष्ट अविनाशी उपाय को प्राप्त करके भक्त लोग स्वर्ग, अपवर्ग (मोक्ष) एवं अणिमा[1] आदि अष्ट विभूतियों (सिद्धियों) से परिपूर्ण हो जाते हैं, वह सकल शुभाशुभ कर्मो को फल प्राप्ति का आश्वासन स्थान (विश्वासभूमि) स्वयप्रकाश परमेश्वर (श्रीशङ्कर) आपके मनोवाञ्छित फलो की सिद्धि करे।

भूलोञ्झितेन कलिकाकलितेन ताप-
शान्तिक्षमेण नमतामविपर्ललवेन ।
सद्यःफलेन सुमनोभिरुपासितेन
स्थाणुः श्रियेऽस्तु भवतां वपुपाङ्घ्रुतेन ॥ १२ ॥

---

(१) अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व, ये आठ विभूतियाँ हैं।

अन्वय—मूलोज्झितेन कलिकाकलितेन नमताम् तापशान्तिक्षमेण अविपल्लवेन सद्य फलेन सुमनोभि उपासितेन अद्भुतेन वपुषा (उपलक्षित) स्थाणु, भवताम् श्रिये अस्तु।

अर्थ—आदि कारण से रहित अर्थात् अनादि, चन्द्रकला से सुशोभित तथा भक्ति से विनम्र हुए सत्पुरुषो के तीनों तापों की शान्ति करने में समर्थ, विपत्ति के लवलेश (के सम्पर्क) से रहित अर्थात् विशुद्ध (निर्विशेष) स्वरूप, और प्रणाम करने मात्र से (लोगो को) तत्काल ही शुभ फल देनेवाले एवं सर्वदेव सुपूजित, ऐसे अति अद्भुत (आश्चर्यजनक) शरीर (मूर्ति) को धारण किया हुआ यह स्थाणु (अर्थात् प्रलयकाल मे भी सुस्थिर रहनेवाला सदाशिव) आपके कल्याण के लिए हो।

[प्रलयकाल में भी सदा सुस्थिर रहने के कारण भगवान् शङ्कर का नाम 'स्थाणु' है और वृक्ष के 'ठूँठ' को भी 'स्थाणु' कहते हैं, अत यहाँ 'शब्दश्लेष' द्वारा इस (सदाशिव रूप) स्थाणु में लौकिक स्थाणु (वृक्ष के ठूँठ) की अपेक्षा अत्यन्त विलक्षणता दिखलाई है, अर्थात् लौकिक स्थाणु (वृक्ष का ठूँठ) तो 'मूल (जड) सहित ही होता है' मूलोज्झित—मूल (जड) से रहित (निर्मूल) नहीं होता, किन्तु यह (शिवरूप) स्थाणु तो 'मूलोज्झित' मूल (आदि कारण) से रहित (अर्थात् अनादि) है। लौकिक स्थाणु (ठूँठ) 'कलिकाओं' (कलियों) से रहित होता है, 'कलिका कलित' (कलिकाओं से सुशोभित) नहीं होता, किन्तु यह (शिवरूप) स्थाणु तो 'कलिका कलित' (चन्द्रकला से सुशोभित) है। लौकिक स्थाणु (ठूँठ) नमन करनेवालों के सन्ताप को शान्त करने मे नहीं समर्थ होता * किन्तु यह (शिवरूप) स्थाणु तो 'नमन' (प्रणाम) करनेवालो के सन्तापों को शान्ति करने में समर्थ है। और लौकिक स्थाणु (ठूँठ) पल्लवों (पत्रो) से

* क्योंकि उसमें पत्र न होने के कारण छाया ही नहीं होती।

रहित होता है 'अ-विपल्लव' (अर्थात् पल्लवों से युक्त) नहीं होता, किन्तु यह (शिवरूप) स्थाणु तो 'अविपल्लव' (विपत्तियों के लव-लेश से विवर्जित अर्थात् सुविशुद्ध निर्विशेष) है; एवं लौकिक स्थाणु (ठूँठ) 'सद्यःफल' (तत्काल फलदायक) नहीं होता; किन्तु यह (सदा-शिवरूप) स्थाणु तो 'सद्यःफल' (शरणागतों को तत्काल ही फल देता) है। और लौकिक स्थाणु (ठूँठ) सुमनों (पुष्पों) से हीन होता है 'सुमनोभिः उपासित' (पुष्पों से सुशोभित) नहीं होता; किन्तु यह (शिवरूप) स्थाणु तो 'सुमनोभिः उपासित' (इन्द्रादि देवताओं से उपासित) है। अतएव कवि ने इस (शिवरूप) स्थाणु को अद्भुतेन वपुषा (उपलक्षितः) अर्थात् अति आश्चर्यजनक शरीरवाला कहकर लौकिक स्थाणु (ठूँठ) की अपेक्षा अत्यन्त ही विलक्षण बतलाया है।]

दिव्यापगाप्लवनपावकसेवनाभ्यां
विभ्रत्तनुं शुचिमपेतकलङ्कशङ्काम् ।
दोषानुषङ्गरहितस्तिमिरोष्मशान्त्यै
भूयाद्द्विजाधिपतिरीश्वरवन्दितो वः ॥ १३ ॥

अन्वय—दिव्यापगाप्लवनपावकसेवनाभ्याम् शुचिम् अपेतकलङ्कशङ्काम् तनुम् विभ्रत्, दोषानुषङ्गरहितः ईश्वरवन्दितः द्विजाधिपतिः, वः तिमिरोष्मशान्त्यै भूयात्।

अर्थ—जैसे प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल (तीनों समय) गङ्गा के निमज्जन (स्नान) तथा अग्निहोत्र (की सेवा) से अति पवित्र, अर्थात् बाह्य और आन्तरिक मलों से विरहित, एवं कलङ्क और मानसिक चपलता आदि दोषासक्ति (दोषों की आसक्ति) से रहित तथा ईश्वरों (समस्त राजाओं) से वन्दित द्विजाधिपति (सद् ब्राह्मण) अपने सदुपदेश के द्वारा शरणागतों के अविद्यारूप अन्धकार और दुःखत्रयजनित संतापों को शान्त करता है, वैसे ही (श्रीशङ्करजी के) मस्तक पर विराजित

देव-गङ्गा (मन्दाकिनी) के आप्लवन (अवगाहन) और तृतीय नेत्र में रहनेवाली अग्नि के सेवन से अति निर्मल, बाह्य और आन्तरिक मल एवं कलङ्क की शङ्का से रहित दिव्य शरीर को धारण किया हुआ और रात्रि के संसर्ग से रहित वह ईश्वर (सदाशिव) से वन्दित द्विजाधिपति (द्विजों—नक्षत्रों—का अधिपति) अर्थात् भगवान् शङ्कर के मस्तक पर विराजमान चन्द्रमा—आपके अज्ञानरूप अन्धकार एवं आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक संतापों को शान्त करे।

दानाम्बुनिर्भरकरस्तनयः स यस्य
श्रीमान् स यस्य धनदः सविधे विधेयः।
यः संश्रितः शिरसि मुक्तकरेण राज्ञा
पुष्णातु वः कनकवर्षघनः स देवः ॥ १४ ॥

अन्वय—सः यस्य तनयः, दानाम्बुनिर्भरकरः [अस्ति] श्रीमान् सः धनदः, यस्य सविधे विधेयः [अस्ति] यः, मुक्तकरेण राज्ञा शिरसि संश्रितः, सः कनकवर्षघनः देवः, वः पुष्णातु।

अर्थ—जिसके सुप्रसिद्ध पुत्र अर्थात् गणेशजी का कर (सूँड या हाथ) सदैव दान अर्थात् मदरूप जल या शरणागतों को दान देने के लिए ग्रहण किये हुए जल से परिपूर्ण रहता है, अर्थात् जिसके पुत्र सदैव शरणागतों को दान देने के लिए सङ्कल्प के वास्ते हाथ में जल लेकर प्रस्तुत रहते हैं, तथा श्रीमान् यानी महापद्म आदि नौ निधियों के अधिपति श्री कुबेरजी जिसके समीप में रहकर सदैव आज्ञा का पालन करते हैं, एवं समस्त दिशाओं में अपने करों (किरणों) को फैलाये हुए चन्द्रदेव ने जिसके मस्तक का आश्रय लिया है, वह राजा मरुत्त के नगर में सात दिवस पर्यन्त सुवर्ण की अविच्छिन्न वृष्टि करनेवाला भगवान् शिवरूप मेघ आपको धन-धान्यादि से परिपुष्ट करे।*

*जिसके (पास) इस प्रकार के पुत्र और सेवक लोग सर्देव दान-सत्र में तत्पर रहते हैं उस परमेश्वर के लिए सुवर्ण की वृष्टि करना कौन सी बड़ी बात है ?

निर्मत्सरौ निवसतः सममर्कचन्द्रौ
नीरानलावमृतहालहलौ च यत्र ।
राज्ञा नवेन तदधिष्ठितमुज्ज्वलेन
शार्वं वपुर्भवतु वाञ्छितसिद्धये वः ॥ १५ ॥

अन्वय—यत्र, निर्मत्सरौ अर्कचन्द्रौ, नीरानलौ, अमृतहालहलौ च, समम् निवसतः, तत् उज्ज्वलेन नवेन राज्ञा अधिष्ठितम् शार्वम् वपुः, वः वाञ्छितसिद्धये भवतु ।

अर्थ—जहाँ सूर्य और चन्द्रमा, जल और अग्नि, अमृत और विष ये सब अपना पारस्परिक द्वेषभाव छोड़कर एक ही साथ (प्रेम से) निवास करते हैं, वह नवीन राजा श्री चन्द्रदेव से अधिष्ठित भगवान् सदाशिव का सुमनोहर वपु आपको मनोवाञ्छित पदार्थ प्रदान करे। भाव यह है कि पुराने राजा (के राज्य) की अपेक्षा जहाँ नवीन राजा से अधिष्ठित नवीन राज्य होता है, वहाँ की प्रजा में प्रायः परस्पर वैर-भाव (वैमनस्य) होता है; किन्तु श्रीशङ्करजी के शरीर में तो नवीन चन्द्र राजा के अधिष्ठित होने पर परस्पर-विरोधी* भी सूर्य और चन्द्रमा तथा जल और अग्नि एवं अमृत और विष ये सब आपस के द्वेषभाव को छोड़कर बड़े प्रेम से एक साथ ही निवास करते हैं।

वक्ता च यः सुखयिता च विधुः श्रुतीनां
वक्षः करं च वहते कमलाङ्कितं यः ।
यो मूर्ध्नि वर्ष्मणि च हैमवतीं बिभर्ति
त्रैधं भवन् भवतु वः स शिवः शिवाय ॥ १६ ॥

---

* अर्थात् सूर्य्य दिनकर होने से दिन में ही उदय होता है और चन्द्रमा रात्रिकर होने से रात्रि में उदित होता है, इससे इनको आपस में वैरी कहा गया है, एवं जल और अग्नि तथा विष और अमृत में भी परस्पर द्वेष-भाव रहता है ।

अन्वय—यः विभुः, [ब्रह्मरूपेण] श्रुतीनाम् वक्ता श्रुतश्रविता च (अस्ति) तथा यः [विष्णुरूपेण] कमलाङ्कितम् वक्षः करम् च वहते, यः [रुद्ररूपेण] मूर्ध्नि वर्ष्मणि च हैमवतीम् बिभर्त्ति, सः त्रैधम् भवन् शिवः, वः शिवाय भवतु।

अर्थ—जो सर्व-व्यापक परमेश्वर ब्रह्मा रूप से चारों श्रुतियों (वेदों) का वक्ता और उनके श्रवण में तत्पर विद्वान् लोगों के कर्णों (कानों) को सुख देनेवाला है, और विष्णु रूप से 'कमलाऽङ्कित' (लक्ष्मी से चिह्नित) वक्षःस्थल तथा कमलाङ्कित (कमल से सुशोभित) हस्त को धारण करता है, एवं रुद्ररूप से मस्तक में श्री गङ्गा और वामाङ्ग में श्री पार्वतीजी को धारण करता है; इस प्रकार (जगत् की) सृष्टि, स्थिति और प्रलयरूप कार्य के लिए ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र रूप से तीन प्रकार का होता हुआ वह सदाशिव आपका कल्याण करे।

तापत्रयाऽपहृतये त्रिशिखं त्रिवर्ग-
सिद्ध्यै त्रिधामलयनं नयनत्रयं च।
त्रिःस्रोतसोऽपि सलिलं त्रिमलापनुत्त्यै
भूयात्त्रिलोकमहितं त्रिपुरद्विषो वः ॥ १७ ॥

अन्वय—त्रिपुरद्विषः त्रिलोकमहितम् त्रिशिखम् वः तापत्रयापहृतये भूयात्, त्रिधामलयनम् नयनत्रयम् च वः त्रिवर्गसिद्ध्यै भूयात्, त्रिस्रोतसः सलिलम् अपि च त्रिमलापनुत्त्यै भूयात्।

अर्थ—त्रिपुरासुर के द्वेषी श्री भगवान् शङ्कर का तीनों लोकों में वन्दनीय त्रिशूल आपके आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तापों की शान्ति करे; एवं सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि के निवासस्थान तीनों नेत्र आपके त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) की सिद्धि करें और उनके मस्तक पर विराजमान त्रिपथगामिनी (श्रीगङ्गा) का त्रिलोक-पूजित जल, आपके तीनों मलों को (अर्थात् परमाणु-जन्य, माया-जन्य और कर्म-जन्य दोषों को) दूर करे।

यद्दर्शनाऽमृतसुखानुभवेन धन्या
नेत्रोत्पलानि चिरमर्धनिमीलितानि ।
दृङ्मार्गगोचररवीन्दुकर-प्रसङ्ग-
भङ्ग्येव बिभ्रति शिवः शिवदः स वोऽस्तु ॥ १८ ॥

अन्वय—धन्याः, यद्दर्शनामृतसुखेन दृङ्मार्गगोचररवीन्दुकरप्रसङ्ग-भङ्ग्या इव, चिरम् अर्धनिमीलितानि नेत्रोत्पलानि बिभ्रति, सः शिवः, वः शिवदः अस्तु ।

अर्थ—धन्यात्मा (भाग्यशाली) पुरुष (ध्यानावसर में) जिसके दर्शनरूप अमृत-पान के सुखानुभव से, मानो भगवान् के (ही) नेत्रों में विराजमान सूर्य और चन्द्रमा की किरणों का एक साथ ही सम्पर्क होने के कारण चिरकाल तक अर्धनिमीलित (अर्थात आधे खुले और मींचे हुए) नेत्र-कमलों को धारण करते हैं * वह सदाशिव आपका कल्याण करे ।

कालं दृशैव शमयन् सफलप्रयासं
यः श्वेतमुत्तमचमत्कृतिकृच्चकार ।

---

* भावुक लोग जिस समय भगवद्ध्यान में तल्लीन हो भगवदीय सुमनोहर स्वरूप का दर्शन करने लगते हैं, उस समय (भावावेश-वश) उनके नेत्र-कमल कुछ काल तक जो 'अर्धनिमीलित'—आधे विकसित और आधे संकुचित से—(अर्थात निमेषोन्मेष-विवर्जित) हो जाते हैं, यह मानो उनको जिस भगवदीय स्वरूप (मूर्ति) का साक्षात्कार (दर्शन) होता है, उसी मूर्ति के नेत्रों में रहनेवाले* सूर्य और चन्द्रमा की किरणों के सम्पर्क से ही उन भावुकों के नेत्र-कमल अर्धनिमीलित (अर्थात् आधे तो सूर्य-किरणों के सम्पर्क से विकसित और आधे नेत्र चन्द्र-किरणों के सम्पर्क से संकुचित) हो जाते हैं, क्योंकि सूर्य-किरणों के सम्पर्क से ही कमलों का विकास और चन्द्रकिरणों के सम्पर्क से ही कमलों का संकोच होता है ।

---

* शिव के दक्षिण नेत्र में सूर्य और बायें में चन्द्रमा का निवास है ।

श्वेतं यशः प्रशमयन्नसतां सतां च
कालं कृतार्थयति यः स शिवोऽवताद्वः ॥ १९ ॥

अन्वय—उत्तमचमत्कृतिकृत् यः विभुः, दशा एव कालम् शमयन्, श्वेतम् सफलप्रयासम् चकार, यः असताम् श्वेतम् यशः प्रशमयन्, सताम् कालम् कृतार्थयति, सः शिवः, वः अवतात्।

अर्थ—स्वच्छन्द होने के कारण जिस लोकोत्तर उत्तम चमत्कार-कारी शिव ने अपनी दृष्टिमात्र से 'काल' (यमराज) का शमन (नाश) करते हुए 'श्वेत' (राजा श्वेत) के प्रयास को, उसे अभय-दान देकर, सफल किया और जो दुष्ट लोगों के श्वेत यश (धवल कीर्ति) को अत्यन्त दूर (नष्ट) करता हुआ भक्ति-रसामृत से सींचे हुए अति सुकोमल चित्तवाले सत्पुरुषों के 'काल' (समय) को कृतार्थ करता है, वह करुणासागर शिव आपकी रक्षा करे।

[इस श्लोक मे पूर्वार्द्ध में कहे हुए अर्थ से उत्तरार्ध में विपरीत अर्थ है, अर्थात् पूर्वार्ध में तो काल (यम) के दमन से 'श्वेत' (राजा श्वेत) के प्रति अनुग्रह और उत्तरार्ध में दुर्जनों के 'श्वेत' यश के शमन (नाश) से सज्जनों के 'काल' (समय) को कृतार्थ करना कहा गया है—यही उस स्वच्छन्द प्रभु की स्वतंत्रता का उत्तम (विलक्षण) चमत्कार है।]

यश्च बिभर्त्यलिकपावकसौहृदं यो
यत्राहिरेति शिखिना सह सामरस्यम्।
जूटः स वः सममरातिभिरप्यमर्ष-
मुक्तां स्थितिं प्रथयतु प्रमथाधिपस्य ॥ २० ॥

अन्वय—यः (जूटः) अलिकपावकसौहृदम् बिभर्ति, यत्र अहिः शिखिना सह सामरस्यम् एति, सः प्रमथाधिपस्य बभ्रुः जूटः, वः अरातिभिः समम् अपि, अमर्षमुक्ताम् स्थितिम् प्रथयतु।

अर्थ—जो (जटाजूट) ललाट मे स्थित अग्नि के साथ अतिशय प्रीति करता है, और जहाँ पर रहनेवाला वासुकि (सर्प) अग्नि के

साथ अतिशय प्रीति करता है, वह नन्दी आदि गणों के अधिपति श्री भगवान् भवानीनाथ का पिङ्गल जटाजूट आपके शत्रुओं के साथ भी आपकी द्वेषरहित-स्थिति करे अर्थात् आपके हृदय से शत्रुत्व-भावना को ही मिटा दे।

अव्यात्स वः शिरसि यस्य विलोचनाग्नि-
ज्वालावलीढसुरसिन्धुजलोपगूढः ।
अद्यापि वाडवशिखापरिणद्धमुग्ध-
दुग्धाब्धिमध्यग इव श्रियमेति चन्द्रः ॥ २१ ॥

अन्वय—यस्य शिरसि, विलोचनाग्निज्वालावलीढसुरसिन्धुजलोपगूढः चन्द्रः, अद्य अपि वाडवशिखापरिणद्धमुग्धदुग्धाब्धिमध्यग इव श्रियम् एति, सः वः अव्यात्।

अर्थ—जिसके शिर मे नेत्राग्नि की ज्वालाओं से ग्रसित देवगङ्गा (सुरसरि) के जल से घिरा हुआ 'चन्द्रमा' आज (इस वर्तमान समय मे) भी वडवानल (वाडवाग्नि) की ज्वालाओं से व्याप्त सुमनोहर क्षीर-सागर के मध्य मे स्थित हुआ जैसा शोभायमान होता है, वह शरणागत-वत्सल सदाशिव हमारी रक्षा करे।

अव्यात्स वः सुकृतिनामलिकेषु धूली-
पट्टीकृतेषु पदरेणुभरेण यस्य ।
धाताक्षराणि लिखति क्षितिपालमौलि-
मालार्चिताङ्घ्रिकमलो भविता भुवीति ॥ २२ ॥

अन्वय—यस्य पदरेणुभरेण धूलीपट्टीकृतेषु सुकृतिनाम् अलिकेषु, धाता [असौ पुरुषः] भुवि क्षितिपालमौलिमालार्चिताङ्घ्रिकमलः भविता, इति अक्षराणि लिखति, सः (शिवः) वः अव्यात्।

अर्थ—जिसके चरणकमलों के पराग के पटल से 'धूलिपट्टीकृत' अर्थात् अक्षर लिखने के लिए धूलि डाली हुई पटरी (तख्ती) के

समान बने हुए भाग्यवान् पुरुषों के ललाटों में, ब्रह्माजी "यह पुरुष पृथ्वी में समस्त राजाओं के शिरोमुकुटों की मालाओं से पूजितचरण (अर्थात् चक्रवर्ती राजा) होगा" ऐसे अक्षर लिखते हैं, वह अतिशय दयालु 'शिव' आपकी रक्षा करे।

शैवी शिवं दिशतु शीतमरीचिलेखा
जूटाहिरत्नकिरणच्छुरणारुणा वः ।
देवी नवीननखलक्ष्मधिया पिधत्ते
यत्संक्रमं कुचतटे पटपल्लवेन ॥ २३ ॥

अन्वय—कुचतटे यत्संक्रमम् देवी नवीननखलक्ष्मधिया पटपल्लवेन पिधत्ते, (सा) जूटाहिरत्नकिरणच्छुरणारुणा शैवी शीतमरीचिलेखा, वः शिवम् दिशतु ।

अर्थ—अपने अत्यन्त स्वच्छ 'स्तनप्रान्त' में पड़े हुए 'जिसके प्रतिबिम्ब' को श्री भवानी (पार्वती) जी नवीन नख चिह्न समझकर 'इसे जया और विजया आदि [illegible] सखियाँ न देख लें' इसलिए (उस) [illegible] वस्त्र के [illegible] हैं, वह श्रीशङ्करजी के जटाजूट [illegible] के रत्न [illegible] से (कुछ) [illegible] सी बनी

है, वह श्री भगवान् शङ्करजी के वामाङ्ग में विराजमान देवी पार्वतीजी का 'चूचुक' अर्थात् स्तन का अग्रभाग आपको मोक्षलक्ष्मी प्रदान करे।

याः क्षीरसिन्धुलहरीवृतमन्दराद्रि-
मुद्रामनङ्गदमनस्य नयन्ति जूटम् ।
द्विर्भाविताविरलसिद्धसरित्तरङ्गा-
स्ता लङ्घयन्त्वघमघर्मरुचो रुचो वः ॥ २५ ॥

अन्वय—याः अनङ्गदमनस्य जूटम् क्षीरसिन्धुलहरीवृतमन्दराद्रिमुद्राम् नयन्ति, ताः द्विर्भाविताविरलसिद्धसरित्तरङ्गाः अघर्मरुचः रुचः, वः अघम् लङ्घयन्तु।

अर्थ—जो भगवान् 'सदाशिव' के जटाजूट को, क्षीरसागर की लहरियों से घिरे हुए मन्दराचल के समान सुशोभित कर देती हैं और श्रीमन्दाकिनी की घनी तरङ्गों को दुगुना बना देती हैं, वे भगवान् के मस्तक पर विराजमान चन्द्रमा की दीप्तियाँ आपके पाप को दूर करें।

लोकत्रयाऽभ्युदयजन्ममही महीयः
स्थानाधिरोहणविधावधिरोहिणी या ।
सा चन्द्रचूडमुकुटध्वजवैजयन्ती
जह्नोरनिह्नुतनया तनयाऽवताद्वः ॥ २६ ॥

अन्वय—या लोकत्रयाभ्युदयजन्ममही, महीयः स्थानाधिरोहणविधौ अधिरोहिणी [भवति] सा, चन्द्रचूडमुकुटध्वजवैजयन्ती, अनिह्नुतनया, जह्नोः तनया, वः अवतात्।

अर्थ—जो तीनों लोकों के ऐहिक और आमुष्मिक अभ्युदय की जन्मभूमि, एवं अति उत्तम स्वर्ग से भी अधिक पूजनीय स्थान (मोक्षधाम) में आरोहण करने की सीढ़ी है, वह त्रिलोकी (तीनों लोकों) का अभ्युदय और पाप पङ्क में डूबे हुए प्राणियों का उद्धार कर

धर्मनीति के प्रकट करनेवाली श्री सदाशिव के मुकुट रूप ध्वजा में पताका के समान शोभायमान जाह्नवी, आपकी रक्षा करे।

भालाग्निकीलकलिताखिलरन्ध्रभागं
भर्गस्य वो दिशतु शर्म शिरःकपालम्।
यत्कालवह्निवपुषः पचतः प्रभूत-
भूतव्रजं व्रजति तस्य महानसत्वम् ॥ २७ ॥

अन्वय—यत् प्रभूतभूतव्रजम् पचतः कालवह्निवपुषः महानसत्वम् व्रजति, तत् भालाग्निकीलकलिताखिलरन्ध्रभागम् भर्गस्य शिरःकपालम्, वः शर्म दिशतु।

अर्थ—जो (कपाल) प्रलयकाल मे समग्र लोक-समुदाय को पकाते हुए 'कालाग्नि रुद्र' रूपधारी शङ्करजी का पाकस्थान (रसोईघर) बन जाता है और जिसके समग्र छिद्रभाग ललाट में रहनेवाली अग्नि की ज्वालाओं से पूर्ण हैं, वह शङ्कर का कपाल (खप्पर) आपको मोक्ष लक्ष्मी प्रदान करे।

चान्द्रं च धाम सुरनिर्झरिणी जलं च
हस्तस्थहेमकलशामृतजीवनं च।
स्निग्धं च दृग्विलसितं हसितं सितं च
युष्माकमूष्मशमनाय भवन्तु शम्भोः ॥ २८ ॥

अन्वय—शम्भोः, चान्द्रम् धाम, सुरनिर्झरिणीजलम् च, हस्तस्थहेम-कलशामृतजीवनम् च, स्निग्धम् दृग्विलसितम्, सितम् हसितम् च (एतानि) युष्माकम् ऊष्मशमनाय भवन्तु।

अर्थ—चन्द्रमा का प्रकाश, श्रीगङ्गाजी का जल, हाथ में विराजमान सुवर्ण कलश का अमृत जल एवं कृपा-युक्त नेत्रों की अति कोमल दृष्टि का विलास और अति स्वच्छ ईपद् हास्य ये सब भगवान् शङ्करजी की अतिशीतल वस्तुएँ आपके संसार रूप मरुस्थल में भ्रमण करने से उत्पन्न हुए संताप की शान्ति करें।

मूर्ध्नि द्युसिन्धुधवले धवलेन्दुलेखा
कैलासशैलशिखरे धवलश्च वाहः ।
नीहारहारिणि वपुष्यपि भूतिरेषा
पुष्णातु वः सदृशसंघटना शिवस्य ॥ २९ ॥

अन्वय—द्यु सिन्धुधवले मूर्ध्नि, धवला इन्दुलेखा, कैलासशैलशिखरे धवलः च वाहः, नीहारहारिणि वपुषि अपि भूतिः, एषा शिवस्य सदृशसंघटना वः पुष्णातु ।

अर्थ—देवगङ्गा के प्रवाह से स्वच्छ हुए मस्तक पर चन्द्रमा की स्वच्छ रेखा और स्वच्छ स्फटिकमय कैलाश पर्वत के शिखर पर श्वेत (स्वच्छ) ही वाहन (वृषभ) एवं हिम के समान सुमनोहर (स्वच्छ) शरीर पर भी स्वच्छ ही विभूति, इस प्रकार श्रीशङ्कर की यह 'समान वस्तु में समान वस्तु की ही कल्पना' आपको शिवभक्तिरूप अमृत-रस पिलाकर खूब परिपुष्ट करे ।

उत्तप्तहेमरुचि चन्द्रकला कलापे
बालप्रवालरुचिरे च करे कपालम् ।
ताम्रेऽधरे च हसितं सितमद्भुतेयं
विच्छित्तिरिन्दुशिरसः कुशलं क्रियाद्वः ॥ ३० ॥

अन्वय—उत्तप्तहेमरुचि कलापे चन्द्रकला, बालप्रवालरुचिरे करे च कपालम्, ताम्रे अधरे च सितम् हसितम्, इयम् इन्दुशिरसः अद्भुता विच्छित्तिः, वः कुशलम् क्रियात् ।

अर्थ—अग्नि से तपाये हुए सुवर्ण के समान सुमनोहर जटाजूट पर श्वेत चन्द्रकला और कोमल विद्रुम के समान अरुण हस्तकमल में भी श्वेत ही कपाल एवं अरुण वर्णवाले अधर (ओष्ठ) में (भी) स्वच्छ ईषत् हास्य, इस प्रकार की श्रीशंकरजी की आश्चर्यजनक 'विच्छित्ति' (अर्थात् एक वर्णवाली एक वस्तु में दूसरे वर्ण को मिलाने से बनी हुई अद्भुत शोभा) आपका सदा कुशल करे ।

श्रेयः प्रयच्छतु परं सुविशुद्धवर्णा
पूर्णाभिलापविबुधाधिपवन्दनीया ।
पुण्या कविप्रवरवागिव बालचन्द्र-
चूडामणेश्चरणरेणुकणावली वः ॥ ३१ ॥

अन्वय—सुविशुद्धवर्णा पूर्णाभिलापविबुधाधिपवन्दनीया पुण्या बाल-चन्द्रचूडामणे चरणरेणुकणावली, कविप्रवरवाक् इव, व परम् श्रेय प्रयच्छतु ।

अर्थ—जैसे सुविशुद्ध वर्णा, अर्थात् वर्णन करने योग्य अक्षरों से युक्त, अत्युत्तम मनोरथवाले श्रेष्ठ विद्वानो द्वारा वन्दनीय और अति मनोहर महाकवि की वाणी सहृदय लोगो को परम कल्याण प्रदान करती है, वैसे ही अत्यन्त विशुद्ध (स्वच्छ) और सकल मनोरथों से परिपूर्ण इन्द्रादि देवताओं अथवा श्रेष्ठ विद्वानों के द्वारा वन्दन करने योग्य एवं पापियों को भी प्रणाम (करने) मात्र से पवित्र करनेवाली, श्री शङ्करजी के चरण कमलो की रेणुपङ्क्ति, आपको परमश्रेय (मोक्ष-रूप कल्याण) प्रदान करे ।

हारीकृतोल्वणफणीन्द्रफणेन्द्रनील-
नीलच्छविच्छुरणशारमुरःस्थलं वः ।
पुष्णातु निह्नुतनगेन्द्रसुताकुचाग्र-
कस्तूरिकामकरिकाकिणमिन्दुमौलेः ॥ ३२ ॥

अन्वय–हारीकृतोल्वणफणीन्द्रफणेन्द्रनीलनीलच्छविच्छुरणशारम् निह्नुतनगेन्द्रसुताकुचाग्रकस्तूरिकामकरिकाकिणम् इन्दुमौले. उर स्थलम्, वः पुष्णातु ।

अर्थ—कण्ठ में हार के समान लम्बायमान वासुकि के फणों में जड़ी हुई इन्द्रनील मणियों का नील छवि की प्रभा से मिश्रित, एवं आलिङ्गन के समय श्री पार्वतीजी के स्तनों पर लगी हुई कस्तूरिका के चिह्न को छिपानेवाला, श्री शङ्करजी का वक्ष स्थल, आपके हृदय में भक्ति रस को उत्पादन करके आपको परिपुष्ट करे ।

युष्माकमस्तु नवनीलसरोजदाम-
श्यामद्युतिः सुमतये शितिकण्ठकण्ठः ।
यः केतकीधवलवासुकिभोगयोगा-
द्गाङ्गौघभिन्नगगनाङ्गनभङ्गिमेति ॥ ३३ ॥

अन्वय--यः केतकीधवलवासुकिभोगयोगात् गाङ्गौघभिन्नगगनाङ्गन-भङ्गिम् एति [सः] नवनीलसरोजदामश्यामद्युतिः शितिकण्ठकण्ठः, युष्माकम् सुमतये अस्तु ।

अर्थ--जो (कण्ठ) केतकी पुष्प के समान श्वेत वासुकि (सर्प) के फण के साथ संयोग होने के कारण, गङ्गा के जल प्रवाह से भिन्न किये हुए गगनमण्डल (आकाश) रूप आँगन के समान सुशोभित होता है, वह नवीन नील कमल की माला के समान श्यामल, श्री शङ्करजी का (नील) कण्ठ आप लोगों को अति सुन्दर (शिव के साथ तन्मय होनेवाली) मति प्रदान करे ।

क्षीरार्णवस्य चरणाब्जतले निवास-
मासेदुषस्तनयमप्रतिमप्रसादः ।
यो मूर्ध्नि लालयति बालमसौ दयाब्धि-
र्देवस्तनोतु मुदमाश्रितवल्लभो वः ॥ ३४ ॥

अन्वय--यः अप्रतिमप्रसादः (स्वीये) चरणाब्जतले निवासम् आसेदुषः क्षीरार्णवस्य तनयम् बालम् [स्वकीये] मूर्ध्नि लालयति, असौ आश्रितवल्लभः दयाब्धिः देवः, वः मुदम् तनोतु ।

अर्थ--जो अतुलनीय प्रसन्नता (अपार-करुणा) का सागर, अपने चरण-कमलों के तल में निवास करते हुए (सेवक की भाँति चरण-सेवा करते हुए) क्षीर सागर के तनय बाल-चन्द्रमा को अपने शिर में धरकर (अति स्नेह से) लाड़ करता है (कृपा के वशीभूत होकर सदैव उसकी रक्षा करता है) वह शरणागतवल्लभ, स्वयप्रकाश 'शिव' आपको परम आनन्द प्रदान करे ।

रत्न और लक्ष्मी प्रदान करता है, वैसे ही सूर्य, अग्नि और चन्द्रमा को अपने अन्दर धारण करनेवाली तथा आकाशगङ्गा (मन्दाकिनी) के सङ्गम से अति रमणीय एवं विद्वान् लोगों को हाथी, घोड़ा और लक्ष्मी आदि मनोभिलषित वस्तुओं की प्राप्ति करानेवाली वह श्री परमेश्वर सदाशिव की दृष्टि (तीनों नेत्र) आपको अमृत (परम-कल्याण) प्रदान करे।

यत्राग्निरीप्सति कणं न विवृत्य जिह्वां
　　नैति प्रतिक्षपमपेतवसुस्तमर्कः।
क्षीणस्तमिन्दुरपि न श्रयति श्रियेऽस्तु
　　श्रीधाम तत्पुररिपोर्नयनत्रयं वः ॥ २७ ॥

अन्वय—यत्र अग्निः जिह्वाम् विवृत्य कणम् न ईप्सति, अपेतवसुः अर्कः प्रतिक्षपम् तम् न एति, तम् च क्षीणः इन्दुः अपि न श्रयति, तत् श्रीधाम पुररिपोः नयनत्रयम्, वः श्रिये अस्तु।

अर्थ—जैसे जो पुरुष श्री (लक्ष्मी) के धाम (गृह अर्थात् निवास-स्थान) में निवास करता है, वह किसी से याचना करने के लिए अपनी जिह्वा फैलाकर अन्न के कण की इच्छा नहीं करता, अपेत वसु (धनहीन) भी नहीं होता और क्षीण (अत्यन्त दरिद्री) होकर किसी का आश्रय भी नहीं लेता; ऐसे ही जिस श्री (परमशोभा अर्थात् सुमनोहरता) के धाम (निवासस्थान) में, अर्थात् श्री शिव के तृतीय नेत्र में, रहनेवाला अग्नि (सदैव तृप्त होने के कारण) अपनी जिह्वा फैलाकर किसी हविष्य[1] अन्न के कण की इच्छा नहीं रखता। जहाँ सूर्य प्रत्येक रात्रि में अपेत वसु (तेजहीन) होकर बाह्याकाशस्थ सूर्य की तरह उस अग्नि में नहीं प्रविष्ट होता* और जहाँ पर निवास करता हुआ वह चन्द्रमा भी क्षीण

---

(१) हवन करने योग्य।

* शास्त्रों में कहा गया है कि सायङ्काल में सूर्य का तेज अग्नि में प्रविष्ट हो जाता है, किन्तु सदाशिव के नेत्र में रहनेवाले सूर्य्य का तेज तो रात्रि में भी कम नहीं होता इसी कारण वह अग्नि में नहीं प्रविष्ट होता।

(अमावास्या को निस्तेज) होकर उस सूर्य का आश्रय नहीं लेता * ऐसे अग्नि, सूर्य और चन्द्रमा इन तीनों तेजोमय पिण्डों को अपने अन्दर धारण करनेवाले वे श्री त्रिपुरारि के तीनों नयन आपका कल्याण करें।

अर्कस्य नोदगयनं शिशिरेऽपि यत्र
　　शीतत्विषो न बहुलेऽपि कलापलापः ।
क्षामं च धाम न वहत्यपि वह्निरह्नि
　　तत्त्रायतां पुररिपोर्नयनत्रयं वः ॥ ३८ ॥

अन्वय—यत्र अर्कस्य शिशिरे अपि उदगयनम् न [भवति] शीतत्विषः बहुले अपि कलापलापः न [भवति] यत्र वह्निः अह्नि अपि, क्षामम् धाम न वहति, तत् पुररिपोः नयनत्रयम्, वः त्रायताम्।

अर्थ—जहाँ पर (दक्षिण नेत्र मे स्थित) सूर्य का, शिशिर ऋतु मे भी उत्तरायण (बाँये नेत्र और उत्तर दिशा मे गमन) नहीं होता और जहाँ कृष्ण पक्ष मे भी चन्द्रमा की कलाओ का ह्रास (नाश) नहीं होता एव जहाँ अग्नि का तेज दिन मे भी कम नहीं होता वे त्रिपुरान्तक (शङ्कर) के वे तीनों नेत्र आपको रक्षित करें।

यामाश्रितोऽम्बरमणी रमणीयधामा
　　कामान्तकावनलमाऽनलसाद्व्यधाद्या ।
यापीन्दुसम्भवसुधावसुधा दृशस्ताः
　　शर्वस्य वः शिवपुषो वपुषो भवन्तु ॥ ३९ ॥

अन्वय—रमणीयधामा अम्बरमणिः, याम् आश्रितः, या अनलसा कामान्तकौ अनलसाद् व्यधात्, या अपि इन्दुसम्भवसुधावसुधा [अस्ति] ताः शर्वस्य वपुषः दृशः, वः शिवपुषः भवन्तु।

---

* चन्द्रमा अमावास्या को तेजहीन होकर सूर्य्य की शरण लेता है। किन्तु भगवान् शिव के नयन मे रहनेवाला चन्द्रमा तो अमावास्या को भी निस्तेज नहीं होता इसी कारण वह सूर्य के बिम्ब का आश्रय नहीं लेता।

अर्थ—अतिरमणीय तेज के निधान श्री भगवान् भास्कर-(सूर्य)देव जिस (दक्षिण दृष्टि) के आश्रित हैं तथा (ललाट में स्थित) जिस बलवती दृष्टि ने त्रैलोक्य-विजयी कामदेव और यमराज को अग्नि से भस्म कर दिया, एवं जो (वामदृष्टि) चन्द्रमा के अमृत की जन्मभूमि है, वे शङ्करजी की तीनों दृष्टियाँ आपके समस्त दुःखों की निवृत्ति करें।

पुष्णातु वः प्रथमसङ्गमभीरुगौरी-
विस्रम्भणप्रणयभङ्गभयाकुलस्य।
तत्कालकार्यकरदर्पकदेहदाह-
जातानुतापमुरगाभरणस्य चेतः॥ ४०॥

अन्वय—प्रथमसङ्गमभीरुगौरीविस्रम्भणप्रणयभङ्गभयाकुलस्य उरगाभरणस्य तत्कालकार्यकरदर्पकदेहदाहजातानुतापम् चेतः, वः पुष्णातु।

अर्थ—(नवोढा होने के कारण) प्रथमसङ्गम में भयभीत हुई पार्वती के विश्वास के लिए की हुई याचना (प्रार्थना) के भङ्ग होने के भय से व्याकुल हुए जिस (शङ्करजी) के चित्त में उस समय (प्रथमसङ्गम में) परस्पर अतिशय प्रेम पैदा करनेवाले कामदेव का देह-दहन करने से पश्चात्ताप उत्पन्न हुआ, वह चित्त आपको श्री शिवभक्ति-रूप अमृत पिलाकर खूब परिपुष्ट करे।

जूटे कपालशकलानि कलानिधिश्च
हस्ते सुधाम्बु सरलं गरलं गले च।
शक्रादिभिश्च नमनं गमनं गवा च
यस्यास्तु दुर्गतिहरः स हरः सदा वः॥ ४१॥

अन्वय—यस्य जूटे कपालशकलानि कलानिधिः च (भवति) हस्ते सुधाम्बु गले च सरलम् गरलम् (शोभते) यस्य च शक्रादिभिः नमनम्, गवा च गमनम् (भवति) सः हरः, सदा वः दुर्गतिहरः अस्तु।

अर्थ—जिसके जटाजूट में (महाप्रलय के समय में अपहरण किये हुए ब्रह्मादिकों के) शिरःकपालों के खण्ड और चन्द्रमा शोभायमान हैं, हाथ में अमृतजल और गले (कण्ठ) में उदार विष शोभित है एवं इन्द्रादि देवगण जिसको नमन करते हैं तथा वृषभ पर चढ़कर जो गमन करता है वह हर (शिव) सदा आपकी दुर्गति को हरे।

यस्य क्षितिः शिरसि सौमनसीव शेषा
शेषाहिरङ्गदपदे स चकास्ति यस्य ।
तस्य प्रभोरमृतनिर्झरनिर्विशेषा-
शेषाणि हन्तु दुरितानि सरस्वती वः ॥ ४२ ॥

अन्वय—यस्य शिरसि क्षितिः सौमनसी शेषा इव [शोभते] सः शेषाहिः यस्य [अङ्गदपदे चकास्ति, तस्य प्रभोः अमृतनिर्झरनिर्विशेषा सरस्वती, वः अशेषाणि दुरितानि हन्तु ।

अर्थ—जिसके मस्तक में यह पृथिवी पुष्पमाला के समान शोभित (प्रतीत) होती है वह शेषनाग जिस प्रभु के बाहु में केयूर-पद (बाजूबन्द के स्थान) पर शोभित होता है, उस परमेश्वर (श्री सदाशिव) की अमृत के प्रवाह के तुल्य वाणी (शरणागतों को अभय दान देनेवाले प्रसाद-वाक्य) हमारे शरीर, वाणी और मन से उपार्जित किये हुए समस्त पापों का नाश करे।

श्रीमानकल्पत न कल्पतरुर्यदाप्त्यै
तृष्णा रसायनरसाय न यं समेत्य ।
लभ्यो न यो गहनयोगहवैः स वोऽघ-
ममाकृतो हरकृतो हरतु प्रसादः ॥ ४३ ॥

अन्वय—यदाप्त्यै, श्रीमान् कल्पतरुः न अकल्पत, यम् समेत्य रसायनरसाय तृष्णा न (भवति) यः गहनयोगहवैः न लभ्यः, सः हरकृतः अमाकृतः प्रसादः, वः अघम् हरतु ।

अर्थ—जिसको प्राप्त करने के लिए श्रीमान् (सकल पुरुषार्थ सम्पन्न) कल्पवृक्ष भी नहीं समर्थ हो सका और जिसको प्राप्त करके फिर किसी भी रसायन (जरा और व्याधि को हरनेवाले औषध) के पान करने की इच्छा ही नहीं होती तथा जो अति दुःसाध्य अष्टाङ्गयोग और कष्टसाध्य यज्ञों से भी प्राप्त नहीं हो सकता, वह श्री शङ्कर का अति उत्तम अनुग्रह हमारे त्रिविध पापों को हरे।

मुक्तिर्हि नाम परमः पुरुषार्थ एक-
　　स्तामन्तरायमवयन्ति यदन्तरज्ञाः ।
किं भूयसा भवतु सैव सुधामयूख-
　　लेखाशिखाभरणभक्तिरभङ्गुरा वः ॥ ४४ ॥

अन्वय—हि मुक्तिः नाम, एकः परमः पुरुषार्थः [अस्ति] ताम् (अपि) यदन्तरज्ञाः अन्तरायम् अवयन्ति, भूयसा किम्, सा एव सुधामयूखलेखाशिखाभरणभक्तिः, वः अभङ्गुरा भवतु ।

अर्थ—अधिक क्या कहें, सब पुरुषार्थों में केवल एक मुक्ति ही परम (मुख्य) पुरुषार्थ है, परन्तु भक्ति की विशेषता (श्रेष्ठता) को जाननेवाले भावुक लोग उस (मुख्य पुरुषार्थ) मुक्ति को भी जिस *(भक्ति) की अपेक्षा (श्री परमेश्वर के दर्शनों में) विघ्न समझते हैं** वही श्री चन्द्रशेखर (शिव) की अविच्छिन्न भक्ति आपको प्राप्त हो।

स यत्र गुहबर्हिणो भवभुजङ्गजिह्वाञ्चनै-
　　र्गजास्यकरकर्षणैः स च गिरीन्द्रकन्याहरिः ।
स चार्कसुतसैरिभो रवितुरङ्गहेपारवै-
　　र्मुदं दधति धाम तद्दिशतु शाम्भवं धाम वः ॥४५॥

अन्वय—यत्र सः गुहबर्हिणः, भवभुजङ्गजिह्वाञ्चनैः मुदम् दधति, सः गिरीन्द्रकन्याहरिः च, गजास्यकरकर्षणैः मुदम् दधति, सः अर्कसुत-

* इसी लिए किसी भावुक की उक्ति है—

सैरिभ च, रवितुरङ्गहेषारवै मुदम् दधति, तत् शाम्भरम् धाम, व धाम (तेज) दिशतु।

अर्थ—जहाँ स्वामी कार्तिकेय का वाहन अर्थात् मोर, श्री शङ्करजी के कण्ठ और भुजाओं के आभूषण रूप वासुकि आदि सर्पों की जिह्वाओं द्वारा चाटने से अतिशय हर्ष को प्राप्त है तथा श्री जगदम्बा पार्वतीजी का वाहन सिंह, गणेशजी की सूँड के सङ्घर्षणों से अतीव प्रसन्न होता है एवं यमराज* का वाहन (महिष) सूर्य के वाहनों (घोड़ों) के शब्द से अति हर्ष को प्राप्त होता है†, वह श्री शङ्करजी का महाधाम आपको तेजस्वी बनावे।

यस्मिञ्जातस्त्रिभुवनजयी भग्नकामः स कामो
यस्मिँल्लेभे शलभलघुतां प्राप्तकालः स कालः।
यस्योघो न प्रभवति महानिह्नवे जाह्नवीयः
श्रेयः श्रेयः प्रथयतु स वः शाम्भवो दक्षिभागः ॥४६॥

अन्वय—यस्मिन् स त्रिभुवनजयी कामः, भग्नकामः जातः, यस्मिन् प्राप्तकालः स कालः शलभलघुताम् लेभे, यस्य महानिह्नवे जाह्नवीयः ओघः न प्रभवति, स शाम्भवः दक्षिभागः, वः श्रेयः श्रेयः प्रथयतु।

वीक्षे न यत्र नयनत्रितयाभिरामम्
पूर्णेन्दुतर्जि मुखमीश्वर ! तावकीनम्।
दासस्य नाथ ! कृपया भवता वितीर्णं
सायुज्यमीदृगपि चक्षि विडम्बनं मे ॥

अर्थात् हे प्रभो, जहाँ मुझे आपके नयन त्रय से सुमनोहर, पूर्ण चन्द्रमा की छवि से भी कोटिगुणा अधिक रमणीय मुख का दर्शन न मिले हे नाथ! आपके कृपापूर्वक दिये हुए ऐसे मोक्ष को भी मैं केवल अपनी विडम्बना ही समझता हूँ।

* शिव के दक्षिण नेत्ररूप सूर्य्य का पुत्र।

† महापुरुषों के चरणारविन्द के निकट, परस्पर विरोधी जन्तु भी आपस में वैर भाव त्यागकर परम प्रीतियुक्त हो जाते हैं, अतएव योग सूत्र में श्री पतञ्जलि जी कहते हैं "अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः"

अर्थ—जिसमें वह त्रिभुवनविजयी कामदेव भी भग्न-मनोरथ (निष्फल प्रयास) हुआ, जिसमें वह प्रसिद्ध कराल यमराज अपना अन्त-समय पाकर पतङ्ग के समान निस्तेज हो गया एवं जिसके तेज को तिरोहित करने के लिए गङ्गा का प्रवाह भी समर्थ न हो सका, वह श्री शङ्करजी के नेत्रों का तीसरा भाग—अर्थात् अग्नि का आधारभूत तीसरा नेत्र आपको अत्यन्त प्रिय कल्याण प्रदान करे।

यः क्रोधाग्नेः समिधमकरोद्दर्पकं दर्पकन्द-
च्छेदाभिज्ञं व्यधित जगतां यः कृतान्तं कृतान्तम्।
नेतुं यश्च प्रभवति मतिह्रासमस्तं समस्तं
निष्प्रत्यूहं प्रथयतु पथि त्रासदे वः स देवः ॥४७॥

अन्वय—य. दर्पकम् क्रोधाग्ने. समिधम् अकरोत्, यः जगताम् कृतान्तम् 'कृतान्तम्' दर्पकन्दच्छेदाभिज्ञम् व्यधित, यः च [धीमताम्] समस्तम् मतिह्रासम् अस्तम् नेतुम् प्रभवति, सः देवः, त्रासदे पथि, वः निष्प्रत्यूहम् प्रथयतु।

अर्थ—जिसने महान् दर्पवाले कामदेव को अपनी क्रोधरूपी अग्नि की समिधा (काष्ठ) बना दिया, अर्थात् क्रोधाग्नि से भस्म कर दिया, जिसने समस्त लोकों का नाश करनेवाले भयङ्कर यमराज के अहङ्कार को चूर-चूर कर डाला एवं जो बुद्धिमान् (विद्वान्) लोगों की बुद्धि के ह्रास को अर्थात् जगत् को श्री सदाशिव से भिन्न समझने (देखने)वाली (द्वैत)बुद्धि को अद्वैत ज्ञान द्वारा दूर कर देता है, *वह स्वयंप्रकाश परमेश्वर इस लोक में सिंह आदि दुष्ट जन्तुओं के भय* से युक्त और परलोक में यमराज के भयङ्कर दूतों के भय से युक्त मार्ग (स्थान) में आपके विघ्नों का निवारण करे।

अर्थात् अहिंसा में दृढ निष्ठा हो जाने पर उस महापुरुष के समीप में परस्पर विरोधी सर्प, नकुल आदि जीव भी अपना वैर भाव छोड़ देते हैं।

पायाद्वस्त्रिजगद्गुरुः स्मरहरः सोपग्रहाणां शिरः-
श्यामाकामुकमत्सरेण चरणौ पङ्क्तिर्ग्रहाणामिव ।
यस्य प्रह्वसुरासुरेश्वरशिरो-मन्दारमालागल-
त्किञ्जल्कोत्कर-पिञ्जरोन्मुखनखश्रेणीनिभेनाश्रिता॥४८॥

अन्वय—शिरःश्यामाकामुकमत्सरेण, सोपग्रहाणाम् ग्रहाणाम् पङ्क्तिः, प्रह्वसुरासुरेश्वरशिरो - मन्दारमालागलत्किञ्जल्कोत्करपिञ्जरोन्मुखनखश्रेणीनिभेन, यस्य चरणौ आश्रिता, सः त्रिजगद्गुरुः स्मरहरः, वः पायात् ।

अर्थ—जिसके मस्तक पर रहनेवाले चन्द्रमा के द्वेष से राहु, केतु, ध्रुव और अगस्त्य (इन चार उपग्रहों) के सहित एक चन्द्रमा को छोड़कर बाकी और सूर्य, मङ्गल आदि छः ग्रहों की इकट्ठी हुई समिति, भक्ति से विनम्र हुए समस्त देवेन्द्र और दानवेन्द्रों के मस्तकों पर सुशोभित हुए मन्दार-पुष्पों की मालाओं से गिरे हुए केसर से पीले बने हुए दस नखों की पङ्क्ति (श्रेणी) के व्याज (बहाने) से, जिसके चरणों में आश्रित हुई है, वह तीनों लोकों का परम गुरु अर्थात् तीनों लोकों को अपने से अभिन्न बतलाने का उपदेश करनेवाला सदाशिव आपकी रक्षा करे ।

भावार्थ—सूर्य आदि सात ग्रह और राहु आदि चार उपग्रह मिलकर सब ग्यारह ग्रह और उपग्रह हैं; उनमें से एक चन्द्रमा जो शङ्कर के मस्तक पर विराजमान है, उसे छोड़कर शेष ये १० ग्रह, मानो कि अपने साथी चन्द्रमा को श्री भगवान् के मस्तक पर विराजमान हुए देखकर, अतीव स्पर्धा से अर्थात् हम लोग भी इस चन्द्रमा के समान भगवान् सदाशिव के प्रेमपात्र हो जायँ, ऐसी उत्कट इच्छा से, उनके चरणों के दस नख बनकर (इस बहाने से) जिस भगवान् शङ्करजी के चरण-कमलों का आश्रय लिये हैं वह शिव आपकी रक्षा करे ।

अर्केन्दुभौमबुधवाक्पतिकाव्यमन्दा
मन्दारकुन्दकुमुदैर्यमुदर्चयन्ति ।

तस्य प्रभोरघमलोघ्मशमादमन्दा
मन्दाकिनीव मुदमर्पयतु स्तुतिर्वः ॥ ४९ ॥

अन्वय—अर्केन्दुभौमबुधवाक्पतिकाव्यमन्दाः, मन्दारकुन्दकुमुदैः यम् उदर्चयन्ति, तस्य प्रभोः अमन्दा स्तुतिः, अघमलोघशमात् मन्दाकिनी इव, वः मुदम् अर्पयतु ।

अर्थ—सूर्य, चन्द्रमा, मङ्गल, बुध, बृहस्पति, शुक्र और शनि ये सात ग्रह मन्दार, कुन्द (माध्यपुष्प) एव कुमुद के पुष्पों से सम्यक् प्रकार जिसकी पूजा करते हैं, उस सर्वसमर्थ भगवान् श्री शङ्कर की दिव्य स्तुति मनोहर मन्दाकिनी (आकाशगङ्गा) की छटा के समान—आपके मन, वचन एव शरीर से उत्पन्न हुए पापों और माया, परमाणु एव कर्म सम्बन्धी मलों से उत्पन्न हुए तापों की शान्ति करके, आपको परम हर्ष प्रदान करे।

भस्मोद्धूलितमूर्तिरिन्दुधवलज्योतीरसोर्वीधर-
स्कन्धासक्ततुषारगौरवृषभारूढोऽस्तु भद्राय वः ।
देवो दुग्धमहाब्धिमध्यविकसत्सत्पुण्डरीकोपरि-
क्रीडद्बालमरालनिर्मलरुचिः कात्यायनीकामुकः ॥ ५० ॥

अन्वय—भस्मोद्धूलितमूर्तिः इन्दुधवलज्योतीरसोर्वीधरस्कन्धासक्ततुषारगौरवृषभारूढः दुग्धमहाब्धिमध्यविकसत्सत्पुण्डरीकोपरिक्रीडद्बालमरालनिर्मलरुचिः कात्यायनीकामुकः देव , वः भद्राय अस्तु ।

अर्थ—भस्म (विभूति) से उज्ज्वल, चन्द्रमा के समान स्वच्छ स्फटिकमय पर्वत (कैलाश) के शिखर पर स्थित हुए हिम के समान श्वेत वृषभ पर बैठा हुआ एवं अति विशाल क्षीर समुद्र में विकसित हुए श्वेत कमल के ऊपर खेलते हुए बालहस के समान अति निर्मल कान्तिवाला, वह स्वयप्रकाश श्री पार्वती-वल्लभ आपका कल्याण करे।

त्राता भीतिभृतां पतिश्चिदचितां क्लेशं सतां शंसतां
हन्ता भक्तिमतां मतां स्वसमतां कर्ताऽपकर्ताऽसताम् ।

देवः सेवकभुक्तिमुक्तिघटनाभूर्भूर्भुवः-स्वस्त्रयी-
निर्माणस्थितिसंहतिप्रकटितक्रीडो मृडः पातु वः ॥ ५१ ॥

अन्वय—भीतिभृताम् त्राता, चिदचिताम् पतिः, शसताम् सताम् क्लेशम् हन्ता, भक्तिमताम् सताम् स्वसमताम् कर्ता, असताम् अपकर्ता, सेवक-भुक्ति-मुक्ति घटनाभूः, भूर्भुवःस्वस्त्रयी-निर्माणस्थितिसंहतिप्रकटितक्रीडः, मृडः देवः वः पातु ।

अर्थ—संसार-रूपी भयङ्कर रोग से डरे हुए प्राणियों का रक्षक, समस्त चेतन और अचेतनों का स्वामी, ईश्वर के साथ अभेद बुद्धि रखनेवाले (अद्वैतमार्गनिष्ठ) स्तुति-परायण सज्जनों के माया सम्बन्धी आवरण से उत्पन्न हुए क्लेश का नाश करनेवाला, एवं भक्तियुक्त० पुण्यवान् पुरुषों को अपने समान बनानेवाला, अर्थात् सायुज्य मुक्ति देनेवाला, और दुष्ट (पर-द्वेषी) लोगों का नाश करनेवाला तथा भक्ति से विनम्र सेवक लोगों को भुक्ति (उपभोग करने योग्य सम्पत्ति) और मुक्ति (संसार से मोक्ष) प्रदान करने की जन्मभूमि एवं भूलोक, भुवर्लोक और स्वर्ग आदि लोकों की सृष्टि, स्थिति और संहार-रूप क्रीडा करते हुए समस्त जगत् को सुखी करनेवाला, वह स्वयप्रकाश सदाशिव आपको इस भवसागर के दुःखों से बचावे ।

कृष्णेन त्रिजगत्प्रसिद्धविजयप्रख्यातिना लोचनं
भक्त्या वासवसूनुना कृतवता पादाब्जपूजाविधौ ।
यस्मादाप्तसुदर्शनेन निखिलं विश्वं विधेयीकृतं
कृष्णेनेव स धूर्जटिर्घटयतु श्रेयांसि भूयांसि नः ॥ ५२ ॥

अन्वय—पादाब्जपूजाविधौ, भक्त्या लोचनम् कृतवता, त्रिजगत्प्रसिद्ध-विजयप्रख्यातिना वासवसूनुना, कृष्णेन (विष्णुना) इव, यस्मात् आप्त-

---

० मन, वचन, शरीर और कर्म से ईश्वर के साथ एकता रखनेवाली भावनावाले ।

सुदर्शनेन कृष्णेन (अर्जुनेन) निखिलम् विश्वम् विधेयीकृतम्, सः धूर्जटिः, नः भूयासि श्रेयांसि घटयतु ।

अर्थ—जैसे (श्रीशङ्करजी के) चरण कमलों में उत्कट भक्ति से अपने लोचन—'नेत्र कमल' को अर्पित करनेवाले अतएव तीनों लोकों में प्रसिद्ध हुई प्रख्याति (कीर्ति) से युक्त, इन्द्र के भ्राता (उपेन्द्र) भगवान् श्रीकृष्ण (विष्णु) ने जिनसे सुदर्शन चक्र को प्राप्त करके तीनों लोकों को अपने वश में किया,* वैसे ही जिन (शङ्करजी) के चरण-कमलों का अति गाढ़ भक्ति पूर्वक आलोचन (नित्य चिन्तन) करनेवाले अतएव तीनों लोकों में प्रसिद्ध 'विजय' इस नाम से प्रख्यात, इन्द्र-पुत्र अर्जुन ने जिनके सुदर्शन—सुन्दरदर्शन प्राप्त करके, समस्त जगत् को अपने वश में किया, वह गङ्गाधर 'शिव' हमको ऐहलौकिक और पारलौकिक मङ्गल प्रदान करें ।

श्रीकण्ठस्य सकृत्तिकार्तभरणी मूर्तिः सदारोहिणी
　　ज्येष्ठा भद्रपदा पुनर्वसुयुता चित्रा विशाखान्विता ।

---

* श्री सदाशिव के चरणकमलों में श्री विष्णु भगवान् ने एक हजार कमल (के पुष्प) अर्पित किये, किन्तु जब उनमें से एक कमल श्री शङ्करजी की इच्छा से कम हो गया तब उसकी पूर्ति के लिए भगवान् विष्णु ने अपना एक नेत्र कमल, उत्पाटित (निकाल) करके उनके चरणों में चढ़ाया। हरि की इस प्रकार की श्रेष्ठ भक्ति से अत्यन्त प्रसन्न होकर भगवान् शङ्करजी ने उन को अपना सुदर्शन चक्र दे दिया, ऐसी उत्कट भक्ति के प्रभाव से प्राप्त हुए सुदर्शन चक्र से भगवान् विष्णु ने दैत्य आदिकों में विजय प्राप्त करके उस प्रसिद्ध कीर्ति द्वारा तीनों लोकों में प्रख्यात होकर समस्त जगत् को स्वाधीन किया। जैसे कि—गन्धर्वराज श्री पुष्पदन्त ने अपने शिव-महिम्न-स्तोत्र में कहा है—

　　हरिस्ते साहस्रं कमलबलिमाधाय पदयो-
　　　　र्यदेकोने तस्मिन्निजमुदहरन्नेत्रकमलम् ।
　　गतो भक्त्युद्रेकः परिणतिमसौ चक्रवपुषा
　　　　त्रयाणां रक्षायै त्रिपुरहर जागर्ति जगताम् ॥

दिश्यादक्षतहस्तमूलघटितापाढा मघालङ्कृता
श्रेयो वैश्रवणाश्रिता भगवतो नक्षत्रपालीव वः ॥ ५२ ॥

अन्वय—सकृत्तिका आर्तभरणी सदारोहिणी ज्येष्ठा भद्रपदा पुनः वसुयुता चित्रा विशाखान्विता अक्षतहस्तमूलघटितापाढा मघालङ्कृता वैश्रवणाश्रिता भगवतः श्रीकण्ठस्य मूर्तिः, नक्षत्रपाली इव, वः श्रेयः दिश्यात्।

अर्थ—सकृत्तिका अर्थात गजचर्म से युक्त, 'आर्त भरणी' अर्थात् भवभय-पीडित (दीन) प्राणियों का पोषण करनेवाली, भक्तों को अपने पद में पहुँचानेवाली, ब्रह्मा आदि देवों की भी मूलकारण, अतिमङ्गलदायक, पुनःवसुयुता महान् तेज अथवा अष्टवसुओं (देवयोनियों) से युक्त, अति आश्चर्यदायक, स्वामी कार्तिकेय से युक्त, अपने कोमल कर-कमल के मूल में पलाशदण्ड को धारण की हुई, महान् महिमा से अलंकृत और सखा कुबेर से आश्रित, वह श्री शङ्करजी की मङ्गलमयी मूर्ति, अश्विनी आदि* नक्षत्रों की पंक्ति (कतार) के समान, आपको परम कल्याण प्रदान करे।

भिन्द्धि क्ष्माधरसन्धिबन्धमुदधेरम्भोभरं जृम्भय
क्षुन्द्धि क्ष्मापटलं दलत्फणिफणापीठीलुठत्सौठवम्।
पिण्ड्ढि प्रौढचपेटपाटितरटत्ताराकुटुम्बं नभः
मारब्धोद्धतसान्ध्यताण्डव इति श्रीभैरवः पातु वः ॥५४॥

अन्वय—क्ष्माधरसन्धिबन्धम् भिन्द्धि,[1] उदधेः अम्भोभरम् जृम्भय, दलत्फणिफणापीठीलुठत्सौठवम् क्ष्मापटलम् क्षुन्द्धि, प्रौढचपेटपाटितरट-

---

* अश्विनी आदि नक्षत्रों की पंक्ति भी 'सकृत्तिका' (कृत्तिका नक्षत्र के सहित) एवं भरणी, रोहिणी, ज्येष्ठा और पुनर्वसु (नामक) नक्षत्रों से युक्त तथा चित्रा, विशाखा, हस्त, मूल, आषाढ़ा (पूर्वाषाढ़ा और उत्तराषाढ़ा), मघा और श्रवण आदि नक्षत्रों से युक्त होती है।

(१)—अत्र 'क्रियासमभिहारे लोट् लोटो हिस्वौ वा च तध्वमोः, इत्यनुवर्त्य 'समुच्चयेऽन्यतरस्याम्' इति सूत्रेण ह्यस्तनीमध्यमैकवचने हि आदेशः' तेन भिन्द्धि (अभिदत्) इति रूपम्। एवमग्रेऽपि द्रष्टव्यम्।

धाराकुटुम्बम् नभः विडम्बयति, इति प्रारब्धोद्धतसान्ध्यताण्डवः श्रीभैरवः, वः पातु ।

अर्थ—जो (अति उद्धत नाट्य में, अपनी लम्बी भुजाओं को फैलाकर) पर्वतों के सन्धि-बन्धन को भेदन कर देता है, और समुद्रों के जल को उछाल देता है; चरणों के भार से शेष-नाग के फणरूप पीठ (आसन) से लुढ़कते हुए भूमण्डल को चूर्ण कर देता है एवं बड़े-बड़े थप्पड़ों (चपेटों) से उखाड़े हुए (अतएव) शब्दायमान तारामण्डल से युक्त आकाश को पीस डालता है, इस प्रकार सायङ्काल में अति अद्भुत ताण्डव नृत्य को प्रारम्भ करनेवाला वह श्री भैरव-रूपधारी (दुष्टों को भय देनेवाला) शिव, सम्पूर्ण विघ्नों से आपकी रक्षा करे।

भूत्यै वोऽस्तु विडम्बितस्मितरुतं मूर्ध्नोधृतस्वर्धुनी-
निध्वानध्वनदाननैरभिनये भूपाकपालैः प्रभोः ।
स्वङ्गत्तुम्बुरुनारदाहतनदद्गम्भीरभेरीरव-
व्यावल्गद्गुहवाहबर्हिविहितक्रीडानुसारं वपुः ॥५५॥

अन्वय—अभिनये, मूर्ध्नोधृतस्वर्धुनीनिध्वानध्वनदाननैः भूपाकपालैः, विडम्बितस्मितरुतम् स्वङ्गत्तुम्बुरुनारदाहतनदद्गम्भीरभेरीरवव्यावल्गद्गुहवाह-बर्हिविहितक्रीडानुसारम् प्रभोः वपुः, वः भूत्यै अस्तु ।

अर्थ—(सायंकाल में) ताण्डव नाट्य के समय, मस्तक पर धारण की हुई देवगङ्गा के कलकल शब्द से शब्दायमान मुखवाले (ब्रह्म) कपालों से प्रभु के ईषद् अट्टहास के शब्द को तिरस्कृत करनेवाला (श्री गङ्गाप्रवाह के कलकल शब्दों की ब्रह्म-कपालों में ऐसी सुन्दर प्रति-ध्वनि हो रही है कि मानो भगवान् शिव ईषद् अट्टहास कर रहे हैं ऐसा) एवं नाट्य रंग में परिभ्रमण करनेवाले तुम्बुरु और नारद मुनि की बजाई हुई भेरी की गम्भीर ध्वनि सुनकर (मेघध्वनि के भ्रम में) अतिहर्ष से नाचता हुआ मयूर (स्वामी कार्तिकेय का वाहन) जिसकी

क्रीड़ा का अनुकरण (नक़ल) करता है ऐसा, वह भगवान् शिव का दिव्य शरीर आपको सकल सम्पत्ति प्रदान करे।

आदौ पादतले कृतस्थितिरयो[1] प्राप्तः करालम्बनं
वाल्लभ्यं शुभदृङ्निवेशनवशोत्पन्नं प्रपन्नस्ततः।
अन्ते येन शिरोधिरोपणमहामाहात्म्यमाप्तो विधु-
र्भूत्यै स क्रमवर्द्धमानमहिमा स्वामिप्रसादोऽस्तु वः ॥५६॥

अन्वय--येन (श्रीशिवप्रसादेन) विधुः, आदौ पादतले कृतस्थितिः [आसीत्] अथो करालम्बनम् प्राप्तः, ततः शुभदृङ्निवेशनवशोत्पन्नम् वाल्लभ्यम् प्रपन्नः, अन्ते शिरोधिरोहणमहामाहात्म्यम् आप्तः, सः क्रमवर्धमानमहिमा स्वामि प्रसादः, वः भूत्यै अस्तु।

अर्थ—जिस (प्रभु प्रसाद) के द्वारा चन्द्रमा पहिले सेवा के लिए (प्रभु के) चरण-तल में स्थित हुआ, तत्पश्चात् उनके कर-कमलों के अवलम्बन (आश्रय) को प्राप्त हुआ[2] और फिर उनके दिव्य (वाम) नेत्र में धारण कर लेने से उनका प्रेमपात्र हो गया, उसके बाद प्रेम की पराकाष्ठा (अन्तिम सीमा) में पहुँचने पर फिर प्रभु (शिव) के मस्तक पर आरूढ़ होकर अनुपम (अनिर्वचनीय) महिमा को प्राप्त हुआ; वह क्रम से शरणागत की महिमा को बढ़ानेवाला श्री स्वामी सदाशिव का उदार-अनुग्रह (प्रसाद) आपको मोक्षलक्ष्मी प्रदान करे। [इस कथन से कवि ने यह सूचित किया कि निरन्तर मन, वचन और शरीर द्वारा की हुई भक्ति से श्री सदाशिव की परम प्रसन्नता प्राप्त हो जाने पर, उनकी परम प्रसन्नता से फिर 'अणिमा' आदि अष्टसिद्धियाँ हस्ततल में ही आ जाती हैं।]

---

(१) 'अथ' इत्यपि पाठः।

(२) 'देवं सुधाकलशसोम' इत्यादि स्थलों पर भगवान् शंकर के मृत्युंजय रूप में चन्द्रमा को हाथ में लेना प्रसिद्ध है।

यस्यैकस्य सुवर्णसंभृतपदन्यासानवद्यक्रम-
व्यक्तिः प्रेङ्खति गौरनर्गलगतिस्वाच्छन्द्यहृद्याकृतिः ।
प्रख्याताद्भुतसर्गबन्धरचनासंरब्धिरोजस्विनः
काव्यस्योदयभूरसौ भवतु वः प्रीत्यै पुराणः कविः ॥५७॥

अन्वय—यस्य एकस्य, सुवर्णसंभृतपदन्यासानवद्यक्रमव्यक्तिः अनर्गलगतिस्वाच्छन्द्यहृद्याकृतिः गौः प्रेङ्खति, असौ प्रख्याताद्भुतसर्गबन्धरचनासंरब्धिः ओजस्विनः काव्यस्य उदयभूः पुराणः कविः, वः प्रीत्यै भवतु ।

अर्थ—(शास्त्रों में वर्णन किया है कि श्रीशिव का वाहन (वृषभ) जहाँ जहाँ फिरता है, वहाँ उसके चरणों से सुवर्ण गिरता है; इसी अभिप्राय से कवि कहते हैं कि—) जिस एक अद्वितीय परमेश्वर का वाहन, सुवर्ण-पूर्ण पादन्यास से अति दिव्य (पाद) विक्षेप करता हुआ, अप्रतिहत (अनिवार्य) गमन से प्राप्त हुई स्वतन्त्रता से सुमनोहर आकृतिवाला (वह वृषभ) सर्वत्र उल्लास करता है और जिस सदाशिव की अद्भुत—ब्रह्मादि (ब्रह्मा से लेकर) स्थावर-पर्यन्त सृष्टि-क्रम की रचना अत्यन्त सुप्रसिद्ध है, वह महातेजस्वी शुक्राचार्य[1] की उत्पत्ति का आदि-कारण, अनादि कवि परमेश्वर 'शिव' आपको परम आनन्द दे ।

अथवा—जिसमें सुवर्ण अर्थात् सुन्दर—नत्तात रस के अनुकूल अक्षरों से पदों (सुबन्त और तिङन्त शब्दों) का न्यास किया है, जिसमें क्रम अर्थात् काव्य-परिपाटी की व्यक्ति (प्राकट्य) निर्दोष है, जिसकी आश्चर्यजनक सर्गबन्ध की रचना-परिपाटी प्रख्यात है ऐसी जिस कवि की वाणी उल्लास को प्राप्त हो रही है, वह ओजः प्रसाद आदि गुणोंवाले काव्य की रचना करनेवाला 'प्राचीन कवि' (श्रीशङ्कर) आप को परम आनन्द प्रदान करें ।

---

(१) श्री शिव (रुद्रजी) के वीर्य-विक्षेप से शुक्राचार्यजी की उत्पत्ति शास्त्रों में कही है ।

राकेन्दोरपि सुन्दराणि हृदयग्राहीणि बालाङ्गना-
मुग्धालापकथामृतादपि परं हारीणि हारादपि ।
अप्युत्तालशिखालवालवचसः सम्पूर्णकर्णामृत-
स्यन्दीनि त्रिजगद्गुरोः स्तुतिकथासूक्तानि पुष्णन्तु वः ॥५८॥

अन्वय—राकेन्दोः अपि सुन्दराणि, बालाङ्गनामुग्धालापकथाऽमृतात् अपि हृदयग्राहीणि, हारात् अपि परम् हारीणि, उत्तालशिखालवालवचसः अपि सम्पूर्ण-कर्णामृतस्यन्दीनि, त्रिजगद्गुरोः स्तुतिकथासूक्तानि, वः पुष्णन्तु ।

अर्थ—पूर्ण चन्द्रमा से भी अधिक सुन्दर (अर्थात् अलौकिक अमृत-रस के टपकानेवाली) और सुमनोहर बालाङ्गना (युवती) के अति सुमधुर कथालाप-रूप अमृत से भी अधिक प्रिय तथा मुक्ताहार से भी अधिक मनोहर एवं अति चतुर मयूर-बालक के सुमधुर वचनों से भी अधिक कर्णों में अमृत टपकानेवाली वे त्रिजगद्गुरु भगवान् श्रीशङ्कर की स्तुति और कथाओं की सूक्तियाँ (सुन्दर उक्तियाँ) आपको (भक्ति-रूप अमृत पिलाकर) परिपुष्ट करें ।

शाणोल्लीढनवेन्द्रनीलमहसि श्रीकण्ठकण्ठस्थले
संसक्ता कनकच्छविर्गिरिसुतादोःकन्दली पातु वः ।
यामालोक्य सनीरनीरददलश्लिष्यत्तडिद्विभ्रम-
भ्रान्त्या नोज्झति चण्डताण्डवनवोल्लेखं शिखी षाण्मुखः ५९

अन्वय—याम् आलोक्य षाण्मुखः शिखी, सनीरनीरददलश्लिष्यत्तडिद्विभ्रमभ्रान्त्या चण्डताण्डवनवोल्लेखम् न उज्झति (सा) शाणोल्लीढनवेन्द्र-नीलमहसि श्रीकण्ठकण्ठस्थले संसक्ता, कनकच्छविः, गिरिसुता-दोःकन्दली [भवभयात्] वः पातु ।

अर्थ—जिसको देखकर स्वामी कार्त्तिकेयजी का वाहन (मयूर) सजल (अति श्यामल) मेघ के खण्ड (किनारे) पर लिपटी हुई विद्युत् (बिजली) के भ्रम से (हर्ष के मारे) अपने उद्धत-

ताण्डव (नृत्य) को नहीं छोड़ता, वह शाण से घिसी हुई नवीन इन्द्र-नील मणि की कान्ति के समान श्यामल श्री सदाशिव के कण्ठस्थल पर लिपटी हुई सुवर्ण की छवि के समान गौर, श्री पार्वतीजी की सुमनोहर भुजलता (बाहुरूप लता) आपकी सदा रक्षा करे।

> यत्सर्गाभरणायमानवपुषः केचित्ककुप्कामिनी-
> कर्णालङ्करणायमानयशसः स्वर्गायमाणश्रियः ।
> दुष्कालानलसन्न-सज्जन-सुधावर्षायमाणोक्तयः
> प्रेक्ष्यन्ते महिमा स यस्य कुरुतां शार्वः स्तवः शं स वः ॥६०॥

अन्वय—[इह] यत्, केचित् सर्गाभरणायमानवपुषः, (केचित्) ककुप्कामिनी कर्णालङ्करणायमानयशसः, (केचित्) स्वर्गायमाणश्रियः, (केचित्) दुष्कालानलसन्नसज्जनसुधावर्षायमाणोक्तयः (पुरुषाः) प्रेक्ष्यन्ते, स यस्य महिमा, (अस्ति) स शार्वः स्तवः, वः शम् कुरुताम्।

अर्थ—इस संसार में जिन लोगों के शरीर समस्त जगत् के आभरण रूप हैं, जिन लोगों का यश दिशारूप कामिनियों (स्त्रियों) के कर्णों का आभूषण है, जिन लोगों की सम्पत्ति स्वर्ग के समान है, और जो लोग इस वर्तमान दुष्काल—कलिकाल रूप अग्नि से खिन्न हुए सज्जनों पर अपनी दिव्य वाणी द्वारा अमृत की सी वर्षा करते हुए देखने में (नजर) आते हैं, ऐसे ऐसे परोपकार-परायण पुरुषों में जिसकी ये सब महिमाएँ हैं, वह श्री सदाशिव की स्तुति, हमें ऐहिक और पारलौकिक सुख प्रदान करे।

साराश यह है कि इस संसार में जो कोई अतिशय उदार, त्रैलोक्य विख्यात कीर्तिवाले महादानी लक्ष्मीवान् लोग और मनुष्यों के तापत्रय-सन्तप्त हृदय को अपनी सूक्तियों (सुन्दर रचनाओं) द्वारा शीतल करनेवाले विद्वान् (सत् कवि) लोग देखने में आते हैं, यह सब महिमा केवल उस परमेश्वर की स्तुति का ही फल है। अत-

परम सुखाभिलाषियों को सर्वथा ही मन, वचन और शरीर द्वारा तन्मय होकर श्री सदाशिव की भक्ति में तत्पर होना चाहिए।

इति श्रीप्रेममकरन्दनाम्न्या टीकयोपेते काश्मीरकमहाकवि
श्रीमज्जगद्धरभट्टविरचिते भगवतो महेश्वरस्य स्तुति-
कुसुमाञ्जलौ 'आशीर्वादाख्यं' तृतीयं स्तोत्रम्

चतुर्थं स्तोत्रम्

अब इसके बाद स्वतन्त्र, अद्वितीय, स्वेच्छामूर्तिधारी परमेश्वर (श्री सदाशिव) ने परम शिवभक्त श्रीहरि (विष्णु) को अपनी इच्छा से प्रेम पूर्वक अपने शरीर का अर्ध भाग प्रदान कर (उन्हें) अनुगृहीत करके अर्धनारीश्वर वेष के समान जो अति अद्भुत 'हरिहर' (आधा शरीर विष्णु रूप और आधा शिव रूप) स्वरूप धारण किया, उसी स्वरूप को इस 'मङ्गलाष्टक' नामक चतुर्थ स्तोत्र में समह करते हुए कवि कहते हैं—

श्रीकम्बुकौस्तुभसुधांशुविषामृतानां
सौदर्यसौहृदसुखानुभवैकधाम।
यत्सत्यधर्मकृतनिष्प्रतिघप्रतिष्ठं
तन्मङ्गलं दिशतु हारिहरं वपुर्वः ॥ १ ॥

अन्वय—सत्यधर्मकृतनिष्प्रतिघप्रतिष्ठम् यत् (वपु) श्रीकम्बुकौस्तुभ-सुधांशुविषामृतानाम् सौदर्यसौहृदसुखानुभवैकधाम (भवति) तत् हारिहरम् वपु वः मङ्गलम् दिशतु।

अर्थ—सत्य (गरुड) और धर्म (वृषभ) में सुस्थिर हुआ जो (हरिहर रूप) शरीर लक्ष्मी, पाञ्चजन्य शङ्ख और कौस्तुभ मणि

एवं चन्द्रमा, विष और अमृत के पारस्परिक सौदर्य-सौहृद (सहोदरभाव[1] के प्रेम) से होनेवाले सुख के अनुभव का एकमात्र आधार (निवासस्थान) है, अर्थात् जिस शरीर में एक तरफ (श्री हरिरूप अर्धभाग में) पार्श्व में लक्ष्मी, हाथ में पाञ्चजन्य शङ्ख एवं वक्षःस्थल में कौस्तुभ (मणि) का निवास है; दूसरी तरफ (श्री शिव रूप अर्धभाग में) मुकुट पर चन्द्रमा, कण्ठ में विष एवं करतल में अमृत[2] का निवास है, वह भगवान् शिव का हरिहर स्वरूप दिव्य (मनोहर) शरीर आप लोगों का मङ्गल करे।

[कदाचित् सहोदरों में तो परस्पर उत्कर्षापकर्ष द्वारा (अर्थात् एक दूसरे की अपेक्षा ऊपर, मध्य और नीचे रहने के कारण) आपस में कभी-कभी विरोध भी हो जाता है इसलिए यहाँ 'शब्दश्लेष' द्वारा उस (पारस्परिक विरोध) का परिहार करते हुए कवि कहते हैं कि—इस (हरिहर रूप) शरीर में तो इनके निवास-स्थल में परस्पर उत्कर्षापकर्षरूप भेद होते हुए भी (इन परस्पर अत्यन्त विरुद्ध स्वभाववाले भी) विष और अमृत आदिकों में कभी विरोध ही नहीं होता, बल्कि (सहोदर भाव के कारण) और भी अधिक प्रेम रहता है। कारण यह (हरिहर रूप) शरीर तो 'सत्यधर्मैकृत निष्प्रतिघप्रतिष्ठ' अर्थात् सत्य

---

(१) लक्ष्मी, सुदर्शन चक्र, कौस्तुभ मणि, चन्द्रमा, विष और अमृत ये सब एक ही (क्षीर) समुद्र से उत्पन्न होने के कारण आपस में सहोदर हैं। इनके एकत्र (एक जगह) न रहने के कारण इन्हें यह सौदर्य सम्बन्धी सौहार्द सुख के अनुभव का अवसर कभी नहीं प्राप्त हो सकता था, किन्तु भगवान् सदाशिव के इस 'हरि हरवपु' (हरि हर स्वरूप मूर्ति) में ही इन्हें एकत्र रहने का यह सौभाग्य प्राप्त होता है इस कारण कवि ने सदाशिव के इस 'हरिहर रूप' शरीर को लक्ष्मी आदिकों के सहोदर सम्बन्धी सौख्यानुभव का एक ही आधार-स्थल बतलाया है।

(२) भगवान् शिव के मृत्युञ्जय रूप में अमृतकलश का निवास उनके कर-कमल में है।

और धर्म-नीति पर सुस्थिर है, इसलिए यहाँ किसी के भी आपस में विरोध-भाव नहीं उत्पन्न होता; क्योंकि जो राज्य 'सत्य' और 'धर्म-नीति' पर सुस्थिर होता है, वहाँ सहोदरों का, आपस में, कभी विरोध होता ही नहीं।]

> आपीडबन्धनविधौ शयने च वर्ष्म
> पर्याप्तभोगविभवं बहुमन्यमानः।
> यत्र प्रहृष्यतितरामुरगाधिराज-
> स्तन्मङ्गलं दिशतु हारिहरं वपुर्वः ॥ २ ॥

अन्वय—यत्र [एकत्र] आपीडबन्धनविधौ [अन्यत्र] शयने च पर्याप्तभोगविभवम् वर्ष्म बहुमन्यमानः उरगाधिराजः, प्रहृष्यतितराम्; तत् हारिहरम् वपुः, वः मङ्गलम् दिशतु।

अर्थ—जिस (शरीर) में एक तरफ (अर्थात् शिवरूप अर्धभाग में) तो, जटाजूट के बाँधने के लिए तथा दूसरी तरफ (अर्थात् विष्णुरूप अर्धभाग में) शय्या के लिए अपने अङ्गों को पर्याप्त (हुए) देखकर अपने (शरीर) को कृतार्थ (धन्य-धन्य) समझता हुआ शेषनाग (मन में) अत्यन्त हर्षित होता है, वह सदाशिव का 'हरिहर' स्वरूप आपको मङ्गल प्रदान करे।

> अर्धं यदुत्पलदलैरुमयेन्दुगौर-
> मर्धं श्रियार्चितमलिद्युति मालतीभिः।
> विच्छित्तिमेत्यनिमिषेक्षणशुक्तिपेयां
> तन्मङ्गलं दिशतु हारिहरं वपुर्वः ॥ ३ ॥

अन्वय—यत् इन्दुगौरम् अर्धम्, उत्पलदलैः उमया अर्चितम्, (तथा) अलिद्युति अर्धम्, मालतीभिः श्रिया अर्चितम् (सत्) अनिमिषेक्षणशुक्तिपेयाम् विच्छित्तिम् एति, तत् हारिहरम् वपुः, वः मङ्गलम् दिशतु।

अर्थ—जिसका (एक) चन्द्रमा के समान स्वच्छ अर्धभाग तो, नीलकमलों द्वारा श्री पार्वतीजी से पूजित और भ्रमर की कान्ति के समान श्यामल दूसरा अर्धभाग, जाती के पुष्पों द्वारा श्री लक्ष्मी से पूजित किया हुआ, देवताओं के नेत्ररूप चषकों (पानपात्रों) से पीने योग्य[1] (अर्थात् अत्यन्त दर्शनीय दिव्य शोभा का पात्र) होता है, वह सदाशिव का 'हरिहर' स्वरूप आपका कल्याण करे।

केशाश्रिता नयनवह्निशिखाभ्रसिन्धु-
झाङ्कारगर्भवपुषो जलदा वहन्ति।
यत्राद्भुतं स्थिरतडिद्विलसितप्रसङ्गं
तन्मङ्गलं दिशतु हारिहरं वपुर्वः ॥ ४ ॥

अन्वय—यत्र, नयनवह्निशिखाभ्रसिन्धुझाङ्कारगर्भवपुषः केशाश्रिताः जलदाः, अद्भुतम् स्थिरतडिद्विलसितप्रसङ्गम् वहन्ति, तत् हारिहरम् वपुः, वः मङ्गलम् दिशतु।

अर्थ—जिस (हरिहर स्वरूप) के श्री हरिरूप अर्धभाग सम्बन्धी केशों में स्थित हुए मेघ[2], श्रीहर रूप अर्धभाग सम्बन्धी तृतीय नेत्र की अग्नि और मस्तक पर स्थित हुई देवगङ्गा के गम्भीर झाङ्कार (शब्द) से गर्भित होकर स्थिर विद्युत् के आश्चर्यजनक*

---

(१) भाव यह है कि श्वेत वर्ण, नील वर्ण के साथ मिल जाने से और अधिक शोभित होता है। अतएव सदाशिव के हरिहर स्वरूप का शिवरूप स्वच्छ अर्धभाग, श्री पार्वतीजी के चढ़ाये हुए नील कमलों से एवं हरि (विष्णु) रूप श्यामल अर्धभाग श्रीलक्ष्मीजी के चढ़ाये हुए जाती (मालती) के श्वेत पुष्पों से ऐसी विचित्र शोभा को धारण करता है कि, जिसे देवता लोग अपने निमेषोन्मेष-विवर्जित (पलकों से रहित-एकटक) नेत्रों से देखते हुए भी अतृप्त ही रह जाते हैं।

(२) हरि के केशों में मेघों का निवास है—'यस्य केशेषु जीमूताः' इत्यादि।

* यहां कवि के प्रति आश्चर्यजनक कहने का अभिप्राय यह है

शब्द को धारण करते हैं, वह श्री सदाशिव का हरिहर स्वरूप आपका मङ्गल करे।

हीनार्धनाभिनलिनालयसङ्कटत्व-
सातङ्कसङ्कुचितवृत्तिकदर्थिताङ्गः ।
अर्धीचिकीर्षति तनुं द्रुहिणोऽपि यत्र
तन्मङ्गलं दिशतु हारिहरं वपुर्वः ॥ ५ ॥

अन्वय—द्रुहिणः अपि, यत्र हीनार्धनाभिनलिनालयसङ्कटत्वसातङ्कसङ्कुचितवृत्तिकदर्थिताङ्गः सन् [स्वीयाम्] तनुम् अर्धीचिकीर्षति, तत् हारिहरम् वपुः, वः मङ्गलम् दिशतु ।

अर्थ—[श्री सदाशिव के हरिहर स्वरूप में आधी नाभि श्री हरि (विष्णु) सम्बन्धी है और आधी नाभि हर (शिव) सम्बन्धी है जिसमें विष्णुजी की अर्ध नाभि में स्थित कमल पर ब्रह्माजी का निवास है इसी अभिप्राय को लेकर कवि कहते हैं कि—] ब्रह्माजी भी जिस (हरिहर रूप) के विष्णु रूप सम्बन्धी अर्ध नाभि में निजाधारभूत कमल के अत्यन्त संकुचित रहने के कारण अपनी स्थिति के भी अति संकुचित हो जाने से (सब) अङ्गों के पीड़ित हो जाने पर खिन्न हो अपने भी शरीर को आधा बनाना चाहते हैं, वह श्री सदाशिव का हरिहर रूप दिव्य शरीर, आपको परम मङ्गल प्रदान करे।

दृग्वर्तिना रवितमीरमणावखण्ड-
मूर्ती निजं च वपुरर्धमवेत्य वह्निः ।
यत्राधिकं ज्वलति लाघवमागतोऽपि
तन्मङ्गलं दिशतु हारिहरं वपुर्वः ॥ ६ ॥

कि पहिले तो विद्युत् ही स्थिर नहीं होती, फिर उसका शब्द कैसे स्थिर होता है अतः वस्तुतः यह आश्चर्य है।

अन्वय—यत्र लाघवम् आगत अपि वह्निः, दृग्वर्तिनौ रवितमीरमणौ अखण्डमूर्ती अवेत्य निजम् च वपुः, अर्धम् अवेत्य (क्रुधा) अधिकम् ज्वलति, तत् हारिहरं वपु, वः मङ्गलम् दिशतु ।

अर्थ—[श्री भगवान् सदाशिव के ललाट के मध्य भाग में जो तृतीय नेत्र है उसमें अग्नि निवास करता है; किन्तु शरीर के अर्धभाग के हरि (विष्णु) रूप हो जाने पर जब शेष हर-रूप सम्बन्धी ललाट का तीसरा नेत्र आधा ही रह गया, तब उस नेत्र में रहनेवाले अग्नि का भी शरीर आधा ही हो गया। इसी अभिप्राय को लेकर कवि कहते हैं—] जिस (शरीर) में लघुता को प्राप्त हुआ भी अग्नि, अपने साथी सूर्य और चन्द्रमा को प्रभु के दाहिने और बांयें नेत्र में अखण्डित अर्थात् पूर्ण शरीरवाले देखकर, ईर्ष्या के कारण (क्रोध से) और भी अधिक प्रज्वलित होता है, वह श्री शिव या हरिहर-स्वरूप आपका कल्याण करे ।

यस्मिन् गुणी सहृदयः सफलः समूलः
स्वातन्त्र्यधामनि करात् पतितः स पद्मः ।
कम्बुः स्थितस्तु धृततद्विपरीतरीति-
स्तन्मङ्गलं दिशतु हारिहरं वपुर्वः ॥ ७ ॥

अन्वय—यस्मिन् स्वातन्त्र्यधामनि, गुणी सहृदयः सफलः समूलः सः पद्मः, करात् पतितः । तद्विपरीतरीतिः कम्बु तु [करे] स्थितः, तत् हारिहरम् वपुः, वः मङ्गलम् दिशतु ।

अर्थ—जिस (स्वतन्त्र शक्तिशाली शरीर) में एक तरफ अर्थात् शिव रूप अर्धभाग में, गुणी (सूक्ष्म तन्तुओं से युक्त) सहृदय (कर्णिका-सहित) सफल (फल-सहित) एवं समूल [मूल (नाल) सहित] कमल को हाथ से हटा दिया अर्थात् उसे हाथ में धारण ही नहीं किया ; और दूसरी तरफ (विष्णु रूप अर्धभाग में) इन (पूर्वोक्त) लक्षणों के

विपरीत अर्थात् निर्गुण, अहृदय (बिना हृदयवाले) और अफल (बिना फलवाले) एव निर्मूल (मूल-रहित) शङ्ख (पाञ्चजन्य) को भी हाथ में धारण कर लिया, वह सदाशिव का मनोहर हरिहर स्वरूप आपका कल्याण करे।

[शब्द-श्लेष से इसका यह भी साराश होता है कि गुणवान् सहृदय (दयालु) और सार्थक एवं समूल (मूल कारण सहित) व्यक्ति को भी त्याग देने में और किसी निर्गुण (गुणों से रहित) और अहृदय (क्रूर) एवं निष्फल तथा निर्मूल व्यक्ति को भी अपनी शरण ले लेने मे प्रभु की स्वतन्त्रता है। अत प्रभु जिसे जैसा चाहें वैसा कर सकते हैं। इसी लिए गन्धर्वराज श्री पुष्पदन्तजी भी कहते हैं—'न खलु परतन्त्रा प्रभुधिय' अर्थात् ईश्वर की इच्छा परतन्त्र (किसी के अधीन) नहीं है।]

पादाग्रनिर्गतमवारितमेव वारि
यत्राधिरोहति शिरस्त्रिदशापगायाः।
अत्यद्भुत च रुचिर च निरङ्कुशञ्च
तन्मङ्गल दिशतु हारिहर वपुर्वः॥ ८॥

अन्वय—यत्र, [एकत्र] पादाग्रनिर्गतम् अत्यद्भुतम् रुचिरम् निरङ्कुशम् च त्रिदशापगाया वारि, अवारितम् एव [अपरत्र] शिर अधिरोहति, तत् अत्यद्भुतम् रुचिरम् च निरङ्कुशम् च हारिहरम् वपु, व मङ्गलम् दिशतु।

अर्थ—जिसकी एक तरफ क (हरि रूप अर्धभाग सम्बन्धी) पादाङ्गुष्ठ से निकली हुई गङ्गा का अति अद्भुत[1], सुमनोहर और निरंकुश

(१) जल का गमन सदा ही नीचे की ओर होता है, किन्तु इस (श्री हरि के पादाङ्गुष्ठ से विनि सृत) जल का गमन ऊपर (श्री सदाशिव रूप अर्धभाग-सम्बन्धी मस्तक) की ओर होता है—अत कवि ने इस जल के और उसे मस्तक पर धारण करनेवाले इस हरिहर रूप शरीर को अति अद्भुत बतलाया।

(उच्छृङ्खल[1]) जल बिना ही रोक-टोक के उसी शरीर को दूसरी तरफ (श्री शिवरूप अर्धभाग-सम्बन्धी) मस्तक में आरूढ हो जाता है, वह अत्यन्त अद्भुत, चन्द्रमा की किरणों के समान स्वच्छ और निरकुश[2] अर्थात् स्वतन्त्र-शक्तिशाली 'हारिहर' शरीर (श्री शिव का हरिहर स्वरूप) आपका मङ्गल करे।

इति श्रीप्रेम मकरन्दनाम्नीटीकासमेते काश्मीरकमहाकवि-
श्रीजगद्धरविरचिते भगवतो महेश्वरस्य स्तुतिकुसुमा-
ञ्जलौ मङ्गलाष्टकं नाम चतुर्थं स्तोत्रम्

पञ्चमं स्तोत्रम्

अब यहाँ से 'कवि-काव्य-प्रशंसा' (सत् कवियों के काव्य की प्रशंसा) नामक पञ्चम स्तोत्र को आरम्भ करते हुए कवि कहते हैं—

आपन्नतापहरणप्रवणा घृणेव
स्वङ्गत्तरङ्गसुभगा गगनापगेव ।
पीयूषसारशिशिरा शशभृत्कलेव
वाणी शिवैकशरणा जयतीश्वरीव ॥ १ ॥

---

(१) एक ही शरीर के हरिहर अर्धभाग-सम्बन्धी पादाङ्गुष्ठ से निकले हुए जल का उसी शरीर के शिवरूप अर्धभाग-सम्बन्धी मस्तक पर आरूढ हो जाना यह अनुचित (सभ्यता से विरुद्ध) सा प्रतीत होता है, इस कारण कवि ने इस जल को 'निरंकुश' (उच्छृङ्खल) यह विशेषण दिया।

(२) अपने ही पादाङ्गुष्ठ से विनिःसृत जल को अपने ही सुपवित्र मस्तक पर धारण कर लेना भी अनुचित प्रतीत होता है, इसी कारण कवि ने यहाँ सदाशिव के 'हारिहर' वपु को भी 'निरंकुश' (उच्छृङ्खल या स्वतन्त्र) बतलाया।

अन्वय—शिवैकशरणा घृणा इव आपन्नतापहरणप्रवणा, शिवैकशरणा गगनापगा इव त्वङ्गत्तरङ्गसुभगा, शिवैकशरणा शशाङ्ककला इव पीयूषसार शिशिरा, शिवैकशरणा ईश्वरी इव, शिवैकशरणा (सत् कवेः) वाणी जयति।

अर्थ—श्री शिवैकशरणा (एकमात्र श्री सदाशिव ही जिसके शरण आधार हैं ऐसी) 'करुणा' के समान शरणागतों (जन्म, जरा और मरण के भय से आतुर हुए लोगों) के आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक संतापों के हरने में तत्पर, शिवैकशरणा आकाश-गङ्गा[1] (मन्दाकिनी) के समान दिव्य तरङ्गों से सुमनोहर, शिवैकशरणा चन्द्र कला[2] के समान अमृत के सार से शीतल और शिवैकशरणा ईश्वरी[3] (पार्वती देवी) के समान सत् कवि की शिवैकशरणा वाणी सर्वोत्कृष्ट (सर्वसमर्थ) है।

यो मूर्धनि स्रजमिवोद्वहते धरित्री-
मुष्णीषतां श्रयति यस्य स भोगिराजः ।
यस्यामसौ वसति वाक्पतिरुक्तिदेवीं
तां ये वहन्ति हृदि ते कवयो जयन्ति ॥ २ ॥

अन्वय—यः धरित्रीम् मूर्धनि स्रजम् इव उद्वहते, सः भोगिराजः यस्य उष्णीषताम् श्रयति, असौ वाक्पतिः यस्याम् वसति, ताम् उक्तिदेवीम् ये हृदि वहन्ति, ते कवयः जयन्ति ।

अर्थ—जो (शेषनाग) इस (५० करोड योजन विस्तारवाली) पृथिवी को अपने मस्तक में पुष्प माला के समान (बिना परिश्रम ही) धारण करता है वह शेषनाग जिसका एक शिरोवेष्टन है, वह समस्त (परा पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी भेद से चार प्रकार की) वाणियों

---

(१) आकाश गंगा (श्री मन्दाकिनी) भी शिवैकशरणा (श्रीशिव ही जिसके एकमात्र आधार हैं ऐसी) है।

(२) चन्द्र कला भी 'शिवैकशरणा' है।

(३) ईश्वरी (पार्वती) भी शिवैकशरणा है।

का पति, परमेश्वर श्रीसदाशिव जिस स्वकीय शक्ति-स्वरूपा वाणी (सरस्वती) में निवास करता है, अर्थात्— परमनाद-स्वरूप से जिस वाणी के अन्दर उल्लास करता है उस सर्वोत्कृष्ट वाणी को (भी) जो लोग अपने हृदय में धारण करते हैं, वे (सुन्दर रचना करनेवाले) सत् कवि सर्वोत्कृष्ट—सवश्रेष्ठ हैं।

धन्याः शुचीनि सुरभीणि गुणोम्भितानि
वाग्वीरुधः स्ववदनोपवनोद्गतायाः।
उच्चित्य सूक्तिकुसुमानि सतां विविक्त-
वर्णानि कर्णपुलिनेष्ववतंसयन्ति ॥ ३ ॥

अन्वय—धन्याः (कवयः) स्ववदनोपवनोद्गतायाः वाग्वीरुधः, शुचीनि सुरभीणि गुणोम्भितानि विविक्तवर्णानि सूक्तिकुसुमानि उच्चित्य, सताम् कर्णपुलिनेषु अवतंसयन्ति।

अर्थ—जैसे धन्यात्मा लोग किसी उपवन (बगीचे) में उत्पन्न हुई लता से अति पवित्र, सुगन्धित, गुणों—तन्तुओं से गूँथे हुए, और श्वेत, पीत आदि वर्णों (रङ्गों) वाले रङ्गबिरङ्गे पुष्पों को चुन चुन करके उन्हें सत्पुरुषों के कर्णतटों का आभूषण बनाते हैं, वैसे ही जो भाग्यवान् कवि लोग अपने मुखरूपी बाग में उत्पन्न हुई वाणी रूपी लता से अति पवित्र अर्थात् पद और अर्थ के दोषों से रहित, श्री शिव-भक्तिरूप अमृत रस के आमोद से सुगन्धित तथा ओज, प्रसाद और माधुर्य नामक गुणों से सुशोभित एवं विशुद्ध वर्णों (अक्षरों) वाले 'सूक्ति कुसुमों' (सुन्दर उक्तियोंरूपी पुष्पों) को चुनकर उन्हें सहृदयों के कर्ण-तटों का आभूषण बनाते हैं वे अतीव धन्य हैं।

श्रोत्राण्यनर्गलगलन्मधुबिन्दुगर्भ-
सन्दर्भसुन्दरपदोपचितैर्वचोभिः।

धन्याः सतां सुकवयः सुखयन्ति तेऽपि
तेषामकृत्रिमचमत्कृतिसाधुवादैः ॥ ४ ॥

अन्वय—धन्याः सुकवयः, अनर्गलगलन्मधुबिन्दुगर्भसन्दर्भसुन्दरपदोपचितैः वचोभिः, सताम् श्रोत्राणि सुखयन्ति, ते (सन्तः) अपि, अकृत्रिमचमत्कृतिसाधुवादैः, तेषाम् श्रोत्राणि सुखयन्ति।

अर्थ—भाग्यवान् सुकवि लोग, अविच्छिन्न रूप से टपकते हुए मधुबिन्दुओं से गर्भित ग्रन्थ में, अति सुन्दर (निर्दोष) पदों की रचना करके, उन मनोहर वचनों से सहृदयों (रसिकों) के कर्णों को सुखी करते हैं; और फिर वे (सहृदय) लोग भी स्वाभाविक चमत्कारपूर्ण-प्रशंसा-वचनो से धन्यवाद देकर (देते हुए) उन सत्कवियों के कर्णों को सुखी करते हैं।

ते केचिदस्खलितबन्धनवप्रबन्ध-
सन्धानबन्धुरगिरः कवयो जयन्ति।
येषामचर्वितरसापि चमत्करोति
कर्णे कृतैव भणितिर्मधुरा सुधेव ॥ ५ ॥

अन्वय—अस्खलितबन्धनवप्रबन्धसन्धानबन्धुरगिरः ते केचित् कवयः जयन्ति, येषाम् मधुरा भणितिः, अचर्वितरसा अपि कर्णे कृता एव, सुधा इव, चमत्करोति।

अर्थ—यथार्थ (ठीक ठीक) क्रम और रचनाओं से पूर्ण नवीन (अपूर्व) 'साहित्य की उक्तियों' की रचना में जिनकी वाणी अतीव निपुण है ऐसे, वे (कोई) ही सुकवि लोग सर्वोत्कृष्ट (धन्य) हैं कि जिनकी 'अति-मधुर भणिति अर्थात् उपचार, वक्र, लक्ष्य और व्यंग्य अर्थों से भरी हुई उक्ति, बिना सम्यक् आस्वादित की हुई भी श्रवण करने (सुनने) मात्र में ही अमृत के समान चमत्कार कर देती है। यानी जैसे अमृत को जिह्वाग्रभाग में रखते ही अतीव

अपूर्व चमत्कार पैदा होता है, वैसे ही महाकवि की प्रौढ़-उक्ति के सुनने मात्र से ही भावुकों के हृदय में विलक्षण चमत्कार पैदा होता है।[1]

तेऽनन्तवाङ्मयमहार्णवदृष्टपाराः
सांयात्रिका इव महाकवयो जयन्ति।
यत्सूक्तिपेलवलवङ्गलवैरवैमि
सन्तः सदःसु वदनान्यधिवासयन्ति॥ ६॥

अन्वय—अनन्तवाङ्मयमहार्णवदृष्टपाराः ते महाकवयः, सांयात्रिकाः इव जयन्ति, यत्सूक्तिपेलवलवङ्गलवैः, सन्तः, सदःसु वदनानि अधिवासयन्ति [इति अदम्] अवैमि।

अर्थ—अपार वाङ्मय अर्थात् चतुर्दश विद्या रूपी महासमुद्र के पारदृश्वा महाकवि लोग पोत-वणिकों (जहाज के व्यापारियों) के समान अतीव धन्य हैं, अर्थात् जैसे पोत-वणिक् (समुद्री व्यापारी) लोग अपार समुद्र के पारङ्गत होते हैं, वैसे ही जो महाकवि लोग समस्त वाङ्मय (चतुर्दशविद्या) रूप अनन्त महासमुद्र के पारङ्गत होते

---

(१) इसी श्लोक के अभिप्रायानुसार 'कविवर राजानक रत्नकण्ठ' ने भी 'श्रेष्ठ कवि' के काव्य की प्रशंसा में एक श्लोक लिखा है:—

एकः श्लोकवरो रसौघमधुरो हृद्यः सतां सत्कवे-
र्नैवेष्टः कुकवेः प्रलापबहुलः कृत्स्नः प्रबन्धोऽपि वा।
वक्रोक्त्या ललितः सहासरभसः पौराङ्गनाविभ्रमो
हर्षोत्कर्षकरो यथा नहि तथा ग्रामीणवध्वा रतम्॥ १॥

अर्थात्—सत्कवि का अनेक रसों से मधुर एक ही श्लोक सहृदयों के चित्त को आकर्षित कर लेता है; और कुत्सित कवि का बहुत अनर्थक वचनों से भरा हुआ समग्र ग्रन्थ भी रसिकों को इष्ट नहीं होता। जैसे नागरिक अंगना की वक्रोक्ति से युक्त और हास्य-सम्पन्न चेष्टा रसिकों को जितना अधिक हर्ष प्रदान करती है, उतना हर्ष उन्हें ग्रामीण वधू का रतिसुख भी नहीं दे सकता।

[अहा ! वास्तव में सत्कवि की उक्ति तो कर्णगोचर होते ही श्रोताओं के हृदयों को भेदित कर उनके मस्तक को अवश्य ही कम्पित कर देती है। नलचम्पू नामक निबन्ध में महाकवि त्रिविक्रम भट्ट जी ने भी खूब कहा है—

किं कवेस्तस्य काव्येन, किं काण्डेन धनुष्मतः।
परस्य हृदये लग्नं, न घूर्णयति यच्छिरः ॥

अर्थात्—ऐसे कवि का, वह काव्य और धनुषधारी (वीर) का वह बाण किस काम का जो कि दूसरे के हृदय में लगकर (भी) उसके मस्तक को घुमा न दे ?]

आवर्जयन्ति मठराञ्जठरार्थमात्र-
पात्रीकृतार्थकणिका गणिकाविटाद्याः।
प्रौढान् पुनर्भुजगभूषणभक्तिसिक्त-
सूक्तावलीविरचनाचतुराः कवीन्द्राः ॥ ८ ॥

अन्वय—जठरार्थमात्रपात्रीकृतार्थकणिका गणिकाविटाद्याः, मठरान् आवर्जयन्ति, पुनः भुजगभूषणभक्तिसिक्तसूक्तावलीविरचनाचतुराः कवीन्द्राः (तु) प्रौढान् आवर्जयन्ति।

अर्थ—केवल उदर-पूर्ति के ही लिए धन के कण, चाटूक्ति (श्लाघा-पूर्ण मिथ्या-कथन) और उपहास-वाक्यों का सञ्चय करने-वाले गणिका और विट (नट) आदि लोग केवल मूर्खों को (ही) अपने वश में कर सकते हैं; परन्तु भुजगभूषण भगवान् श्री शङ्कर की भक्ति से सींची हुई सूक्तावली (सुन्दर उक्तियों) की रचना में अति चतुर महाकवि लोग तो बड़े बड़े बुद्धिमानों (पण्डितों) को अपने वश में कर लेते हैं।

धन्यः स कोऽपि सुकविः कविकर्मकृत्त-
लोकार्ति कार्तिकतुषारकरानुकारि।

गायन्ति यस्य कृतिनस्त्रिजगत्पवित्रं
चित्रं चरित्रमिव बालमृगाङ्कमौलेः ॥ ९ ॥

अन्वय—सः कः अपि सुकविः, धन्यः (अस्ति) यस्य कृत्तलोकार्ति कार्तिकतुपारकरानुसारि चित्रम् त्रिजगत्पवित्रम् कविकर्म कृतिनः बालमृगाङ्क-मौलेः चरित्रम् इव गायन्ति ।

अर्थ—वह कोई (विलक्षण महाभाग्यशाली) सुकवि अतीव धन्य है कि जिसके—लोगों की पीडा को हरनेवाले, कार्तिक मास के पूर्ण चन्द्रमा के समान सुमनोहर और अनेक प्रकार के आश्चर्यमय एवं तीनों लोकों को पवित्र करनेवाले—काव्य को पुण्यात्मा लोग बालेन्दु-शेखर श्री शङ्करजी के दिव्य चरित्र के समान गाया करते हैं ।

त्रैलोक्यभूषणमणिर्गुणिवर्गबन्धु-
रेकश्चकास्ति सविता कविता द्वितीयः ।
शंसन्ति यस्य महिमातिशयं शिरोभिः
पादग्रहं विदधतः पृथिवीभृतोऽपि ॥ १० ॥

अन्वय—त्रैलोक्यभूषणमणिः गुणिवर्गबन्धुः सः एकः सविता (गगने) चकास्ति, द्वितीयः कविता (भूतले) चकास्ति, पृथिवीभृतः अपि, शिरोभिः यस्य पादग्रहम् विदधतः, महिमातिशयम् शंसन्ति ।

अर्थ—एक वह त्रैलोक्य का भूषण-मणि, गुणि-वर्ग (कमल-राशि) का अकृत्रिम बान्धव 'सविता' (रवि) आकाश में प्रकाशमान् होता है, जिसके पादों (किरणों) को पृथिवी-भृत् (पृथिवी की रक्षा करनेवाले पर्वत) भी अपने शिर (शिखर) पर ग्रहण करते हुए जिसकी महिमा गाते हैं । और दूसरा वह त्रैलोक्यभूषण-मणि, गुणि-वर्ग (गुणवान् सहृदय लोगों) का अकृत्रिम बान्धव 'कविता' (वर्णनीय गुणों का वर्णन करनेवाला 'कवि') संसार में प्रकाशमान होता है, जिसके पादों (चरणों) को पृथिवी-भृत् (पृथ्वी का पालन करनेवाले राजा

समेतः]

लोग) भी अपने शिर (मस्तक) पर ग्रहण करते हुए जिसकी महिमा गाया करते हैं[1]।

यस्य स्रवन्त्यमृतमेव मुखे तुषार-
हाराभिरामरुचिरञ्चितवक्रभङ्गिः ।
सूक्तिर्द्युसिन्धुरिव मूर्ध्नि हरस्य चन्द्र-
लेखेव वा वसति तं सुकविं नमामः ॥ ११ ॥

अन्वय—अमृतम् एव स्रवन्ती, तुषारहाराभिरुचिः अञ्चितवक्रभङ्गिः सूक्तिः, यस्य मुखे, हरस्य मूर्ध्नि द्युसिन्धु इव, वा हरस्य शिरसि, चन्द्रलेखा इव वसति, तम् सुकविम् (वयम्) नमामः ।

अर्थ—जैसे जल को बहाती हुई, हिम और मुक्ताहार के समान सुमनोहर कान्तिवाली, एवं रमणीय और कुटिल तरङ्गों की शोभा को धारण करनेवाली आकाश-गङ्गा भगवान् शङ्कर के मस्तक पर बसती है, अथवा—जिस प्रकार अमृत को बहाती हुई, हिम और मुक्ताहार के समान अति मनोहर कान्तिवाली एवं रमणीय और कुटिल (टेढ़ी) शोभा को धारण करनेवाली चन्द्रकला भगवान् शङ्कर के ललाट में निवास करती है, वैसे ही सुमधुर सुधारस को बहाती हुई, स्वच्छ हिम और मुक्ताहार के समान निर्दोष एवं उपचार और वक्रपदों से अति मनोहरता को प्राप्त हुई सूक्ति (सुन्दर उक्ति) जिसके मुख में निवास करती है उस श्रेष्ठ कवि को हम प्रणाम करते हैं ।

याता गुणैरुपचयं विमला प्रकृत्या
नैसर्गिकीं परिणतिं प्रथमां वहन्ती ।
बुद्धिः सतां शशिकलामुकुटप्रसादा-
द्वाणी च न क्वचिदपि प्रतिघातमेति ॥ १२ ॥

---

(१) यहाँ शब्दश्लेषालङ्कार है ।

अन्वय—गुणैः, उपचयम् याता, प्रकृत्या विमला, नैसर्गिकीम् प्रथमाम् परिणतिम् वहन्ती, सताम् बुद्धिः वाणी न, शशिकलामुकुटप्रसादात्, क्वचित् अपि प्रतिघातम् न एति ।

अर्थ—चातुर्य गाम्भीर्य और कोमलत्वादि गुणों से वृद्धि को प्राप्त हुई, प्रकृति से निर्मल और प्रकृति के स्वाभाविक प्रथम परिणाम को प्राप्त हुई विद्वानों की बुद्धि[1] एव ओज, प्रसाद और माधुर्य नामक गुणों से परिपूर्ण, दोषों से रहित और प्रकृति के नैसर्गिक प्रथम परिणाम को धारण करती हुई (वह) विद्वानों की वाणी श्री भगवान् 'सदाशिव' के प्रसाद (अनुग्रह) से कहीं भी रोक-टोक को नहीं प्राप्त होती है ।

चन्द्रावचूडचरणस्मरणप्रसाद-
सन्दर्भ-निर्भरगभीरगिरां कवीनाम् ।
सूक्तिर्बिभर्ति मुखपङ्कजरङ्गनृत्य-
द्वाग्देवताकनकनूपुरनादलीलाम् ॥ १३ ॥

अन्वय—चन्द्रावचूडचरणस्मरणप्रसादसन्दर्भनिर्भरगिराम् कवीनाम् सूक्ति, मुखपङ्कजरङ्गनृत्यद्वाग्देवताकनकनूपुरनादलीलाम् बिभर्ति ।

अर्थ—भगवान् सदाशिव के चरणारविन्द-स्मरण के प्रसाद-स्वरूप रचनाओं में पूर्ण और गम्भीर गिरावाले सत्कवियों की 'सूक्ति-सुधा' (उनके) मुखपङ्कज रूपी नाट्यस्थल (रङ्गभूमि) में नृत्य करनेवाली वाणी (सरस्वती) के (चरणों में लगे हुए) सुवर्ण-नूपुरों[2] के नाद (शब्द) की तुलना को धारण करती है ।

---

(१) सांख्य मत में बुद्धि सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों से परिपूर्णता को प्राप्त होती है, और तीनों गुणों की जो आदि अवस्था प्रकृति है उसी का स्वाभाविक प्रथम परिणाम 'बुद्धितत्त्व' कहा जाता है—

'प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः ।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि ॥'

(२) सोने के मञ्जीरों ।

अर्थात्—ईश्वर के चरणारविन्दों के स्मरण करनेवाले सत् कवियों के मुख पङ्कज से जो सुमनोहर दिव्य उक्तियाँ निकलती हैं वे मानो उनके मुखकमलरूपी रङ्गभूमि में नाचती हुई सरस्वती के चरणों मे लगे हुए सुवर्ण-नूपुरों के सुमनोहर शब्द हैं।

काव्यं विभाव्य निजमर्धनिमीलितानि
नैसर्गिकं जहति चापलमीक्षणानि ।
गृह्णन्ति तन्मसृणतां सहजां विहाय
भ्रूवल्लयस्तु कृतिनां कविपुङ्गवानाम् ॥ १४ ॥

अन्वय—कृतिनाम् कविपुङ्गवानाम् निजम् काव्यम् विभाव्य, अर्धनिमीलितानि ईक्षणानि, नैसर्गिकम् चापलम् जहति । भ्रूवल्लयः तु, मसृणताम् विहाय, तत् चापलम् गृह्णन्ति ।

अर्थ—पुण्यात्मा कविवरों के नेत्र, ईश्वर-विषयक अपने काव्य को विचार कर (उसके अलौकिक रसास्वाद के चमत्कार से) अर्धनिमीलित (आधे खुले और आधे मुँदे हुए) हो अपनी स्वाभाविक चञ्चलता को त्याग देते हैं। और उनकी भ्रुकुटियाँ तो अपने आलस्य को त्यागकर उन (नेत्रों) की चपलता को गृहण कर लेती हैं।

नीहारहारधवलस्य जयत्यपूर्वः
पाकः स कोऽपि सुकृतस्य कृतस्य पूर्वम् ।
यः सम्प्रति प्रतिफलत्यमलासु बाल-
चन्द्रावचूलनुति-सूक्तिषु सत्कवीनाम् ॥ १५ ॥

अन्वय—सत्कवीनाम् पूर्वम् कृतस्य, नीहारहारधवलस्य सुकृतस्य, सः कः अपि अपूर्वः पाकः जयति, यः सम्प्रति, अमलासु बालचन्द्रावचूलनुतिसूक्तिषु प्रतिफलति ।

अर्थ—सत्कवियों का पहिले अनेक जन्मों में उपार्जित और मुक्ताहार के समान स्वच्छ सुकृतों का वह कोई अपूर्व अद्भुत परिपाक

धन्य है, जो कि इस समय (वर्तमान जन्म में) श्री शङ्कर की अत्यन्त निर्म्मल स्तुति-रूप सूक्तियों में फलीभूत (प्रकट) होता है।

सूक्ष्मार्थदर्शनविमर्शवशप्ररूढ-
भ्रूकाण्डताण्डव-निवेदित-चिह्निकासम्।
आस्वाद्य यत्सुमतयो मुखमुद्वहन्ति
सूक्तामृतं जयति तत्कविकुञ्जराणाम्॥ १६॥

अन्वय—सुमतयः यत् आस्वाद्य, सूक्ष्मार्थदर्शनविमर्शवशप्ररूढ-भ्रूकाण्डताण्डव-निवेदित-चिह्निकासम् मुखम् उद्वहन्ति, तत् कविकुञ्जराणाम् सूक्तामृतम् जयति।

अर्थ—निर्म्मल मतिवाले सहृदय लोग जिस (सूक्तिसुधा) को आस्वादन करके सूक्ष्म अर्थ (लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ) के विचार की भावना द्वारा उत्पन्न हुए भ्रुकुटि-ताण्डव से (ही) अपनी चैतन्य-सत्ता[1] को प्रकट करनेवाला मुख धारण करते हैं, उस श्रेष्ठ कवियों की 'सूक्ति-सुधा' की जय हो।

शब्दार्थमात्रमपि ये न विदन्ति तेऽपि
यां मूर्छनामिव मृगाः श्रवणैः पिबन्तः।
संरुद्धसर्वकरणप्रसरा भवन्ति
चित्रस्थिता इव कवीन्द्रगिरं नुमस्ताम्॥ १७॥

अन्वय—ये शब्दार्थमात्रम् अपि न विदन्ति, ते अपि, हरिणाः मूर्छनाम् इव, याम् श्रवणैः पिबन्तः संरुद्धसर्वकरणप्रसराः (सन्तः) चित्रस्थिताः इव भवन्ति, ताम् कवीन्द्रगिरम् (वयम्) नुमः।

---

(१) सत् कवि लोगों की (ईश्वर-विषयक) श्रेष्ठ उक्तियों के विचार से अलौकिक रसास्वाद में तन्मय हो जाने के कारण सहृदय जनों की समस्त इन्द्रियों की चेष्टाएँ निरुद्ध सी हो जाती हैं, तब उस समय उस अपूर्व रसास्वाद के आनन्दानुभव से उनकी भ्रुकुटियाँ हिलने लगती हैं, केवल एक इसी चिह्न से उनकी चेतनता का पता लगता है।

अर्थ—जो (मूर्ख) लोग शब्दार्थ (अर्थात् घट, पट आदि शब्दों के अर्थ) मात्र को भी नहीं जानते (परमार्थ का तो कहना ही क्या !) वे भी—मूर्च्छना नाद (सुन्दर वेणु की सुरीली ध्वनि) को कानों से पीते (सुनते) हुए हरिणों के समान—जिस (वाणी) को कानों से सुनते हुए इन्द्रियों की सम्पूर्ण चेष्टाओं के निरुद्ध हो जाने पर चित्र-लिखित मूर्ति के समान (निश्चेष्ट से) हो जाते हैं, उस कविश्रेष्ठ की वाणी को हम प्रणाम करते हैं।

[आहा ! वास्तव में महाकवियों की वाणी का क्या कहना है, क्योंकि वह तो—

'हरति हरिणचित्तं का कथा चेतनानाम्'

हरिणों के भी चित्त को हर लेती है, सहृदयों के चित्त का तो कहना ही क्या है !]

लभ्यः स कुत्र सुजनः स्वकृतीः प्रदर्श्य
भ्रूकन्दलीयुगलमाकलयन्ति यस्य ।
नेत्रोत्पलोपरिपरिस्फुरदुत्तरङ्ग-
भृङ्गावलिद्वितयविभ्रमभृत् कवीन्द्राः ॥ १८ ॥

अन्वय—कवीन्द्राः, स्वकृतीः प्रदर्श्य, यस्य भ्रूकन्दलीयुगलम् नेत्रोत्पलोपरि-परिस्फुरदुत्तरङ्गभृङ्गावलिद्वितयविभ्रमभृत् आकलयन्ति, सः सुजनः कुत्र लभ्यः ?

अर्थ—अहा ! श्रेष्ठ कवि लोग जिसे अपना काव्य दिखाकर (उसके अद्भुत रसास्वाद से चकित हुई) जिसकी दोनों भृकुटि रूप लताओं को, नेत्र-कमलों के ऊपर स्फुरित होती हुई दो भ्रमर-पंक्तियों के समान देखें वह सहृदय (प्रेम-रसिक) पुरुष कहाँ मिले ?

अर्थात्—महाकवि की रचनाओं के हार्दिक मर्म को समझ लेने-वाले सहृदय लोग प्रायः अत्यन्त ही दुर्लभ हैं।

स्फारेण सौरभभरेण किमेणनाभे-
स्तद्घनसारमपि सारमसारमेव ।
स्रक्सौमनस्यपि न पुष्यति सौमनस्यं
प्रस्यन्दते यदि मधुद्रवमुक्तिदेवी ॥ १९ ॥

अन्वय—यदि उक्तिदेवी, मधुद्रवम् प्रस्यन्दते (तर्हि) एणनाभे स्फारेण सौरभभरेण किम्? (तदा) तत् घनसारम् सारम् अपि असारम् एव [भवति] सौमनसी स्रक् अपि, सौमनस्यम् न पुष्यति ।

अर्थ—यदि वाणी 'अतिमधुर रस' को टपकाती हो तो फिर कस्तूरी की उत्कट सुगन्धि से क्या काम? अर्थात् कुछ भी नहीं, क्योंकि फिर उसके सामने तो वह कर्पूर का अति सुगन्धित सार भी निःसार ही प्रतीत होता है, और दिव्यपुष्पमाला की सुमनोहरता भी फीकी पड जाती है!

संसारमारवपथप्रथमानखेद-
विच्छेदकोविदमिदं कविकर्म्म जीयात् ।
विस्मारितं यदमुना यमुनासनाथं
पाथः प्रसिद्धमपि वैबुधसैन्धवं नः ॥ २० ॥

अन्वय—संसारमारवपथप्रथमानखेदविच्छेदकोविदम् इदम् कविकर्म जीयात्, यत् अमुना, यमुनासनाथम् वैबुधसैन्धवम्, प्रसिद्धम् अपि पाथ, न विस्मारितम् ।

अर्थ—इस संसाररूप महा मरुस्थल के मार्ग में बढ़ते हुए खेद (अशान्ति) को नष्ट करने में अति निपुण इस (प्रत्यक्ष) श्री शिवभक्ति-रसाऽमृत से मिश्रित काव्य की सदा जय हो जो कि इस (काव्य) ने (अपनी अमृत वृष्टि के द्वारा) हमें यमुना के जल से मिले हुए सुप्रसिद्ध गङ्गाजल का भी विस्मरण करा दिया ।

गाम्भीर्यशालिनि शुचावमृतौघशीते
नीते सदा सदनतां मदनान्तकेन ।

यस्यैकपिङ्गलगिरेरिव मानसेऽन्त-
　　र्थाः स्फुरन्ति स विना सुकृतैः क्व लभ्यः ॥२१॥

अन्वय—गाम्भीर्यशालिनि शुचौ अमृतौघशीते, मदनान्तकेन सदा सदनताम्[1] नीते, यस्य मानसे, एकपिङ्गलगिरेः मानसे इव अर्थाः अन्तः स्फुरन्ति, सः (सुकविः) सुकृतैः विना क्व लभ्यः ?

अर्थ—गम्भीरता से सुशोभित और निर्म्मल एवं अमृत के प्रवाह के समान सुशीतल, अतएव श्री सदाशिव ने जिसे कृपया अपने पद में आसक्त कर लिया है ऐसे जिसके मानस (चित्त) में वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य (समस्त) अर्थ—कैलाश पर्वत के अति गम्भीर और निर्मल एवं जल के प्रवाह से शीतल मानसरोवर में नाना प्रकार के पदार्थों के समान—स्फुरित (प्रतिभासित) होते हैं, वह महाकवि विना पुण्य के कहाँ (किसको) मिल सकता है ?

यस्य द्युसिन्धुलहरीशुचयो न कस्य
　　दृष्टिप्रसादमवलोकयतोऽर्पयन्त्यः ।
गावः सुधारसमुचः प्रसरन्ति दिक्षु
　　विश्वैकभूषणमसौ जयति द्विजेन्द्रः ॥२२॥

अन्वय—द्युसिन्धुलहरीशुचयः, अवलोकयतः कस्य न दृष्टिप्रसादम् अर्पयन्त्यः, सुधारसमुचः, यस्य गावः दिक्षु प्रसरन्ति, असौ विश्वैकभूषणम् द्विजेन्द्रः जयति ।

अर्थ—जैसे श्रीगङ्गाजी की तरङ्गों के समान निर्मल और दर्शन करनेवाले प्रत्येक व्यक्ति के नेत्रों में अमृतमय-प्रसाद प्रदान करती हुई एवं अमृत के रस को टपकानेवाली जिसकी किरणें समस्त दिशाओं में फैलती हैं वह संसार का श्रेष्ठ आभूषण (स्वरूप) द्विजेन्द्र [द्विजानां नक्षत्राणां इन्द्रः] अर्थात् चन्द्रमा सर्वोत्कृष्ट (धन्य) है, वैसे ही गङ्गाजी की

(१) निजालयताम् ।

वेदज्ञों के समान निर्मल (निर्दोष) और विचार करनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को ज्ञानरूप दृष्टि को अतीव निर्मल करती हुई, एवं अमृत के रस को टपकानेवाली जिस (कवि) की वाणी समस्त दिशाओं में फैलती है वह समस्त संसार का श्रेष्ठ आभूषण रूप द्विजेन्द्र (महाकवि) धन्य है।

संयोगमेत्य परमर्थपरिष्कृतस्य
पादान्तगोऽपि गुरुतां लघुरेति यस्य ।
तं शङ्करस्तुतिपरं परिशुद्धवृत्तं
सुश्लोकमाप्य मुदमेति न कस्य चेतः ॥२३॥

अन्वय—परम् अर्थपरिष्कृतस्य यस्य संयोगम् एत्य पादान्तगः लघुः अपि गुरुताम् एति, तम् परिशुद्धवृत्तम् सुश्लोकम् शङ्करस्तुतिपरम् आप्य, कस्य चेतः मुदम् न एति ?

अर्थ—जैसे वाच्य अर्थ से सुशोभित, जिस (श्लोक) के साथ संयुक्त होकर लघु (ह्रस्व) एवं पाद के अन्त में स्थित हुआ वर्ण (अक्षर) भी गुरु (दीर्घ) हो जाता है, उस विशुद्ध (वसन्त-तिलका और शार्दूल-विक्रीडित आदि) छन्द से विभूषित और श्रीशङ्कर की स्तुति का वर्णन करनेवाले सुश्लोक (सुन्दर श्लोक) को पाकर (देखकर) सहृदयों का चित्त परम हर्षको प्राप्त होता है, वैसे ही अत्यन्त धन से विभूषित जिस (शिव-भक्त) के संयोग को प्राप्त कर के चरणों के समीप में रहनेवाला प्राकृत पुरुष भी अत्यन्त गौरव को प्राप्त हो जाता है, उस विशुद्ध सच्चरित्रशाली, सुश्लोक-(सुन्दर यश से)-सम्पन्न, शिव-स्तुति-परायण (शिव की स्तुति में तत्पर) भक्त को पाकर किस पुरुष का चित्त हर्ष को नहीं प्राप्त होता ?

इह हि महिमा मायामोहप्ररोहतिरोहित-
त्रिजगदगदङ्कारः सारस्वतः प्रथते सताम् ।
प्रभवति जरामृत्युव्याधिप्रबन्धनिबन्धन-
व्यसनजनितव्यापत्तापक्लमापगमाय यः ॥२४॥

अन्वय—हि य जरामृत्युव्याधिप्रबन्धनिबन्धनव्यसनजनितव्यापत्तापङ्क-माऽपगमाय प्रभवति, (स) मायामोहप्ररोहतिरोहितत्रिजगदगदङ्कारः सताम् सारस्वत महिमा इह प्रथते।

अर्थ—जरा, मृत्यु और व्याधि के दृढ बन्धन का अनुसन्धान करने से उत्पन्न हुई महान् आपत्ति के संताप-क्लेश को समूल नष्ट करने के लिए जो अतीव समर्थ होता है, वह मायाद्वारा उत्पन्न हुए मोह (अज्ञान) से समावृत (ढकी हुई) त्रिलोकी का महाचतुर चिकित्सक अर्थात् त्रैलोक्य के समस्त अज्ञान को समूल नष्ट कर देनेवाला, विद्वद्-वाणी (महाकवि की सरस्वती) का माहात्म्य समस्त संसार में सर्वत्र सुयश (विस्तार) को प्राप्त होता है।

चमत्कारोत्कर्षं कमपि कमनीयं विमृशतां
दिशन्ती सा काचिज्जयति कविवाचां परिणतिः।
यदास्पृष्टे[1] चेतस्यमृतमिति निश्श्रेयसमिति
प्रियं धामेत्युच्चैः पदमिति समुद्यन्ति मतयः ॥२५॥

अन्वय—विमृशताम् कम् अपि कमनीयम् चमत्कारोत्कर्षम् दिशन्ती, सा काचित् कविवाचाम् परिणति जयति, यदा स्पृष्टे चेतसि [इदमेव] अमृतम् इति [इदमेव] निःश्रेयसम् इति [इदमेव] प्रियम् धाम इति [इदमेव] उच्चै पदम् इति मतय समुद्यन्ति।

अर्थ—मनन (विचार) करनेवाले सहृदय लोगों को अनुपम (अलौकिक) चमत्कार दिखलाती हुई श्रेष्ठ कवियों के वचनों की प्रौढिमा को अत्यन्त धन्यवाद है। जिस (शिवभक्तिमोऽमृतमयी उक्ति) से साचे हुए भावुकों के चित्त मे 'बस यही अमृत है', 'यही कैवल्य है', (ब्रह्मादिकों का भी परम कारण होने से) 'यही परम प्रेमास्पद है' और 'यही उच्च पद (मोक्ष) है' इस प्रकार की मतियाँ उत्पन्न होती हैं।

---

(१) 'यदा-स्पृष्टे' इत्यपि पाठः।

मधुस्यन्दी मन्दीकृतविपदुपाधिर्भवमरु-
भ्रमक्लेशावेशप्रशमकमनीयो विजयते ।
अखण्ड-श्रीखण्ड-द्रव-नव-सुधासार-सरसः
प्रसादो वाग्देव्याः प्रवरकविकाव्यामृतवपुः ॥२६॥

अन्वय—मधुस्यन्दी मन्दीकृतविपदुपाधिः, भवमरुभ्रमक्लेशावेश-प्रशमकमनीयः अखण्डश्रीखण्डद्रवनवसुधासारसरसः, प्रवरकविकाव्याऽमृतवपुः वाग्देव्याः प्रसादः विजयते।

अर्थ—मधुररस को झरनेवाला, विपत्तिरूपी उपाधि को मन्द करनेवाला तथा ससाररूप मरुस्थल मे भ्रमण करने से उत्पन्न हुए क्लेशों के आवेश को शान्त करनेवाला, श्रीखण्ड (मलयज चन्दन) और नवीन सुधा के अखण्ड रस के समान सरस श्रेष्ठ कवि की काव्य-सुधारूप शरीरवाला वह वाग्देवी (वाणी) का प्रसाद सर्वत्र विजय को प्राप्त होता है।

घनानन्दस्यन्दोद्गत[1]-विपुलबाष्पार्द्रनयनं
सलीलभ्रूवल्लीवलनविवलद्भालपुलिनम् ।
उदञ्चद्रोमाञ्चस्तबकितकपोलं विदधते
सुधार्द्रा धन्यानां वदनमनवद्याः कविगिरः ॥२७॥

अन्वय—अनवद्याः सुधार्द्राः कविगिरः, धन्यानाम् वदनम् घनानन्द-स्यन्दोद्गत-विपुलबाष्पार्द्रनयनम् सलीलभ्रूवल्लीवलन-विवलद्भालपुलिनम् उदञ्चद्रोमाञ्चस्तबकित-कपोलम् विदधते।

अर्थ—पद-दोष और अर्थ-दोष से रहित एवं अमृत से सींची हुई 'महाकवि की वाणी' (शिवभक्ति-रूप अमृतसे आर्द्र-अन्तःकरण-वाले) भाग्यवान् लोगों के मुँह को गाढ़ आनन्द के प्रवाह-रूप द्वारा उत्पन्न वाष्पों (अश्रुओं) से पूर्ण नेत्रोंवाला, लीलामयी (टेढ़ी)

---

(१) 'स्पन्दोद्गत' इति च पाठः।

भ्रुकुटियों के स्फुरण से अतिचञ्चल ललाटवाला और उद्गत रोमाञ्च से स्तबकित (विभूषित) कपोलोंवाला बना देता है ।

धन्यानाममृतं द्रवन्ति हृदये कर्णे वलन्मल्लिका-
लङ्कारस्तवकन्ति कण्ठपुलिने मुक्ताकलापन्त्यपि ।
शैलान्दोलितदुग्ध-सिन्धुलहरीभङ्गाभिरामोद्गमा
श्यामाकामुकखण्डमण्डनकथासन्दर्भगर्भा गिरः ॥२८

अन्वय - शैलान्दोलित-दुग्धसिन्धुलहरीभङ्गाभिरामोद्गमाः श्यामाका-मुकखण्डमण्डनकथासन्दर्भगर्भाः गिरः धन्यानाम् हृदये अमृतं द्रवन्ति, कर्णे वलन्मल्लिकालङ्कारस्तवकन्ति, कण्ठपुलिने अपि मुक्ताकलापन्ति ।

अर्थ—मन्दराचल से मथेहुए क्षीरसागर की लहरियों के समान मनोहर जिनका उद्गम है ऐसी, श्रीशङ्कर की कथा से गर्भित महाकवियों की उक्तियाँ भाग्यवान् पुरुषों के हृदय में अमृतरस के समान आचरण (असर) करती हैं; कानों में प्रफुल्लित मल्लिका (जाती-पुष्प) के गुच्छ से रचे हुए अलङ्कार के समान आचरण करती हैं एवं कण्ठतट में मुक्ताहार सी बन जाती हैं ।

धन्यानां भणितिच्छलेन वदनेष्वृयन्ति हृत्कर्णिका-
धाम्नः सूक्तिसुधावबोधविधुतापीडस्य चण्डीपतेः ।
किं जूटाहिकिरीटरत्नरुचयः किं स्रग्रजःसूचयः
किं मौलीन्दुमरीचयः किममरस्रोतस्वतीवीचयः॥२९॥

अन्वय—धन्यानाम् वदनेषु भणितिच्छलेन [तेषामेव] सूक्तिसुधाव-बोधविधुतापीडस्य हृत्कर्णिकाधाम्नः चण्डीपतेः जूटाहि-किरीटरत्नरुचयः उद्यन्ति किम् ? किं वा स्रग्रजःसूचयः उद्यन्ति ? किं वा मौलीन्दुमरीचयः उद्यन्ति ? किं वा अमरस्रोतस्वतीवीचयः उद्यन्ति ?

अर्थ—अहा ! शिवभक्ति-रसाऽमृत का पान करनेवाले भाग्य-शाली कविवरों के मुखारविन्द से जो प्रौढ़ उक्तियाँ निकलती हैं, वे क्या उनकी उस सूक्ति-सुधा को सुन उनके हृदय के अन्दर में भगवान् सदा-

शिव के आश्चर्य-चकित जटाजूट के सर्प-रत्नों की रत्न-किरणें सूक्ति के व्याज से निकल आती हैं ? अथवा क्या उनके हृत्पद्म से भगवान् सदाशिव की सुमनोहर माला की दीप्तियाँ निकल आती हैं ? किंवा उनके भालचन्द्र की सुमनोहर किरणें निकल आती हैं ? या वे उनके हृत्पद्म में विराजमान शिव के मौलिमण्डलस्थ मन्दाकिनी की स्वच्छ तरङ्गें उमड़ आती हैं ?

सान्द्रानन्दकरे धृतामृतकरे नास्त्येष राकाकरे
न प्रौढप्रसरे निसर्गशिशिरे स्वर्गापगानिर्झरे ।
गाढप्रेमभरे स्मरज्वरहरे नोद्दामरामाधरे
यः शम्भोर्मधुरे स्तुतिव्यतिकरे ह्लादः सुधासोदरे॥३०

अन्वय—सुधासोदरे मधुरे शम्भोः स्तुतिव्यतिकरे यः ह्लादः, एषः (आनन्दः) सान्द्रानन्दकरे धृतामृतकरे राकाकरे न अस्ति, प्रौढप्रसरे निसर्गशिशिरे स्वर्गापगानिर्झरे अपि न अस्ति । एवं गाढप्रेमभरे स्मरज्वरहरे उद्दामरामाधरे (च) नास्ति ।

अर्थ—सुधा के सहोदर अतिसुमधुर श्रीशङ्कर की स्तुति में जो परम आनन्द है वह आनन्द अमृतमय किरणों के धारण करनेवाले परम सुखदायक पूर्णचन्द्रमा के दर्शन एवं तीव्र वेगवाले और स्वभावतः शिशिर गङ्गा के जल प्रवाह में अवगाहन करने तथा अत्यन्त गाढ़ प्रेममय और काम-ज्वर के हरनेवाले तथा लालिमादि गुणों से परिपूर्ण कान्ता के अधरामृत के पान में भी कदापि नहीं प्राप्त हो सकता ।

ओजस्वी मधुरः प्रसादविशदः संस्कारशुद्धोऽभिधा-
भक्ति-व्यक्तिविशिष्टरीतिरुचितैरर्थैर्धृतालंकृतिः ।
वृत्तस्थः परिपाकवानविरसः सद्वृत्तिरप्राकृतः
शस्यः कस्य न सत्कविर्भुवि यथा तस्यैव सूक्तिक्रमः॥३१

अन्वय—ओजस्वी मधुरः प्रसादविशदः संस्कारशुद्धः अभिधाभक्तिव्यक्तिविशिष्टरीतिः उचितैः अर्थैः धृताऽलङ्कृतिः वृत्तस्थः परिपाकवान् अविरसः

सद्वृत्ति' अप्राकृत: सत्कवि', तस्य एव सूक्तिक्रमः यथा (इव) भुवि कस्य न न शस्यः (भवति) ? (अपि तु सर्वस्यापीत्यर्थ:) ।

अर्थ—ओजस्वी (महातेजस्वी), अतीव सुमधुर और श्रीशिव के अनुग्रह से निर्मल, उपनयन आदि संस्कारों से सुविशुद्ध एवं नाम, ईश्वर-भक्ति और प्रख्याति से विश्रुत कीर्ति तथा उचित पौरुषार्थ से उपार्जित की हुई धनादिक सम्पत्ति से अलङ्कृत, और वृत्त (सदाचार)-परायण, गाम्भीर्यादि-सद्गुण-सम्पन्न एवं सरस और सद्-वृत्ति (शुद्ध-जीविका)वाला सत्कवि उसी के सूक्ति-क्रम (काव्य-परिपाटी) के समान 'इस संसार में' किसका स्तुत्य (स्तुति करने योग्य) नहीं होता ? अर्थात् सभी का प्रशसनीय होता है । सत्कवि का ओजस्वी (ओजो-गुण युक्त), मधुर (माधुर्य गुण युक्त) तथा प्रसाद-विशद (प्रसाद नामक शब्द गुण से विशद) और संस्कार से शुद्ध अर्थात् लोक, छन्द-शास्त्र और काव्यादिकों के परिशीलन से उत्पन्न हुई व्युत्पत्ति द्वारा विशुद्ध एवं अभिधा (मुख्य शब्द व्यापार), भक्ति (गौण उपचार) और व्यक्ति (व्यञ्जना) से विशिष्ट वैदर्भी-रीति से सम्पन्न और उचित अर्थों (वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य इन तीन अर्थों) द्वारा और 'पुनरुक्तव-दाभास' आदि शब्दालङ्कार, उपमा आदि अर्थालङ्कारों से अलङ्कृत एवं (वसन्ततिलका, शार्दूलविक्रीडित आदि) सुन्दर-वृत्त (छन्दों) में स्थित, *अतीव प्रौढ़, सरस, कौशिकी आदि सुन्दर वृत्तियों से युक्त और* अप्राकृत(प्राकृत भाषा से भिन्न)-सूक्ति-क्रम (सत्काव्य) भी इस पृथ्वी में किसका प्रशसनीय नहीं होता अर्थात् सभी का प्रशसनीय होता है ।

> मासा फललतेव चेद्गवती वागीश्वरी कैरपि
> 　　भावपुण्यैः स्वपरोपकार-करणप्रौढा पुन-र्दुर्लभा ।
> अर्हस्तज्जनोपदेशविहितावज्ञैर्दु राशाहत-
> 　　रस्ता दुर्मदकर्दमे फलति किं पापं सशापं विना॥३२॥

अन्वय—कैः अपि प्राक्पुण्यैः, कल्पलता इव भगवती वागीश्वरी प्राप्ता चेत् (तर्हि) पुनर्दुर्लभा (सा वागीश्वरी) स्वपरोपकारकरणप्रौढा [भवति] 'सा एव' पुनः तज्ज्ञजनोपदेश-निह्निताक्षरैः दुराशाहतैः अज्ञैः दुर्मदकर्दमे अस्ता (सती) सशापम् पापम् विना किम् फलति ? (तदेव फलतीत्यर्थः)

अर्थ—यदि किन्हीं महाभाग्यशाली पण्डितों ने प्राचीन अनेक जन्मों में उपार्जित सुकृत (पुण्य) के द्वारा—कल्पलता के समान सकल मनोरथों को देनेवाली—अतिदुर्लभ भगवती-वाणी-(सरस्वती) को प्राप्त कर लिया तो वह सुदुर्लभ (बार-बार न मिलनेवाली) वाणी (श्रीपरमेश्वर की दिव्य स्तुति करके) अपना और अन्य लोगों का परम उपकार (कल्याण) अवश्य करती है ! किन्तु ऐसी सुदुर्लभ वाणी को, सरस ईश्वर-भक्तोंको उपदेश न देकर, अनधिकारी लोगों को उपदेश करनेवाले धन के कण-लोभ से मारे हुए अज्ञान से भरे कुकवि लोग यदि ईश्वर-भक्ति से विमुख मदोन्मत्त शठ लोगों की प्रशंसा रूप कीचड़ में फेंक दें तो फिर वह वाणी उन अभागों कुकवियों को शाप और पाप के सिवाय अन्य फल क्या दे सकती है ? अर्थात् कुछ भी नहीं।

विस्रब्धं विलसन्त्युपस्कृतपदन्यासा विलासालसा
साहङ्कारमकारणारिभिरभिध्याताऽभिजाताकृतिः।
क्षिप्ता दृप्तनृपान्धकूपकुहरे दारैरिवाशाग्रहै-
र्ग्रस्तैः सूक्तिनिभेन तारकरुणं गौरीदृशी रोदिति ॥३३॥

अन्वय—विसब्धम् विलसती उपस्कृतपदन्यासा विलासालसा अभिजाताकृतिः (गौः) [अकस्मात्] अकारणारिभिः (कुकविभिः) साहङ्कारम् अभिध्याता, आशाग्रहग्रस्तैः (तैः एव पुनः) दारैः इव, दृप्तनृपान्धकूपकुहरे क्षिप्ता ईदृशी गौः, सूक्तिनिभेन तारकरुणम् रोदिति।

अर्थ—जैसे यह पुरुष 'सम्यक् प्रकार मेरी रक्षा कर मुझे उचित स्थान में ही ले जायगा' इस प्रकार विश्वास-पूर्वक हर्ष से विलास करती

हुई, सुन्दर पादों (चरणों) के न्यास (उत्थापन-स्थापन) से सुशोभित और मन्द विलास युक्त एव सुकुमार आकृतिवाली, कामधेनु कुल मे उत्पन्न हुई भी गाय अकस्मात् निष्कारण वैरी वनचाण्डालों के द्वारा अहंकारपूर्वक अन्धकूप के विवर (छिद्र) में फेंकी हुई अतीव दीनता-पूर्वक उच्च स्वरसे रोती है, वैसे ही 'यह पुरुष मुझे सम्यक् प्रकार से सरक्षित करके उचित स्थान मे ही ले जायगा, इस प्रकार विश्वस्त होकर हर्ष से उल्लास करती हुई, शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कारों से युक्त पदों, सुबन्त और तिङन्तों के विन्यास से सुशोभित तथा नवीन-नवीन सुमनोहर रचनाओं से पूर्ण, सुकुमार और कुलीन आकृतिवाली (भी) वाणी (अकस्मात्) निष्कारण वैरी कुकवि लोगों की द्वेष-दृष्टि से अहङ्कार-पूर्वक चिन्हित की गई और किरातों के समान वित्त की आशा के लोभ से ग्रस्त हुए उन्हीं कुकवियों के द्वारा अहङ्कार दूषित और अपरीक्षक राजाओं के सुयशरूपी अन्धकूप-(विवर) में फेंकी हुई मानो उन कुकवि लोगों की प्रौढ़ उक्तियों के व्याज से दीनता पूर्वक अति उच्च स्वर से (गाय के समान) रोती है ।

उष्णं निःश्वसिति क्षितिं विलिखति प्रस्तौति न प्रेयसः
प्रीतिं सूक्तिभिरीशितुः करतले धत्ते कपोलस्थलम् ।
वाग्देवी हृदयज्वरेण गुरुणा क्रान्ता हताशैर्वृथा
नीताविष्कृतकोपनिष्कृपनृपस्तोत्रत्रपापात्रताम् ॥२४॥

अन्वय—हताशैः (धनलवलाभग्रस्ताशैः कुकविभिः) वृथा आविष्कृतकोपनिष्कृपनृपस्तोत्रत्रपापात्रताम् नीता वाग्देवी, गुरुणा हृदयज्वरेण क्रान्ता (सती) उष्णम् निःश्वसिति, क्षितिम् विलिखति, ईशितुः सूक्तिभिः प्रेयसः प्रीतिम् न प्रस्तौति, करतले कपोलस्थलम् धत्ते ।

अर्थ—लोभ ने जिनकी आशा को ग्रस्त कर रक्खा है ऐसे कुत्सित कवियों ने कृपणता के कारण व्यर्थ ही कोप प्रकट करनेवाले निर्दयी दुष्ट राजाओं की प्रशंसा द्वारा लज्जा-पात्र बनाई (विलज्जित

की) हुई वाणी बड़े ही शोक से क्लान्त होकर गरम-गरम साँस लेती है और पृथ्वी में लिखती है तथा अपनी दिव्य सूक्तियों से अपने परम प्रिय स्वामी (श्री परमेश्वर) के साथ (दृढ़) प्रीति भी नहीं करती और कपोलस्थल को अपने करतल पर रख लेती है। [इसलिए कवि लोगों को क्षुद्र पुरुषों की प्रशंसा न करके श्री परमेश्वर के ही चरणारविन्दों की स्तुति द्वारा अपनी वाणी को सफल (धन्य-धन्य) करना चाहिए।]

अस्थाने गमिता लयं हतधियां वाग्देवता कल्पते
धिक्काराय पराभवाय महते तापाय पापाय वा ।
स्थाने तु व्ययिता सतां प्रभवति प्रख्यातये भूतये
चेतो निर्वृतये परोपकृतये प्रान्ते शिवावाप्तये ॥३५॥

अन्वय—हतधियाम् वाग्देवता, अस्थाने लयम् गमिता धिक्काराय पराभवाय महते तापाय पापाय वा कल्पते, [सद्भिः] तु स्थाने व्ययिता (सती) सताम् प्रख्यातये भूतये चेतोनिर्वृतये परोपकृतये प्रान्ते (च) शिवावाप्तये प्रभवति ।

अर्थ—धन के लोभ अथवा प्रमाद से हत-बुद्धिवाले कुत्सित कवियों के द्वारा कुत्सित स्थान में अर्थात् ईश्वर के चरणारविन्द से विमुख विषयी लोगों की प्रशंसा में नष्ट की हुई वाणी केवल उन कुकवियों को धिक्कार देने के लिए, उनके पराभव[1] के लिए, पश्चात्ताप के लिए और पाप[2] के लिए समर्थ होती है। किन्तु सुकवियों द्वारा सुन्दर स्थान में अर्थात् गुरु-आज्ञाकारी, कृतज्ञ, सरल, सहृदय और सर्वथा ईश्वर के चरणारविन्द

---

(१) क्योंकि ईश्वर भक्ति विमुख शठ लोग अपने गुरु का भी तिरस्कार करते हैं, अतः ऐसे पुरुषों की प्रशंसा से अवश्य ही पराभव (तिरस्कार) प्राप्त होगा।

(२) कुमार्गगामी कुत्सित पुरुषों के पाप उन्हें उपदेश देनेवाले को भी स्पर्श कर लेते हैं।

मकरन्द में ही समासक्त-चित्तवाले भावुक लोगों के उपदेश देने में व्यय की हुई वही वाणी, उन सत्कवि लोगों के नाम को प्रख्यात करने के लिए, उन्हे सकल सम्पत्ति प्रदान करने के लिए एव मन की प्रसन्नता के लिए, प्रत्येक व्यक्ति के उपकार के लिए और अत समय में आत्यन्तिक दु ख-निवृत्ति रूप परम कल्याण (मोक्ष) की प्राप्ति के लिए समर्थ होती है।

अब ग्रन्थकर्ता, इस स्तोत्र के द्वारा ईश्वर-भक्ति विमुख कुत्सित-कवियो के काव्यो की निन्दा और 'एताः पूर्वकविप्रणीत' इत्यादि वक्ष्य-माण श्लोकार्ध से अपनी विनम्रता वर्णित कर उत्तरार्ध से अनेक जन्मो-पार्जित पुण्यो के द्वारा प्राप्त भगवद्भक्ति रूपी रसायन का निरन्तर पान करनेवाले बडभागी भावुक लोगो की—अपने काव्य के विषय मे स्वाभा-विकी अतिस्पृहणीयता को देख अपने को धन्य धन्य समझते हुए अपनी वाणी की सफलता प्रतिपादन करते हैं—

एताः पूर्वकविप्रणीतविविधग्रन्थाऽमृतास्वादन-
क्रीडादुर्ललितं हरन्ति हृदयं वाचः कथं धीमताम् ।
केषाञ्चित्पुनरीश्वरस्तुतिपदव्याहारहेवाकिनां
यास्यन्ति स्पृहणीयतां भुवि भवक्लेशस्पृशां मादृशाम् ॥३६॥

अन्वय—एता. (मदीया) वाच. पूर्वकवि-प्रणीतविविधग्रन्थामृता स्वादनक्रीडादुर्ललितम् धीमताम् हृदयम् कथम् हरन्ति ? पुनः भुवि केषाञ्चित् मादृशाम् भवक्लेशस्पृशाम् ईश्वरस्तुतिपदव्याहारहेवाकिनाम् [स्वयमेव] स्पृहणीयताम् यास्यन्ति ।

अर्थ—यह मेरे वचन प्राचीन (कालिदास प्रभृति) कवियों के बनाये हुए विविध ग्रन्थ-रूप अमृत का समास्वादन करनेवाले सहृदयों (विद्वानों) के हृदय को कैसे हरेंगे ? अर्थात् जो (विद्वान्) लोग कालिदास आदि प्राचीन कवियो के (शृङ्गार, वीर और हास्य रस-प्रधान) काव्यों का समा-स्वादन करते हैं उन्हे मेरे यह (भक्ति और शान्तरस-प्रधान) वचन कैसे प्रिय लगेंगे ? किन्तु हाँ, कहीं जो कोई विरले मेरे सरीखे भव भय पीड़ित

(सांसारिक दुःखों से सन्तप्त) और ईश्वर की स्तुति के परम उत्कट-अभिलाषुक (भगवत्तत्त्व के जिज्ञासु) हैं उन लोगों को ये मेरे वचन (स्वयं ही) प्रिय लगेंगे ! अर्थात् जो सांसारिक विषयभोगों से विरक्त और भगवत्प्रेमी जन हैं उन्हें यह मेरी रचनाएँ खुद ही प्रिय लगेंगी।

इति श्री 'प्रेममकरन्द'समेत काश्मीरकमहाकविश्रीमज्जगद्धरभट्ट-
विरचिते भगवतो महेश्वरस्य 'स्तुतिकुसुमाञ्जलौ'
कवि काव्य प्रशंसाख्य स्तोत्रम्

षष्ठं स्तोत्रम्

अब यहाँ से 'हराष्टक' (शिवाऽष्टक) नामक षष्ठ-स्तोत्र को आरम्भ करते हुए कवि कहते हैं:—

जयत्यखिलखेचरप्रवरमौलिरत्नप्रभा-
प्ररोहपरिपीवरीकृतनखांशुपादाम्बुजः ।
विशालनयनत्रयीरचितधामधामत्रयी-
तिरस्कृतजगत्त्रयी-परिणतान्धकारो हरः ॥१॥

अन्वय—अखिलखेचर प्रवर-मौलि-रत्नप्रभाप्ररोहपरिपीवरीकृतनखांशुपादाम्बुजः विशालनयनत्रयीरचितधामधामत्रयीतिरस्कृतजगत्त्रयीपरिणतान्धकारः, हरः जयति ।

अर्थ—समस्त ब्रह्मा, विष्णु और इन्द्रादिक देवताओं के मुकुटों में जड़ी हुई पद्मरागादि मणियों की प्रभा से जिसके चरण के नखों की लालिमा वृद्धि को प्राप्त हो रही है ऐसा और विशाल नेत्रत्रयी (तीनों

समेतः]

नेत्रों) में स्थित हुए तीनों तेजों (सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि) से तीनों लोकों के गाढ़ अन्धकार के समूल नष्ट करनेवाला वह हर (शरणागतों के कष्टों को हरनेवाला (श्री सदाशिव) सर्वोत्कृष्ट है।

जयत्यमरदीर्घिकासलिलसेकसंवर्धित-
प्रचण्डनयनानलग्लपिततीव्रतापव्यथः ।
अचिन्त्यचरितोज्ज्वलज्ज्वलदनन्यसाधारण-
प्रभावमहिमाहितत्रिभुवनोपकारो हरः ॥२॥

अन्वय—अमरदीर्घिकासलिलसेकसंवर्धितप्रचण्डनयनानलग्लपिततीव्रतापव्यथ, अचिन्त्यचरितोज्ज्वलज्ज्वलदनन्यसाधारणप्रभावमहिमाहितत्रिभुवनोपकारः हर जयति ।

अर्थ—देवताओं की पुष्करिणियों (सरोवरों) के जल का सिंचन करके खूब वृद्धि को प्राप्त किये (तृतीय) नेत्राऽग्नि से संसाररूपी मरुस्थल के तापत्रय (तीनों तापों) को शान्त करनेवाले और अचिन्त्य अद्भुत (आश्चर्यमय) चरित्रों[1] से देदीप्यमान लोकोत्तर प्रभाव की महिमा द्वारा तीनों लोकों का उपकार करनेवाले हर की सदा जय हो।

जयत्यचलकन्यकाललितदोर्लतालिङ्गित-
स्फुरद्गरलकालिमाकलितकान्तकण्ठस्थलः ।
तडिद्वलयलङ्घितोल्लसदमोघमेघभ्रम-
प्रमत्तगुहबर्हिणोपहतनृत्तहर्षो हरः ॥३॥

---

(१) जल के सिञ्चन से लौकिक अग्नि शान्त हो जाता है किन्तु भगवान् शङ्कर के नेत्र का अग्नि जल के सिञ्चन से और भी अधिक तेज होता है अतः भगवान् शङ्कर के चरित्रों में एक तो यह अद्भुत आश्चर्य है, और दूसरा आश्चर्य—उस अग्नि से संसार के तापों का शान्त हो जाना यह क्योंकि अग्नि से तो ताप और अधिकता को प्राप्त होता है।

अन्वय—अचलकन्यकाललितदोर्लतालिङ्गितस्फुरद्गरलकालिमाकलित कान्तकण्ठस्थल. तडिद्वलयलङ्घितोल्लसदमोघमेघभ्रमप्रमत्तगुहबर्हिणोपहृतनृत्त-हर्षः हरः जयति ।

अर्थ—अत्युत्कट कालकूट (विष) की कालिमा से अत्यन्त सुमनोहर कण्ठस्थल को श्रीनगेन्द्र-कन्या (पार्वती) की अतीव सुललित भुजलताओं से आलिङ्गित देखकर (अतएव) विद्युत् की मेखला से संयोजित अति श्यामल मेघ के भ्रम से उन्मत्त हुआ जो मयूर (स्वामि कार्तिकेय का वाहन) है उसके नृत्य से अति सन्तुष्ट हुआ वह हर सर्वोत्कृष्ट है[1] ।

जयत्यविरलोच्छलद्गरलवह्निहेतिच्छटा-
सटालफणभीषणक्षपणपाशमोक्षक्षमः ।
उदारकरुणारसप्रसरसारसिक्ताशयः
प्रपन्नविपदर्णवोत्तरणकर्णधारो हरः ॥४॥

अन्वय—अविरलोच्छलद्गरलवह्निहेतिच्छटासटालफणभीषणक्षपणपाश-मोक्षक्षमः उदारकरुणारसप्रसरसारसिक्ताशयः प्रपन्नविपदर्णवोत्तरणकर्णधारः हरः जयति ।

अर्थ—अपने शरणागत को निरन्तर उछलते हुए विषरूपी अग्नि-की ज्वाला द्वारा जटिल फणों से और अतिभीषण यम-पाश से छुड़ानेवाला, उदार करुणा-रूपी अमृत के प्रवाह से आर्द्रचित्त एवं शरण में आये हुए लोगों को कर्णधार (मल्लाह) के समान विपत्ति रूपी समुद्र से पार कर देनेवाला हर सर्वोत्कृष्ट है ।

अब श्रीशङ्कर की अद्भुत लीलाओं को वर्णन करते हुए कहते हैं—

जयत्युदधिनिःसरद्गरनिगारलब्धाऽभय-
प्रमोदभरनिर्भरत्रिदशदैत्यवृन्दस्तुतः ।

---

(१) यहाँ नीलकण्ठ का सजल मेघ और नगेन्द्र कन्या की भुजलता का विद्युन्मेखला उपमान होने से भ्रान्तिमान् अलङ्कार है ।

रसातलतलोद्गतज्वलदलङ्घ्यलिङ्गोल्लस-
न्महामहिममोहितद्रुहिणवासुदेवो हरः ॥ ५ ॥

अन्वय—उदधिनिःसरद्गरनिगारलब्धाभयप्रमोदभरनिर्भरनिदशदैत्य-वृन्दस्तुतः, रसातलतलोद्गतज्वलदलङ्घ्यलिङ्गोल्लसन्महामहिममोहितद्रुहिण-वासुदेवः हरः जयति ।

अर्थ—क्षीरसागर से निकले हुए हालाहल के निगलने से प्राप्त हुई निर्भयता द्वारा उत्पन्न प्रमोदभर (हर्षोल्लास) से निर्भर (निश्चिन्त) हुए देवता और दैत्यवृन्द से वन्दित तथा पाताल के तल से निकले हुए अलङ्घनीय अग्निज्वाला-स्वरूप अनादि ज्योतिर्मय लिङ्ग की महामहिमा से ब्रह्मा और विष्णु को मोहित[1] करनेवाला हर (भगवान् शिव) धन्य (सर्वोत्कृष्ट) है ।

जयत्यतुलविक्रमोन्मिषदखर्वगर्वज्वर-
ज्वलच्चपलमन्मथोन्मथनभग्नभोगस्पृहः ।
दशास्यभुजमण्डलीतरलितैकपिङ्गाचल-
त्रसद्गिरिसुताहठग्रथितकण्ठपीठो हरः ॥ ६ ॥

अन्वय—अतुलविक्रमोन्मिषदखर्वगर्वज्वरज्वलच्चपलमन्मथोन्मथनभग्न-भोगस्पृहः दशास्यभुजमण्डलीतरलितैकपिङ्गाचलत्रसद्गिरिसुताहठग्रथितकण्ठपीठः हरः जयति ।

अर्थ—अतुलनीय पराक्रम द्वारा प्राप्त हुए महान् अहङ्काररूप ज्वर से जलते हुए अतिचपल कामदेव को भस्म कर भोगस्पृहा को नष्ट करनेवाला और रावण की भुजमण्डली से उखाड़े हुए

---

(१) श्रीमहिम्नस्तोत्र में कहा है—
'तवैश्वर्यं यत्नाद्यदुपरि विरिञ्चो हरिरधः
परिच्छेत्तुं यातावनलमनलस्कन्धवपुषः ।
ततो भक्तिश्रद्धाभरगुरुगृणद्भ्यां गिरिश यत्
स्वयं तस्थे ताभ्यां तव किमनुवृत्तिर्न फलति ॥'

कैलाश[1] पर्वत में भयभीत हुई पार्वती से हठपूर्वक कण्ठस्थल में आलिङ्गित किया हुआ हर सर्वोत्कृष्ट (धन्य) है ।

जयत्यकलितोल्लसन्मदभरोद्धुरान्धासुर-
प्रतिष्करणसान्त्वनप्रथितनिग्रहाऽनुग्रहः ।
जगत्त्रयभयङ्करत्रिपुरघोरदावावली-
सलीलकवलीकृतिप्रलयवारिवाहो हरः ॥७॥

अन्वय—अकलितोल्लसन्मदभरोद्धुरान्धासुरप्रतिष्करणसान्त्वनप्रथितनिग्रहानुग्रहः, जगत्त्रयभयङ्करत्रिपुरघोरदावावलीसलीलकवलीकृतिप्रलयवारिवाहः हरः जयति ।

अर्थ—तीव्र मद के वेग से उद्धत अन्धकासुर के वध और आश्वासन द्वारा अपने शासन और अनुग्रह को प्रकट करनेवाला तथा तीनों लोकों को भय देनेवाले त्रिपुरासुर के तीनों पुररूप दावाग्नि-(वनाग्नि) को विना प्रयास ही शान्त करने में प्रलयकाल के (सवर्तक नामक) मेघ के तुल्य वह भगवान् हर धन्य है ।

जयत्यघवनाशनिः सुमतिमाधवीमाधवः
कृपामृतपयोनिधिर्भवमहार्णवैकप्लवः ।
विपत्तृणसमीरणः प्रणयिचित्तचिन्तामणिः
समस्तभुवनोदयप्रलयकेलिकारो हरः ॥८॥

अन्वय—अघवनाशनिः सुमतिमाधवीमाधवः कृपामृतपयोनिधिः भवमहार्णवैकप्लवः, विपत्तृणसमीरणः, प्रणयिचित्तचिन्तामणिः समस्तभुवनोदयप्रलयकेलिकारः हरः जयति ।

अर्थ—(मन, वचन और शरीर द्वारा उपार्जित किये त्रिविध) पापरूप वन को नष्ट करने में वज्र के समान, सुमतिरूपी 'माधवी लता' को

---

(१) पुष्पदन्तजी ने भी कहा है—
अमुष्य त्वत्सेवासमधिगतसारं भुजवनं,
बलात् कैलासेऽपि त्वदधिवसतौ विक्रमयतः ।

प्रफुल्लित करने में वसन्त ऋतु के समान, कृपारूप अमृत का महासागर, संसार-रूप महासागर से पार कराने में नौका के समान, विपत्ति रूपी तृण के उडाने में वायु के सदृश, शरणागतों की इच्छाओं का चिन्तामणि (अर्थात् भक्तों के निखिल मनोभिलषितों को परिपूर्ण करनेवाला) और समस्त ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति, (स्थिति) और प्रलय रूप क्रीडा करने-वाला भगवान् हर सर्वश्रेष्ठ है।

इति श्रीप्रेममकरन्दोपेत काश्मीरकमहाकविश्रीमज्जगद्धरभट्ट-
विरचिते भगवतो महेश्वरस्य स्तुतिकुसुमाञ्जलौ
'हराऽष्टकं नाम' षष्ठ स्तोत्रम्

सप्तमं स्तोत्रम्

अब इसके अनन्तर श्रीशङ्कर की अनुपम कृपा द्वारा होनेवाले अनेकाऽनेक अपूर्व उपकारों का निरूपण करते हुए श्री शङ्कर-सेवा (शिवाराधन) की प्रशंसा के लिए हमारे 'कविराज' "सेवाऽभिनन्दन' नामक सप्तम (७वें) स्तोत्र का आरम्भ करते हैं—

निशान्तनिद्रेव दशेव शैशवी नवीनवध्वाश्चकितेव दृक्छटा।
सुरस्रवन्तीव कथेव शाम्भवी कवीन्द्रवाङ्निर्वृतिमातनोतु वः ॥१॥

अन्वय—निशान्तनिद्रा इव, शैशवी दशा इव, नवीनवध्वाः चकिता दृक्छटा इव, सुरस्रवन्ती इव, शाम्भवी कथा इव, कवीन्द्रवाक् वः निर्वृतिम् (आत्यन्तिकदुःखनिवृत्तिरूपं निःश्रेयसम्) आतनोतु।

अर्थ—प्रातःकाल की निद्रा के समान, बाल्यावस्था[1] के समान, नवोढा स्त्री की चकित नयनच्छटा के समान और श्री सुरसरि

---

(१) बाल्यावस्था में सब प्रकार निश्चिन्त रहने के कारण वह अति आनन्ददायक है।

के समान एवं शाम्भवी (शिवजी की) कथा के समान परम आनन्द प्रदान करनेवाली महाकवि की वाणी आप लोगों को परम कल्याण (मोक्ष) प्रदान करे ।*

प्रस्तुत विषय का वर्णन करते हैं—

अलौकिकाह्लादनिबन्धनं मनःप्रसादनं स्वानुभवैकसाक्षिकम् ।
प्रकाशतां वो हृदि पारमेश्वरं महो रहस्यं सुकवेर्गिरामिव ॥२॥

अन्वय—अलौकिकाह्लादनिबन्धनम् मनःप्रसादनम् स्वानुभवैकसाक्षिकम् पारमेश्वरम् महः, सुकवेः गिराम् रहस्यम् इव, वः हृदि प्रकाशताम् ।

अर्थ—जैसे अपूर्व आनन्ददायक और मन को अतीव प्रसन्न करनेवाला एवं अन्य लोगों से दुर्बोध होने के कारण केवल गुरुपरम्परा द्वारा अपने ही अनुभव से जानने योग्य सत्कवि की वाणी का रहस्य सहृदयों के हृदय में प्रकाशित होता है, वैसे ही अलौकिक (अपूर्व) आनन्द को उत्पन्न करनेवाला, मायाकृत आवरण को हटाकर मन को अतीव निर्मल (प्रसन्न) करनेवाला और गुरुपरम्परा द्वारा केवल एक अपने ही अनुभव से जानने योग्य वह श्री परमेश्वर का सत्‌चित्-आनन्दघन प्रकाश (तेज) आपके हृदय में प्रकाशित हो ।

स यस्य चापात्सपदि च्युतोऽच्युतः
शिखाभिरुग्रो विशिखः शिखावतः ।
पुराण्यकार्षीदपुराणि भैरवो
भयानि भिन्द्यादभवो भवः स वः ॥ ३ ॥

अन्वय—यस्य चापात् च्युतः सः अच्युतः विशिखः, शिखावतः शिखाभिः उग्रः (सन्) पुराणि अपुराणि अकार्षीत्, सः अभवः भैरवः भवः, वः भयानि भिन्द्यात् ।

* यहाँ मालोपमा नामक अलङ्कार है—'मालोपमा यदेकस्योपमानं बहु दृश्यते' अर्थात्—जहाँ एक के अनेक उपमान हों वहाँ मालोपमा अलंकार होता है ।

अर्थ—(त्रिपुरासुर के दाह के समय) जिसके मन्दराचल-रूप धनुष से गिरे हुए विष्णुरूपी बाण ने अग्नि की प्रचण्ड ज्वालाओं से प्रदीप्त होकर त्रिपुरासुर के तीनों पुरों को भस्म कर दिया, वह दुर्जनों को भय देनेवाला अनादि 'शिव' आपके समस्त पापों को भेदन (नष्ट) करे।*

स यस्य पृष्ठे चरणार्पणं वृषा
वृषाधिरोहे कलयत्यनुग्रहम्।
त्रिलोकनाथः स गिरा सुधाद्रुपा
वृषाकपिस्तापमपाकरोतु वः ॥ ४ ॥

अन्वय—वृषाधिरोहे सः वृषा (स्वस्य) पृष्ठे यस्य चरणार्पणम् अनुग्रहम् कलयति, सः त्रिलोकनाथः वृषाकपिः, सुधाद्रुपा गिरा, वः तापम् अपाकरोतु।

अर्थ—वृषभ पर आरोहण करते समय वह देवराज इन्द्र अपनी पीठ पर जिनके पदार्पण (चरणविन्यास) को अपने प्रति महान् अनुग्रह (महाप्रसाद) समझता है, वह त्रिलोकीनाथ श्री वृषभध्वज (शिव) अमृत को वर्षा करनेवाली अपनी दिव्य वाणी द्वारा आपके तीनों तापों को दूर करें।

स यस्य पादद्वयमिद्धशासनः
सदा समभ्यर्चति पाकशासनः।
प्रभुः प्रसादाऽमलया दृशा स नः
क्रियाद्विपद्भङ्गमनङ्गशासनः ॥ ५ ॥

अन्वय—इद्धशासनः स पाकशासनः, यस्य पादद्वयम् सदा समभ्यर्चति, सः अनङ्गशासनः प्रभुः, प्रसादामलया दृशा नः विपद्भङ्गम् क्रियात्।

अर्थ—बहुत बड़ा शासन करनेवाला वह पाकशासन (इन्द्र) जिस प्रभु के दोनों चरण-कमलों का सदा पूजन करता है, वह अनङ्गशासन

---

* इस श्लोक में धनुः और धन्वन् तथा शिखिनः, और शिखा-शिखिनः एवं पुराणि और पुराणि ऐसे पद होने से यहाँ पुनरुक्तवदाभास नाम का अलङ्कार है। 'आपाततो यदर्थस्य, पौनरुक्त्येन भासनम्। पुनरुक्तवदाभासः स भिन्नाकारशब्दगः' ॥—सा० द० ॥

(कामदेव को भस्म करनेवाला शङ्कर) प्रसन्नता से निर्मल हुई दृष्टि द्वारा हमारी विपत्तियों का नाश करे ।

चमूर्जयन्भीजनकानका न काः
स यस्य सूनुः क्रमहा महामहाः ।
जटाः स बिभ्रत्तरुणारुणारुणाः
श्रियः क्रियाद्वः शुभयाभयाऽभया ॥ ६ ॥

अन्वय—यस्य स. सूनुः, काः भीजनकानकाः चमूः न जयन् (भवति) सः क्रमहाः महामहा, तरुणारुणारुणाः जटाः बिभ्रत्, शुभया आभया (उपलक्षितः) वः अभयाः श्रियः क्रियात् ।

अर्थ—दूसरों की सेनाओं को भय उत्पन्न करानेवाली दुन्दुभियों से युक्त महाबलवान दैत्यों की प्रत्येक सेना को जीतनेवाला वह कुमार (स्वामी कार्त्तिकेय) जिसका कुमार (पुत्र) है, वह भक्तजनों के समस्त दुःखों का नाश करनेवाला महातेजस्वी और प्रातःकालीन, सूर्य के समान अरुण वर्णवाली जटाओं को धारण करता हुआ, दिव्यातिदिव्य-प्रकाश-सम्पन्न भगवान् सदाशिव आपको अभय (अक्षय) लक्ष्मी प्रदान करे ।

[भगवान् की कृपादृष्टि के बिना जीव का अन्तःकरण नहीं विशुद्ध होता और अन्तःकरण के शुद्ध हुए बिना जीव श्रीभगवान् के चरण-कमलों के (आराधन के लिए) अभिमुख नहीं हो सकता; इसलिए करुणासागर प्रभु की अपने प्रति महान् कृपा समझकर कवि कहते हैं—]

मयि ध्रुवं त्वभयता वताऽवता
कृपामृतार्द्रा महिता हिताऽऽहिता ।
अतस्तवास्तममयामया मया
कृता नुतिः सातिशयाशयाऽऽश्रया ॥ ७ ॥

अन्वय—अयि शम्भो ! अवता भवता, मयि कृपामृतार्द्रा महिता हिता दृक् ध्रुवम् आहिता, बत ? अतः मया सातिशयाशयाऽऽशया अस्तप्रमया मयामया तव नुतिः कृता ।

अर्थ—अये भगवन् ! शरणागत की सब प्रकार से रक्षा करने-वाले आप दयासागर ने मेरे प्रति कृपा रूपी अमृत से आर्द्र और परम पूजनीय (श्लाघ्य) एवं माता के समान हित करनेवाली अपनी करुणापूर्ण दृष्टि अवश्य ही डाली है, इसी लिए (तो) मैं अपने इस दया-दाक्षिण्यादि सद्गुण-सम्पन्न अन्तःकरण मे आपकी प्राप्ति की आशा से, मृत्यु और रोगों का नष्ट करनेवाली यह आपकी 'स्तुति' (आराधना) कर रहा हूँ ।

अनभ्रवर्षप्रतिमं विमत्सरा
नरा जरारुड्मरणार्तिभीरवः ।
मुधा सुधासूतिवतंसशंसनं
विहाय धावन्ति रसायनाय किम् ॥ ८ ॥

अन्वय—विमत्सरा जरारुड्मरणार्तिभीरवः नराः, अनभ्रवर्षप्रतिमम् सुधासूतिवतंसशंसनम् विहाय, रसायनाय मुधा किम् धावन्ति ?

अर्थ—हा ! ईर्ष्या से रहित अर्थात् शान्त मनवाले और जरा (वृद्धावस्था), नाना व्याधियों एवं मरने के दुःख से भयभीत लोग बिना बादलों की (सी) वर्षा के समान अकस्मात् भगवान् के ही अनुग्रह से प्राप्त होनेवाली स्तुति (प्रभु की आराधना) को छोड़कर अन्य रसायन (की खोज) के लिए व्यर्थ ही क्यों इधर-उधर दौड़ते हैं ?

मणिः सुसूक्ष्मोऽपि यथोल्बणं विषं
कृशोऽपि वह्निः सुमहद्यथा तृणम् ।
शिशुर्मृगेन्द्रोऽपि यथा गजव्रजं
तनुः प्रदीपोऽपि यथा तमोभरम् ॥ ९ ॥

यथाल्पमप्यौषधमुन्मदं गदं
यथामृतं स्तोकमपि क्षयाद्भयम् ।
ध्रुवं तथैवाणुरपि स्तवः प्रभोः
क्षणादघं दीर्घमपि व्यपोहति ॥ १० ॥

(युग्मम्)

अन्वय—यथा सुसूक्ष्मः अपि मणिः, उल्बणम् विषम् व्यपोहति, यथा कृशः अपि वह्निः, सुमहत् तृणम् क्षणात् व्यपोहति, यथा वा शिशुः अपि मृगेन्द्रः, गजव्रजम् व्यपोहति, यथा तनुः अपि प्रदीपः तमोभरम् व्यपोहति, अल्पम् अपि औषधम् यथा उन्मदम् गदम् व्यपोहति, स्तोकम् अपि अमृतम् क्षयात् भयम् व्यपोहति, तथैव अणुः अपि (यया कया वा भाषया कृतः) प्रभोः स्तवः दीर्घम् अपि अघम्, ध्रुवम् क्षणात् [एव] व्यपोहति।

अर्थ—जैसे अत्यन्त सूक्ष्म भी गारुत्मत मणि तीव्र विष को क्षण मे ही शान्त कर देता है, जैसे कण भर भी अग्नि बहुत से तृणों के ढेर को शीघ्र नष्ट कर देता है, जैसे छोटा सा (एक या दो मास का) भी सिंह हाथियो के झुण्ड को भगा देता है, जैसे अत्यन्त सूक्ष्म भी दीपक बडे गाढ अन्धकार को नष्ट कर देता है, रत्ती भर भी महौषधि जैसे महा उग्र (भयङ्कर) रोग को शान्त कर देती है और जैसे थोडा सा (एक बिन्दु भर) भी अमृत मरण अथवा क्षयरोग के भय को दूर कर देता है, वैसे ही थोडा सा (एक या आधा श्लोक) भी (जिस किसी भी भाषा से किया हुआ) ईश्वर का आराधन अनेकों जन्म-जन्मान्तर मे इकट्ठे किये बहुत से भी (कायिक, वाचिक और मानसिक) पापो का नाश अति शीघ्र ही कर देता है।

अमन्दसन्दर्भगभीरविभ्रमः
प्रगल्भसंदर्भपरिश्रमः क्रमः ।
अवश्यमासाद्य गुणोचितं विभुम्
बिभर्त्ति सौभाग्यमभङ्गुरं गिरः ॥ ११ ॥

समेतः]

अन्वय—(धन्यस्य कवेः) अमन्दसन्दर्भगभीरविभ्रम प्रगल्भवैदर्भ-परिश्रमः गिरः क्रमः, गुणोचितम् विभुम् आसाद्य, अवश्यम् (एव) अभङ्गुरम् सौभाग्यम् बिभर्ति।

अर्थ—[जैसे कामिनी का क्रम (सद्व्यवहार) किसी सद्गुण-सम्पन्न पति को पाकर परम सौभाग्य को धारण करता है वैसे ही] सत्कवियों के महान् सन्दर्भ (ग्रन्थ-रचनाओं) में जो अतीव गम्भीर अर्थात् बुद्धिमान् सहृदयों के ही जानने योग्य उल्लासों से भरपूर और अति सुन्दर वैदर्भीरीति (वैदर्भी रचना) से सम्पन्न वाक्यक्रम (काव्य-परिपाटी का विन्यास) है वह दीन जनों के प्रति अनुग्रह और संसार-सागर से तारण आदि अनेकों लोकोत्तर गुणगणों से परिपूर्ण परमेश्वर को पाकर अवश्य ही पूर्ण (अखण्ड) सौभाग्य को धारण करता है।

[अब तीन श्लोकों द्वारा, भगवान् की स्तुति से विमुख कवि-वाणी की निरर्थकता प्रतिपादन करते हैं—]

यथा हि शीलेन विना कुलाङ्गना
यथा विवेकेन विना मनीषिता।
सदर्थबोधेन विना यथा श्रुति-
र्महीभुजङ्गेन विना यथा मही॥ १२॥

यथा विना द्यौररविन्दबन्धुना
विना शशाङ्केन यथा निशीथिनी।
विदग्धवर्गेण विना यथा सभा
विना विभूतिर्विनयेन वा यथा॥ १३॥

कृपाविपाकेन विना यथा मति-
र्यथा सुपुत्रेण विना गृहस्थितिः।
तथैव शोच्या हरिणाङ्कशेखर-
स्तवोपयोगेन विना सरस्वती॥ १४॥
(तिलकम्)

अन्वय—यथा हि, शीलेन विना कुलाङ्गना (शोच्या भवति), यथा विवेकेन विना मनीषिता (शोच्या भवति), यथा सदर्थबोधेन विना श्रुतिः शोच्या, यथा वा महीभुजङ्गेन विना मही (शोच्या भवति), यथा अरविन्द-बन्धुना विना द्यौः शोच्या, यथा च शशाङ्केन विना निशीथिनी शोच्या, विदग्धवर्गेण विना यथा सभा शोच्या (भवति), विनयेन विना यथा विभूतिः शोच्या, यथा मतिः कृपाविपाकेन विना शोच्या, यथा च सुपुत्रेण विना गृहस्थितिः शोच्या (भवति), तथैव हरिणाङ्कशेखरशेखरस्तवोपयोगेन विना सरस्वती (वाणी) शोच्या (भवति) ।

अर्थ—जैसे शील के बिना कुलाङ्गना शोचनीय (गर्हित) होती है, और जैसे कार्याकार्य के विचार के बिना विद्वत्ता शोचनीय है, जैसे तात्त्विक-सत्-अर्थ के बिना अध्ययन व्यर्थ है, जैसे राजा के बिना पृथिवी शोचनीय होती है और जैसे सूर्य के बिना आकाश, चन्द्रमा के बिना रात्रि निरर्थक होती है, जैसे विद्वानों के बिना सभा और विनय के बिना ऐश्वर्य गर्हित है, जैसे परोपकार के बिना मति और सुपुत्र के बिना गृहमर्यादा शोचित होती है, ऐसे ही श्री सदाशिव की स्तुति के उपयोग बिना कवि की वाणी भी अत्यन्त शोचनीय (निरर्थक) हो जाती है।

इसका सारांश यह है कि अहङ्कारी राजा-महाराजाओं की स्तुति रूप निरर्थक प्रलाप को छोड़ श्री परमेश्वर की स्तुतिरूप अमृत से आर्द्र अन्तःकरणवाले सहृदयों को परमेश्वर की ही स्तुति में अपनी वाणी का उपयोग करके अपने को कृतार्थ करने का प्रयत्न करना चाहिए।

[अब सबको छोड़कर केवल श्री सदाशिव की भक्ति के प्रसङ्ग से 'कवि' अपना मनोविनोद करते हैं—]

रमापि देवी मम नो मनोरमा
क्षमापि मामभ्युपपत्तुमक्षमा ।
मम क्षमैका भगवत्पगनुति-
र्भवार्त्तिभङ्गे सरसा सरस्वती ॥ १५ ॥

समेतः]

अन्वय—रमा देवी अपि मम मनोरमा न (भवति) तथा क्षमा देवी अपि माम् अभ्यवपत्तुम् अक्षमा, पुनः मम भवार्त्तिभङ्गे एका भगवत्परा सरसा सरस्वती [एव] क्षमा (भवति)।

अर्थ—मुझे (संयमितचित्त) को अब वह रमा देवी (लक्ष्मी) भी प्रिय नहीं लगती और क्षमा (शान्ति) देवी भी मुझे (इस जन्म, जरा और मरण के भय से) नहीं आश्वासन दे सकती; किन्तु मेरी इस जन्म-मरण-रूपी पीड़ा को दूर करने के लिए केवल एक यह 'ईश्वर-परायणा' और अत्यन्त सरस वाणी ही समर्थ हो सकती है।

अचेतनो यः किल कुस्थितिप्रियः,
पृथग्विधोपाधिशतक्षताशयः।
निषेव्यते पादतले स यद्गिरि-
श्चिरं मुनीन्द्रैरपि शुद्धमानसः॥ १६ ॥*

अन्वय—यः अचेतनः कुस्थितिप्रिय. पृथग्विधोपाधिशतक्षताशयः (अपि) सः गिरिः (कैलाशः) शुद्धमानसः पादतले चिरम् मुनीन्द्रैः यत् निषेव्यते [सः एषः गौरीश्वरसंश्रयात्मन कल्पमहामहीरुहः फलोद्गमः (अस्ति) इतिवक्ष्यमाणश्लोकेन सहान्वयः]।

अर्थ—(स्थावर होने के कारण) अचेतन (जड) और पृथ्वी में स्थिति रखनेवाला, वन-हस्ती एवं दुष्ट जन्तुओं द्वारा की हुई नाना प्रकार की पीड़ाओं से क्षुण्ण मध्यभागवाला भी वह (कैलाश) पर्वत जो अतीव निर्मल मानसरोवर से युक्त हो पादतल में चिरकाल तक मुनिवरों द्वारा सेवित किया जाता है—यह उसका सौभाग्य श्री सदाशिव के संश्रयण (शरणागति)-रूप महा-कल्पवृक्ष का ही फल है। अथवा (शब्दश्लेष द्वारा इसका दूसरा भावार्थ यह भी है कि)—

---

* यहाँ से लेकर चार श्लोकों का 'सन्दानितक' (कलापक) है, पाठ-सौकर्य के लिए सभी श्लोकों को साथ ही न रखकर पृथक् पृथक् रख दिया है।

अचेतन (मन्दबुद्धि), कुत्सित मर्यादा का प्रेमी, शत्रुओं द्वारा नाना प्रकार के किये हुए तिरस्कार और अनेक प्रकार की व्याधियों से क्षुण्ण-चित्त (वाला) मनुष्य भी जो (श्री परमेश्वर की कृपा द्वारा) विशुद्ध-अन्तःकरण होकर श्रेष्ठ मुनियों द्वारा चरण-तल में सेवित किया जाता है यह उसका सौभाग्य श्री सदाशिव की शरणागति रूप महाकल्पवृक्ष का ही फल है।

निसर्गतः सत्पथगर्हितस्थिति-
र्मलीमसो जिह्मगतिश्च यः फणी।
स कुण्डली यन्मणिमौलिमण्डितो
महाभुजङ्गः पृथुभोगभागपि ॥ १७ ॥

अन्वय—यः फणी, निसर्गतः सत्पथगर्हितस्थितिः मलीमसः जिह्मगतिः च (अस्ति) सः (अपि) यत् कुण्डली मणिमौलिमण्डितः, महाभुजङ्गः, पृथुभोगभाक् अपि [सञ्जातः] स एव गौरीश्वरसंश्रयात्मनः कल्पमहामहीरुह फलोद्गमः (अस्ति) इति पूर्ववदन्वयः।

अर्थ—स्वभाव से ही सत्पथ (अच्छे मार्ग) में निन्दित गतिवाला, अतीव मलिन (काला) और कुटिल गतिवाला भी सर्प, जो कुण्डली, मणियुक्त फण से सुशोभित, महाभुजङ्ग (सर्पराज) और विशालभोग (बड़ा शरीर) वाला हो गया यह भी (सौभाग्य) उस परमेश्वर (शिव) की शरणागति रूप महा कल्पलता का ही फल है।

अथवा—जो पुरुष स्वभाव से ही सन्मार्ग में गर्हित स्थिति, मलिन अन्तःकरणवाला एवं न्याय में विपरीत चलनेवाला होकर भी कुण्डली अर्थात् (कानों में) दिव्य कुण्डल धारी, मणियुक्त मस्तकवाला, महाकामी और रमणीय वस्तुओं का उपभोग करनेवाला हो जाता है, यह सब महिमा उस शङ्कर की शरणागति रूप महा कल्पवृक्ष का ही फल है।

यदप्यजस्रं जडसङ्गमोचितः
स्वभावतुच्छः शशभृत् कलामयः।

कलङ्कमुक्तं वहते सुधामयं
विधूतदोषोदयमुज्ज्वलं वपुः ॥ १८ ॥

स एष गौरीश्वरसंश्रयात्मनः
फलोद्गमः कल्पमहामहीरुहः ।
अमुं समासादयितुं हितायति-
र्यतेत को नाम न चेतनो जनः ॥ १९ ॥
(सन्दानितकम्)

अन्वय—अजस्रम् जडसङ्गमोचितः, स्वभावतुच्छः शशभृत् कलामयः अपि (चन्द्रमाः) यत् कलङ्कमुक्तम् सुधामयम् विधूतदोषोदयम् उज्ज्वलम् वपुः वहते, सः एषः गौरीश्वरसंश्रयात्मनः कल्पमहामहीरुहः फलोद्गमः (अस्ति) हि अमुम् (गौरीश्वरसंश्रयम्) समासादयितुम् कः नाम हितायतिः सचेतनः जनः न यतेत (अपि तु सर्वोपीत्यर्थः) ।

अर्थ—(समुद्र से उत्पन्न होने के कारण) सदैव जल संगम में तत्पर, एक कला को धारण करनेवाला, अतएव स्वभाव से तुच्छ और कलङ्कधारी भी चन्द्रमा, जो अपने दोषोदय (रात्रि मे ही उदय होना) इस दोष को हटाकर [अर्थात् चन्द्रमा का रात्रि में ही उदय होना जो यह दोष था, उस दोष को श्री शङ्कर के ललाट मे रात-दिन सदा ही उदय (प्रकाशमान) हो अपने से दूर करके] निष्कलङ्क, अमृतमय और अति उज्ज्वल स्वरूप को धारण करता है, यह श्रेष्ठ फल भी श्री सदाशिव की ही शरणागति रूप महाकल्पवृक्ष का है ।

अथवा—जो पुरुष सदैव जड-सङ्गम (जड़ों—मूर्खों की सङ्गति) मे ही निरत, स्वभावतः नीच प्रकृति और शिल्पकलाओं का भी पाप आदि कलङ्कों से रहित, अमृत के समान स्वच्छ और दोषोदय (दोषों के होने की सम्भावना) से रहित (अतीव सुनिर्मल) दिव्य शरीर को धारण करता है, यह सब महिमा उस करुणासिन्धु शङ्कर की ही शरणागतिरूप कल्पलता का फल है ।

इसलिए भविष्य में अपना हित (कल्याण) चाहनेवाला कौन सा सचेतन (बुद्धिमान्) पुरुष इस "भगवच्छरणागति" को प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं करेगा? अर्थात् सभी करेंगे।

निदाघनिर्दग्धमहामरुभ्रम-
  क्लमच्छिदो मार्गमहीरुहादपि।
कलिन्दकन्यासलिलौघसङ्गत-
  त्रिमार्गगाम्भोभरसम्प्लवादपि ॥ २० ॥
सरस्वतीसौभगसारसम्भृत-
  प्रसन्नगम्भीरपदक्रमादपि।
कुरङ्गनाभीघनकुङ्कुमाङ्कित-
  स्तनाङ्गनालिङ्गनविभ्रमादपि ॥ २१ ॥
अमन्दमानन्दसुधारसद्रवं
  स्रवन्नवन्ध्य भवदुःखिते हृदि।
इयत्यमुष्मिन्भुवनाध्वनि ध्वनि-
  र्नमः शिवायेति चमत्करोति मे ॥ २२ ॥

(तिलकम्)

अन्वय—इयति (दूरे) अमुष्मिन् भुवनाध्वनि, भवदुःखिते मे हृदि, 'नमः शिवाय' इति ध्वनिः, निदाघनिर्दग्धमहामरुभ्रमक्लमच्छिदः मार्गमहीरुहात् अपि, कलिन्दकन्यासलिलौघसङ्गतत्रिमार्गगाम्भोभरसम्प्लवात् अपि, सरस्वतीसौभगसारसम्भृतप्रसन्नगम्भीरपदक्रमात् अपि, कुरङ्गनाभीघनकुङ्कुमाङ्कितस्तनाङ्गनालिङ्गनविभ्रमात् अपि, अवन्ध्यम् अमन्दम् आनन्दसुधारसद्रवम् स्रवन्, मे (एतेभ्यः सर्वेभ्यः सकाशात् अधिकम्) चमत्करोति।

अर्थ—इस महाअपार भवाटवी (संसार रूपी अरण्य) के अन्दर इन सांसारिक दुःखों से सन्तप्त हुए मेरे हृदय में 'नमः शिवाय' शब्द की ध्वनि, ग्रीष्म ऋतु के तीव्र ताप से तपे हुए महा मरुस्थल में भटकनेवाले प्राणी को जो खेद होता है उसे शान्त करनेवाले मार्ग-वृक्ष

(छायावृत्त) से भी कोटिगुण अधिक, श्री यमुना-जल के प्रवाह से सम्मिश्रित गङ्गाजल के सुशीतल प्रवाह में अवगाहन करने से भी कोटिगुण अधिक, सरस्वती की सुमनोहर सूक्ति-सुधा से गर्भित और प्रसाद-गुण गुम्फित गम्भीर पदों के क्रम से भी शतकोटि गुण अधिक, एवं लोकोत्तर-सौरभ-सम्पन्न कस्तूरिका और केसर से विलिम्पित स्तनोंवाली बालाङ्गना के गाढ़ आलिङ्गन से भी कोटिगुण अधिक परमानन्द-सुधा के रस से प्रवाहित करती हुई मेरे मन में (पूर्वोक्त सभी वस्तुओं की अपेक्षा) अत्यन्त ही अधिक चमत्कार पैदा करती है।

विचिन्तयञ्जीवनमेव जीवनं
समर्थयन् पार्थिवमेव पार्थिवम्।
विभावयन् वैभवमेव वै भवं
कदाऽऽश्रये शङ्करमेव शङ्करम् ॥ २३ ॥

अन्वय—जीवनम् एव जीवनम् विचिन्तयन्, पार्थिवम् पार्थिवम् एव समर्थयन्, भवम् वैभवम् एव (क्षणमङ्गुरमित्यर्थ) विभावयन्, (अहम्) वै शङ्करम् शङ्करम् एव, कदा आश्रये।

अर्थ—मैं केवल एकमात्र जल को ही अपने जीवन का साधन समझता हुआ अर्थात् 'मैं केवल गङ्गाजल ही पीकर देह धारण करूँगा' ऐसा दृढ़ निश्चय करता हुआ, राजा को 'पार्थिवमेव' पृथिवी का ही एक विकार समझता हुआ और इस संसार के वैभव को थोड़े ही दिनों तक रहनेवाला अर्थात् निःसार समझता हुआ उस औढरदानी भगवान् शङ्कर का आश्रय (शरण) कब ग्रहण करूँगा ?

अथवा—मैं अपने प्रभु सम्बन्धी गङ्गाजल (मन्दाकिनी) को ही अपना जीवन समझता हुआ, पार्थिव अर्थात् मृण्मय निर्मित (मृत्तिका से बनाये हुए) शिव लिङ्ग को ही महादानी राजा समझता हुआ [अर्थात् मृण्मय निर्मित (शिव) लिङ्ग के अर्चन से ही मेरे सकल मनोरथ सिद्ध हो जायेंगे, तब फिर मैं इन महाकृपण क्षुद्र राजाओं

का क्यों सेवन करूँ ? ऐसा निश्चय करता हुआ] एवं 'सर्वं शिवमयं जगत्' के अनुसार इस समग्र संसार को अपने प्रभु-सम्बन्धी (अर्थात् शिवमय) ही समझता हुआ, उस कल्याण कल्पद्रुम भगवान् श्री सदाशिव के चरणों का आश्रय कब लूँगा ?

वरं भवेदप्यवरं कलेवरं
परं हराराधनसाधनं हि यत्।
न तु क्रतुध्वंसिनिषेवणोत्सवं
विनिघ्नती मुक्तिरयुक्तिपातिनी ॥ २४ ॥

अन्वय—हि, यत् परम् हराराधनसाधनम्, (तत्) अवरम् अपि कलेवरम् वरम् भवेत्, तु क्रतुध्वंसिनिषेवणोत्सवम् विनिघ्नती अयुक्तिपातिनी मुक्तिः न वरम् (भवेत्)।

अर्थ—जो केवल एक ईश्वर के ही आराधन का साधन है, वह अवर भी अर्थात् अति अपवित्र और अधम भी नर-देह श्रेष्ठ है; किन्तु श्री प्रभु की आराधना रूप महोत्सव को भङ्ग (विघ्न) करनेवाली और प्रभु के ही महान् अनुग्रह से अकस्मात् प्राप्त होनेवाली भी मुक्ति श्रेष्ठ नहीं है।

[अब इसी श्लोक के अभिप्राय को पुनः विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं—]

क्व नीलकण्ठायतनोपसर्पण-
स्फुटोपकारौ चरणौ महागुणौ।
क्व चाञ्चनोद्वर्तनचर्चनादिभिः
पुरारिपूजार्पणतर्पणौ करौ ॥ २५ ॥
क्व नाम नामग्रहणोत्सवं विभो-
रभिप्रवृत्ता रसना दिने दिने।
क्व चाद्रिपुत्रीपतिपादपंकज-
स्फुरद्रजोराजिविराजितं शिरः ॥ २६ ॥

क्व इविचरं पारितचन्द्रशेखर-
स्वरूपसौभाग्यविलोकनस्पृहा ।
क्व सन्तताकर्णितदर्पकद्विप-
द्विचित्रचारित्रपवित्रिता श्रुतिः ॥ २७ ॥

क्व निर्धुताऽनल्पविकल्पविप्लव-
त्रिलोचनध्याननिबन्धनं मनः ।
क्व चाऽपवर्गोऽयममार्ग एव यः
स्मरारिसेवासुखसर्वसम्पदाम् ॥ २८ ॥

इदं विदन्तः सुधियो भियोज्झिताः
समाधिमाधिच्छिदमाश्रिता अपि ।
प्रभुप्रणामस्तुतिचिन्तनार्चन-
स्फुटोपयोगं बहु मन्वते वपुः ॥ २९ ॥

(पञ्चभिः कुलकम्)

अन्वय—नीलकण्ठायतनोपसर्पणस्फुटोपकारी महागुणौ (भक्तानाम्) चरणौ क्व (भवत) ? स्मरारिसेवासुखसर्वसम्पदाम् अमार्गः अयम् अपवर्गः (मोक्षः) क्व ? अञ्जनोद्वर्तनचर्चनादिभि पुरारिपूजार्पणतत्परौ करौ क्व ? तथा—दिने दिने विभो नामग्रहणोत्सवम् अभिप्रवृत्ता रसना क्व ? अद्रिपुत्रीपतिपादपङ्कजस्फुरद्रजोराजिविराजितम् शिरः च क्व ? चिरम् पारितचन्द्रशेखरस्वरूपसौभाग्यविलोकनस्पृहा दृक् क्व ? सन्तताकर्णितदर्पकद्विपद्विचित्रचारित्रपवित्रिता श्रुतिः क्व ? निर्धुताऽनल्पविकल्पविप्लवत्रिलोचनध्याननिबन्धनम् मनः क्व (अस्ति) ? स्मरारिसेवासुखसर्वसम्पदाम् अमार्गः अयम् अपवर्गः च क्व (अस्ति) ? इदम् विदन्तः भियोज्झिताः सुधियः, आधिच्छिदम् समाधिम् आश्रिता अपि, प्रभुप्रणामस्तुतिचिन्तनार्चनस्फुटोपयोगम् वपुः बहु मन्वते ।

अर्थ—भगवान् श्री सदाशिव के मन्दिरों में जा जाकर अपनी कृतार्थता प्रकट करनेवाले वह भक्त-जनों के सर्वगुण निधान चरण कहाँ ?

श्री शिवप्रतिमा में अञ्जन, उद्वर्त्तन (सुगन्धित पदार्थ का अनुलेपन) एवं चन्दन, कुंकुम और कर्पूर आदि पदार्थों के अनुलेपनादि द्वारा श्री सदाशिव के पूजन में ही तत्पर हस्तकमल कहाँ ? प्रतिदिन श्री भगवान् के पवित्र नामोच्चारण में प्रवृत्त हुई भावुकों की जिह्वा कहाँ ? एवं श्री गिरिजापति के चरणारविन्दों की सुपवित्र रजोराजि (रजःकणों) से विराजित हुआ भक्तों का मस्तक कहाँ ? और भगवान के दिव्य मङ्गलमय स्वरूप के सौन्दर्य का अवलोकन करने की अति उत्कट अभिलाषिणी दृष्टि कहाँ ? एवं प्रतिक्षण श्री भगवान् के विचित्र चरित्र-श्रवण से अतीव पवित्र हुए श्रोत्र कहाँ ? अनन्त चिन्ता-जालों के उपद्रवों को त्यागकर केवल श्री परमेश्वर के ही ध्यान में परायण मन कहाँ ? और श्री शङ्कर की सेवा में प्राप्त होनेवाले अलौकिक आनन्द और लोकोत्तर सम्पदाओं का अगोचर वह मोक्ष कहाँ ?* इसी लिए इस भक्ति सिद्धान्त के मर्म्म को जाननेवाले रसिक लोग निर्भय होकर, जन्म-मरणादि दुःख परम्परा का मूलोच्छेदन करनेवाली समाधि[1] (अष्टाङ्ग योग द्वारा आत्मा और मन की एकता) में आश्रित होकर भी एकमात्र प्रभु के ही प्रणाम, स्तुति, ध्यान और पूजन में प्रयोजन रखनेवाले (अपने) शरीर को अति उदास समझते हैं। सारांश यह है कि भगवत्-प्रेम-रसिकों

---

* यदि गम्भीरता-पूर्वक विवेचन किया जाय तो 'ज्ञातत्वोपलक्षित' चन्द्रमत भगवत्तत्व (शिवतत्व) ही कैवल्य (मोक्ष) पद है अतः उसका अनादर करना अपने भगवान् (शिव) का ही अनादर है, इसलिए यहाँ 'मुक्ति' पद से सालोक्य सामीप्यादि रूप मुक्ति विवक्षित है।

अथवा—साध्य की अपेक्षा साधन में ही अभिज्ञ जनों का अधिक आदर होता है, क्योंकि साधन के होने से साध्य स्वयं ही प्राप्त हो जाता है; अतः भावुक लोग मुक्ति की अपेक्षा भक्ति का ही अधिक महत्व समझते हैं।

(१) 'अम्बुसैन्धवयोरैक्यं, यथा भवति योगतः। तथात्म मनसोरैक्यं समाधिरभिधीयते ॥' जैसे जल और नमक आपस में मिल जाने से एक स्वरूप हो जाते हैं, वैसे ही आत्मा और मन की एकता को समाधि कहते हैं।

के मुक्ति की अपेक्षा भक्ति मे ही अधिक आनन्द प्रतीत होता है इसी लिए वह लोग भगवद्भक्ति में मुक्ति को विघ्न समझते हैं—

'मुक्तिर्हि नाम परमः पुरुषार्थ एकः
तामन्तरायमवयन्ति यदन्तरज्ञाः ।'

[अब प्रवृत्तिमार्ग-परायणों के लिए कविराज दिव्य उपदेश करते हैं :—]

किमङ्गमङ्गल्यमनङ्गभङ्गद-
प्रसादनादन्यदधन्यमन्यसे ।
यदर्थमर्थक्षतिकृत्सुदुष्कर-प्रयास-
साध्येषु मखेषु खिद्यसे ॥ ३० ॥*

अन्वय—हे अङ्ग ! अधन्य ! अनङ्गभङ्गदप्रसादनात् अन्यत् मङ्गल्यम् किम् मन्यसे ? यदर्थम्, अर्थक्षतिकृत्सुदुष्करप्रयाससाध्येषु मखेषु खिद्यसे ।

अर्थ—अरे ! अभाग्य-ग्रस्त प्राणी ! तू श्री शङ्कर की प्रसन्नता के सिवाय दूसरी मङ्गल-(संसार-सागर से पार करानेवाली) वस्तु और क्या समझता है ? जो कि (तू) धनक्षय करनेवाले अति कठिन प्रयत्नों से साध्य होनेवाले यज्ञों में अत्यन्त क्लान्त (खिन्न) हो रहा है ? (अर्थात् अत्यन्त कष्ट-साध्य यज्ञों के करने से जो फल प्राप्त होता है, वह सभी फल श्री भगवान् शङ्कर की प्रसन्नता से स्वयं ही प्राप्त हो जाता है ।)

इमा हिमानीविमला हविर्भुजां
प्रभुप्रसादप्रभवा विभूतयः ।
करोषि यत्तर्पणमात्रकाम्यया
दयास्पदप्राण्युपघातपातकम् ॥ ३१ ॥

---

* यहाँ से चार श्लोकों का चक्रलक (कलापक) है ।

अन्वय—हे अधन्य ! यत्तर्पणमात्रकाम्यया दयास्पदप्राण्युपघातपातकम् करोषि, (तेषाम्) हविर्भुजाम्, इमाः हिमानीविमला विभूतयः, प्रभुप्रसादप्रभवा. (सन्ति)।

अर्थ—ओः अभागी ! तू जिन देवताओं को तृप्त करने मात्र की अभिलाषा से यज्ञों में विना अपराध ही दया-पात्र प्राणियों की हिंसा करके अनन्त पापराशि को सञ्चित करता है, उन देवताओं को यह हिमालय के समान स्वच्छ (अणिमा आदि अष्ट) विभूतियाँ उसी परमेश्वर (सदाशिव) के अनुग्रह से प्राप्त हुई हैं।

अर्थात् जिस (प्रभु) के अनुग्रह के लेशमात्र से ही देवताओं को वह अणिमा आदि अष्ट सिद्धियाँ प्राप्त हुई हैं, तू भी उसी करुणा-सागर का ही आराधन क्यों नहीं करता ? ।

सखे ! सखेदस्य धनार्जनं प्रति
प्रतिग्रहाध्यापनयाजनादिभिः ।
प्रयाति ते वायुरिवायुरिङ्गित
विहन्ति हन्त क्रतवे तवेहितम् ॥ ३२ ॥

अन्वय—हे सखे ! प्रतिग्रहाध्यापनयाजनादिभि , धनार्जनं प्रति सखेदस्य ते आयु , वायु इव प्रयाति, हन्त (अत) क्रतवे तव ईहितम् (तव) इङ्गितम् (अभीप्सित श्रीशिवाराधनम्) विहन्ति ।

अर्थ—सखे ! प्रतिग्रह, अध्यापन और यज्ञादिकों द्वारा धनोपार्जन के प्रति प्रयत्न करते करते तुम्हारी आयु प्रतिक्षण वायु के समान जा रही है। हन्त ! यज्ञादि सकाम कर्मों के लिए तुम जो-जो चेष्टा करते हो ये चेष्टाएँ तुम्हारे (श्री ईश्वराराधन रूप) अभीष्ट को नाश कर रही हैं।

अतः स्वतः प्रार्थित-संपदां पदं
कदर्थना हीनमदीनमेनसा ।

निदानमानन्दभुवः स्वयम्भुवो
　　भजस्व पादाम्बुजसेवनोत्सवम् ॥ ३३ ॥
　　　　　　　　　　　　　　　　　(चक्कलकम्)

अन्वय—अतः, हे सखे! स्वतःप्रार्थितसम्पदाम् पदम्, कदर्थनाहीनम्, एनसा अदीनम्, आनन्दभुवः निदानम्, स्वयम्भुवः पादाम्बुजसेवनोत्सवम् भजस्व।

अर्थ—इस कारण हे सखे! तू स्वतःप्रार्थित अणिमादि समस्त विभूतियों के महा-निधि, पीडाहीन, पातकों के संसर्ग से रहित एवं परम आनन्द की उत्पत्ति के निदान (आदि कारण) स्वयंभू (अनादि) परमेश्वर के चरणाम्बुज का ही एकमात्र सेवन कर।

अक्लेशपेशलमलङ्घ्यकृतान्तदूत-
　　हुङ्कारभङ्गभिदुरं दुरितेन्धनाग्निम्।
को नाम नामयहरं हरपादपद्म-
　　सेवासुखं सुमतिरन्वहमाद्रियेत ॥ ३४ ॥

अन्वय—अक्लेशपेशलम् अलङ्घ्यकृतान्तदूतहुङ्कारभङ्गभिदुरम् दुरितेन्धनाग्निम् आमयहरम् हरपादपद्मसेवासुखम् कः नाम सुमतिः अन्वहम् न आद्रियेत?

अर्थ—अहा! अविद्या आदि पञ्च क्लेशों के संसर्ग से रहित होने के कारण अतीव कोमल तथा अनिवार्य-यमदूतों के हुंकार-जन्य त्रास का भेदन करनेवाले, पापरूप काष्ठ को भस्म करने में अग्नि के समान, जन्म-जरा मरण रूप भयङ्कर रोग को समूल ही नष्ट कर देनेवाले श्रीशिव पादारविन्द की सेवा के सुख को कौन बुद्धिमान् पुरुष प्रतिदिन नहीं सेवित करेगा?।

रोमन्थमन्थरकुरङ्गशताश्रितेषु
　　भागीरथीशिशिरशीकरशीतलेषु।
रोहन्महार्हफलकन्दलसुन्दरेषु
　　बद्धास्पदास्तुहिनभूधरकन्दरेषु ॥ ३५ ॥

धन्याः समाधिमवधानधना धनादि-
सम्बन्धबन्धमवधूय धियाऽधियन्तः ।
ज्योतिः परं गलदनल्पविकल्पजाल-
मालोकयन्ति भगवन्तमनन्तमन्तः ॥ ३६ ॥

(युग्मम्)

अन्वय—रोमन्थमन्थरकुरङ्गशताश्रितेषु भागीरथीशिशिरशीकरशीतलेषु रोहन्महार्हफलकन्दलसुन्दरेषु तुहिनभूधरकन्दरेषु बद्धासदाः अवधानधनाः धन्याः, धनादिसम्बद्धबन्धम् अवधूय, धिया समाधिम् अधियन्तः, गलदनल्पविकल्पजालम् परम् ज्योतिः भगवन्तम् अनन्तम्, अन्तः (हृदये) आलोकयन्ति ।

अर्थ—रोमन्थ (चर्वित वस्तु के पुनः पुनः चर्वण करने) से आलसी बने हुए मृग-गणों से आश्रित (घिरे हुए), भागीरथी के शिशिर जल-कणों से सुशीतल, अति उत्तम फल एवं कन्द-मूलादिकों के सुहावने वृक्ष और लताओं से सुमनोहर हिमालय पर्वत की गुहाओं में आसन लगाकर केवल एकाग्रता को ही अपना परम धन समझनेवाले धन्यात्मा लोग धन, पुत्र और कलत्रादि-सम्बन्ध के बन्धन को तोड़ एकाग्र बुद्धि के द्वारा समाधि (आत्मा और मन की एकता) को प्राप्त होते हुए अपने हृदय-कमल के अन्दर समस्त विकल्प-(चिन्ता-) जाल के संसर्ग से रहित परम ज्योति स्वरूप भगवान् सदाशिव को (ज्ञान-चक्षु-द्वारा) देखते हैं।

धन्या भजन्ति नृपवेश्मसु वेत्रिवक्त्र-
हुंकारकातरधियस्तरुणेन्दुमौलिम् ।
वैराग्यनिर्वृतमनस्विजनावकीर्ण-
स्वर्गापगापुलिनबालतालयेषु ॥ ३७ ॥

अन्वय—नृपवेश्मसु वेत्रिवक्त्रहुङ्कारकातरधियः धन्याः, वैराग्य-निर्वृत-मनस्विजनावकीर्णस्वर्गापगापुलिनबाललतालयेषु तरुणेन्दुमौलिम् भजन्ति ।

अर्थ—अहा! राजमहलों पर द्वारपाल लोगों के मुख से निकले हुए हुंकारों (अन्दर मत जाओ! इस प्रकार के क्रोधभरे वचनों) से कातर हुए भाग्यवान् लोग सांसारिक विषयों में न आसक्त होकर वैराग्य से नियमित चित्तवाले मनस्वियों (मुनि-जनों) से घिरे हुए गङ्गातट के कोमल लता-गृहों (पर्णशालाओं) में (स्थित होकर) भगवान् शङ्कर का ध्यान करते हैं।

सन्तः स्मरन्ति शशिखण्डशिखण्डसेवा-
हेवाकिनः सुरसरित्पुलिनस्थलेषु ।
लक्ष्मीलवोल्लसदमन्दमदाऽवलेप-
भूपालबालिशविलङ्घनविप्लवानाम् ॥ ३८ ॥

अन्वय—शशिखण्डशिखण्डसेवाहेवाकिनः सन्तः, सुरसरित्पुलिन-स्थलेषु, लक्ष्मीलवोल्लसदमन्दमदाऽवलेपभूपालबालिशविलङ्घन-विप्लवानाम् स्मरन्ति ।

अर्थ—श्री शङ्कर की ही सेवा में व्यसन रखनेवाले सज्जन लोग गङ्गातट की एकान्त-भूमि में (वैराग्य की दृढ़ता के लिए) थोड़े से धन के मद से दूषित-अन्तःकरणवाले महामूर्ख राजाओं के अपमानरूप उपद्रवों का स्मरण करते हैं।

इदं मधुमुखं विषं हरति जीवितं तत्क्षणा-
दपथ्यमिदमाशितं व्ययपते विपाके वपुः ।
इदं तृणगणाहृतं विलयपो विधत्ते क्षणा-
धदश्च मलिनोत्करैर्द्रविणमर्जितं कर्मभिः ॥३९॥
अतः मतनुवैभवोद्भवदखर्वगर्वक्षया-
पतिप्रणयसंभवं भुवि विडम्बनाडम्बरम् ।
विहाय सुरवाहिनीपुलिनरामहेवाकिनो
भजन्ति कृतिनस्तपीरमणखण्डचूडामणिम् ॥४०॥

(युग्मम्)

अन्वय—अत्र, मलिनोल्बणैः कर्मभिः (मनुष्यैः) यत् द्रविणम् अर्जितम्, इदम् मधुमुखम् विषम् तत्क्षणात् जीवितम् हरति। इदम् आशितम् अपथ्यम् विपाके वपुः व्यथयते। (मलिनोल्बणैः कर्मभिः यत् द्रविणम् उपार्जितम्) तत् इदम् तृणगणावृतम् विलम् क्षणात् अधः विधत्ते। अतः (हेतोः) सुरगाङ्गिनीपुलिनवासदेवाकिनः कृतिनः, भुवि प्रतनुवैभवोद्धतमदखर्वगर्वक्षमापतिप्रणयसम्भवम् विडम्बनाडम्बरम् विहाय, तमीरमणखण्डचूडामणिम् भजन्ति।

अर्थ—इस संसार मे अत्यन्त मलिन और उल्वण (उग्र) कर्मों के द्वारा मनुष्य जिस धन को सञ्चित करते हैं, वह (धन) आरम्भ मे मधुर प्रतीत होनेवाला विष है, अतएव वह तत्क्षण अर्थात् उपभोग करते समय ही उनके जीवन को नष्ट कर देता है, उपभोग करने मे परिणाम मे अतीव अपथ्य-कारक होता है और अन्त में शरीर को अत्यन्त ही दुःखित कर देता है। इसलिए वह (मलिन कर्मों द्वारा उपार्जित) धन मानो तृणों से ढका हुआ एक बडा विल (अन्धकूप) है अतः उसमें प्रवेश (उपभोग) करने मात्र मे ही वह मनुष्य का अधःपात अवश्य ही कर देता है।

इसी कारण बुद्धिमान् लोग इस असार ससार मे, अत्यन्त अचिरस्थायी (क्षणभङ्गुर) वैभव के महान् मद में दूषित क्षुद्र राजाओं की प्रार्थना से होनेवाले उपहास (अपमान) के आडम्बर को छोड़कर, श्री गङ्गातट मे वास करते हुए केवल एकमात्र सदाशिव का ही आराधन करते हैं। अतः—

किं भूयोभिः परुषविषयैः श्रीविकारैरसारैः
किं वा भूयः पतनविरसैः स्वर्गभोगाभिलापैः।
मन्ये नाऽन्यद्द्रवभयविपत्कातराणां नराणां
मुक्त्वा भक्तिं भगवति भवे शस्यमाशास्यमस्ति ॥४१॥
दूरोदञ्चच्चटुललहरीहारिहस्तव्युदस्त-
व्यापत्तापत्रिदशतटिनीमज्जनोन्मज्जनेषु।

श्रद्धाबन्धं शशधर-शिरःपादराजीवसेवा-
हेवाकैकव्यसनमनसस्तेन तन्वन्ति सन्तः ॥४२॥
(युग्मम्)

अन्वय—असारैः भूयोभिः पठ्यविषयैः किम् ? असारैः श्रीविकारैः च किम् ? पतनविरसैः स्वर्गभोगाभिलाषैः वा किम् [भवति] ? भवमयविपत्कातराणाम् नराणाम्, भगवति भवे भक्तिम् मुक्त्वा, अन्यत् आशास्यम् शस्यम् न अस्ति । [इति अहम्] मन्ये । तेन (पूर्वोक्तहेतुना) सन्तः, शशधरशिरःपादराजीव-सेवाहेवाकैकव्यसनमनसः (सन्तः) दूरोदञ्चच्चटुललहरीहारिहस्तप्रदत्तव्यापत्ताप-त्रिदशतटिनीमज्जनोन्मज्जनेषु, श्रद्धाबन्धम् तन्वन्ति ।

अर्थ—अत्यन्त नीरस बहुत से कठोर (शब्द-स्पर्श रूप-रस आदि) विषयों से प्राणी को क्या लाभ हो सकता है, क्षण में ही विनाश होनेवाले इन ऐहिक धन के विकारों से भी क्या लाभ होता है ? और 'क्षीणे पुण्ये मृत्युलोकं विशन्ति' इस प्रकार पुनः पुनः पतन होने के कारण उन अत्यन्त नीरस स्वर्गीय भोगों की लालसाओं से भी प्राणी को क्या परम लाभ हो सकता है ? अर्थात् कुछ भी नहीं । अतः मेरा तो यह निश्चय है कि इस जन्म-मरण-रूप सांसारिक विपत्ति से अत्यन्त कातर हुए प्राणियों के लिए केवल भगवान् शङ्कर की भक्ति को छोड़कर अन्य कोई भी अभिलषित वस्तु कल्याणदायक नहीं हो सकती । इसी कारण विद्वान् लोग (इन सांसारिक क्षणिक सुखों में आसक्त न होकर) केवल परमेश्वर के ही चरण-कमलों की सेवा में तत्पर होकर दूर तक फैलनेवाली चञ्चल तरङ्ग-रूपी भुजाओं से (जीवों के) जन्म-मरण रूपी महाव्याधि और त्रिविध-तापों को दूर करनेवाली भगवती गङ्गा के अवगाहन में ही निरन्तर दृढ़ अनुराग करते हैं ।

इति श्रीप्रेममकरन्दनाम्न्या टीकयोपेत काश्मीरकमहाकवि-
श्रीमज्जगद्धरभट्टविरचिते भगवतो महेश्वरस्य स्तुति-
कुसुमाञ्जलौ 'सेवाभिनन्दनं'नाम सप्तमं स्तोत्रम् ।

अष्टमं स्तोत्रम्

—:०:—

अब यहाँ से भगवान् की 'शरणागतवत्सलता' का वर्णन करते हुए "शरणाश्रयण" (शिवशरणागति) नामक अष्टम स्तोत्र का आरम्भ करते हुए 'कवि' कहते हैं—

कल्याणिनः सुरगिरेरिव संश्रितस्य
लक्ष्म्या हरेरिव रवेरिव दीप्तिभाजः ।
पद्यस्य शम्भुविषयस्य जयन्ति पादा
ये मण्डयन्ति च पुनन्ति च विष्टपानि ॥ १ ॥

अन्वय—शम्भुविषयस्य कल्याणिनः पद्यस्य ये पादाः, कल्याणिनः सुरगिरेः पादाः इव, (तथा) लक्ष्म्या संश्रितस्य हरेः पादाः इव, (एवं) दीप्तिभाजः रवेः पादाः इव, विष्टपानि मण्डयन्ति, पुनन्ति च, ते जयन्ति ।

अर्थ—श्री शङ्कर की अद्भुत महिमा का वर्णन करनेवाले मङ्गलमय श्लोक के जो पाद (चरण) सुवर्णमय सुमेरु-पर्वत के पादों (प्रत्यन्तपर्वतों) के समान, लक्ष्मी से आश्रित भगवान् विष्णु के पादों (राजा बलि के बन्धन-समय के तीन पाद-विक्रमों) के समान और दीप्तिमान् (प्रकाशमय) सूर्य के पादों (किरणों) के समान समस्त भुवनों को भूषित और पवित्र करते हैं वे श्रीसदाशिव की महिमा वर्णन करनेवाले श्लोक के पाद सर्वोत्कृष्ट हैं ।

याः पङ्किलेन कलिलेन वियोजयन्ति
नित्योज्ज्वलेन कुशलेन च योजयन्ति ।
ता धूर्जटेरमरनिर्झरिणीतरङ्ग-
भङ्गाभिरामगतयः स्तुतयो जयन्ति ॥ २ ॥

अन्वय—याः (भक्तजनम्) पङ्किलेन कलिलेन वियोजयन्ति, नित्योज्ज्वलेन कुशलेन च योजयन्ति; ताः अमरनिर्झरिणीतरङ्गभङ्गाभिरामगतयः स्तुतयः, जयन्ति ।

अर्थ—जो भक्तजनों के पापों की मलिनता से वियुक्त (रहित) और अत्यन्त निर्मल पुण्य से युक्त कर देती हैं, वे गङ्गाजी के दिव्य तरङ्गों के समान अति मनोहर गतिवाली "शङ्कर की स्तुतियाँ" धन्य हैं ।

> संसारदारुणदवानलदह्यमान-
> वाक्-चित्त-काय-कुशलीकरणौषधानि ।
> श्री-भुक्ति-मुक्ति-वश-कर्म्मणि कार्मणानि
> शम्भोर्जयन्ति नुतिचिन्तनपूजनानि ॥ ३ ॥

अन्वय—संसारदारुणदवानलदह्यमानवाक्चित्तकायकुशलीकरणौषधानि, श्रीभुक्तिमुक्तिवशकर्मणि कार्मणानि, शम्भोः नुतिचिंतनपूजनानि जयन्ति ।

अर्थ—संसाररूप दारुण (घोर) दावानल (वनाग्नि) से जलती हुई वाणी, चित्त और शरीर को शान्त करने में महौषधि-स्वरूप, एवं श्री (लक्ष्मी), भुक्ति (भोग-परम्परा) और मुक्ति (आत्यन्तिक दुःख की निवृत्ति) इन तीनों को मन्त्रमुग्ध की तरह वश में कर लेनेवाली श्रीशङ्करजी की स्तुति, चिन्तन (ध्यान) और पूजन ये तीनों अतीव धन्य हैं ।

> दोषाकरस्य शिरसि स्थितिमुत्तमाङ्ग-
> च्छेदं विधेरविरहं नरवाहनस्य ।
> भस्मीकृतिं त्रिपुर-पाशधर-स्मराणां
> वश्यं दिशाश्च दशकं दशकन्धरस्य ॥ ४ ॥*

अन्वय—(येन स्वातन्त्र्येण भीष्टभिव प्रभुः) दोषाकरस्य शिरसि स्थितिम् व्यधित, विधेः उत्तमाङ्गच्छेदम् व्यधित, नरवाहनस्य अविरहम्

* यहाँ से लेकर सप्तम श्लोक पर्यन्त ४ श्लोकों का 'कुलक' है ।

(सख्यम्) व्यधित, त्रिपुरपाशधरस्मराणाम् भस्मीकृतिम् व्यधित, दशकन्धरस्य वश्यम् दिशाम् दशकम् व्यधित । 'तत् ईश्वरस्य निरङ्कुशम् अप्रतिहतम् स्वातन्त्र्यम् जयति, इति वक्ष्यमाणाऽष्टमश्लोकेन' सहान्वय.' ।

अर्थ—प्रभु ने जिस स्वतन्त्रता से उस दोषाकर (रात्रि में उदय होनेवाले अथवा दोषाणाम्-आकर.=दोषों के आकर अर्थात् अनेकों दोषवाले भी) चन्द्रमा को अपने शिर में धारण किया और (बाँई कनिष्ठ अङ्गुलि के नख से) पितामह ब्रह्माजी के (पञ्चम) शिर का छेदन कर डाला, कुबेर के साथ दृढ मित्रता की, त्रैलोक्य विजयी त्रिपुरासुर, यमराज और कामदेव को भस्म किया और दशों दिशाओं को अपने भक्त-शिरोमणि रावण के अधीन कर दिया, वह परमेश्वर की निरङ्कुश और निरनुरोध० स्वतन्त्रता सर्वोत्कृष्ट (सर्व समर्थ) है । अर्थात् प्रभु अपने शरणागतो का उद्धार और मदोन्मत्त खलों का तीव्र शासन करने में सर्वथा ही स्वतन्त्र हैं, अत जिसको जैसा चाहे वैसा कर सकते हैं ।

शौर्यानलस्य परशुव्यजनेन दीप्तिं
रामस्य बाहुपरिघप्रतिघं मघोनः ।
हैमं मरुत्तनृपतेर्दिवसानि सप्त
वर्षं सुदर्शनसमर्पणमच्युतस्य ॥ ५ ॥

अन्वय—(येन च स्वातन्त्र्येण) परशुव्यजनेन रामस्य शौर्यानलस्य दीप्तिम् व्यधित, मघोन. बाहुपरिघप्रतिघम् व्यधित, मरुत्तनृपत (पुर) सप्तदिवसानि हैमम् वर्षम् व्यधित, अच्युतस्य सुदर्शनसमर्पणम् व्यधित, (तत् ईश्वरस्य अप्रतिहतम् स्वातन्त्र्यम् जयति इति पूर्ववदन्वय) ।

अर्थ—प्रभु न जिस स्वतन्त्रता स अपने भक्त श्री परशुरामजी को अपना परशु व्यजन (परशुरूप पङ्खा) प्रदान करके उससे उनके

---

० अनुरोध—रोकटोक से रहित ।

शौर्यानल (शूरतारूपी अग्नि) को और अधिक उत्तेजित किया, इन्द्र के बाहुरूपी परिघ का स्तम्भन किया और राजा मरुत्त के नगर में सप्त दिवस पर्यन्त सुवर्ण की अविच्छिन्न वृष्टि की एवं भगवान् विष्णु को अपना सुदर्शन दे दिया वह शङ्करजी की उदार स्वतन्त्रता सर्वोत्कृष्ट (धन्य) है।

श्वेतस्य कण्ठपुलिनात्समवर्तिपाश-
प्रोत्सारणं नयननिर्हरणं भगस्य ।
दुग्धाब्धिदानमुपमन्युमुनेः क्रियासु
दक्षस्य विघ्नकरणं मखदीक्षितस्य ॥ ६ ॥

अन्वय—(येन स्वातन्त्र्येण) श्वेतस्य कण्ठपुलिनात्, समवर्तिपाश प्रोत्सारणम् व्यधित, उपमन्युमुने दुग्धाब्धिदानम् व्यधित, मखदीक्षितस्य दक्षस्य क्रियासु विघ्नकरणम् व्यधित ।

अर्थ—प्रभु ने जिस स्वतन्त्रता से [यमराज के भय से अपने (शिव) लिङ्ग को आलिङ्गन करनेवाले] राजा श्वेत के कण्ठ प्रदेश से यमराज के भयङ्कर नागपाश को दूर किया और जिस स्वतन्त्रता से अपने परम भक्त बालक उपमन्यु को क्षीरसमुद्र ही दे दिया तथा यज्ञ में दीक्षित दक्ष प्रजापति के यज्ञ को विध्वंस किया वह भगवान् शङ्कर की स्वतन्त्रता सर्वसमर्थ है।

शूलाधिरोहणपराभवमन्धकस्य
पूष्णो हनुग्रहमनुग्रहमर्जुनस्य ।
नन्दीश्वरस्य रविजादभयं भुजङ्ग-
भङ्गयाभिमानमथनं मुनिमानिनीनाम् ॥ ७ ॥

अर्थ—जिस स्वतन्त्रता से अन्धकासुर को त्रिशूल में चढ़ाकर तिरस्कृत (प्राणों से रहित) किया, पूषा (सूर्य) की दाढ़ी को उखाड़ डाला, अर्जुन को अपना धनुष देकर अनुगृहीत किया, अपने गणाधीश नन्दीश्वर को यमराज से बचाया और मुनि महिलाओं के—सुचरित्रता के—अभिमान को मथन किया।

किं वाऽपरं द्रुहिणकृष्णहरत्वमेत्य
सर्गस्थितिप्रशमनानि जगत्त्रयस्य ।
क्रीडन्निव व्यधित येन निरङ्कुशं तत्
स्वातन्त्र्यमप्रतिहतं जयतीश्वरस्य ॥ ८ ॥

(पञ्चभिः कुलकम्)

अन्वय—किम् वा अपरम् (बहु ब्रूमः) येन स्वातन्त्र्येण, क्रीडन् इव द्रुहिणकृष्णहरत्वम् एत्य, जगत्त्रयस्य सर्गस्थितिप्रशमनानि व्यधित, तत् ईश्वरस्य निरङ्कुशम्, अप्रतिहतम् स्वातन्त्र्यम् जयति।

अर्थ—अब अधिक और क्या कहें—जिस प्रभुता से मानो क्रीडा करते हुए जैसे अर्थात् इच्छा मात्र से ही ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र रूप धारण कर त्रैलोक्य की सृष्टि, स्थिति और प्रलय किया करते हैं, वह भगवान सदाशिव की निरङ्कुश और निरनुरोध प्रभुता सर्वोत्कृष्ट (कर्तुं, अकर्तुं, अन्यथाकर्तुं समर्थ) है।

[यहाँ से २५ श्लोकों के महाकुलक[1] द्वारा कहते हैं—]

यस्याऽतिघोरगरलादपि कण्ठपीठा-
त्संजीवनौषधमुदेति वचो नतानाम् ।
यस्य ज्वलद्दहनकृशानुशिखोल्वणापि
वर्षत्यमोघममृतद्रवमेव दृष्टिः ॥ ९ ॥

---

(१) जहाँ ४ से अधिक श्लोकों का साथ अन्वय हो उसे 'महाकुलक' कहते हैं।

अन्वय—यस्य अतिघोरगरलात् अपि कण्ठपीठात्, नतानाम् (सञ्जीवनम्) सञ्जीवनौषधम् वचः उदेति, यस्य ज्वलद्दहनकृशानुशिखोल्बणा अपि दृष्टिः नतानाम अमोघम् अमृतद्रवम् एव वर्षति, (तम् सश्रितार्तिहरणम् विभुम् अहम् शरणम् श्रयामि, इति अग्रे पञ्चविंशतितमे श्लोके सम्बन्धः)।

अर्थ—जिस प्रभु के अत्यन्त घोर हालाहल भरे हुए भी कण्ठ-देश से भक्त लोगों के एकमात्र सञ्जीवन, दिव्य सञ्जीवनी औषधि के समान 'मत डरो ! मत डरो !!' ऐसे अभय वचन निकलते हैं; और जिसकी जलती हुई अग्नि-ज्वालाओं से उल्बण (उग्र) हुई भी दृष्टि (तृतीय नेत्र) शरणागतों के प्रति साक्षात् अमृत की ही वर्षा करती है, उस शरणागत प्रतिपालक करुणासागर प्रभु को मैं शरण लेता हूँ। [अहा ! प्रभु के दारुण विष से परिप्लुत हुए भी कण्ठस्थल से निकली हुई वाणी द्वारा भक्त लोगों का जीवन और अग्निज्वालाओं से उग्र हुई दृष्टि से भी अमृत के रस का प्रवाह होना, कितने आश्चर्य की बात है ?]

दंष्ट्राकरालमपि घोरमघोरवक्त्रं
　　यस्य प्रपन्नभयभञ्जनभङ्गिमेति ।
यस्याङ्गभस्मकणिकाश्चरणाश्रितेषु
　　कर्पूरधूलिपटलश्रियमाश्रयन्ति ॥ १० ॥

अन्वय—यस्य दंष्ट्राकरालम् अपि घोरम् (नीलोत्पलाभम्) अघोरवक्त्रम् प्रपन्नभयभञ्जनभङ्गिम् एति, यस्य च अङ्गभस्मकणिका, चरणाश्रितेषु कर्पूरधूलि-पटलश्रियम् आश्रयन्ति, (तं विभुं श्रयामि, इति पूर्ववत्सम्बन्धः)।

अर्थ—जिस (प्रभु) का दाँतों से विकराल भी वह घोर अर्थात् नीलकमल के समान 'अघोर'[1] नामक मुँह, अपने शरणागतों के जन्म-

---

(१) इस अघोर मुख का भी ध्यान रावण ने मदनपञ्चक-स्तुति में किया है—

'कालाभ्रभ्रमराञ्जनद्युतिनिभं व्यावृत्तपिङ्गेक्षणं
　　भालेन्दूज्ज्वलितं हिमांशुवदनप्रोद्भिन्नदंष्ट्राङ्कुरम् ।

मरण-जन्य भय को दूर कर देता है और जिसके अङ्ग में लगे हुए भस्म कण चरणाश्रित सेवकों को कर्पूर के समान स्वच्छ दिव्यातिदिव्य ऐश्वर्य प्रदान किया करते हैं, उस अतिशय दयालु प्रभु की मैं शरण लेता हूँ।

यस्यापि कृष्णभुजगा भुजगा भजन्त-
मिन्दीवरस्रज इव प्रविनन्दयन्ति ।
किं चाङ्गसङ्गि मरुदीरितमेति यस्य
मुण्ड नमत्स्वमलमङ्गलकम्बुशोभाम् ॥ ११ ॥

अन्वय—यस्य भुजगा कृष्णभुजगा अपि, इन्दीवरस्रज इव, भजन्तम् प्रविनन्दयन्ति, किम् च (अधिकम्) यस्य अङ्गसङ्गि मुण्डम्, मरुदीरितम् (सत्) नमत्सु अमलमङ्गलकम्बुशोभाम् एति, (त विभुम् अहम् श्रयामि)।

अर्थ—जिसकी भुजाओं मे लिपटे हुए काले सर्प भी भक्तजनों को नालकमलों की माला के समान आनन्द प्रदान करते हैं, अधिक क्या कहें, जिसके अङ्ग में विराजित मुण्ड (ब्रह्म-कपाल) भी वायु से पूरित होकर भक्त लोगों के लिए अतीव-निर्मल माङ्गलिक शङ्ख के समान परम मङ्गल-दायक हो जाता है उस शरणागतवत्सल शङ्कर की मैं शरण लेता हूँ।

यस्येभचर्मघनशोणितपङ्कलिप्त-
मङ्गेषु मङ्गलदुकूल[१] -विलासमेति ।

सर्पप्रोतकपालशुक्तिशकलव्याकीर्णसच्छेखर
वन्दे दक्षिणमीश्वरस्य कुटिलभ्रूभङ्गरौद्र मुखम् ॥'

(१) यद्यपि प्राचीन कवियों के ग्रन्थों में प्राय. 'दुकूल' शब्द देखा जाता है किन्तु हमारे कवि ने तो दुगूल शब्द प्रयुक्त किया है। महाकवि श्री जयदेव मिश्रजी ने भी अपने गीतगोविन्द म दुगुल ही शब्द का प्रयोग किया—

'केलिकलाकुतुकेन च काचिदमु यमुनाजलकूले।
मञ्जुलवञ्जुलकुञ्जगत विचकर्ष करेण दुगूले ॥'

यस्यापि तापविधुरेषु करे कपाल-
मालम्बतेऽमृतकमण्डलुखण्डलीलाम् ॥ १२ ॥

अन्वय--यस्य अङ्गेषु, घनशोणितपङ्कलिप्तम् (अपि) इभचर्म मङ्गल-दुकूलविलासम् एति, यस्य करे कपालम् अपि, तापविधुरेषु अमृतकमण्डलु-खण्डलीलाम् आलम्बते (त अहम् श्रयामि) ।

अर्थ--अत्यन्त घन शोणित से लिप्त हुआ भी गजचर्म जिस भगवान् के दिव्य मङ्गलमय शरीर में अति मनोहर माङ्गलिक उत्तरीय वस्त्र के समान बन जाता है, और जिस प्रभु के हस्तकमल में अशुचि कपाल (अपवित्र खप्पर) भी तापत्रय विह्वलित प्राणियों के लिए अमृत-पूर्ण कमण्डलु के समान बन जाता है, उस शरणागतवत्सल प्रभु की मैं शरण में जाता हूँ ।

यत्पादपांसुपरिमर्शशुचि श्मशानं
श्रीशैलनैमिषमुखान्यधरीकरोति ।
यत्संस्तवादविकलं कुशलं कपाल-
पाली करोति कृतिनां कमलावलीव ॥ १३ ॥

अन्वय--यत्पादपांसुपरिमर्शशुचि (सत्) श्मशानम्, श्रीशैलनैमिष-मुखानि (तीर्थानि अपि) अधरीकरोति, यत्संस्तवात् कपालपाली, कमलावली इव, कृतिनाम् अविकलम् कुशलम् करोति, तमहं श्रयामि ।

अर्थ--जिसकी चरणारविन्द रज के स्पर्श से अति पवित्र हुआ वह श्मशान, श्रीशैल (सिद्धगिरि) और नैमिषारण्य प्रभृति तीर्थों को भी तिरस्कृत कर देता है और जिसके स्पर्श से मुण्डमाला (भी) भाग्यवान लोगों को सुमनोहर कमल-पंक्ति के समान अखण्ड सुख देती है, उस शरणागत वत्सल प्रभु की मैं शरण लेता हूँ ।

यं देवमस्तशिरसं गुरुभर्तुरङ्के
लङ्केशरेवगिरवीजिततालवृन्तम् ।

आसीनसुप्तसुखितं शतरुद्रियादि-
मन्त्रैः स्वरेण मधुरेण गृणाति वेधाः ॥ १४ ॥

अन्वय—सुरभर्तुः अङ्क अस्तशिरसम्, लङ्केश्वैरिकरवीजिततालवृन्तम्, आसीनसुप्तसुखितम् यम् देवम्, वेधा शतरुद्रियादिमन्त्रैः मधुरेण स्वरेण गृणाति, (तमहं शरणम् श्रयामि)।

अर्थ—त्रैलोक्य रक्षा के लिए त्रिपुरासुर, अन्धकासुर आदि दुष्ट दैत्यों का संहार करके जो (ईश्वर) अपने मस्तक को इन्द्र की गोद में रखकर सुख-निद्रा में स्थित हो जाते हैं, तब भगवान् विष्णुजी अपने करकमलों से जिन्हें पङ्खा डुलाने लगते हैं और ब्रह्माजी (-षट्पष्टिर्नीलसूक्तं च पुनर्जपति षोडशीम्, इत्यादि प्रकार के) शतरुद्रिय आदि वैदिक मन्त्रों द्वारा सात प्रकार के सुमधुर स्वर से जिनकी स्तुति करने लगते हैं, उन भगवान् शङ्कर की मैं शरण लेता हूँ।

हेलावलीढभुवनत्रितयेन येन
गीर्णाः पुरन्दरमुकुन्दरवीन्दवोऽपि।
यस्य ज्वलद्विपुलभालविलोचनाग्नि-
ज्वालावलीशलभतामगमत्स कालः ॥ १५ ॥

अन्वय—हेलावलीढभुवनत्रितयेन येन (कालेन) पुरन्दरमुकुन्दरवीन्दवः अपि गीर्णाः, स कालः, यस्य (प्रभोः) ज्वलद्विपुलभालविलोचनाग्निज्वालावलीशलभताम् अगमत् (तं विभुम् अहम् श्रयामि)।

अर्थ—तीनों लोकों को केवल खेल (हँसी) में ही ग्रस्त कर लेनेवाले जिस (काल) ने अनेकों इन्द्र, विष्णु, सूर्य और चन्द्रमा भी निगल लिये हैं ऐसा वह काल भी जिस (सदाशिव) के विशाल भाल में जाज्वल्यमान नेत्राऽग्नि की प्रचण्ड ज्वालाओं में पतङ्ग सा बन गया, उस परमेश्वर की मैं शरण लेता हूँ।

श्वेतं विधोरुदयहेतुमवेत्य पक्षं
कालं च यः क्षयकरं दृशमाश्रितस्य ।
श्वेतं दयाविशदयाशु दृशानुगृह्य
कालं दृशैव नयति स्म शमं विपक्षम् ॥ १६ ॥

अन्वय—यः श्वेतम् पक्षम्, दृशम् आश्रितस्य विधोः उदयहेतुम् अवेत्य (तथा) कालम् पक्षम् च विधोः क्षयकरम् अवेत्य, (अतएव) श्वेतम् दयाविशदया दृशा अनुगृह्य, विपक्षम् कालम् दृशा एव शमम् नयति स्म, तमहं शरणं भजामीति पूर्ववत् ।

अर्थ—जिस शरणागत-वत्सल ने मानो श्वेत (शुक्ल) पक्ष को अपने बायें नेत्र में आश्रित चन्द्रमा के उदय का हेतु समझकर और काल (कृष्ण) पक्ष को उसके क्षय का हेतु समझकर, (इसी कारण) श्वेत (नामक राजा) को (यमराज के भय से "त्राहि! त्राहि" इस प्रकार पुकारते ही शीघ्र) अपनी दया-पूर्ण दृष्टि द्वारा अनुगृहीत करके विपक्षी काल (यमराज) को दृष्टि के द्वारा ही भस्म किया, उस विभु को मैं शरण में जाता हूँ ।

चक्री मुखाग्रविलसज्ज्वलनोग्रजिह्वा-
लीढाम्बरः क्षितिधरेन्द्रधनुर्धरस्य ।
यस्यागमन्निधनसाधनतां पुराणां
बाणीकृतश्च रणमूर्ध्नि गुणीकृतश्च ॥ १७ ॥

अन्वय—क्षितिधरेन्द्रधनुर्धरस्य यस्य रणमूर्ध्नि, मुखाग्रविलसज्ज्वलनोग्र-जिह्वालीढाम्बरः चक्री (विष्णुः) बाणीकृतः, (तथा) मुखाग्रविलसज्ज्वलनोग्रजिह्वालीढाम्बरः चक्री (वासुकिश्च) गुणीकृतः, पुराणाम् निधनसाधनताम् अगमत्, तम् अहम् शरणं भजामि ।

अर्थ—जिसने संग्राम के शिखर में मन्दराचल (पर्वत) रूपी धनुष धारण कर बाण की नोक में प्रकट हुए अग्नि की उत्कट

ज्वालाओं से सम्पूर्ण आकाश-मण्डल में व्याप्त हुए विष्णु रूपी वाण और मुखाग्र पर अग्नि के समान धधकते हुए महाविष से भरी हुई उल्वण-जिह्वाओं से युद्ध-रूप वस्त्र को भस्म करनेवाले वासुकि रूप प्रत्यञ्चा के द्वारा त्रिपुरासुर का संहार किया, उस स्वेच्छा-विहारी भगवान् सदाशिव की मैं शरण लेता हूँ।

चक्रायुधं विशिखतामुडुचक्रवर्ति-
चक्राभिधानसुहृदौ रथचक्रभावम्।
नीत्वाऽसृजत्त्रिदशधाम्नि रसातले च
यो हर्ष-शोकमयमश्रु पुराङ्गनानाम् ॥ १८ ॥

अन्वय—यः विभुः, (त्रिपुरसमरे) चक्रायुधम् विशिखताम् नीत्वा, उडुचक्रवर्तिचक्राभिधानसुहृदौ (च) रथचक्रभावम् नीत्वा, त्रिदशधाम्नि रसातले च पुराङ्गनानाम् हर्षशोकमयम् अश्रु असृजत् (तं विभुम् शरणं श्रया-मीति सम्बन्धः)।

अर्थ—और जिस प्रभु ने (त्रिपुरासुर के युद्ध में) भगवान् विष्णु को वाण बनाकर चन्द्रमा और सूर्य को रथ के दो चक्र बना-कर स्वर्ग तथा पाताल की पुराङ्गनाओं की आँखों से हर्ष और शोक के आँसू बहाये (अर्थात् त्रिपुरासुर को मारकर स्वर्ग की स्त्रियों की आँखों से तो हर्षाश्रु और पाताल में दैत्यों की स्त्रियों की आँखों से पतिमरण-वियोग जन्य शोकाश्रु-विन्दुओं को बहाया) उस परमेश्वर की मैं शरण लेता हूँ।

आरूढरीढमपि येन समर्पितेन
प्रीतिं रतिं च हृदि विस्मरति स्म कामः।
तं दृष्टिपातमधिगम्य बिभर्ति यस्य
प्रीतिं रतिं च हृदि को न सुसिद्धकामः ॥ १९ ॥

समतः]

अन्वय—आरूढरोदम् अपि हृदि समर्पितेन येन, काम प्रीतिम् रतिम् च विस्मरति स्म, यस्य (विभोः) तम् दृष्टिपातम् अधिगम्य सुसिद्धकामः कः (भक्तजनः) हृदि प्रीतिम् रतिम् च न बिभर्ति ? शेष पूर्ववत् ।

अर्थ—अपमानपूर्वक भी हृदय में समर्पित किये हुए जिस (दृष्टिपात) से कामदेव अपनी प्रीति[1] और रति नामक दोनो स्त्रियों को भूल गया, प्रभु के उस दृष्टिपात को प्राप्त करके परिपूर्णमनोरथ होकर कौन भक्तजन अपने हृदय मे प्रीति (आनन्द) और रति (सुख) को नहीं धारण करता ? अर्थात् जिस प्रभु के दृष्टिपात होने पर सभी के हृदय मे परम आनन्द प्राप्त होता है उस करुणासिन्धु का मैं आश्रय लेता हूँ ।

कृष्णोपदर्शितपथः पृथुलोष्मभीष्म-
श्लाघ्यं दधद्वपुरुपात्तवनान्तवासः ।
व्याधाकृतेरपि धनञ्जय एव यस्य
दृग्गोचरे कृतपदो महसा दिदीपे ॥ २० ॥

अन्वय—कृष्णोपदर्शितपथ पृथुलोष्मभीष्मश्लाघ्यम् वपु. दधत् उपात्तवनान्तवासः धनञ्जय एव व्याधाकृते अपि यस्य (विभोः) दृग्गोचरे कृतपद. महसा दिदीपे, (तमहं शरणम् श्रयामि) ।

अर्थ—कृष्ण-(धूम-)मार्गवाला (कृष्ण वर्त्मा), अतिशय उष्णता के कारण भयानक और परम सुमनोहर स्वरूप को धारण करनेवाला एव मन्दाकिनी के जल के समीप निवास करनेवाला भी अग्नि जिस प्रभु के (तृतीय) नेत्र की शरण पाकर अत्यन्त तेज से प्रदीप्त हुआ, उस शरणागत-वत्सल 'शिव' को मैं शरण हूँ ।

---

(१) प्रीति और रति ये दोनों कामदेव की स्त्रियाँ हैं—अतएव सोमपाल विलास में कविवर जल्हण ने कहा है—

शङ्खपद्मनिधी यूनां कम्बुकण्ठ्याः पयोधरौ ।
महाशानन्दभाण्डारौ रति-प्रीति-समुद्गकौ ॥

अथवा—जिसकी प्रसन्नता से युद्ध में (जयद्रथादिकों से) विजय प्राप्त करने के लिए भगवान् श्रीकृष्ण से उपदेश पाकर—अतीव बल से श्लाघ्य शरीरवाला, वन में निवास करनेवाला—धन्यात्मा अर्जुन जिस व्याध-(मल्ल-)रूपधारी शङ्कर के दृष्टिमार्ग में स्थित होकर (उनकी कृपादृष्टि को प्राप्त करके) महायशस्वी और बलवान् बन गया, उस प्रभु की मैं शरण हूँ।

> युक्तं सुधाकरसुधाकरकद्युसिन्धु-
> तोयादि यन्मनसि तापमपाकरोति ।
> यस्याङ्गसङ्गि शवभस्मकपालमाला-
> हालाहलाहिदहनाद्यपि हृद्यमेव ॥ २१ ॥

अन्वय—सुधाकरसुधाकरकद्युसिन्धुतोयादि यन्मनसि तापम् (निजगत्सर्गादिव्यापारजम् सन्तापम्) अपाकरोति (तत्) युक्तम्; (अद्भुतन्त्वेतत्–) यस्य अङ्गसङ्गि शवभस्मकपालमाला हालाहलाहिदहनादि अपि, हृद्यम् एव (भवति, तमह शरणम् श्रयामि)।

अर्थ—चन्द्रमा, अमृतकलश और गङ्गाजल आदि पदार्थ जिस (प्रभु) के चित्त के खेद (तीनों लोकों की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयादि व्यापार-जन्य सन्ताप) को दूर करते हैं, यह तो युक्त (ठीक) ही है किन्तु (आश्चर्य की बात तो यह है कि) जिसके अङ्ग-स्पर्श से यह प्रेत-भस्म (चिता-भस्म), मुण्डमाला, कालकूट (विष), सर्प और अग्नि भी परम मनोहर हो जाते हैं, उस अतर्क्य महिमाशाली ईश्वर की मैं शरण लेता हूँ।

> मूर्तिः क्रमेः शतपदी श्रवणं प्रविष्टा
> दृष्टा रुजामसुहृतं सृजती जनानाम् ।
> सौरी तनुर्ननु सहस्रपदी यदीय-
> नेत्रस्थिता हरति मृत्युभयं श्रितानाम् ॥ २२ ॥

अन्वय—श्रवणम् प्रविश्य शतपदी कृमेः मूर्त्तिः, जनानाम् असुहृत्तम् रुनाम् सूनवी (ननेन) दृष्टा । ननु, यदीयनेत्रस्थिता सहस्रपदा सौरी तनु, श्रितानाम् मृत्युभयम् हरति (त अहम् शरणम् श्रयामि) ।

अर्थ—लोक में जो कान में प्रविष्ट हुई सौ पदों (चरणों) वाली 'कर्ण सर्पिणी' नामक कृमि (कीट) की मूर्ति प्राणियों के प्राणान्त पीडा देती हुई देखा जाती है, किन्तु जिसके (दाहिने) नेत्र में स्थित हुई सहस्र पदों (किरणों) वाली सूर्य की मूर्ति शरणागतों के मृत्युभय को हर लेती है उस शरणागत-वत्सल की मैं शरण लेता हूँ ।

आकर्ण्य यः कृपणपार्त्तवचः कृपाब्धि-
राधूतमूर्धसुरनिर्झरिणीकणौघैः ।
उत्सङ्गसङ्गतगिरीन्द्रसुताकुचाग्र-
मसक्तमौक्तिकमणीन्द्विगुणीकरोति ॥ २३ ॥

अन्वय—य कृपाब्धि, कृपणम् आर्तवच आकर्ण्य, (दयया) आधूतमूर्धसुरनिर्झरिणीकणौघैः उत्सङ्गसङ्गतगिरीन्द्रसुताकुचाग्रसक्तमौक्तिकमणीन् द्विगुणीकरोति (तमहं शरणं श्रयामि) ।

अर्थ—जो प्रभु आर्त्त जनों के (हे प्रभो ! मुझे दान या रक्षा कीजिए ! इस प्रकार के) दीन वचनों को सुनकर दयार्द्र हो अपने मस्तक को कम्पित करके सुर-सरि के जल-कणों द्वारा गोद में बैठी पार्वतीजी के स्तन प्रान्त की मुक्तामणियों (मुक्ता रत्नों) को दुगुना बना देते हैं, उन दयासागर की मैं शरण लेता हूँ ।

उद्गाढभक्तिविधुरव्यपनीततीव्र-
दोषान्धकारमतियात्रशुचिप्रकाशम् ।
पीयूषमुद्वमति यस्य विविक्तवर्णं
कर्णान्तगामि वचनं च विलोचनं च ॥ २४ ॥

अन्वय—यस्य, उद्गाढभक्तिविधुरव्यपनीततीव्रदोषान्धकारम्, अतिमानशुचिप्रकाशम् विविक्तवर्णम् कर्णान्तगामि च वचनम् विलोचनम् च पीयूषम् उद्वमति (तं अहं श्रयामि)।

अर्थ—अत्यन्त दृढ़ भक्तिवाले भव-भय-पीड़ित लोगों के अविद्या-रूपी तीव्र अन्धकार को दूर करनेवाला, अतिशय निर्मल और व्यक्त, पृथक्-पृथक् वर्णोंवाला एवं भक्तजनों के कर्णों में पहुँचनेवाला जिस प्रभु का (अभय) वचन और अत्यन्त दृढ़ शोभा से सम्पन्न विधु (चन्द्रमा) और रवि (सूर्य) के द्वारा रात्रि के गाढ अन्धकार को दूर करनेवाले, अतिमात्र अग्नि के प्रकाश से युक्त एवं (विविक्तवर्णम् = विविक्ताः पृथक् पृथक् स्थिताः वर्णाः श्वेतकृष्णलोहिता यस्मिंस्तत) पृथक् पृथक् (श्वेत, कृष्ण और रक्त) वर्णोंवाले एवं कर्णों तक पहुँचे हुए विलोचन (नेत्र) सदा अमृत को बरसाते (बहाते) हैं उस शङ्कर की मैं शरण हूँ।

पात्रीभवन्ति न यदङ्घ्रिसरोजरेणु-
मैत्रीपवित्रशिरसः स्थिरसत्यवाचः ।
साटोपकोपविकटभ्रुकुटिच्छटाना-
मुत्तालकालभटवक्त्रविभीषिकाणाम् ॥ २५ ॥

अन्वय—यदङ्घ्रिसरोजरेणुमैत्रीपवित्रशिरसः स्थिरसत्यवाचः (धन्याः) साटोपकोपविकटभ्रुकुटिच्छटानाम् उत्तालकालभटवक्त्रविभीषिकाणाम् न पात्रीभवन्ति (तमहं शरणं श्रयामि)।

अर्थ—जिस प्रभु के चरण-कमलों की रज से पवित्र मस्तकवाले गम्भीर और सत्यभाषी भाग्यवान् लोग, तीव्र कोप से अत्यन्त विकराल भ्रुकुटियोंवाले उद्भट यमदूतों के मुखों के भयजनक विकारों के पात्र नहीं होते अर्थात् यमदूतों का मुँह ही नहीं देखते, उस ईश्वर को मैं शरण लेता हूँ।

सूक्तिं शुचिं श्रवणयोरमृतं स्रवन्तीं
वक्रामभङ्गुरगुणां महतीं वहन्तः ।

गायन्ति यं श्रितवतः परिशुद्धवंश-
विद्या यशांसि कवयः परिवादकाश्च ॥ २६ ॥

अन्वय—शुचिम्, श्रवणयोः अमृतम् स्रवन्तीम्, वक्राम् अभङ्गुर-गुणाम् महतीम् सूक्तिम् वहन्तः परिशुद्धवंशविद्याः कवयः (तथा) सूक्तिम् शुचिम् श्रवणयोः अमृतम् स्रवन्तीम् वक्राम् अभङ्गुरगुणाम् महतीम् (वीणाम्) वहन्तः परिवादकाः च, यम् (प्रभुम्) श्रितवतः (भक्तजनस्य) यशांसि गायन्ति, (तम् विभुम् अहम् शरणम् श्रयामीति सम्बन्धः)।

अर्थ—अत्यन्त पवित्र, श्रोताओं के कर्णों में अमृत बरसाने वाली, औपचारिक वक्र पदोंवाला और दृढ़ (ओज प्रसादादि) गुणों से सम्पन्न 'सूक्ति' (सुन्दर उक्ति) को धारण करनेवाले, विशुद्धवंश और विद्यावाले सुकवि तथा—मधुर-मधुर ध्वनिवाला, सुन्दर स्वरों वाली, श्रोताओं के कर्णों में अमृत की वर्षा करनेवाला, कुटिल (टेढ़ी) और दृढ़ तन्त्रियों वाला 'महती' (वीणा) को धारण करनेवाले श्रेष्ठ गायक लोग जिसके शरणागत भक्त के सुपवित्र यश का गायन करते हैं उस प्रभु की मैं शरण में जाता हूँ।

यत्सेवकस्य मदनोल्वणबाणपूग-
क्रान्ताऽलिकान्तविकसत्तिलकोज्ज्वलश्रीः ।
सेव्या भवत्यवसरे कलकण्ठनाद-
हृद्या वधूः कुसुमितोपवनस्थली च ॥ २७ ॥

अन्वय—यत्सेवकस्य मदनोल्वणबाणपूगक्रान्ता अलिकान्तविकसत्तिलकोज्ज्वलश्रीः कलकण्ठनादहृद्या कुसुमिता वधूः, उपवनस्थली च, अवसरे सेव्या भवति (तं अहम् शरणं श्रयामि)।

अर्थ—मदन (कामदेव) के उल्बण (शोषण, मोहन, संदीपन, तापन, उन्मादन नामक पञ्च) बाणों से आक्रान्त, ललाट के मध्य में शोभायमान तिलक की अत्युज्ज्वल कान्ति से युक्त और कोकिल के समान अति सुमधुर स्वरवाली 'कुसुमिता वधू' (ऋतुमती नायिका) एवं मदन,

अनुरागिणी भ्रमराङ्गनाओं के 'गुम गुम' शब्द रूपी गीति-गान से गर्भित—जिसके अद्भुत अनुपम चरित्रों को गाया करते हैं उस प्रभु की मैं शरण लेता हूँ।

व्यक्तोज्ज्वलालिकचितं मुखमायताक्षं
विस्तीर्णकर्णिकमनर्गलरूढनालम् ।
यं शंसतोऽधिवसति स्वयमुक्तिदेवी
राजीवसद्म-कमला विजिगीषयेव ॥ ३२ ॥

अन्वय—यम् शसत व्यक्तोज्ज्वलालिकचितम् आयताक्षम् विस्तीर्ण-कर्णिकम् अनर्गलरूढनालम् मुखम्, उक्तिदेवी राजीवसद्मकमलाविजिगीषया इव स्वयम् अधिवसति (तम् संश्रितार्त्तिहरणम् विभुम् शरणं श्रयामीति सम्बन्ध)।

अर्थ—व्यक्त और उज्ज्वल अलियों (भ्रमरावलियों) से सुशोभित, विशाल अक्षा (वाजो) वाले, बड़ी बड़ी कर्णिका और सुमनोहर नाल वाले 'कमल गृह' में कमला (महालक्ष्मी) निवास किया करती है, इसलिए मानो उसकी ईर्ष्या से ही सरस्वती देवी, जिस (सदाशिव) की स्तुति करनेवाले भक्तप्रवर के उज्ज्वल देदीप्यमान ललाट, विशाल नेत्र एवं बड़ी बड़ी कर्णिका (कर्णकुण्डल) और सुमनोहर कण्ठ वाले 'मुख-कमल में' स्वयं आ विराजमान होती हैं उस शरणागतकल्पतरु भगवान् शङ्कर की मैं शरण लेता हूँ।

आपन्नबान्धवमवन्ध्यवचोविलास-
मासन्नमज्जनमज्जनसान्त्वनेषु ।
देवं सुधाकर-किशोरकृतावतंसं
तं संश्रितार्त्तिहरणं शरणं श्रयामि ॥ ३३ ॥

(पञ्चभिःकुलकम्)

अन्वय—आसन्नमज्जननमज्जनसान्त्वनेषु अवन्ध्यवचोविलासम् आपन्नबान्धवम् सुधाकरकिशोरकृतावतंसम् सश्रितार्त्तिहरणम् तम् देवम् (अहम्) शरणम् श्रयामि।

अर्थ—माया और मोह रूपी तरङ्गों से व्याकुल हुए भवसागर में निमग्न भक्त जनों को 'मा भैषीः ! मा भैषीः !!' (मत डरो ! मत डरो !!) इत्यादि प्रकार से आश्वासन (धैर्य) देने में जिनका वाग्विलास सर्वथा ही अमोघ होता है, जो शरणागतों के एकमात्र अभिन्न बान्धव और सुधाकरकिशोर (बालचन्द्र) को शिरोभूषण बनाये हुए हैं उन शरणागत आर्तिहारी, स्वयं-प्रकाश प्रभु का मैं आसरा लेता हूँ।

देवं श्रयामि तमहं मुकुटोरगेन्द्र-
स्फूर्जत्फणामणिसहस्रमिषेण यस्य ।
भालानलेन सुरसिन्धुजलोक्षितेन
प्रोन्मुक्तमङ्कुरसहस्रमिवाचकास्ति ॥ ३४ ॥

अन्वय—यस्य मुकुटोरगेन्द्रस्फूर्जत्फणामणिसहस्रमिषेण, सुरसिन्धुजलोक्षितेन भालानलेन प्रोन्मुक्तम् अङ्कुरसहस्रम् इव आचकास्ति, तम् देवम् अहम् श्रयामि।

अर्थ—जिसके शिरोमुकुट पर सर्पराज—श्रीशेषनाग—के सहस्र फणों में चमकती हुई सहस्र मणियाँ, मानो उनके शीष पर विराजमाना सुरसरि के नीर से सिञ्चित किये भालनेत्र की अग्नि में उगे हुए सहस्र अङ्कुरों की तरह सुशोभित होती हैं, उस स्वयंप्रकाश देवाधिदेव श्री महादेव की मैं शरण लेता हूँ।

सानुग्रहोत्तमगणाश्रितपादमूलं
मूर्ध्ना धृताभ्रसरितं सतुषारमूर्तिम् ।
आसेवितं विषधरैः कटकेषु ताप-
शान्त्यै गिरीशमतिहृद्यगुहं श्रयामि ॥ ३५ ॥

अन्वय—सानुग्रहोत्तमगणाश्रितपादमूलम् मूर्ध्ना धृताभ्रसरितम् सतुषार मूर्तिम्, कटकेषु विषधरैः आसेवितम्, अतिहृद्यगुहम् गिरीशम् (अहम्) तापशान्त्यै श्रयामि ।

अर्थ—[जैसे कोई ताप सतप्त प्राणी अपनी ताप-व्यथा को शान्त करने के लिए शिखरों पर बैठे नन्दी, भृङ्गी आदि प्रधान प्रधान शिवगणों से सुसेवित, मस्तक (शिखर) पर व्योमगङ्गा को धारण किये, स्वच्छ सुशीतल तुषार (हिम) से सुशोभित, मध्य में विषधर सर्प अथवा (विष—जल—को धारण करनेवाले) जलधर मेघों से सुसेवित और अति मनोहर गुहाओंवाले गिरीश (गिरिराज श्री हिमालय) की शरण लेता है, वैसे ही] मैं अपने समस्त पाप तापों की व्यथा को मिटाने के लिए, शरणागतों पर महान् अनुग्रह करनेवाले (नन्दी भृङ्गी आदि) गणनायकों से सुसेवित, मस्तक पर श्री व्योमगङ्गा को धारण किये, स्वच्छ-शीतल तुषारमूर्ति (चन्द्रमा) से विराजित, कङ्कणों पर विषधर सर्पों से विभूषित और श्रीस्वामि कार्तिकेय के साथ परम प्रीति रखनेवाले श्रीगिरीश—कैलाशवासी—प्रभु की शरण लेता हूँ ।

य: क्षीरनीरनिधिमङ्घ्रितले सुधाम्भ:-
कुम्भं करे शिरसि देवनदीमदीनाम् ।
हर्तुं बिभर्त्ति भविनामणुकर्ममाया-
मूलं मलत्रयमयं तमहं श्रयामि ॥ ३६ ॥

अन्वय—य:, भविनाम् अणुकर्ममायामूलम् मलत्रयम् हर्तुम् (इव) अङ्घ्रितले क्षीरनीरनिधिम्, करे सुधाम्भ:कुम्भम्, शिरसि अदीनाम् देवनदीम् बिभर्त्ति, तम् अयम् अहम् श्रयामि ।

अर्थ—जो प्रभु नाना जीवों के अणु, शुभाशुभ कर्म और माया (अविद्या) जन्य तीनों मलों को हरने के लिए, अपने चरणतल में क्षीरसागर, हस्तकमल में अमृतपूर्ण कलश और मस्तक पर विशाल देव-

नदी (व्योमगङ्गा) को धारण करता है, उस–प्राणियों पर निष्कारण दयाकारी–भगवान् श्री भूतभावन की मैं शीघ्र शरण लेता हूँ।*

यस्यापगा स्रगिव सौमनसी जटासु
यः कौमुदीं विरचनामिव मूर्ध्नि धत्ते ।
देवीं वराऽभयकरामपि यो बिभर्ति
प्रीतः शिवां दृशामिव प्रभुमाश्रये तम् ॥ ३७ ॥

अन्वय—यस्य जटासु, आपगा सौमनसी स्रक् इव (आभाति) यः, कौमुदीम् विरचनाम् इव मूर्ध्नि धत्ते, यः प्रीतः (सन्) वराभयकराम् देवीम् दृशाम् इव बिभर्ति, तम् प्रभुम् (अहम्) आश्रये ।

अर्थ—जिसकी जटा में देव-गङ्गा स्वच्छ 'मालती पुष्पमाला' के समान सुशोभित होती है, जो चन्द्रमा की चन्दन की तरह मस्तक पर धारण करता है एवं जो भक्तों को वरदान और अभयदान देनेवाली प्रसाददृष्टि (कृपा भरे नेत्रों) के समान करकमलों में वर और अभय मुद्रा धारण करनेवाली भगवती भवानी देवी को प्रीतिपूर्वक अपने वामाङ्ग में धारण करता है, उस सर्वसमर्थ महेश्वर की मैं शरण लेता हूँ।

गौरीं गजास्यजननीं हिमवत्प्रसूतिं
सद्यःपवित्रितजगत्त्रितयां य एकः ।
कात्यायनीं सुरधुनिं च विभुर्बिभर्ति
निर्वाणदं शरणमेमि तमिन्दुमौलिम् ॥ ३८ ॥

अन्वय—यः विभुः एकः सद्यःपवित्रितजगत्त्रितयाम् हिमवत्प्रसूतिम् कात्यायनीम् गौरीम् गजास्यजननीम्, सुरधुनीम् च बिभर्ति, तम् निर्वाणदम् इन्दुमौलिम् (अहम्) शरणम् एमि ।

अर्थ—जो परमेश्वर समस्त प्राणियों पर अनुग्रह करने के लिए, तत्काल (दर्शन और स्मरण करने मात्र से) ही भुवनत्रय को पवित्र

---

* यहाँ उत्प्रेक्षाध्वनि है ।

करनेवाली गिरिवरकन्या हेरम्ब-जननी श्री गौरी को वामाङ्ग में और सुरधुनी-श्री मन्दाकिनी को मस्तक में धारण करता है, उस निर्वाणदाता भगवान् चन्द्रमौलि की मैं शरण में जाता हूँ।

क्वाप्युद्धृतक्रतुविधातृमृगोत्तमाङ्ग-
मुत्सङ्गसङ्गतमृगं क्वचिदोषधीशम्।
क्रूरं क्वचिन्मृगवधैकरतिं किरातं
वातं क्वचिन्मृगरथं विभुमाश्रयामि ॥ ३९ ॥

अन्वय—क्वापि उद्धृतक्रतुविधातृमृगोत्तमाङ्गम्, क्वचित् उत्सङ्गसङ्गतमृगम् ओषधीशम्, क्वचित् मृगवधैकरतिम् क्रूरम् किरातम्; क्वचित् मृगरथम् वातम् (एवंभूतम्) विभुम् (अहं शरणम्) आश्रयामि।

अर्थ—किसी समय मृगरूपधारी ब्रह्मा* का शिरश्छेदन करनेवाले, कभी मृगधर चन्द्रमा का स्वरूप धारण करनेवाले, किसी समय मृगों को मारनेवाले महाक्रूर किरात (भिल्ल) का स्वरूप धारण करनेवाले, और कभी कभी मृगरूप रथ में विहार करनेवाले वायु की मूर्ति[1] धारण किये स्वेच्छाविहारी[2] भगवान् भोलेनाथ की मैं शरण लेता हूँ।

---

* ब्रह्माजी अपनी पुत्री सन्ध्या को अत्यन्त रूपवती देख कामातुर हो जब उसके साथ रमण करने को उत्सुक हुए, तब सन्ध्या ने 'यह मेरे पिता होकर मेरे साथ ऐसा जुगुप्सित आचरण करना चाहते हैं' यह सोच मृगीरूप धारण कर लिया। ब्रह्मा उसे मृगी बनी देख आप भी मृगरूप हो गये। तब जगन्नियन्ता भगवान् महेश्वर ने 'यह ब्रह्मा धर्म-प्रवर्तक होकर ऐसा महान् जुगुप्सित कर्म करना चाहता है अतः दण्डनीय है' ऐसा समझ अपने धनुष (पिनाक) को तान एक बाण मारकर उसका शिरश्छेदन किया। वही सिर नभ में मृगशिरा नामक नक्षत्र बन गया।

(१) अष्ट मूर्तियों में भगवान् शिव की एक वायु मूर्ति भी है।

(२) कहीं तो मृग का वध और कहीं रक्षण करने से यहाँ प्रभु को स्वेच्छा विहारी (स्वतन्त्र) कहा गया है।

उद्दामदोषमपि दीर्घगुणं भुजङ्ग-
　　भोगोपगूढमपि रूढशिखिप्रसङ्गम् ।
कापालिकव्रतसमेतमपि द्विजेन्द्र-
　　चूडामणिं विभुमनङ्कुशमाश्रयामि ॥ ४० ॥

अन्वय—उद्दामदोषम् अपि दीर्घगुणम् , भुजङ्गभोगोपगूढम् अपि रूढशिखिप्रसङ्गम् , कापालिकव्रतसमेतम् अपि द्विजेन्द्रचूडामणिम्, (इत्येवम्) अनङ्कुशम् विभुम् (अहम्) आश्रयामि ।

अर्थ—जो उद्दामदोषों (महा उद्धत भुजाओं) वाला होकर भी महान् गुणशाली (अणिमा आदि ऋद्धि-सिद्धियोंवाला) है, भुजङ्ग-फणों से परिवेष्टित (आलिङ्गित) होकर भी शिखी (भालनेत्र की अग्नि) के साथ प्रीति करता है और कापालिकव्रतधारी (ब्रह्मशिरः-कपालधारी) होकर भी द्विजेन्द्र-चूड़ामणि (चन्द्रचूड़) है, उस अन-ङ्कुश-स्वेच्छाविहारी-अर्थात् सर्वस्वतन्त्र प्रभु का मैं आश्रय लेता हूँ ।*

अङ्गे धृताङ्गनमनङ्गकृताङ्गभङ्गं
　　विश्वाधिनाथमथ खण्डकपालपाणिम् ।
उग्रं शिवं हरमघोरमजं च सद्यो-
　　जातं च विस्मयनिधिं विभुमाश्रयामि ॥ ४१ ॥

अन्वय—अङ्गे धृताङ्गनम् अनङ्गकृताङ्गभङ्गम् , विश्वाधिनाथम् अथ खण्डकपालपाणिम् , उग्रम् शिवम्, हरम् अघोरम् , अजम् च सद्योजातम् (इत्येवम्) विस्मयनिधिम् विभुम् (अहम्) आश्रयामि ।

---

* कवि ने यहां शब्दश्लेष में विरोधाभास की पुट देकर खूब चमत्कार किया है। वह कहता है कि—जो महा दोषोंवाला होकर भी अत्यन्त गुण-शाली है, भुजङ्गफणों से परिवेष्टित होकर भी शिखी (मयूर) के साथ प्रीति रखता है और कापालिक व्रतधारी (वाममार्गी) होकर भी द्विजेन्द्र-चूड़ामणि (विप्रशिरोमणि) कहलाता है उस निरङ्कुश (उच्छृङ्खल) प्रभु का मैं आसरा लेता हूँ। वाह, कितना हृदयग्राही भाव है ।

अर्थ—जो (प्रभु) अपने वामाङ्ग में अङ्गना (अनन्त कोटि ब्रह्माण्डान्तर्गत निखिल लावण्य-सुधा-सिन्धु की महाधिष्ठात्री देवी स्वतन्त्र शक्तिरूपा 'श्री भवानी') को धारण करता हुआ भी अनङ्ग (कामदेव) का अङ्गभङ्ग करनेवाला है, अखिल ब्रह्माण्डनायक होकर भी हाथ में खण्डकपाल (खप्पर का टुकड़ा) धारण करता है, उग्र (रौद्ररूप) होते हुए भी शिव—सब मङ्गलों का दाता—है, हर (सर्वसंहारक) होता हुआ भी अघोर (सौम्यशिरोमणि) है और अज (अनादि, अजन्मा) होता हुआ भी सद्योजात (अपने प्रतिबिम्बस्वरूप सकल चराचर जगत के नवीन नवीन उल्लास रूपों में अभिव्यक्त होनेवाला) है, उस परम आश्चर्यनिधि परमेश्वर का मैं आसरा लेता हूँ।

अस्मिन्भयाध्वनि महाविषमेऽसमेषु-
रोषादितस्करतिरस्करणैकवीरम् ।
भीरुः श्रयामि शरणं क्षणदाकुटुम्ब-
लेखाशिखामणिमनुत्तमशक्तिमीशम् ॥ ४२ ॥

अन्वय—अस्मिन् महाविषमे भयाध्वनि भीरुः (सन् , अहम्) असमेषु-रोषादितस्करतिरस्करणैकवीरम्, अनुत्तमशक्तिम् क्षणदाकुटुम्बलेखाशिखामणिम् ईशम् शरणम् श्रयामि ।

अर्थ—मैं इस महान् दुर्गम भवाटवी—संसारपथ—में अत्यन्त भयभीत होता हुआ, काम-क्रोधादिरूपी तस्करों का तिरस्कार (दमन) करनेवाले महान् वीर, अनुपम शक्तिशाली, चन्द्र-चूडामणि परमेश्वर की शरण लेता हूँ।

किं मेरुमन्दरमुखैर्गिरिभिर्गरीयान्
कैलास एव जगदेकगुरुर्गिरीशः ।
यस्याऽभयङ्करमभङ्करमस्तशङ्क-
मङ्कं मृगाङ्कमकलङ्कमलङ्करोति ॥ ४३ ॥

अन्वय—मेरुमन्दरमुखैः गिरिभिः किम् कैलास एव गरीयान् (भवति) यस्य अभयङ्करम् असङ्करम् अस्तशङ्कम् सुदङ्कम् अकलङ्कम् अङ्कम् (मध्यभागम्) जगदेकगुरुः गिरीशः अलङ्करोति।

अर्थ—वे सुमेरु और मन्दराचल आदि पर्वत किस (क्या) काम के हैं? अर्थात् किसी भी काम के नहीं। बस, केवल एक वह कैलास ही अतिश्रेष्ठ पर्वत है, जिसके अति निर्भय, स्वच्छ, निःशङ्क, परम-मनोहर, निष्कलङ्क अङ्क (शिखर) को जगद्गुरु श्री भगवान् गिरीशजी विभूषित करते हैं।

उल्लंघ्य शासनमनन्यजशासनस्य
कोऽप्यन्यशासनमुपासितुमेति निष्ठाम्।
हित्वा वनं हि नवनागरपर्णपूर्ण-
मुष्ट्रः[1] श्रयत्यवटमेव सकण्टकौघम्॥ ४४॥

अन्वय—अनन्यजशासनस्य शासनम् उल्लंघ्य, कः अपि (विरलो मूढः) अन्यशासनम् उपासितुम् निष्ठाम् एति। हि नवनागरपर्णपूर्णम् वनम् हित्वा, उष्ट्रः सकण्टकौघम् अवटम् एव श्रयति।

अर्थ—हाय! मूढ लोग कामदेव के शासक (भगवान् शिव) का शासन (आज्ञा) छोड़कर (अर्थात् भगवद्-चरित्र को छोड़कर) अन्य सांसारिक विषयों की ही उपासना में तल्लीन रहा करते हैं; ठीक ही है, ऊँट अति सुकोमल ताम्बूल-वन को छोड़कर अत्यन्त तीक्ष्ण कण्टकों से भरे गड्ढों में ही फिरा करता है।*

---

(1) अत्र 'उष्ट्र' इति पदांशे श्रुतिकटुत्वेऽपि भक्तिविषये न दोषः।

* इसी अभिप्राय पर कविवर राजानक रत्नकण्ठजी ने भी कहा है—

हृद्यं विहाय शिवशास्त्ररसायनं यो
धत्तेऽन्यशासनमतश्रवणेऽभिलाषम्।
हित्वाऽमृतसिन्धुजलमिन्दुकलावदातं
क्षुण्डीजलं पिबति कुण्ठमतिः स मर्त्यः॥

[भगवान् श्रीशिव की सेवा जिस किसी भी प्रकार, जिस किसी भी समय, जहाँ कहीं भी की जाय, वह सेवकों की सम्पूर्ण मनोभिलाषाओं को अवश्य ही पूर्ण करती है, इसी विषय को सुस्पष्टतया वर्णन करते हुए अब कवि कहते हैं—]

अन्यार्थमप्युपहिता शितिकण्ठसेवा
लोकस्य कल्पलतिकेव फलत्यवश्यम् ।
उद्दीपिता खलु परस्य कृतेऽपि येन
तस्यापि दर्शयति दीपशिखाऽर्थसार्थम् ॥ ४५ ॥

अन्वय—शितिकण्ठसेवा अन्यार्थम् उपहिता अपि, लोकस्य कल्पलतिका इव अवश्यम् फलति । (यथा) खलु येन परस्य कृते अपि दीपशिखा उद्दीपिता, (सा) तस्य (उद्दीपकस्य) अपि अर्थसार्थम् दर्शयति ।

अर्थ—भगवान् शितिकण्ठ (श्री नीलकण्ठ—शिव) की सेवा यदि केवल किसी अन्य (दूसरे व्यक्ति) के ही कल्याणार्थ भी की जाय, तो भी वह (प्रभु-सेवा) सेवकों को कल्पलता के समान वरदान देती है। क्योंकि दीपशिखा यदि केवल अन्य के ही निमित्त भी उद्दीपित की जाय तो भी वह (उन) उद्दीपकों को घट-पटादि पदार्थ अवश्य ही दिखला देती है।

यद्यर्चितः[1] स भगवानपि जीविकायै
तत्रापि किल्बिषविपाकमपाकरोति ।
योऽपि द्युसिन्धुपयसि प्लवते निदाघ-
घर्मच्छिदे भवति सोपि हि धौतपापः ॥ ४६ ॥

अर्थात् जो ईश्वर के चरित्ररूपी अत्यन्त सुमनोहर रुचिकर रसायन को छोड़ अन्यविषयक कथाओं को सुनने की अभिलाषा करता है, वह मूढ़मति सुमनोहर चन्द्रकला के समान स्वच्छ, सुशीतल गङ्गाजल को छोड़ चुण्टीजल (चौर्या जल अर्थात् कहीं से टपक-टपककर इकट्ठा होनेवाले क्षुद्रजल) का पान करता है।

(१) यद्यर्थितः, इत्यपि पाठः ।

अन्वय—यदि सः भगवान् जीविकार्थम् अपि (केनापि) अर्चितः, तत्राऽपि सः भगवान्, (तस्याऽर्चकस्य) किल्बिषविपाकम् अपाकरोति । हि, यः अपि सुसिन्धुपयसि निदाघघर्मच्छिदे (एव) प्लवते, सः अपि धौतपापः भवति ।

अर्थ—यदि कोई भगवान् सदाशिव को केवल अपनी आजीविका के ही निमित्त भी भजता हो, तो भी वह प्रभु उसके पाप परिपाक को दूर कर (उसका उद्धार कर) देते हैं। क्योंकि यह देखा ही जाता है कि, यदि कोई पुरुष केवल ग्रीष्म ऋतु की ताप-व्यथा के ही निवारणार्थ भी सुरसरि के नीर में अवगाहन करे तो भी वह धौत-पाप (निष्पाप) हो जाता है।

कुर्वन्ति भक्तिमपरैरपि ये नियुक्ता
भर्गस्य तेऽपि भवदुर्गतिमुत्सृजन्ति ।
स्तन्यार्थमप्युपहिता पृथुकस्य धात्री
पात्रीभवत्यखिलभोगसुखासिकानाम् ॥ ४७ ॥

अन्वय—अपरैः नियुक्ताः अपि ये भर्गस्य भक्तिम् कुर्वन्ति, ते अपि भवदुर्गतिम् उत्सृजन्ति, (दृष्टमेतत्—) पृथुकस्य स्तन्यार्थम् उपहिता अपि धात्री, सकलभोगसुखासिकानाम् पात्रीभवति ।

अर्थ—अन्य लोगों से नियुक्त होकर भी जो लोग भगवान् भर्ग—सदाशिव—की भक्ति (किया) करते हैं, वे भी इस भवदुर्गति (संसार की दुर्गतियों) से पार हो जाते हैं। ठीक ही है, क्योंकि लोक में भी यह देखा जाता है कि केवल शिशु को स्तन्य-पान कराने के ही निमित्त नियुक्त की हुई भी धात्री (उपमाता—धाई) समस्त भोग और सुखशय्यादिकों की पात्री बन जाती है, अर्थात् उस धात्री को माता की तरह समस्त भोग्य-पदार्थ प्राप्त होने लगते हैं।

अधिक क्या कहें—

दम्भादपि ध्रुवमनङ्गजितः प्रयुक्तः
सेवाविधिः प्रमदसम्पद¹मादधाति ।
वेश्याजनस्य न सुखाय किमङ्गराग-
मालादुगूलधवलः कृतकोऽपि वेषः ॥ ४८ ॥

अन्वय—दम्भात् अपि प्रयुक्तः (कृतः) अनङ्गजित सेवाविधिः प्रमदसम्पदम् ध्रुवम् आदधाति; (हि—परार्थं विहितः) अङ्गरागमालादुगूलधवलः कृतकः अपि वेषः, वेश्याजनस्य सुखाय किम् न भवति ? (अपि तु भवत्येव) ।

अर्थ—केवल दम्भ (पाखण्ड) से ही किया हुआ भी भगवान् भोलेनाथ का भजन लोगो को परमानन्द-सम्पत्ति प्रदान करता है । देखा न, पाखण्ड से केवल लोगो को मोहित करने के लिए ही धारण किया हुआ भी अङ्गविलेपन (चन्दन), माला और वस्त्रविभूषित कृत्रिम (बनावटी) वेष क्या उन वेश्याओ को सुख नही पहुँचाता ? ।

तस्मादुपेत विभुमेव यथातथापि
मुक्तिर्न चेद्भवति किं न गलन्त्यघानि ।
यः स्वेच्छयैव निपतत्यमृतहृदेऽन्त-
र्मज्जत्यसौ यदि न तत्किमुदेत्यसिक्तः ॥ ४९ ॥

अन्वय—तस्मात् (अयि सहृदयाः !) यथातथा अपि (स्वेच्छया, परप्रेरणया वा, केनापि प्रसङ्गेन वा, दम्भाद्वा) विभुम् एव (शरणम्) उपेत; (भवताम्) मुक्तिः चेत् न भवति, तर्हि अघानि किं न गलन्ति ? यः स्वेच्छया एव अमृतह्रदे निपतति; असौ चेत् (तत्र) अन्तः न मज्जति, तर्हि तत् किम् असिक्तः उदेति ? ।

अर्थ—इसलिए, अयि सहृदय लोगो ! अब अधिक क्या कहे, जिस किसी भी प्रकार से हो सके, स्वेच्छा से, दूसरो की ही प्रेरणा से, अथवा किसी अन्य प्रसङ्ग से, अधिक क्या—दम्भ से ही क्यो न हो, उस

(१) प्रमदसम्मदमित्यपि पाठ ।

परम कारुणिक प्रभु की ही शरण में जाओ। हाँ, यदि कदाचित् दुर्भाग्यवशात् आप लोगों को मुक्ति न भी प्राप्त हो सकेगी, तो क्या प्राचीन अनेक-जन्म-सञ्चित पाप-राशि भी नहीं नष्ट होगी? नहीं नहीं, पाप तो अवश्य ही गल जायँगे। क्योंकि यदि कोई पुरुष अकस्मात् ही किसी सुधा-सरोवर (अमृत-कुण्ड) में गिर जाय तो वह क्या अमृत-बिन्दुओं से आर्द्र हुए विना ही वहाँ से निकलता है? नहीं, नहीं !! वह अवश्य अमृत से आर्द्र होकर ही निकलता है।

क्षीराब्धेरवहेलया वितरणं निर्यन्त्रणं वर्षणं
हेम्नः क्रुद्धकृतान्तमुक्तफणभृत्पाशग्रहोद्दर्हणम्।
यच्चाप्युत्कटकालकूटकवलीकारादिकर्माद्भुतं
क्रीडामात्रकमेव यस्य तदसौ देवः कथं वर्ण्यते ॥ ५० ॥

अन्वय—क्षीराब्धेः अवहेलया वितरणम्, (मरुत्तनृपतेः पुरे) निर्यन्त्रणम् हेम्नः वर्षणम्, (श्वेतस्य नृपतेः) क्रुद्धकृतान्तमुक्तफणभृत्पाशग्रहोद्दर्हणम्, यत् च अपि उत्कटकालकूटकवलीकारादि अद्भुत कर्म, तत् यस्य क्रीडामात्रकम् एव भवति, असौ देवः (अस्माभिश्चर्मचक्षुर्भिः) कथम् वर्ण्यते ? ।

अर्थ—बालक उपमन्यु को खेल ही खेल में—योंही मारे क्षीर-सागर का दान कर देना, राजा मरुत्त के राज्य में सप्त दिवस पर्यन्त सुवर्ण की अविच्छिन्न (अटूट) वर्षा कर देना, राजा श्वेत को अत्यन्त कुपित कृतान्त (यमराज) के नागपाश के दृढ़ बन्धन (फन्द) से मुक्त कर देना, अधिक क्या, महाभयकर कालकूट का ग्रास कर जाना, इत्यादि इत्यादि अनेकानेक अद्भुत कर्म (चरित्र) जिस प्रभु के लिए एक बाल-क्रीड़ा के समान हैं, वह अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय रूप क्रीड़ा करनेवाला, स्वयंप्रकाश परमेश्वर हम सरीखे चर्म-चक्षुओं (परिमित बुद्धिवालों) के द्वारा कैसे वर्णित किया जाय?।

स्वच्छन्दस्य यदृच्छया गमयतः मैहोलतां भूलता-
मात्राऽनुग्रहलाभकृत्यनयनस्पर्शानुबन्धोद्धुराः।

सोष्माणः कलयन्ति यस्य कलहं सेवासु देवासुरा
देवस्याऽस्य महेश्वरस्य महिमश्लाघाविधौ के वयम् ॥५१॥

अन्वय—स्वच्छन्दस्य, यदृच्छया भ्रूलताम् प्रेङ्खोलताम् गमयतः (सतः) यस्य सेवासु, देवासुराः आज्ञानुग्रहलाभकत्थनघनस्पर्धानुबन्धोद्धुराः (अतएव) सोष्माणः (सन्तः) कलहम् कलयन्ति; अस्य महेश्वरस्य देवस्य महिमश्लाघाविधौ वयम् के (भवामः) ?

अर्थ—जिस स्वतन्त्रशक्तिशाली परमेश्वर की स्वेच्छा से भृकुटि-लता के किञ्चिन्मात्र ही कम्पित होने पर, जिसकी सेवा के लिए परम लालायित होकर हाथ जोड़े खड़े देवासुर (देवता और दानव) लोग, जिसकी आज्ञा रूप महान् अनुग्रह को पाकर अपनी-अपनी श्लाघा से परस्पर अत्यन्त स्पर्धा-गर्वित हो अपने-अपने तेज को प्रकट कर आपस में कलह करने लगते हैं (अर्थात् प्रभु ने अपनी सेवा के लिए मुझको आज्ञा दी है, मुझको ही दी है, इस प्रकार परस्पर वाद-विवाद करने लगते हैं), उस महान् अनन्त शक्तिशाली, कर्तुं-अकर्तुं-अन्यथा-कर्तुं समर्थ—सर्वसमर्थ भगवान् महेश्वरदेव की महिमा वर्णन करने में हम स्वल्पशक्तिवालों की क्या सामर्थ्य है ? ।

उर्वीनीरसमीरणारुणशिखिव्योमात्मसोमात्मकै-
रष्टाभिर्विभवैर्बिभर्ति भुवनं भोक्ता च भोग्यश्च यः ।
ब्रूमस्तस्य किमीश्वरस्य महतः स्वैरी स्वकैरेव यः
स्फारैर्ब्रह्मपुरन्दरप्रभृतिभिः शारैरिव क्रीडति ॥५२॥

अन्वय—यः भोक्ता भोग्यः च, उर्वीनीरसमीरणाऽरुणशिखिव्योमात्मसोमात्मकैः अष्टाभिः विभवैः भुवनम् बिभर्ति; यः स्वैरी च स्फारैः ब्रह्मपुरन्दरप्रभृतिभिः, स्वकैः शारैः इव क्रीडति, तस्य महतः ईश्वरस्य (महिमानम्) किम् ब्रूमः ? ।

अर्थ—जो स्वच्छन्द परमेश्वर भोक्ता (स्वतन्त्र कर्तारूप) और भोग्य(कार्य)रूप होकर पृथिवी, जल, वायु, सूर्य, अग्नि, आकाश,

चन्द्रमा और यजमान इन अष्टमूर्तियों से समस्त भुवनों का धारण और पालन करता है, एवं जो स्वेच्छा से निर्मित किये अपने ही अंश-स्वरूप ब्रह्मा, इन्द्र आदि देवताओं से अक्षों (द्यूत के पाँसों) की तरह क्रीड़ा किया करता है, उस महान् (ब्रह्मादि देवों के भी कारणीभूत) ईश्वर श्री महेश्वर की अनन्त महिमा का हम क्या वर्णन करें ? ।

इति श्रीप्रेमकरन्दोपेत काश्मीरकमहाकविश्रीमज्जगद्धरभट्ट-
विरचिते भगवतो महेश्वरस्य स्तुतिकुसुमाञ्जलौ
'शरणाश्रयण' नामाऽष्टमं स्तोत्रं सम्पूर्णम्

नवमं स्तोत्रम्

अब कवि भगवान् से अपनी दीन-दशा को वर्णन करते हुए 'कृपणाक्रन्दन' (कृपण = दीन, आक्रन्दन = पुकार, अर्थात् दीन की पुकार) नामक नवम स्तोत्र को प्रारम्भ करते हुए कहते हैं—

दीपोत्करैरविरुचां परिपूरणेयं
　　नीहारवारिभिरिदं भरणं पयोधेः ।
अस्मादृशां मितदृशां नियतैर्वचोभिः
　　भस्तूयते भव[1] तव स्तवचापलं यत् ॥ १ ॥

अन्वय—हे भव ! मितदृशाम् अस्मादृशाम् नियतैः वचोभिः, यत् तव स्तवचापलम् प्रस्तूयते, (तत्) इयम् रविरुचाम् दीपोत्करैः परिपूरणा (तथा) इदम् नीहारवारिभिः पयोधेः भरणम् (विडम्बनायैव केवलमिति भावः) ।

अर्थ—हे ब्रह्मादिस्थावरान्त समस्त चराचर के कारण, परम शिव ! प्रभो !! हम सरीखे अल्पशक्तिवाले लोगों के अत्यन्त परिमित वचनों

---

(१) तव भव इत्यपि पाठः ।

से जो आपकी स्तुति के लिए उद्योग किया जाता है, यह मानो दीप-कलिकाओं द्वारा त्रिलोक-चक्षु भगवान् सूर्य की अनन्त कान्तियों को परिपूर्ण करना है, और ओस की बूँदों से अगाध समुद्र को भरना है। अर्थात् हमारी परिच्छिन्न वाणी से आप अतर्क्य, अपरिमित, सर्वसाक्षी, परमेश्वर की स्तुति करना केवल विडम्बनामात्र है; क्योंकि हम चर्म-चक्षुवाले लोग आपकी क्या स्तुति कर सकते हैं ? । *

तो फिर 'चुप न रहकर क्यों स्तुति के लिए यह उद्योग कर रहे हैं ?' इस शङ्का की निवृत्ति करते हुए कहते हैं—

अत्राऽपराध्यति गिरो हर धृष्टतेय-
मेषा निसर्गमुखरा मुखरागिणी यत् ।
प्रौढिं परामनुपयत्यपि वाञ्छति त्वां
स्वामिन् हठादिव परं पुरुषं ग्रहीतुम् ॥ २ ॥

अन्वय—हे स्वामिन् ! एषा (मम वाणी) पराम् प्रौढिम् अनुपयती अपि, निसर्गमुखरा मुखरागिणी (सती) यत् हठात् इव, त्वाम् परम् पुरुषम् ग्रहीतुम् वाञ्छति, अत्र हे हर ! (मम) गिरः इयम् धृष्टता (एव) अपराध्यति ।

अर्थ—प्रभो ! जो यह मेरी वाणी 'परम-प्रौढिमा' (पदार्थ में वाक्य-रचना-रूप उत्तम गुणों) को प्राप्त हुए बिना भी स्वभावतः अति वाचाल और केवल ऊपरी (बनावटी) अनुरागवाली (ऊपर से ही कुछ वर्णन करने की अभिलाषावाली) होकर बलात्कार से जैसा आप पर-पुरुष (अव्यक्त-प्रकृति-से पर पुरुष अर्थात् परमब्रह्म परमेश्वर) को ग्रहण (प्राप्त) करने की इच्छा करती है, इसमें (यह) मेरी वाणी की धृष्टता (निर्लज्जता) का ही अपराध (दोष) है। [क्योंकि यदि कोई स्त्री स्वभावतः वाचाल और केवल ऊपरी अनुराग (दिखलावटी प्रेम) वाली होकर भी परम-प्रौढिमा (बाल्यावस्था से पर युवावस्था) को प्राप्त हुए

---

* यहाँ निदर्शनाऽलंकार है।

बिना ही किसी पर-पुरुष (अन्य पुरुष) की इच्छा करे तो यह केवल उसकी धृष्टता है ।]

> यद्वा भवत्यसुलभो भवदाश्रितस्य
> शस्यः स कोऽपि महिमा न हि मादृशोऽपि ।
> स्वच्छन्दमन्दमपि यत्र पदं त्वदुक्षा
> धत्ते मही भवति हेममयी हि तत्र ॥ ३ ॥

अन्वय—यद्वा, हे स्वामिन् ! भवदाश्रितस्य मादृशः अपि, सः कः अपि शस्यः महिमा, असुलभः न हि भवति, हि—त्वदुक्षा यत्र स्वच्छन्दमन्दम् अपि पदं धत्ते, तत्र मही हेममयी भवति ।

अर्थ—अथवा, हे प्रभो ! मुझ सरीखे दीन हीन भी आपके आश्रित शरणागत व्यक्ति के लिए आपके गुणगणों की स्तुति करने योग्य, वह विलक्षण श्लाघ्य महिमा कोई सुदुर्लभ नहीं है, अर्थात् आपके शरणागत का आपकी स्तुति के लिए उत्सुक होना (उद्योग करना) यह कोई कठिन नहीं ? क्योंकि, आपका शरणागत (वाहन) नन्दी जहाँ थोड़ा सा भी अपना स्वच्छन्द पद (चरण) रखता है, वहाँ की मही (सारी पृथ्वी) हेममयी (सुवर्णमयी) हो जाती है ।

> भीष्मो विषादपि विषादपिनद्धमेत-
> च्चेतश्चकार सविकारमकारणारिः ।
> मोहामयस्तमयमस्तमयं नयामि
> स्वामिँस्तव स्तवरसायनसेवनेन ॥ ४ ॥

अन्वय—अयि स्वामिन् ! विषात् अपि भीष्मः, अकारणारिः मोहामयः, (मदीयम्) चेतः विषादपिनद्धम्, सविकारम् चकार । (अतः) हे प्रभो ! अयम् (अहम्) तव स्तवरसायनसेवनेन तम् (मोहामयम्) अस्तमयम् नयामि ।

अर्थ—प्रभो ! विष से भी घोर भयङ्कर, निष्कारण वैरी मोहरूपी व्याधि ने मेरे चित्त को विषाद (खेद) से वेष्टित और अनेक प्रकार के

विकारों (दोषों) से विकृत कर दिया है; इसलिए हे नाथ ! अब मैं आपकी स्तुति रूपी रसायन के सेवन से इस (मोहरूपी) महाव्याधि को समूल ही नष्ट कर रहा हूँ* ।

एषः स्तवस्तव नवप्रमदोपदेश-
मादेशयञ्जयति कोऽपि गुरुर्गिरीश ।
सद्यः पुरः स्फुरति मे दुरतिक्रमेण
यत्सङ्क्रमक्रमवशेन वचोधिदेवी ॥ ५ ॥

अन्वय–हे गिरीश ! नवप्रमदोपदेशम् आदेशयन्, एषः कः अपि गुरुः तव स्तवः जयति, दुरतिक्रमेण यत्सङ्क्रमक्रमवशेन, मे वचोधिदेवी सद्य. पुर· स्फुरति ।

अर्थ—प्रभो ! जैसे अलौकिक आनन्दोल्लास को अभिव्यक्त करता हुआ कोई विलक्षण महिमाशाली सद्गुरु शिष्य के अन्तःकरण में प्रविष्ट हो संक्रमण-दीक्षा[1] देकर उसके मन में तत्त्वज्ञान (पद-पदार्थ-ज्ञान) की स्फूर्ति सम्पादन कर देता है वैसे ही, हे गिरीश ! नूतन अलौकिक परमानन्द को अभिव्यक्त करता हुआ आपका यह महान् प्रभावशाली अनुपम स्तोत्र (स्तुति) सर्वोत्कृष्ट है, जिसके सुदुर्गम सङ्क्रम (तत्त्व अर्थ का अन्त प्रवेश) रूपी सोपान क्रम के द्वारा मेरी वाणी शीघ्र मेरे आगे (मेरे सम्मुख) स्फुरित (उपस्थित) हो जाती है ।

नास्य स्पृहाऽस्ति सरसाय रसायनाय
नाऽप्यन्त्रितेन्दुवदनावदनाऽमृताय ।
निर्बन्धमेति तु भवत्स्तवये विधेहि
निर्बन्धमन्धकरिपो तदिदं मनो मे ॥ ६ ॥

अन्वय—हे अन्धकरिपो ! अस्य (मम मनस) स्पृहा सरसाय रसायनाय न अस्ति, (तथा) अयन्त्रितेन्दुवदनावदनामृताय (च) न अस्ति । तु, भव-

---

* महाव्याधि की चिकित्सा रसायन के ही सेवन से होती है ।
(१) आगम में प्रसिद्ध है ।

त्वविषे निर्बन्धम् (प्रीतिम्) एति, तत् हे विभो ! इदम् मे मनः निर्बन्धम् (विमुक्तमायाबन्धम्) विधेहि।

अर्थ—प्रभो ! इस मेरे मन की इच्छा सरस (पड्रसयुक्त) रसायन (अमृत) के पान करने की नहीं है, और इन्दुवदना (चन्द्रमुखी) के अव्युच्छिन्न (गाढ़) वदनामृत (अधरामृत) के पान करने की भी नहीं है। किन्तु, केवल एक आपके चरणों के निकट रहने की ही उत्कट लालसा है, इसलिए हे नाथ ! अब आप इस मेरे मन बेचारे के माया के बन्धनों से विमुक्त कर दीजिए।

आभाति शक्रनगरी न गरीयसी मे
प्रीतिं च सिञ्चति न काञ्चन काञ्चनाद्रिः।
जाने परं हर शरण्यमरण्यमेव
यत्र त्वदंघ्रिनलिनार्चननिर्वृतिः स्यात्॥ ७॥

अन्वय—हे हर ! शक्रनगरी, मे गरीयसी न आभाति, काञ्चनाद्रिः च काञ्चन प्रीतिम् न सिञ्चति; प्रभो ! यत्र, त्वदंघ्रिनलिनार्चननिर्वृतिः स्यात्, तत् अरण्यम् एव (अहम्) परम् शरण्यम् जाने।

अर्थ—हे नाथ ! स्वर्गलोक की वह इन्द्रनगरी—अमरावती—मुझे विशेष मनोहर नहीं लगती और उस काञ्चनमय सुमेरु पर्वत को देखकर भी कोई विशेष हर्ष नहीं होता। बस, केवल जहाँ मुझे आपके चरण-कमलों के पूजन का अखण्ड सुख प्राप्त हो उस अरण्य को ही मैं अपना परमोत्तम शरण (आश्रय) समझता हूँ।

पुष्पेषु दोहदवशादवशा[1] भृशं या
बभ्राम वामनयनाभुजमञ्जरीषु।

---

(१) अवशं, इत्यपि पाठः।

सा साम्प्रतं दृगलिनी वलिनी[1] व्यनक्ति
त्वद्भक्तिकल्पलतिकाफलभोगतृष्णाम् ॥ ८ ॥

अन्वय—प्रभो ! पुष्पेषु दोहदवशात् अवशा, या (मम) दृगलिनी, (पुरा) वामनयनाभुजमञ्जरीषु भृशम् बभ्राम, सा साम्प्रतम् वलिनी (सती) त्वद्भक्तिकल्पलतिकाफलभोगतृष्णाम् व्यनक्ति ।

अर्थ—प्रभो ! [जैसे कोई अलिनी पुष्पों की अभिलाषा के वश परवश (पराधीन) हो दिन-रात लताओं में घूमा करती है और फिर कभी सद्भाग्यवश अनुकूल समय आने पर (स्वर्ग की) कल्पलता के फल को भोगने के लिए लालायित हो जाती है, वैसे ही—] हे नाथ ! काम की तृष्णा के वश परवश हो जो मेरी दृष्टिरूपी भ्रमरी पहिले दिन-रात कामिनियों की भुजलताओं में भटका करती थी, वही (मेरी दृष्टि) अब इस समय अत्यन्त बलवती (स्वतन्त्र) होकर आपकी भक्तिरूपी कल्पलता के (परमानन्दरूपी) फल को भोगने के लिए अत्यन्त लालायित हो रही है ।

[जैसे भगवान् सदाशिव के मुकुट में विराजमाना 'चन्द्रकला', मस्तक पर शोभित 'मन्दाकिनी' और कर-कमल में धारण किया 'सुधा-कलश' जीवों के ताप और पाप को शान्त कर हृदय में परम आनन्द प्रदान करते हैं वैसे ही, उनकी भक्ति (शिव-भक्ति) भी इस संसाररूप महामरु-स्थल में भटक-भटककर नितान्त क्लान्त हुए जीवों के समस्त ताप और पाप को शान्त कर हृदय में अखण्ड आनन्द प्रदान करती हुई उन्हें संसार-(माया)चक्र के बन्धनों से विमुक्त कर देती है । इसलिए ऐसे-ऐसे अनेकानेक अनन्त चमत्कारों से भरी एवं कदाचित् प्रभु के ही महान् अनुग्रह से किसी बड़भागी भक्त को प्राप्त होनेवाली शिव-भक्ति की प्रशंसा करते हुए हमारे कविवर अपने प्रभु से कहते हैं—]

---

(१) बलिनीं, इत्यपि पाठः ।

किं निर्मिता मुकुटचन्द्रकलां निपीड्य
किं वा शिरःशरणनिर्झरिणीजलेन ।
किं वा करस्थकलशामृतसंप्लवेन
भक्तिस्त्वया प्रणयिनां भवतापशान्त्यै ॥ ९ ॥

अन्वय—अयि परमकारुणिक ! त्वया (इयम्) भक्ति प्रणयिनाम् भवतापशान्त्यै किम् मुकुटचन्द्रकलाम् निपीड्य निर्मिता ? किंवा, शिर शरणनिर्झरिणीजलेन निर्मिता ? किंवा, करस्थकलशामृतसम्प्लवेन निर्मिता ? (एव चेन्नस्यात्तर्हि कथ भविना तापत्रयापहर्त्री स्यादित्यर्थ) ।

अर्थ—अयि कारुणिक-शिरोमणे ! (भला, आप यह तो बतलाइए !) क्या आपने अपने शरणागतों के सांसारिक पाप-तापों की निवृत्ति के लिए अपने मुकुट की चन्द्रकला को निचोड उसके सारातिसार अमृतमय तत्त्व से इस (अपनी) भक्ति का निर्माण किया ? किंवा, अपने मस्तक पर बैठी पतित पावनी देव-गङ्गा का सुशीतल जलधारा से इसका निर्माण किया ? अथवा करकमलस्थ कलशामृत[1] से इस (भक्ति) का निर्माण किया ? (क्योंकि यदि यह इन वस्तुओं से न बनी होती, तो फिर जीवों के पाप-तापों को कैसे मिटा सकती ?) ।

स्वामिन्विचित्रचरितस्य तवाऽपदान-
गीतामृतेषु दृढरूढरतिर्ममेयम् ।
दूरीकृताऽन्यसरणिर्हरिणीव वाणी
सत्यं पदात्पदमपि क्षमते न गन्तुम् ॥ १० ॥

अन्वय—हे स्वामिन् ! विचित्रचरितस्य तव अपदानगीतामृतेषु दृढरूढरति इयम् मम वाणी, दूरीकृतान्यसरणि (सती) हरिणी इव, सत्यम् पदात् पदम् अपि गन्तुम् न क्षमते ।

---

(१) कलश के अमृत ।

सा साम्प्रतं दृगलिनी वलिनी[1] व्यनक्ति
त्वद्भक्तिकल्पलतिकाफलभोगतृष्णाम् ॥ ८ ॥

अन्वय—प्रभो ! पुष्पेषु दोहदवशात् अवशा, या (मम) दृगलिनी, (पुरा) वामनयनाभुजमञ्जरीषु भृशम् बभ्राम, सा साम्प्रतम् वलिनी (सती) त्वद्भक्तिकल्पलतिकाफलभोगतृष्णाम् व्यनक्ति ।

अर्थ—प्रभो ! [जैसे कोई अलिनी पुष्पों की अभिलाषा के वश परवश (पराधीन) हो दिन-रात लताओं में घूमा करती है और फिर कभी सद्भाग्यवश अनुकूल समय आने पर (स्वर्ग की) कल्पलता के फल को भोगने के लिए लालायित हो जाती है, वैसे ही—] हे नाथ ! काम की तृष्णा के वश परवश हो जो मेरी दृष्टिरूपी भ्रमरी पहिले दिन रात कामिनियों की भुजलताओं में भटका करती थी, वही (मेरी दृष्टि) अब इस समय अत्यन्त बलवती (स्वतन्त्र) होकर आपकी भक्तिरूपी कल्पलता के (परमानन्दरूपी) फल को भोगने के लिए अत्यन्त लालायित हो रही है ।

[जैसे भगवान् सदाशिव के मुकुट में विराजमाना 'चन्द्रकला', मस्तक पर शोभित 'मन्दाकिनी' और कर-कमल में धारण किया 'सुधा-कलश' जीवों के ताप और पाप को शान्त कर हृदय में परम आनन्द प्रदान करते हैं वैसे ही, उनकी भक्ति (शिव-भक्ति) भी इस संसाररूप महामरु स्थल में भटक-भटककर नितान्त क्लान्त हुए जीवों के समस्त ताप और पाप को शान्त कर हृदय में अखण्ड आनन्द प्रदान करती हुई उन्हें संसार-(माया)चक्र के बन्धनों से विमुक्त कर देती है। इसलिए ऐसे-ऐसे अनेकानेक अनन्त चमत्कारों से भरी एवं कदाचित् प्रभु के ही महान् अनुग्रह से किसी बड़भागी भक्त को प्राप्त होनेवाली शिव-भक्ति की प्रशंसा करते हुए हमारे कविवर अपने प्रभु से कहते हैं—]

---

(१) बलिनी', इत्यपि पाठः ।

किं निर्मिता मुकुटचन्द्रकलां निपीड्य
किं वा शिरःशरणनिर्झरिणीजलेन ।
किं वा करस्थकलशामृतसंप्लवेन
भक्तिस्त्वया प्रणयिनां भवतापशान्त्यै ॥ ९ ॥

अन्वय—अयि परमकारुणिक ! त्वया (इयम्) भक्ति प्रणयिनाम् भवतापशान्त्यै किम् मुकुटचन्द्रकलाम् निपीड्य निर्मिता ? किंवा, शिर शरण-निर्झरिणीजलेन निर्मिता ? किंवा, करस्थकलामृतसम्प्लवेन निर्मिता ? (एव चेन्नस्यात्तर्हि कथ भविता तापत्रयापहर्त्री स्यादित्यर्थ) ।

अर्थ—अयि कारुणिक-शिरोमणे ! (भला, आप यह तो बतलाइए !) क्या आपने अपने शरणागतो के सासारिक पाप-तापो की निवृत्ति के लिए अपने मुकुट की चन्द्रकला को निचोड उसके सारातिसार अमृतमय तत्त्व से इस (अपनी) भक्ति का निर्माण किया ? किंवा, अपने मस्तक पर बैठी पतित पावनी देव-गङ्गा का सुशीतल जलधारा स इसका निर्माण किया ? अथवा करकमलस्थ कलशामृत[1] स इस (भक्ति) का निर्माण किया ? (क्योकि यदि यह इन वस्तुओ से न बनी होती, तो फिर जीवो के पाप तापो को कैसे मिटा सकती ?) ।

स्वामिन्विचित्रचरितस्य तवाऽपदान-
गीतामृतेषु दृढरूढरतिर्ममेयम् ।
दूरीकृताऽन्यसरणिर्हरिणीव वाणी
सत्य पदात्पदमपि क्षमते न गन्तुम् ॥ १० ॥

अन्वय—हे स्वामिन् ! विचित्रचरितस्य तव अपदानगीतामृतेषु दृढरूढरति इयम् मम वाणी, दूरीकृता-न्यसरणि (सती) हरिणी इव, सत्यम् पदात् पदम् अपि गन्तुम् न क्षमते ।

---

(१) कलश के अमृत ।

अर्थ—हे नाथ ! 'त्रिपुरासुर-दाह, अन्धकासुर-वध, राजा श्वेत के अभयदान और बालक उपमन्यु को क्षीरसागर का दान' इत्यादि इत्यादि अनेकाऽनेक महाविचित्र चरित्रवाले आप परमेश्वर के चरितामृत के गान में अत्यन्त दृढ़ अनुरागवाली यह मेरी वाणी अन्य (सांसारिक) कृत्यों को तिलाञ्जलि देकर केवल एक आपके ही चरितामृत के गायन में मग्न हो 'व्याध के कर्णमनोहर वेणुनिनाद के श्रवण में मग्न हुई हरिणी के समान' एक पद भी (थोड़ा सा भी) इधर-उधर जाने के लिए नहीं समर्थ हो सकती है।

आश्वासनं यमभयाकुलतामृतानां
सञ्जीवनं भवदवव्यथया मृतानाम् ।
आलम्बनं सुकविराजगिरामृतानां
सङ्कीर्तनं जयति ते चरितामृतानाम् ॥ ११ ॥

अन्वय—प्रभो ! यमभयाकुलताम् ऋतानाम् आश्वासनम्, भवदव-व्यथया मृतानाम् सञ्जीवनम्, ऋतानाम् सुकविराजगिराम् आलम्बनम् ते चरितामृतानाम् सङ्कीर्तनम् जयति ।

अर्थ—नाथ ! यमराज के भय से व्याकुलों को आश्वासन (धैर्य) देनेवाला, संसाररूप दावानल की व्यथा से मृतप्राय लोगों को सञ्जीवित करनेवाला, महाकवियों की सत्य वाणियों का परम आलम्बनभूत आपके 'चरितामृत' की सदा जय हो ।

दानं तरङ्गतरलः किल दुग्धसिन्धु-
र्मुक्तिः करालतरकालभयात्प्रसादः ।
त्यागोऽपि सप्तदिवसानि सुवर्णवृष्टिः
किं किं न चारुचरितं भवतः प्रशस्यम् ॥ १२ ॥

अन्वय—किल, तरङ्गतरलः दुग्धसिन्धुः दानम्,[१] करालतरकालभयात् मुक्तिः प्रसादः,[२] सप्तदिवसानि सुवर्णवृष्टिः (एषः) त्यागः[३] अपि, हे प्रभो! भवतः किम् किम् चारुचरितम् न प्रशस्यम्?।

अर्थ—बालक उपमन्यु को सुमनोहर स्वच्छ चञ्चल तरङ्गोंवाला दुग्धसिन्धु ही दे डालना ऐसा दान, राजा श्वेत के महाविकराल काल के भय से मुक्त कर देना यह प्रसाद और राजा मरुत्त की नगरी मे सात दिवस पर्यन्त सुवर्ण की अविच्छिन्न वृष्टि कर देना, यह त्याग * इस प्रकार भगवन्! आपका कौन-कौन मनोहर चरित्र नहीं प्रशंसनीय है? अर्थात् आपके सभी चरित्र लोकोत्तर और एक से एक बढ़कर प्रशंसनीय हैं।

स्वामिन् रजःपरिचितं चपलस्वभावं
जात्या मलीमसमिदं हृदयं मदीयम्।
त्वत्पादपद्मविषये कृतपक्षपातं
धत्ते प्रमोदभरनिर्भरभृङ्गलक्ष्मीम्॥ १३॥

अन्वय—हे स्वामिन्! रजःपरिचितम् चपलस्वभावम्, जात्या मलीमसम्, इदम् मदीयम् हृदयम्, त्वत्पादपद्मविषये कृतपक्षपातम् (सत्) प्रमोदभरनिर्भरभृङ्गलक्ष्मीम् धत्ते।

अर्थ—अयि नाथ! रज (पाप अथवा रजोगुण) से परिपूर्ण, अतिचञ्चल स्वभाव और जन्म से ही मलिन यह मेरा मन आपके

---

(१) बालस्योपमन्युमुनेरित्यर्थः।
(२) श्वेताख्यनृपतेरित्यर्थः।
(३) मरुत्तनृपतेः पुरे।
* यहाँ 'दान' और 'त्याग' मे विशेषता है—पात्रापात्र के विवेक से जो वितरण होता है वह 'त्याग' और तद्विवेक से रहित जो वितरण होता है वह 'दान' कहलाता है।

पादपद्म में अनुराग करता हुआ, 'गाढ आनन्द के प्रवाह में मग्न हुए (अति निश्चल) भृङ्ग (भ्रमर) के समान' सुशोभित होता है।०

त्वां वामदेवमपि दक्षिणमाश्रितेषु
सर्वत्र शङ्कर वसन्तमपि स्मरारिम्।
अप्यन्तकोपशमहेतुमनन्तकोप-
शान्त्येककारणमचिन्त्यगतिं श्रयामि ॥ १४ ॥

अन्वय—हे शङ्कर ! (अहम्) वामदेवम् अपि आश्रितेषु दक्षिणम्, सर्वत्र वसन्तम् अपि स्मरारिम्, अन्तकोपशमहेतुम् अपि अनन्तकोपशान्त्येककारणम्, त्वाम् अचिन्त्यगतिम् श्रयामि।

अर्थ—अयि कैवल्य के दाता, प्रभो ! वामदेव (लोकाचार अथवा संसार से विपरीत आचरणोंवाले) होकर भी शरणागतों पर दक्षिण (अर्थात् शरणागतों के प्रति अनुकूल), सर्वत्र चराचर जगत् में निवास करनेवाले होकर भी कामदेव के शत्रु और अन्तक (काल) का उपशम (नाश) करनेवाले होकर भी अनन्त कोप को शान्त (नाश) करनेवाले आप अति अद्भुत लीला-शक्तिवाले सर्वस्वतन्त्र परमेश्वर की मैं शरण लेता हूँ।†

क्वापि प्रसीदसि दिशन्विशदं प्रकाशं
क्वापि प्रयच्छसि घनावरणोपरोधम्।

---

० भृङ्ग भी रज (पराग) से परिपूर्ण, अति चपल स्वभाव, जन्म से ही मलिन और कमल में अनुराग करता हुआ गाढ़ आनन्दोद्रेक से निश्चल हो जाता है।

† कवि ने यहाँ शब्द-श्लेष को विरोधाभास से संपुटित कर विशेष चमत्कार किया है। वह कहता है कि जो वाम होकर दक्षिण, वसन्त (वसति कामोऽत्रेति वसन्त) होकर काम का शत्रु और अन्तक (काल) को शान्त करनेवाला होकर अन्तक को शान्त नहीं करता उस अचिन्त्य शक्तिवाले की मैं शरण लेता हूँ। कैसा सुन्दर भाव है !

कुर्मः किमत्र महनीयमहामहिम्नो
　　नास्त्येव नाम नियतिर्नभसः प्रभोश्च[1] ॥ १५ ॥

अन्वय—हे ईश ! क्वापि विशदम् प्रकाशम् दिशन् प्रसीदसि, (पुनः) क्वापि घनावरणोपरोधम् प्रयच्छसि, (तस्माद्वयम्) अत्र किं कुर्मः ? नाम, महनीयमहामहिम्न. प्रभोः नभसः च नियति. एव न अस्ति ।

अर्थ—हे ईश ! कहीं तो आप अत्यन्त सुनिर्मल प्रकाश (तत्त्वज्ञान) वितरण करते हुए अतिशय प्रसन्न हो जाते हो (अनुग्रह करते हो) अर्थात् अपने परमान्तरङ्ग भक्तो के हृदय मे सुनिर्मल तत्त्वज्ञान को प्रकाशित कर उन पर अनुग्रह करते हो, और कहीं (अर्थात् अभागियों के हृदय को) अतिशय घनाऽन्धकार (महा अज्ञान) से आच्छादित कर देते हो। प्रभो ! हम लोग इसके लिए क्या कर सकते हैं (आपके इस अन्याय के लिए हमारा क्या वश चल सकता है) क्योंकि, महा-महिमाशाली ईश्वर और आकाश का कोई निश्चय (खास) नियम ही नही है। आकाश भी कही तो मेघो को हटाकर सुनिर्मल प्रकाश कर देता है और कही चारो ओर सघन मेघों से समाच्छन्न (आच्छादित) कर देता है।

चित्तं नतापदुपतापहृतिप्रवृत्तिं
　　भीताऽभयार्पणपणप्रवणां च वाणीम् ।
लोकोपकारपरतन्त्रमिदं वपुश्च
　　कस्त्वत्परः परमकारुणिको बिभर्ति ॥ १६ ॥

अन्वय—अयि विभो ! नतापदुपतापहृतिप्रवृत्तिम् चित्तम्, भीताऽभयार्पणपणप्रवणाम् वाणीम् च, लोकोपकारपरतन्त्रम् इदम् वपु. च, त्वत्पर. कः परमकारुणिकः बिभर्ति ? ।

---

(१) अत्रार्चित द्वयोरिति 'प्रभोर्नभसश्च'त्युच्यमाने नभसोऽपि श्रीशिवभट्टारकस्यैकमूर्तित्वात् तदंशोऽपि पूर्वमुद्दिष्टे न दोषः ।

अर्थ—प्रभो ! विनीत भक्तनरों की समस्त आपत्तियों और सन्तापों को हरने में प्रवृत्त चित्त, भयङ्कर काल की टेढ़ी भ्रुकुटियों के त्रास से भयभीत हुए प्राणियों को अभयदान देने में तत्पर वाणी और प्राणियों के उपकार में पराधीन शरीर को एक आपके सिवाय दूसरा कौन परम कारुणिक धारण करता है ? अर्थात् कोई भी नहीं।

चित्तं विषादमगमन्न परं प्रसाद-
मौज्झद्विचारमुचितं न बहिः प्रचारम् ।
लेभे न कुत्र विवरं प्रवरं न बोध-
मेतत्त्वयैव भगवन्धृतविप्रयोगम् ॥ १७ ॥

अन्वय—हे भगवन् ! त्वया एव धृतविप्रयोगम् (सत्) एतत् चित्तम्, विषादम् अगमत् परम् प्रसादम् न अगमत्, उचितम् विचारम् औज्झत्, बहिः प्रचारम् न औज्झत्, (तथा) एतत् चित्तम् कुत्र न विवरम् लेभे (अपितु सर्वत्र विवरम् लेभे) प्रवरम् बोधम् न लेभे ।

अर्थ—भगवन् ! आपसे ही वियुक्त होने के कारण यह मेरा चित्त विषाद (दुःख) को प्राप्त हुआ और परम प्रसन्नता को नहीं प्राप्त हुआ । आपके ही वियोग से इसने अपने उचित (कर्तव्याऽकर्तव्य रूप) विचार (विवेक) को त्याग दिया किन्तु आपके ध्यान में विघ्न करने-वाले विषयों पुरुषों के सङ्ग को नहीं त्यागा और आपके वियोग से ही यह सर्वत्र दुःखों को प्राप्त हुआ, किन्तु तत्त्वज्ञान को नहीं प्राप्त हुआ ।

अश्रान्तमान्तरमशान्तरजोविकारं
सारङ्गकेतुमुकुटस्फुटमन्धकारम् ।
युक्तं यदन्धयति यद्बधिरीकरोति
कोऽतिमसङ्ग इति तत्र न तर्कयामि ॥ १८ ॥

अन्वय—हे सारङ्गकेतुमुकुट ! अशान्तरजोविकारम् अश्रान्तम् स्फुटम् आन्तरम् अन्धकारम् (कर्तृ) यत् अन्धयति (तत्) युक्तम्, (किन्तु, तदेव)

यत् (पुरुषम्) बधिरीकरोति (सः) अतिप्रसङ्गः क. (भवति) इति तत्र न तर्कयामि ।

अर्थ—अयि चन्द्रमुकुट ! जिसका रजोविकार (रजोगुण का विकार) न शान्त हुआ हो ऐसे अविवेकी पुरुष के जो आन्तरिक (अज्ञानरूप) अन्धकार कार्याकार्य विवेक से शून्य करके उसे अन्ध बना देता है, यह तो युक्त ही है; क्योंकि रजोविकार (धूलि-विकार) से युक्त (गाढ़) अन्धकार मनुष्य को अवश्य अन्ध ही बना देता है। किन्तु, वही आन्तरिक अन्धकार पुरुष को जो अत्यन्त बधिर (श्रवण-शक्ति से हीन) भी बना डालता है, यह क्या अति प्रसक्ति है, मैं इसमें कोई तर्कना नहीं कर सकता। अर्थात् बाहर का धूलिसम्मिश्रित अन्धकार तो पुरुष को केवल अन्ध ही बना सकता है, बधिर नहीं बना सकता, परन्तु यह आन्तरिक अज्ञानरूप अन्धकार तो (मनुष्य को) अन्धा भी बना देता है और बधिर भी कर देता है, यह महान् ही आश्चर्य है ।

लीलाविलोलललनानयनान्तवास-
　　मासाद्य यः क्व न भनक्ति मनस्विनोऽपि ।
सोऽयं निविश्य विमले हृदये मदीये
　　धिङ् मर्ममर्म न भिनत्ति कथं मनोभूः ॥ १९ ॥
स्वामिन्नसन्तमिव तत्र वसन्तमेव
　　सत्त्वामवैति किमिदं, यदि वा किमन्यत् ।
दग्धोऽपि यं पुनरवाप्य बिभर्ति गर्वं
　　सर्वङ्कषो विजयते स तव प्रसादः ॥ २० ॥
　　　　　　　　　　　　　　(युग्मम्)

अन्वय—य (मनोभूः) लीलाविलोलललनानयनान्तवासम् आसाद्य, मनस्विन. अपि क्व न भनक्ति ? धिक् (अस्तु) सः अयम् मनोभूः मदीये विमले हृदये (अपि) निविश्य, मर्ममर्म कथम् न भिनत्ति ? (भिनत्त्येवेत्यर्थः) ।

हे स्वामिन् ! सः (मनोभूः) तव (मदीये हृदि) वसन्तम् एव त्वाम् (यत्) असन्तम् एव अवैति, (तत्) इदम् किम् ? यदि वा (अथवा) किम् अन्यत्—दग्धः अपि सः यम् (तव प्रसादम्) अवाप्य, पुनः गर्वम् बिभर्ति, सः तव सर्वङ्कषः प्रसादः विजयते ।

अर्थ—नाथ ! जो (मनोज) ललनाओं के लीला-विलास से चञ्चल नयन(कटाक्ष)रूपी निवासस्थान को प्राप्त हो (अर्थात् युवतियों के कुटिल कटाक्षों के द्वारा) बड़े बड़े मनस्वियों के भी मन का मानभङ्ग कर देता है, हा, धिक् ! वही यह कामदेव आपकी भक्ति-द्वारा सुनिर्मल इस मेरे हृदय में भी प्रविष्ट हो मेरे प्रत्येक मर्म का भेदन क्यों न करेगा ? अर्थात् अवश्य ही करता है। किन्तु, हे नाथ ! वही कामदेव मेरे इस (सुनिर्मल) हृदय में आपके सदैव विद्यमान रहते हुए (सदैव निवास करते हुए) भी आपको जो अविद्यमान के समान समझ लेता है यह बात क्या है ? अथवा, हाँ, इसमें कोई दूसरा ही रहस्य है:— आपकी नयन-वह्नि (नेत्राग्नि) से दग्धप्राय हुआ भी वह कामदेव पुनः आपका प्रसादानुग्रह पाकर अपने को त्रैलोक्यविजयी समझ पुनः भी गर्व धारण करता है; सो यह सब आपके सर्वंकष (सर्वत्र व्याप्त होनेवाले, अर्थात् त्रैलोक्यविजयित्वरूप) महान् अनुग्रह की ही सर्वोत्कृष्ट महिमा है।

श्रीखण्डचन्दननिघृष्टकुरङ्गनाभि-
कर्पूरकुङ्कुमकरम्बशुभाङ्गरागम् ।
उद्यन्नवीनकदलीदलसौकुमार्यं
बिभ्रत्यनङ्गनटमङ्गलरङ्गमङ्गम् ॥ २१ ॥*

अन्वय—हे प्रभो ! श्रीखण्डचन्दननिघृष्टकुरङ्गनाभिकर्पूरकुङ्कुमकरम्बशुभाङ्गरागम्, उद्यन्नवीनकदलीदलसौकुमार्यम् अनङ्गनटमङ्गलरङ्गम् अङ्गम् बिभ्रती—

---

* यहाँ से पाँच श्लोकों का कुलक प्रारम्भ होता है।

अर्थ—अयि नाथ ! अति सुन्दर सुमनोहर श्रीखण्डचन्दन-सम्मिश्रित कस्तूरिका, कर्पूर और कुङ्कुम से विलिप्त ; नूतन कदलीदल के समान अति सुकुमार एवं नटराज श्री कामदेव की मङ्गलमयी रङ्गभूमि-स्वरूपा अति सुकोमल अङ्गयष्टि को धारण करती हुई, तथा—

फुल्लारविन्दवदना विकसच्छिरीष-
मालाभुजाभिनवनीलसरोजनेत्रा ।
ब्रह्मास्त्रमप्रतिहतं विहिता हिताय
पुष्पायुधस्य कुसुमैरिव माधवेन ॥ २२ ॥

अन्वय—फुल्लारविन्दवदना विकसच्छिरीषमालाभुजा अभिनवनीलसरोजनेत्रा (अतएव) माधवेन कुसुमैः पुष्पायुधस्य हिताय अप्रतिहतम् ब्रह्मास्त्रम्[1] विहिता इव—

अर्थ—प्रफुल्ल कमल के समान मुखवाली, विकसित शिरीष-पुष्पों की माला के समान अतिसुमनोहर भुजाओंवाली, नूतन नील कमल के समान विशाल नेत्रोंवाली, अतएव मानो ऋतुराज श्री वसन्त ने दिव्य-कुसुमों द्वारा अपने सखा श्री कुसुमायुध (काम) की सहायता के लिए अमोघ ब्रह्मास्त्र-सी बनाई हुई—

नाथेति जीवितहरेति दयापरेति
सप्रेमकोपमतिकोमलमालपन्ती ।
गाढानुरागविवृताखिलगूढभाव-
मावर्जयन्त्यविपर्यैर्वचसां विलासैः ॥ २३ ॥

अन्वय—हे नाथ ! इति, हे जीवितहर !! इति, हे दयापर !!! इति, सप्रेमकोपम् अतिकोमलम् आलपन्ती गाढानुरागविवृताखिलगूढ-

---

(१) ब्रह्मास्त्रम्, इत्यस्य 'वेदाः प्रमाणं, श्रुतयः प्रमाणम्' इतिवद्-जहल्लिङ्गता ।

भावम् (यथास्यात्तथा) वचसाम् अविषयैः विलासैः (मनः) आवर्जयन्ती—

अर्थ—हे नाथ! हे जीवितहर!! अयि दयापर!!! इस प्रकार सप्रेम और कोपपूर्वक अति सुकोमल मधुर आलाप करती हुई, अतिगाढ़ अनुराग द्वारा अपने गूढ़ (गुप्त) अभिप्राय को प्रकट करती हुई, वाणी के अगोचर (अवर्णनीय—अनुपम) विलासों से लोगों के मन को मोहित करती हुई, और—

किंवा परं कुपितनिर्घृणपञ्चबाण-
बाणौघभिन्नहृदया परिरभ्य गाढम् ।
मुग्धाजनस्य सहजामवजित्य लज्जा-
मौत्सुक्यसान्द्रमधरामृतमर्पयन्ती ॥ २४ ॥

अन्वय—किम् वा परम् (अन्यद् ब्रूम.) कुपितनिर्घृणपञ्चबाणबाणौघभिन्नहृदया (सती) गाढम् परिरभ्य, मुग्धाजनस्य सहजाम् लज्जाम् अवजित्य, औत्सुक्यसान्द्रम् अधरामृतम् अर्पयन्ती—

अर्थ—अधिक क्या कहें, (प्रिय और प्रिया के पारस्परिक सम्मिलन में कुछ क्षण विलम्ब हो जाने के कारण) अत्यन्त कुपित और निर्दयी काम के बाणों से भिन्न-हृदया हो, सुगाढ आलिङ्गन कर मुग्धाङ्गनाओं की स्वाभाविकी लज्जा को जीत (अर्थात् लज्जा त्यागकर) अति उत्कण्ठापूर्वक अपने प्राणवल्लभ को गाढ़ अधरामृत का पान कराती हुई—

आक्षिप्तसिन्धुमथनोत्थमहामृतौघ-
भावत्कभक्तिरसपारणनित्यतृप्तम् ।
प्रत्याहृतेन्द्रियमवाप्तसमाधिसौख्यं
न त्वत्परं हरति सा हरिणेक्षणाऽपि ॥ २५ ॥

(पञ्चभिः कुलकम्)

अन्वय—(एवंभूता) सा हरिणेक्षणा अपि, आक्षिप्तसिन्धुमथनोत्थ-महामृतौघ-भावत्क-भक्तिरसपारणनित्यतृप्तम्, प्रत्याहृतेन्द्रियम्, अवाप्तसमाधि-सौख्यम् त्वत्परम् (भक्तजनम्) न हरति (न वशीकर्तुं क्षमते)।

अर्थ—वह मृगनयनी युवती भी, क्षीरार्णव के मन्थन से विनिःसृत अमृतपूर को तिरस्कृत करनेवाली आपकी भक्ति-सुधा के रस-पान से नित्य तृप्त बने हुए, (प्रत्याहार नामक योग के द्वारा) समस्त वैषयिक प्रपञ्च से अपनी इन्द्रियों को समेटे बैठे हुए (रोके हुए) और समाधिजन्य परमानन्द सौख्य का अनुभव करनेवाले आपके भक्तवर को कदापि नहीं वश में कर सकती। सारांश यह है कि संसार भर के उत्तम से भी उत्तम पदार्थ भगवद्-अनुरक्त भक्त के चित्त को मोहित नहीं कर सकते।

हेलावलन्मलयमारुतकम्पितानां
शीर्णैः फलैः स्वयमरण्यमहीरुहाणाम्।
वृत्तिर्हरस्मरणघूर्णितचेतसः क्व
दीनं मुखं क्व च पुरः कुमहीपतीनाम् ॥ २६ ॥

अन्वय—हरस्मरणघूर्णितचेतसः (शम्भुसेवकस्य) हेलावलन्मलयमारुतकम्पितानाम् अरण्यमहीरुहाणाम् स्वयम् शीर्णैः फलैः वृत्तिः (जीवनम्) क्व, कुमहीपतीनाम् पुरः दीनम् मुखम् च क्व ! ।

अर्थ—कहाँ तो, अहर्निश भगवान् श्रीभवानीनाथ के स्मरण से अलौकिक रसास्वाद में झूमे हुए संसार-विरक्त भक्तवर की—मन्द-मन्द मलयमारुत से कम्पित अरण्य-महीरुहों (वनवृक्षों) के स्वयं-शीर्ण (अपने आप गिरे हुए) फलों से होनेवाली—सुपवित्र जीवनयात्रा, और कहाँ वह अति कुत्सित क्षुद्र नृपों (क्षुद्र धनिकों) के आगे (धन-कणों की याचना से) अति दीन मलिन मुख ? अर्थात धन्यात्मा सन्त-पुरुष उस अखण्ड आनन्द की प्राप्ति के लिए सांसारिक वैषयिक सुखा-सक्ति से मुँह मोड़ अहर्निश श्रीभगवच्चिन्तन में तल्लीन होकर प्रारब्धवश

बिना प्रयास स्वतः ही प्राप्त होनेवाले कन्दमूलादि से ही अपनी जीवन-यात्रा का निर्वाह करते हुए सन्तोष में निमग्न रहा करते हैं, विवेक-विहीन विषयासक्त लोग सांसारिक (अनित्य) क्षुद्र सुखावाप्ति के लिए धन-मदान्ध लोगों की सेवा में परायण हो अपने बहुमूल्य मनुष्य-जीवन को निरर्थक यों ही नष्ट कर देते हैं।

नेत्रत्वमीश तव मूर्तिविलोकनेषु
वाक्त्वं भवच्चरितचर्वणविभ्रमेषु ।
त्वत्सत्कथाश्रवणकर्मणि कर्णभाव-
मिच्छन्ति गन्तुमपराणि[1] ममेन्द्रियाणि ॥ २७ ॥

अन्वय—हे ईश ! मम (नेत्रेन्द्रियात्) अपराणि इन्द्रियाणि, तव मूर्तिविलोकनेषु, नेत्रत्वम् गन्तुम् इच्छन्ति; (वागिन्द्रियात्) अपराणि इन्द्रियाणि, भवच्चरितचर्वणविभ्रमेषु वाक्त्वम् गन्तुम् इच्छन्ति; (श्रवणेन्द्रियात्) अपराणि इन्द्रियाणि, त्वत्संकथाश्रवणकर्मणि कर्णभावम् गन्तुम् इच्छन्ति।

अर्थ—हे ईश ! मेरी नेत्रों से अन्य (श्रोत्रादि) इन्द्रियाँ आपकी मनोहारिणी मूर्ति का दर्शन करने में नेत्र बन जाना चाहती हैं (अर्थात् मेरी श्रोत्रादि इन्द्रियाँ चाहती हैं कि इन नेत्रों की तरह हम लोग भी अपने प्रभु का दर्शन करें), वाणी से अन्य (नेत्रादि) इन्द्रियाँ आपके लोकोत्तर, कर्णमधुर, अद्भुत चरित्रों के वर्णन के लिए वाणी बन जाना चाहती हैं, (अर्थात् मेरी नेत्रादि इन्द्रियाँ चाहती हैं कि हम भी इस वाणी की तरह अपने प्रभु का गुणानुवाद गाया करें) और श्रोत्र इन्द्रिय को छोड़ अन्य (बाकी और) इन्द्रियाँ आपकी कर्णमनोहर अद्भुत कथाओं को सुनने के लिए श्रोत्र बन जाना चाहती हैं, अर्थात् श्रोत्रों की तरह आपकी मङ्गलमयी कथाओं को सुनने के लिए उत्कण्ठित हो रही हैं।

---

(1) इतराणि, इत्यपि पाठः।

यच्छत्रचामरसिता कृतिनां विभूतिः
स: स्वल्प एव भगवन् भवतः प्रसादः।
त्वत्साम्य[1]मेव तु सतामधिकस्ततोऽपि
यद्वल्कलं च वसनं विपिनं च वासः ॥ २८ ॥

अन्वय—हे भगवन् ! कृतिनाम् यत् छत्रचामरसिता विभूतिः (भवति) सः भवतः स्वल्पः एव प्रसादः, सताम् तु ततः अपि अधिकः प्रसादः त्वत्साम्यम् (भवति) ततः अपि (त्वत्साम्यादपि) अधिकः प्रसादः (अयम्) यत् वल्कलम् वसनम्, विपिनम् च वासः (भवति)।

अर्थ—भगवन् ! पुण्यात्माओं को जो स्वच्छ छत्र और चामर से सुशोभित दिव्य विभूति (ऐश्वर्य) प्राप्त होती है, यह तो आपका एक अति स्वल्प ही अनुग्रह है, क्योंकि धन्यात्माओं को तो उससे भी बढ़कर आपका सायुज्य (सहवास) प्राप्त होता है, और उस (सायुज्य) से भी बढ़कर आपके चरणाम्बुज की आराधना में निरतों को 'वल्कल-वस्त्र' और 'विपिन-निवास' (का अलौकिक आनन्द) प्राप्त होता है, अर्थात् आपकी सायुज्य से भी बढ़कर परमानन्द आपके चरणाम्बुजसेवापरायणों को निःस्पृह होकर एकान्त अरण्य में रहने से प्राप्त होता है।

त्वत्पादपङ्कजरजश्शुरितौ च पाणी
वाणी भवच्चरितचर्वणगर्विता च।
चित्तं भवद्गुणगणस्मरणव्रतं च
भूयो भवन्ति मम चेदहहास्मि धन्यः ॥ २९ ॥

अन्वय—हे विभो ! त्वत्पादपङ्कजरजश्शुरितौ च पाणी, भवच्चरितचर्वणगर्विता च वाणी, भवद्गुणगणस्मरणव्रतम् चित्तम् च भूयः[2] चेत् मम भवन्ति, (तर्हि) अहह ! (अहम्) धन्यः अस्मि।

---

(१) त्वत्साम्यं, इत्यपि पाठः।
(२) अतिशयेन बहु भूयः नितरामित्यर्थः, क्रियाविशेषणमेतत्।

भिक्षाशनोऽपि भगवंस्त्वमकिञ्चनोऽपि
जीर्णश्मशाननिलयोऽपि दिगम्बरोऽपि ।
किं वा परं वरद घस्मर भस्मरूक्ष-
गात्रोऽपि सन्मम विभुः प्रतिजन्म भूयाः ॥ ३० ॥

अन्वय—हे भगवन् भिक्षाशनः अपि, अकिञ्चनः अपि, जीर्णश्मशान-निलयः अपि, दिगम्बरः अपि, किम् वा परम् (ब्रूमः) हे वरद ! हे घस्मर !! भस्मरूक्षगात्रः अपि सन् त्वम् (एव) प्रतिजन्म मम विभुः भूयाः ।

अर्थ—हे भगवान् ! भिक्षाशी (भिक्षाऽन्नभोजी) होकर भी परम अकिञ्चन (निरे दरिद्र) होकर भी, महाजीर्ण श्मशान-निवासी होकर भी और दिगम्बर होकर भी, अधिक अब क्या कहूँ, हे वरद ! हे घस्मर[1] !! भस्म से विकराल गात्रवाले होकर भी प्रभो ! प्रत्येक जन्म में आप ही मेरे स्वामी बनें ।*

---

(१) प्रलयकाल में समस्त चराचर को भक्षण करनेवाले ।

* इसी तरह भगवान् सदाशिव के प्रेमविभोर भावुक श्रीरत्नकण्ठ जी ने भी अपनी अनन्य प्रीति की दशा का वर्णन किया है—

लक्ष्मीकान्तमुरस्थकौस्तुभमणि आजिष्णुपत्त्रावलीं
राजन्तं गरुडे सुरालयकृतावासं भजन्तेऽपरे ।
मच्चेतस्तु दिगम्बरे स्मरहरे स्फारास्थिमालाधरे
पादाब्जश्रितशाक्वरे पितृवनागारे निलीनं सदा ॥

अर्थात् कोई भक्त, वक्षःस्थल में कौस्तुभ से विराजमान, सुमनोहर पत्रावली (पंखों) से सुशोभित पक्षिराज श्री गरुड़ पर बैठे हुए वैकुण्ठधाम-निवासी भगवान् लक्ष्मीकान्त (श्री विष्णु) की आराधना करते हैं, परन्तु मेरा चित्त तो उस दिगम्बर, श्मशानवासी, विशाल अस्थिमालाधारी, वृषभ-वाहन भगवान् श्री भोलेनाथ (नंगे बाबा) के (ही) चरणों में सदा के लिए विलीन हो गया है ।

यद्यपि हरि, हर, राम, कृष्ण आदि सब एक ही पूर्ण परब्रह्म के स्वरूप हैं अतः तत्त्वैकपक्षपाती भावुकों को इनमें परस्पर किञ्चिन्मात्र भी 'उत्कर्षापकर्ष-

याचे न किञ्चिदपरं वसतिर्गिरीन्द्रे
कैलासनाम्नि भवदध्युषिते ममास्तु ।
किं वा न तत्र भगवन् मम ये सखाय-
स्तेऽन्येऽपि सन्ति गवयाः कपयः कुरङ्गाः ॥ ३१ ॥

अन्वय—हे भगवन्! (अहम्, त्वां कारुणिकम्) अपरम् किञ्चित् न याचे, (किन्तु) भवदध्युषिते कैलासनाम्नि गिरीन्द्रे मम वसतिः अस्तु, हे भगवन्! ये मम सखायः ते, किं वा (ततः) अन्ये अपि गवयाः, कपयः कुरङ्गाः किम् तत्र न सन्ति ? ।

अर्थ—भगवन्! मैं आप करुणासागर से दूसरी वस्तु और कुछ भी नहीं माँगता, बस केवल इतना ही माँगता हूँ कि आपसे अधिष्ठित पर्वतराज श्री कैलास में मेरा निवास हो, क्योंकि भगवन्! वहाँ वे मेरे बान्धव (आपके अन्तरङ्ग भक्तगण) निवास करते ही हैं, अतः वहाँ मुझे उनका सङ्ग अवश्य ही प्राप्त होगा, अथवा उनसे अन्य गवय (वनगाय), कपि (बन्दर) और कुरङ्ग (मृग) भी तो वहाँ निवास करते ही हैं, वही लोग मेरी सहायता करेंगे ।

वाचाममी न विषये विषयेषु येषु
तृष्णाऽन्वभावि विषमा विषमाकिरन्ती ।
तन्मां भजोज्ज्वलविलोलविलोचनान्त-
विन्यासभासुरसुधार-सुधारसेन ॥ ३२ ॥

विचार' (भेददृष्टि) नहीं होता; तथापि जन्म-जन्मान्तरीय संस्कारवश अपनी अपनी भावना के अनुसार उपासना की दृढ़ता के लिए भगवान् के किसी एक स्वरूप में भावुकों का विशेष अनुराग होता ही है। किसी ने कहा भी है.—

श्रीनाथे जानकीनाथे, चाभेदः परमात्मनि ।
तथापि मम सर्वस्वं, रामः कमललोचनः ॥

अर्थात् यद्यपि श्रीनाथ (भगवान् विष्णु) और जानकीनाथ (राम) में भेद किञ्चिन्मात्र भी नहीं है, तथापि मेरे तो सर्वस्व श्रीराम ही हैं ।

अन्वय—(मया) येषु विषयेषु विषम् आकिरन्ती तृष्णा अन्वभावि, अमी (विषया) वाचाम् विषये न (सन्ति) तत्, हे प्रभो ! (त्वम्) उज्ज्वलविलोलविलोचनान्तविन्यासभासुरसुधारसुधारसेन माम् भज।

अर्थ—मैंने जिन विषयों मे महान् भयङ्कर विष को उगलती तृष्णा का अनुभव किया वे पञ्चेन्द्रियानुभूत शब्दादि विषय वाणी के अगोचर हैं, (वर्णन नहीं किये जा सकते) अर्थात् इन महान् विषय भोगों का अति दुःखद परिणाम हमसे वर्णन नहीं हो सकता। इसलिए हे दयासागर ! इस (पूर्वोक्त) तृष्णा-विष से दग्ध हुए मुझ अनाथ को अब आप उज्ज्वल और चञ्चल कटाक्षपात(अपना दृष्टिपात)रूपी सुमनोहर सुशीतल धारवाले सुधारस से सिञ्चित कीजिए।

नानुग्रहस्तव विना त्वयि भक्तियोगं
　　नानुग्रहं तव विना त्वयि भक्तियोगः।
बीजप्ररोहवदसावनयोर्न कस्य
　　भूत्यै परस्परनिमित्तनिमित्तिभावः ॥ ३३ ॥

अन्वय—हे भगवन् ! त्वयि भक्तियोगम् विना तव अनुग्रह न (भवति) तथा—तव अनुग्रहम् विना त्वयि भक्तियोगः न (भवति), अनयो. बीजप्ररोहवत् असौ परस्परनिमित्तनिमित्तिभाव. कस्य भूत्यै न (भवति) ?।

अर्थ—भगवन् ! आपमे भक्तियोग हुए विना (अर्थात् आपकी भक्ति के विना) आपका अनुग्रह नहीं होता और आपके अनुग्रह के विना (आपका अनुग्रह हुए विना) आपमें भक्तियोग नहीं होता। प्रभो ! इन आपके अनुग्रह और भक्तियोग का यह बीज और अंकुर के समान* परस्पर निमित्त निमित्ति(कार्य-कारण)भाव किसका कल्याण नहीं करता ? अर्थात् सभी का कल्याण करता है।

---

* अर्थात् जैसे बीज से अंकुर और अंकुर से बीज की उत्पत्ति हुआ करती है, वैसे ही आपके प्रसादानुग्रह से आपकी भक्ति और आपकी भक्ति से आपका प्रसादानुग्रह होता है।

शान्तं मनो यदि यमैर्नियमैः किमन्यै-
वाणी यदि प्रियहिता स्तुतिचाटुभिः किम् ।
कारुण्यमस्ति यदि किं व्रतहोमदानै-
र्भक्तिर्भवे यदि किमन्यसुखाभिलाषैः ॥ ३४ ॥

अन्वय—यदि, मनः शान्तम्, तर्हि अन्यैः नियमैः किम्? यदि वाणी प्रियहिता (भवति) तर्हि स्तुतिचाटुभिः किम्? यदि कारुण्यम् अस्ति तर्हि व्रतहोमदानैः किम् (भवति) तथा यदि भवे भक्तिः (अस्ति) तर्हि अन्यसुखाभिलाषैः किम् (भवति) ? ।

अर्थ—यदि मन शान्त (परहिंसा, परद्रव्यापहरण आदि दोषों से निवृत्त) हो, तो फिर अन्य यम (शौचाचारादि) और नियमों (व्रतादि) से क्या काम है? यदि वाणी प्रिय (मधुर) और (सब को) हितोपदेश करती हो तो फिर स्तुतिरूप चाटु-वचनों से क्या प्रयोजन है? यदि समस्त जीवों पर दयाभाव बना रहे तो फिर (कृच्छ्र, चान्द्रायणादि) व्रत, होम और दान से क्या प्रयोजन है? और यदि भगवान् श्री भवानीनाथ के चरणों में भक्ति हो तो फिर अन्य सांसारिक क्षुद्र सुखों की अभिलाषाओं की क्या आवश्यकता है? अर्थात् कुछ भी नहीं। सारांश यह है कि विवेकी पुरुषों को वैषयिक क्षुद्र सुखों की अभिलाषा न रखकर एक मात्र श्रीमद्भगवद्भक्ति में ही परायण रहना चाहिए।

भुक्तं विकल्पकवलैः सुरलोकसौख्य-
मालोकिता विविधशास्त्रदृशैव मुक्तिः ।
पीता सुधा श्रवणशुक्तिपुटैः समक्ष-
मास्वादिता पुनरियं शिवभक्तिरेव ॥ ३५ ॥

अन्वय—विकल्पकवलैः (कैश्चिन्मन्दमतिभिः) विविधशास्त्रदृशा, सुरलोकसौख्यम् भुक्तम् एव मुक्तिः आलोकिता (निर्णीता) पुन. (अस्माभिस्तु)

विविधशास्त्रदृशा श्रवणशुक्तिपुटैः पीता समस्तम् सुधा—इयम् शिवभक्ति एव मुक्तिः आस्वादिता ।

अर्थ—विकल्प अर्थात् कुतर्कनाएँ ही जिनके ग्रास हैं ऐसे (कुतर्की जिन्हों) मन्दबुद्धियों ने नाना प्रकार का शास्त्राध्ययन करके भी स्वर्गलोक के सौख्य को ही (अप्सराओं के रमण, अमृत-पान और नन्दन-वन-विहार आदि सुखभोग को ही) मुक्ति समझा है; परन्तु, हम तो बस, विविध शास्त्राध्ययन-जन्य विवेक-दृष्टि से, श्रोत्र-पुटों द्वारा पान की गई इस साक्षात सुधारूप 'शिवभक्ति' को ही मुक्ति समझते हैं ।

दीर्घाण्यघान्यधिशुचीव भवन्त्यहानि
हानिर्बलस्य शरदीव नदीजलस्य ।
दुःखान्यसत्परिभवा इव दुःसहानि
हा, निःसहोऽस्मि कुरु निःशरणेऽनुकम्पाम् ॥ २६ ॥

अन्वय—हे प्रभो ! (मम) अघानि अधिशुचि अहानि इव, दीर्घाणि भवन्ति, शरदि नदीजलस्य इव, (प्रतिदिनम्) बलस्य हानिः (भवति) दुःखानि, असत्परिभवाः इव, दुःसहानि भवन्ति, हा ! (अहम्) निःसहः अस्मि, (तन्मयि) निःशरणे अनुकम्पाम् कुरु ।

अर्थ—प्रभो ! मेरे पाप अहर्निश आषाढ़ मास के दिनों की तरह बढ़ते जा रहे हैं, मेरा बल (शरीर का स्वास्थ्य) प्रतिदिन शरत्काल के नदी-जल के समान क्षीण होता जा रहा है और मेरे दुःख दुर्जनों के किए तिरस्कारों के समान मुझे असहनीय हो गए हैं । हाय, मैं इन कष्टों को नहीं सहन कर सकता ! इसलिए हे नाथ ! अब मुझ शरणहीन, अनाथ पर शीघ्र अनुकम्पा कीजिए ।

निर्भर्त्सितो विपदि बन्धुरिवाऽभिमानी
मा नीरसं स्पृशतु नाम मनो विवेकः ।

विद्यां निदाघ इव घर्मरुचिर्हिमानी-
मानीयनाशमुपतापयते तु मोहः ॥ ३७ ॥

अन्वय—विपदि निर्भर्त्सितः अभिमानी बन्धुः इव, विवेकः (मम) नीरसम् चित्तम् मा स्पृशतु नाम। मोहः तु, घर्मरुचिः निदाघे हिमानीम् इव, विद्याम् नाशम् आनीय, मनः उपतापयते।

अर्थ—जैसे विपत्ति-काल में अपमानित किया हुआ अभिमानी बान्धव उन (अपना तिरस्कार करनेवाले) बन्धुओं का सहवास नहीं चाहता, वैसे ही विवेक (कार्याऽकार्यविचार) मेरे इस नीरस मन का स्पर्श ही नहीं करना चाहता अर्थात् मन में विवेक नहीं उत्पन्न होता। और मोह तो—जैसे सूर्य ग्रीष्म ऋतु में हिमस्थली का नाश करके लोगों को संताप देता है वैसे ही, तत्त्वज्ञानमयी विद्या का नाश कर चित्त को संतप्त कर रहा है।

तस्मादुपैति न तनुस्तरसाऽवसायं
सायन्तनी प्रतिपदिन्दुकलेव यावत्।
तावत्कृपां कुरु हतोऽस्म्यहमंहसाऽयं
सा यन्त्रिता मयि तवास्तनयेन येन ॥ ३८ ॥

अन्वय—तस्मात् हे ईश! यावत् (इयम् मम) तनुः सायन्तनी प्रतिपदिन्दुकला इव तरसा अवसायम् न उपैति, यावच्च अस्तनयेन येन तव सा (कृपा) मयि यन्त्रिता, तेन अंहसा अयम् अहम् न हतः अस्मि तावत् (मयि) कृपाम् कुरु।

अर्थ—इसलिए हे ईश! जब तक मेरा यह (अतिकृश) शरीर प्रतिपदा के सायङ्काल की चन्द्रकला के समान शीघ्र न शान्त हो जाय और नीति का परित्याग करनेवाले जिस पाप ने आपकी कृपा को मेरे विषय में रोक रक्खा (व्यर्थ कर रक्खा) है वह पाप जब तक मेरा नाश न कर डाले, उससे पहले ही आप शीघ्र मेरे प्रति कृपा कर मेरा उद्धार कर लीजिए।

अभ्येति मृत्युभटसंहतिरस्तकम्पा
कम्पामहे मनसि यां विनिवेशयन्तः ।
एका गतिर्गिरिश तत्र तवानुकम्पा
कम्पात्रतां नयति या न शुभोदयानाम् ॥ ३९ ॥

अन्वय—हे गिरिश ! याम् मनसि विनिवेशयन्तः (वयम्) कम्पामहे (सा) अस्तकम्पा मृत्युभटसंहतिः अभ्येति, हे विभो ! तत्र एका सा तव अनुकम्पा (एव, मम) गतिः । या कम् (भक्तजनम्) शुभोदयानाम् पात्रताम् न नयति ? ।

अर्थ—हे गिरिवरवासिन् ! प्रभो !! जिसको मन में स्मरण करते ही हम अत्यन्त कम्पित हो जाते हैं वह महा निर्भय भयङ्कर यमदूतों की श्रेणी (मेरे) समीप आ रही है । भगवन् ! अब इस दशा में केवल एक वह आपकी कृपा ही मेरा शरण है, जो कि प्रत्येक भक्तजन को मङ्गल और उन्नति का पात्र बनाया करती है ।

यन्निःस्पृहोप्यजनयस्तनयं कुमारं
मारं विधाय शलभं नयनानलस्य ।
तत्ते परार्थमिति विश्रुतमाकुमारं
मा रंहसा जहिहि देहि तदेहि वाचम् ॥ ४० ॥

अन्वय—हे भगवन् ! यत् निःस्पृहः अपि मारम्, नयनानलस्य शलभम् विधाय, कुमारम् अजनयः, तत् ते (चरित्रम्) परार्थम् इति आकुमारम् विश्रुतम्; तत् रंहसा एहि, मा जहिहि, वाचम् देहि ।

अर्थ—हे भगवन् ! (आपकी दयालुता का क्या वर्णन करें) स्वयं निःस्पृह होकर भी जो आपने मार (कामदेव) को अपनी नेत्राग्नि का पतङ्ग बनाकर अर्थात् काम को भस्म कर कुमार (स्वामी कार्तिकेय) को उत्पन्न किया वह आपका चरित्र केवल परोपकार के लिये (अर्थात् तारकासुर के भय से देवताओं की रक्षा करने के लिये)

हो था, यह बात आकुमार (वृद्धों से लेकर बालक पर्यन्त) सर्वत्र प्रसिद्ध है, इसलिये हे विभो ! अब आप बहुत शीघ्र आइए, मेरा परित्याग न कीजिए, मुझे अपना अभय वचन (मत डरो, मत डरो !) सुनाकर शीघ्र आश्वासन दीजिए।

सर्वस्वमेव मम दत्तमहाप्रहारा
हारामलं हर हरन्त्यरयो विवेकम् ।
रक्षाकरी तव कृपाऽत्र कृताऽवहारा
हा राजशेखरमणेः पुरतो हतोऽहम् ॥ ४१ ॥

अन्वय—हे हर ! दत्तमहाप्रहाराः अरयः (आन्तराः कामादयः षट्) मम सर्वस्वम् एव हारामलम् विवेकम् हरन्ति, अत्र (विषये) रक्षाकरी तव कृपा कृतावहारा (भवति), हा ! राजशेखरमणेः (अपि) पुरतः अहम् हतः।

अर्थ—हे सब सङ्कट हरनेवाले प्रभो ! महान् प्रहार करनेवाले आन्तरिक (काम क्रोधादि छः) शत्रु मेरे सर्वस्व—मुक्ताहार के समान स्वच्छ विवेकरूपी—धन को हरते जा रहे हैं; हे भगवन् ! सब प्रकार रक्षा करनेवाली आपकी कृपा भी मुझे (कुछ) सहायता नहीं देती। हाय ! मैं राजशेखरमणि (आप चन्द्रशिरोमणि) के प्रत्यक्ष भी (बुरी तरह) मारा जा रहा हूँ।

इसका ध्वन्यर्थ यह है कि—भगवन ! यह शत्रु लोग मुझ पर बड़े-बड़े प्रहार करते हुए मेरे सर्वस्व को हर लिए जा रहे हैं इसमें आपको थोड़ी भी दया नहीं आती। हाय ! मेरी इस विपत्ति की कहानी को कौन सुने ? एक राजशेखरमणि—सार्वभौम (सम्राट्) के प्रत्यक्ष ही मैं इस तरह मारा जा रहा हूँ।

देवालये वसतिमर्थयते कपोतः
सिन्धौ वणिग्भजति वृत्तिमशङ्कपोतः ।
पृष्ठे श्रियं वहति नित्यमनेकपोऽन्त-
स्त्वद्भक्तिमेमि सरसीमिव भेकपोतः ॥ ४२ ॥

अन्वय—हे नाथ ! कपोतः देवालये वसतिम् अर्थयते, सिन्धौ वणिक् अशङ्कपोतः (सन्) वृत्तिम् भजति । अनेकपः (गजः) नित्यम् पृष्ठे श्रियम् वहति, अतः (हेतोः) भेकपोतः सरसीम् इव (अहम्) त्वद्भक्तिम् एमि ।

अर्थ—हे नाथ ! कपोत (कबूतर) उपद्रवों से रहित देवालय में निवास किया करता है, पोत-वणिक् (जहाज का व्यापारी) समुद्र में निःशङ्क होकर जीविका (द्रव्योपार्जन) करता है, अनेकप अर्थात् हाथी नित्य अपनी पीठ पर महालक्ष्मी को धारण किए चलता है अतः जैसे भेक-पोत (मेढक का बच्चा) निर्मल सरोवर का आश्रय लेता है, वैसे ही मैं भी आपकी भक्ति की शरण लेता हूँ ।

सारांश यह है कि—कपोत बेचारा जब तक किसी के घर में रहता है तब तक वहाँ उसे अनेक कष्ट सहन करने पड़ते हैं और जीविका भी अच्छी तरह नहीं चलती, जब वह (कपोत) किसी देवालय की शरण ले लेता है तो वहाँ उसे कोई विशेष कष्ट नहीं होने पाता और धार्मिक लोगों के प्रबन्ध से जीविका भी अनायास हो जाती है । पोत-वणिक् (जहाज़ का व्यापारी) समुद्र की शरण लेता है, वहाँ उसका योग-क्षेम निर्बाध चलता है । हाथी अपनी पीठ पर लक्ष्मी को धारण करता है अतः सदा आनन्दित रहता है । भेक (मेढक) का बच्चा जब कीचड़ से भरे अल्प जलाशय में पड़ा रहता है तो वहाँ उसे अनेक दुःख भोगने पड़ते हैं, और जब वहाँ से किसी निर्म्मल सरोवर में चला जाता है, तो बड़े आनन्द में रहता है । प्रभो ! इसी लिए यह दुःखमय संसार में रहता हुआ मैं अनेक सन्तापों से सन्तप्त हो गया हूँ, अतः अब आपकी भक्ति को स्वात्मसमर्पण कर निर्बाध होकर उसकी गोद में बैठ जाता हूँ ।*

---

* इसी आशय पर किसी भक्तवर की भी एक अति सुन्दर उक्ति है—

लब्धा धृतिर्दिवि कदाचन वासवेन
सैन्येन सा परिवृतेन न वासवेन ।
नो वा बलेन भुवि पीतनवासवेन
त्वां भेजुषा भवति याऽभिनवा सवेन ॥ ४३ ॥

अन्वय—हे विभो ! सवन त्वाम् भेजुष या अभिनवा धृति भवति, सा (धृति) वासवेन[1] सैन्येन परिवृतेन वासवेन (इन्द्रेण) कदाचन दिवि न लब्धा, पीतनवासवेन बलेन वा भुवि न लब्धा ।

अर्थ—हे विभो ! यज्ञ, पूजनादि द्वारा आपकी सेवा करनेवाले (भक्त) की जो नूतन अलौकिक स्थिति होती है वह स्थिति वासव-सेना (अष्ट वसुओं की महती सेना) से युक्त वासव (इन्द्र) को स्वर्ग में (भी) कभी नहीं प्राप्त हो सकती, अथवा नवासव (नवीन आसव—मद्य) का पान करनेवाली महासेना के बल पर भी सम्राट् को वह धैर्य कभी नहीं मिल सकता ।

या दुर्लभा दिवि महर्षभयानकस्य
कालस्य या निधनधाम भयानकस्य ।

दिष्ट्या प्रपेव तृषितेन मरुप्रचारात्
क्लिष्टेन वा घनसार शलाकिकेव ।
छाया तरोरिव परिश्रमिणाऽध्वगेन
तापातुरेण समवापि महेशभक्तिः ॥'

अर्थात्—जैसे मरुस्थल में भ्रमण करने से अत्यन्त तृषित हुए प्राणी को भाग्यवश शीतल जल से भरी हुई 'प्रपा' मिल जाती है, नेत्र पीडित पुरुष को 'कर्पूर की शलाका' मिल जाती है, मार्ग में थककर अत्यन्त परेशान हुए बटोही को भाग्यवश किसी वट वृक्ष की सुशीतल छाया मिल जाती है, इसी प्रकार मुझ सांसारिक सन्तापों से आतुर हुए अनाथ को सद्भाग्यवशात् अब भगवान् श्री शङ्कर की 'भक्ति' प्राप्त हो गई है ।

(१) वसूनामष्टानां देवयोनीनामिदं वासवं तेन ।

वाचा तया कृतनतेरभयानकस्य
तुल्यश्रियाऽर्पयसि शं शुभया न कस्य ॥ ४४ ॥

अन्वय—हे महर्षभयान ! या (तव वाक्) दिवि कस्य (ब्रह्मणोऽपि) दुर्लभा, या (वाक्) भयानकस्य कालस्य निधनधाम (भवति)। कृतनतेः अभयाऽऽनकस्य तुल्यश्रिया तया शुभया वाचा (त्वम्) कस्य शम् न अर्पयसि।

अर्थ—हे महावृषभवाहन ! जो वाणी स्वर्ग में ब्रह्मा को भी दुर्लभ है, जो वाणी महा भयानक काल की भी मृत्युस्थान (काल) है अर्थात् जिस आपकी वाणी से काल भी मर जाता है; प्रभो ! प्रणाम करनेवाले (भक्त जन) के लिए अभयानक (अभय-घोषणा करनेवाले नगारे) के समान काम करनेवाली उस अत्यन्त मधुर और कल्याणकारिणी वाणी से आप किस किस शरणागत का कल्याण नहीं करते, अर्थात् सभी का कल्याण करते हो।

यं वीक्षसे क्षतमहाकलिकाल सन्तं
क्षिप्रं कृतीकृतबृहत्कलिकाल सन्तम् ।
इन्दोरिवाऽमृतमयी कलिका लसन्तं
बालाऽवलोकयति सोत्कलिकालसं तम् ॥ ४५ ॥

अन्वय—हे क्षतमहाकलिकाल ! हे कृतीकृतबृहत्कलिकाल ! क्षिप्रम् सन्तम् यम् सन्तम् (त्वम्) वीक्षसे, लसन्तम् अलसम् तम्, इन्दोः अमृतमयी कलिका इव (मनोहरा) बाला सोत्कलिका (स्नेहार्द्रया दृशा) अवलोकयति।

अर्थ—महान् कलहकारी काल का नाश करनेवाले, (भक्त लोगों के लिए) महा भयानक कलिकाल को सत्ययुग के समान बना देनेवाले हे शङ्कर ! दुःखों से खिन्न होते हुए जिस सज्जन को आप एक बार भी (अपनी प्रसन्न दृष्टि से) देख लेते हो, तो फिर आपके प्रसाद से हर्ष-क्रीडा करते हुए और लक्ष्मी के मद से आलसी बने हुए उस भक्त को

चन्द्रमा की अमृतमयी कला के समान मनोहर बालाङ्गना अत्यन्त उत्कण्ठापूर्वक प्रेमार्द्र दृष्टि से देखा करती है।

मुक्तावलीव रहिता शिव नायकेन
मुक्ता भवद्गणसभेव विनायकेन।
वाणी त्वया परिहृताऽखिलनायकेन
संभाव्यते हृदयसंवननाय केन ॥ ४६ ॥

अन्वय—हे शिव ! नायकेन रहिता मुक्तावली इव, विनायकेन मुक्ता भवद्गणसभा इव, अखिलनायकेन त्वया परिहृता वाणी, हृदयसंवननाय केन (जनेन) संभाव्यते ? (न केनाऽपीत्यर्थः)।

अर्थ—अयि कल्याणदायिन् ! नायक (अर्थात् बीच के मणि) से रहित मुक्ताहार के समान, और विनायक (गणपति) से रहित आपके गणों की सभा के समान आप अखिल-ब्रह्माण्ड-नायक से परित्यक्त (अर्थात् आपसे विमुख) वाणी चित्त को कैसे वश में कर सकती है ? अर्थात् जो वाणी आपकी स्तुति नहीं करती, वह (आपसे विमुख) वाणी किसी व्यक्ति के भी हृदय में कुछ प्रभाव नहीं डाल सकती।

यस्योचितः प्रथितमान समाधिनान्त-
स्तेनार्तिमुद्वहति मानसमाधिनान्तः।
शुद्धां मतिं स्पृशति पांसुलभावलेप-
स्तत्राप्युपैषि न कृपां सुलभावलेपः ॥ ४७ ॥

अन्वय—हे प्रथितमान ! यस्य (आधेः) समाधिना अन्तः उचितः, तेन आधिना अतः मानसम् आर्तिम् उद्वहति। पांसुलभावलेपः शुद्धाम् मतिम् स्पृशति तत्राऽपि सुलभावलेपः (त्वम्) कृपाम् न उपैषि।

अर्थ—हे प्रख्यात-मान वाले ! जिस (आधि) का समाधि से नाश होता है, उस आधि (मानसिक व्यथा) द्वारा मेरा मन अन्दर ही

अन्दर दुःख पाता है और मलिन अभिप्रायों का लेप मेरी शुद्ध सात्त्विक बुद्धि को ढाँक रहा है। प्रभो! ऐसी दशा होने पर भी आप अपने अभिमान में गर्वित हो मुझ दीन पर किञ्चिन्मात्र भी दया नहीं करते ?।

कामं भवेऽत्र बहवः सुभगस्वभावा
भावा भवन्तु मम तु द्वितयं स्पृहायै।
शब्दार्थपाकरुचिरा कविराजगीर्वा
गीर्वाणसिन्धुधरभक्तिरभङ्गुरा वा ॥ ४८ ॥

अन्वय—अयि तात! अत्र (संसारे) बहवः भावाः (चन्द्रमुखी-चन्द्रिकाचन्दनोद्यानप्रभृतयः) सुभगस्वभावाः कामम् भवन्तु ? (किन्तु) मम स्पृहायै तु शब्दार्थपाकरुचिरा कविराजगीः, वा अभङ्गुरा गीर्वाणसिन्धुधर-भक्तिः वा (एतत्) द्वितयम् (एव)।

अर्थ—अयि तात! इस संसार मे (चन्द्र के समान मुखवाली अङ्गना, चन्द्रिका और चन्दनवन प्रभृति) अनेकों सुमनोहर पदार्थ अवश्य क्यों न हों! परन्तु मुझको इनसे क्या प्रयोजन? मुझे तो केवल शब्द और अर्थ की प्रौढिमा से रमणीय कविराज की वाणी और गङ्गाधर (शङ्कर) की अविनाशी भक्ति बस, ये दो ही पदार्थ मनोहर लगते हैं।

ज्योत्स्नाछटाभिरिव देव चकोरकस्य
भास्वत्प्रभाभिरिव पङ्कजकोरकस्य।
दैवीभिरद्भिरिव बर्हिकिशोरकस्य
प्रीतिर्न ते नुतिकथाभिरघोर कस्य ॥ ४९ ॥

अन्वय—हे देव! हे अघोर!! चकोरकस्य ज्योत्स्नाछटाभिः इव, पङ्कजकोरकस्य भास्वत्प्रभाभिः इव, दैवीभिः अद्भिः बर्हिकिशोरकस्य इव, ते नुतिकथाभिः कस्य प्रीतिः न (भवति) ?।

अर्थ—अयि ब्रह्मादि देवों के साथ क्रीड़ा करनेवाले देव! जैसे चकोर पक्षी को चन्द्रमा की छटा से स्वभावतः अति प्रीति (प्रसन्नता) होती है, जैसे कमल-कलिका की सूर्य की प्रभा से स्वभावतः प्रीति होती है एव जिस प्रकार नवीन मेघों के जल मे मयूर-वालक की स्वाभाविकी प्रीति होती है, इसी प्रकार आपकी स्तुति और कथाओं से किस पुरुष की प्रीति (प्रसन्नता) नहीं होगी ? ।*

वृत्तं क्व ते सकलवाङ्मनसातिवृत्तं
चेतः स्खलद्गति भवावरणात्क्व चेतः ।
वित्रासवन्तमिति मामनुदत्पवित्रा
भक्तिः स्तुतिस्तव कृतेयमतः सुभक्तिः ॥ ५० ॥

अन्वय—सकलवाङ्मनसातिवृत्तम् ते वृत्तम् (चरित्रम्) क्व, इतः भवावरणात् स्खलद्गति (इदं मम) चेतः च क्व ? इति (हेतो.) वित्रासवन्तम् माम् तव पवित्रा भक्ति. अनुदत्, अतः (मया) इयम् तव सुभक्तिः स्तुतिः कृता ।

अर्थ—हे विभो! समस्त वाणी और मन का अविषय वह आपका अद्भुत चरित्र कहाँ; और इस ससार में अज्ञान रूप आवरण से कुण्ठित गतिवाला यह मेरा चित्त कहाँ ? इस कारण अत्यन्त त्रस्त (भयभीत) हुए मुझको आपकी पवित्र भक्ति ने (साहस देकर) आपकी स्तुति मे प्रवृत्त किया, इसलिये मैंने यह आपकी सुमनोहर स्तुति की ।

वन्दामहे च विविधं विवदामहे च
लज्जामहे च कलुषाणि भजामहे च ।
ईहामहे च कुवचांसि सहामहे च
दद्मामहे च दुरितैर्जठरस्य हेतोः ॥ ५१ ॥

अन्वय—(वयम्) जठरस्य हेतोः (दुर्जनान्) वन्दामहे, (वादिभिः सह) विविधम् च विवदामहे, (क्वापि) च लज्जामहे, कलुषाणि च भजामहे,

---

* यहाँ मालोपमा नामक अलङ्कार है ।

समेतः]

(विविध) ईहामहे च, (खलानाम्) कुवचांसि च सहामहे, दुरितैः (कुकर्मोपार्जितैः पापैः 'अन्तः') दह्यामहे (हा कष्टम् !) ।

अर्थ—हाय ! हम लोग केवल इस (क्षुद्र) उदर की पूर्ति के लिए धन-मदान्ध दुर्जनों की स्तुति किया करते हैं, वादियों के साथ व्यर्थ ही नाना प्रकार का वाद-विवाद किया करते हैं, कहीं पर लज्जा को प्राप्त होते हैं, अत्यन्त मलिन वस्तु अथवा पापों का सेवन करते हैं। अनेक तरह की शुभाशुभ चेष्टा करते हैं, खलों के कुवचनों को भी सहन करते हैं। और अनेक कुकर्मों के द्वारा उपार्जित किये पापों से (अन्दर ही अन्दर) जला करते हैं।

लब्धं चिरेण सुकृतैरचिरस्थिरं च
मानुष्यकं पुनरिदं सुलभं न चेति ।
जानीम एव च न च स्वहितं विधातु-
मीहामहे वयमहो बत यद्भविष्याः ॥ ५२ ॥

अन्वय—चिरेण सुकृतैः लब्धम्, अचिरस्थिरम् च इदम् मानुष्यकम् पुनः सुलभम् न इति वयम् जानीम एव । (तथापि) स्वहितम् विधातुम् न ईहामहे अहो ! बत, (वयम् , यद्भविष्याः (भवामः) ।

अर्थ—बहुत दिनों पर अनेक जन्मों में उपार्जित किये पुण्यों से मिला हुआ यह अचिरस्थायी क्षणभंगुर मनुष्य-शरीर फिर बार-बार नहीं मिल सकता, इस बात को हम (अच्छी तरह) जानते ही हैं, तथापि इस शरीर के द्वारा हम लोग अपना हित करने का (अर्थात् इस घोर संसार-सागर से पार होने का) प्रयत्न नहीं करते। हाय ! कितना आश्चर्य है कि हम लोग 'जैसा हमारे भाग्य में होगा' बस, ऐसा निश्चय करके दैवाधीन हो जाते हैं ! ।

तस्मादवश्यमवसानविशङ्कमेव
भोगोपभोग-रमिकानसमाप्तकल्पान् ।

यावन्न धीवर इवैत्य तिमीनकस्मा-
न्मृत्युः क्षणादशरणान् हरते हठेन ॥ ५३ ॥
तावत्प्रसीद कुरु नः करुणाममन्द-
माक्रन्दमिन्दुधर मर्पय मा विहासीः ।
ब्रूहि त्वमेव भगवन् करुणार्णवेन
त्यक्तास्त्वया कमपरं शरणं व्रजामः ॥ ५४ ॥
(युग्मम्)

अन्वय—तस्मात् अवशान् भोगोपभोगरसिकान् असमाप्तकृत्यान् अशरणान् (अस्मान्) अवश्यम् अविशङ्कम् अकस्मात् एव एत्य, धीवर तिमीन् इव, यावत् मृत्यु हठेन क्षणात् न हरते तावत्, हे इन्दुधर ! प्रसीद, नः करुणाम् कुरु, अमन्दम् आक्रन्दम् मर्पय, (माम्) मा विहासी, हे भगवन् ! त्वम् एव ब्रूहि, करुणार्णवेन त्वया त्यक्ता (वयम्) अपरम् कम् शरण व्रजाम ? ।

अर्थ—इसलिये हम—अत्यन्त परतन्त्र, सासारिक भोगों के भोगने मे रसिक और ससार समुद्र से पार होने के लिये जिन्होने कोई भी कृत्य नही किया ऐसे, शरणहीनो को मृत्यु (काल) निश्चयपूर्वक जब तक नि शङ्क हो अकस्मात् आकर जैसे धीवर मछलियो को हर लेता है वैसे ही, बलात्कार से क्षण भर मे ही अपने अधीन न कर डाले तब तक हे दयासागर ! आप हमारे लिए प्रसन्न हो जाइए और कृपा कीजिए। मेरे इस महान् विलाप को अवश्य सुनिए। प्रभो ! मेरा परित्याग मत कीजिए। भगवान् ! भला, आप ही बतलाइए कि हम लोग आप कृपासागर से परित्यक्त हो और किसकी शरण मे जावें ? क्या आप से बढ़कर भी कोई ऐसा करुणासागर है कि जो मुझे इस भवसागर से पार करे ? ।

जातस्य मृत्युरिति चेत्स न लङ्घितः किं
स्वेनेन शीतकरशेखरनन्दिना च ।

ताभ्यामसौ यदि जितो विपुलैस्तपोभि-
रस्माकमल्पतपसां त्वनिवार्य एव ॥ ५५ ॥

तर्ह्यर्चनान्तसमये तव पादपीठ-
मालिङ्गय निर्भरमभङ्गुरभक्तिभाजः ।
निद्रानिभेन विनिमीलितलोचनस्य
प्राणाः प्रयान्तु मम नाथ तव प्रसादात् ॥ ५६ ॥
(युग्मम्)

अन्वय—हे शीतकरशेखर ! जातस्य (अवश्यमेव) मृत्युः इति चेत्, तर्हि श्वेतेन नन्दिना च सः (मृत्यु) किम् न लङ्घितः ? यदि ताभ्याम् असौ (मृत्युः) विपुलैः तपोभिः जितः, अल्पतपसाम् अस्माकम् तु अनिवार्य एव (इति) चेत्, तर्हि हे नाथ ! तव प्रसादात् अर्चनान्तसमये अभङ्गुरभक्तिभाजः, तव पादपीठम् निर्भरम् आलिङ्गय, निद्रानिभेन विनिमीलितलोचनस्य मम, प्राणाः प्रयान्तु ।

अर्थ—अयि चन्द्रमौले ! यदि 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः' (उत्पन्न हुए प्राणी की मृत्यु अवश्यभाविनी है) इस नियम के अनुसार उत्पन्न हुए जीव की मृत्यु अवश्य ही होती है तो राजा श्वेत और आपके सेवक (वाहन) नन्दी (मार्कण्डेय आदि) ने क्या उस मृत्यु को नहीं जीता ? हाँ, यदि इन लोगों ने उसको अत्यन्त कठिन तपस्या के द्वारा जीत लिया और हम अत्यन्त अल्प तपस्यावालों से, उस (मृत्यु) का निवारण यदि न हो सकता हो, तो हे नाथ ! मेरे लिये आप (केवल) इतना (ही) अनुग्रह कर दीजिए कि जिस समय अत्यन्त गाढ़ भक्ति में युक्त हुआ मैं आपका पूजन कर चुकूँ, उस समय आपके चरण-कमल रखने की चौकी को दृढ़ आलिङ्गन कर (अति गाढ़ प्रेम में मग्न होने से) निद्रा के समान मेरे नेत्र मुँदे हों, बस, उसी समय आपकी कृपा से मेरे प्राण निकल जायँ ।

[मन के लय हुए बिना ही यदि प्राण निकलें तो सम्भव है कि शरीर छूट जाने पर भी मन के शेष रह जाने के कारण पुनः वासनाओं के उदय होने पर फिर भी शरीर धारण करना पड़े। अतः बारम्बार के इस जन्म मरण के चक्र से बचने के लिये कवि ने यहाँ बड़ी चतुरतापूर्वक प्रभु से मुक्ति को माँगा है। इसी अभिप्राय से तो उसने कहा 'निद्रानिभेन विनिमीलितलोचनस्य मम प्राणाः प्रयान्तु' अर्थात्—निद्रादशा में स्थित हुए के समान जब मेरे नेत्र मुँद जायँ उस समय मेरे प्राण निकलें, क्योंकि जैसे निद्रित (सुषुप्ति) अवस्था में जीव का देह और मन दोनों लय हो जाते हैं वैसे ही अत्यन्त गाढ़ प्रेम में तन्मय होने पर जब देह और मन का अभिमान नष्ट हो जाता है उस समय यदि प्राण छूटेंगे तो मुक्ति अवश्य ही होगी।]

एतेन किं निबिडबन्धभृतो भुजङ्गाः
किं वा न वक्रिमविलासविकासभाजः।
किंतु क्रमादपचिताः पदगुम्फहीनाः
सूक्तामृतानुकरणे कथमुत्सहन्ते ॥ ५७ ॥

तस्माद्भयङ्करमदः फणिकर्णपूर-
हेवाकदुर्ललितमस्तनयं विहाय।
स्वामिन्निमाः श्रवणयोः प्रणयोपचार-
गर्भा गिरश्चतुरमाभरणी-कुरुष्व ॥५८॥ (युग्मम)

अन्वय—हे शिव! एते (तवाऽतिप्रियाः) भुजङ्गाः, किम् निबिड-बन्धभृतः, किंवा वक्रिमविलासविकासभाजः न (सन्ति, सन्त्येव यद्यपि) किन्तु (एते) क्रमात् अपचिताः पदगुम्फहीनाः (सन्ति, अतः) मम सूक्ता-ऽमृतानुकरणे कथम् उत्सहन्ते ?* तस्मात्, हे स्वामिन्! अस्तनयम् अदः

* मम सूक्ताऽमृतम् तु निबिडबन्धभृत् वक्रिमविलासविकासभाक् (अस्ति) तथा क्रमात् अपचितं पदगुम्फहीनं च न, किन्तु क्रमसहितं यथो-चितपदबन्धयुतं चास्ति, अतो भुजङ्गेभ्यो मदीयसूक्तामृतस्य वैशिष्ट्यमित्यर्थः।

समेतः]

भयङ्करम् फणिकर्णपूर-हेवाकदुर्ललितम् विहाय, प्रणयोपचारगर्भाः इमाः (मम) गिरः चतुरम् आभरणीकुरुष्व।

अर्थ—हे सदाशिव ! आपको अत्यन्त प्रिय लगनेवाले यह वासुकि आदि भुजङ्ग यद्यपि दृढ़ बन्धन (अर्थात् दृढ़ ग्रन्थि) को धारण करते हैं और वक्रिम (कुटिलता) के विलास की सुन्दरता से भी सम्पन्न हैं तथापि (इनके चरण न होने के कारण) ये (सर्प) क्रम (पदन्यास) से हीन और पदगुम्फ (अर्थात् पाद-रचना) से हीन हैं इसलिये ये मेरे सूक्तामृतो (सुन्दर वचनाऽमृतों) का अनुकरण (बराबरी) करने मे कैसे समर्थ हो सकते हैं ? अर्थात् यह आपके भुजग मेरे इन वचनाऽमृतो (स्तुतियां) की तुलना नहीं कर सकते ? [क्योंकि मेरी सूक्ति-सुधा तो दृढ़ रचना को धारण करनेवाली और वक्रिम विलास अर्थात् वक्रोक्ति के सौन्दर्य से सम्पन्न होकर भी (अर्थ-) क्रम से हीन और पदगुम्फ (पदों की रचना) से रहित नहीं है किन्तु अर्थक्रम और यथोचित पदों की रचना से युक्त ही है अतएव आपके भुजङ्गो की अपेक्षा मेरे इन वचनामृतों में अधिक गुण हैं] इसलिये हे स्वामिन् ! आप इन भयङ्कर भुजंग रूपी कर्ण-कुण्डलों को धारण करने के दुर्व्यसन को शीघ्र छोड़ प्रणय (प्रार्थना) और उपचार (पूजन) से गर्भित इन मेरे वचनों—मेरी स्तुतियां—को अपना कर्णभूषण बना लीजिए।

स्वामिन्ननन्यपरतया वत या तवेयं
वाणी मया निजगदे जगदेकवन्द्यः।
तामन्तकान्तकर शङ्कर शंसतो मे
कर्णे कुरुष्व करुणां करुणाम्बुराशे ॥ ५९ ॥

अन्वय—हे स्वामिन् ! अनन्यपरतया मया वत जगदेकवन्द्यः (प्रभो) इयम् या वाणी निजगदे, हे अन्तकान्तकर ! हे करुणाम्बुराशे !! हे शङ्कर !!! वत ! शंसतः (तान् स्तुवतः) मे ताम् करुणाम् (दीनाम् वाणीम्) कर्णे कुरुष्व।

अर्थ—हे स्वामिन् ! भयभीत को आश्वासन देने योग्य बान्धव के न होने के कारण मैंने आप सारे संसार भर के प्राणियो के परम बान्धव के आगे यह जो वाणी कही है (प्रार्थना की है), सो हे यमराज को मारनेवाले मृत्युञ्जय ! हे करुणासागर !! हे शङ्कर !!! आपकी स्तुति करनेवाले मुझ निःशरण भक्त की इस दीन वाणी को अपने कानो मे धारण कर लीजिए अर्थात् (अवश्य) सुनिए।

पश्यन्तमन्धमभिमानिनमस्तमानं
विस्तीर्णकर्णमपि या बधिरं करोति ।
साऽऽर्त्तिर्न नर्तयति किं कृपणामिव श्रीः
तस्मात्क्षमस्व भगवन्नतिलङ्घनानि ॥ ६० ॥

अन्वय—या (आर्ति) पश्यन्तम् अन्धम् करोति, अभिमानिनम् अस्तमानम् करोति, विस्तीर्णकर्णम् अपि बधिरम् करोति, सा आर्ति (दीन जनम्) कृपणम् श्री इव किम् न नर्तयति ? तस्मात् हे भगवन् ! अतिलङ्घनानि (अयुक्ताऽसम्बद्धप्रलापरूपाणि) क्षमस्व ।

अर्थ—जो विपत्ति अच्छी प्रकार देखनेवाले को भी अन्धा बना देती है, अभिमानी (अहङ्कारी पुरुष) को निरभिमानी (अहङ्कार-रहित) बना देती है, अर्थात् अभिमानी का अहङ्कार दूर कर डालती है, और बहुत सा सुननेवाले को भी बधिर कर देती है, क्या वह विपत्ति दीनो को दुर्जनो की सम्पत्ति के समान नाच नही नचा डालती ? अर्थात् जैसे अविनीत जनो की सम्पत्ति अच्छे नेत्रवालो को अन्धा, अभिमानी को मानहीन, कानो से अच्छी प्रकार सुननेवालो को भी बधिर बना देती है, वैसे ही यह आर्ति (दुःखव्यथा) हम सरीखे भव भय पीडित अनाथो को क्या क्या नाच नहीं नचाती ? अनेक नाच नचा डालती है। इसलिए हे भगवन् ! मेरे इन अयुक्त, असम्बद्ध प्रलाप रूप अपराधो (अनादरो) को क्षमा कीजिए। सारांश यह है कि दुःखपीडित प्राणी अपनी व्यथा के आवेश

समेत]

में आकर अपने माता, पिता, गुरुजन और बान्धवों यहाँ तक कि ईश्वर को भी गाली दे डालता है, इसी से कवि अपने प्रभु से कहते हैं कि प्रभो! भवभय-पीड़ित होने के कारण असह्य व्यथा के आवेश में आकर आपसे जो कुछ अयुक्त कह रहा हूँ, दयासागर! आप उसे क्षमा करें।

[अब यहाँ से भक्तजनों के संरक्षणार्थ काल का संहार करने के लिए तत्काल प्रकट होनेवाले भगवान् श्री भूतभावन की लोकोत्तर दयालुता और आशुतोषता का स्मरण कर निर्भीक हो यमराज को उपालम्भ (उलाहना) देने के लिए 'कालोपालम्भ' नामक 'कुलक' आरम्भ करते हैं :—]

उच्छृङ्खलं खलमलङ्घ्यबलं ज्वलन्त-
मन्तः कृतान्तमविकल्पमनल्पदर्पम् ।
आशङ्क्य शङ्करचरित्रपवित्रचित्र-
सूक्तिष्वपि स्थिररुषं प्रतिबोधयामः ॥ ६१ ॥

अन्वय—(वयम्) कृतान्तम् शङ्करचरित्रपवित्रचित्रसूक्तिषु अपि स्थिर-रुषम्, आशङ्क्य, (तम्) उच्छृङ्खलम् खलम् अलङ्घ्यबलम् अन्तः ज्वलन्तम् अविकल्पम् अनल्पदर्पम् प्रति बोधयाम ।

अर्थ—भगवान शङ्कर के अद्भुत चरित्र के वर्णन से अतीव पवित्र और सुमनोहर सूक्तियों पर भी स्थिर कोपवाला समझकर हम उस उच्छृङ्खल, खल, तीनों लोकों में जिसके बल का कोई उल्लङ्घन नहीं कर सकता ऐसे, क्रोधरूपी अग्नि से अन्दर ही अन्दर जलते हुए, (भले बुरे सब ही के प्रति एकसा नियम रखने के कारण) विवेकरहित और महादर्प से भरे अत्यन्त क्रोधी यमराज को प्रतिबोधित (सावधान) कर देते हैं।

अत्यग्रकर्कशमदाल्कमुदर्कपथ्यं
तथ्यं सतापमपतापमपापपोषम् ।
सन्धिरमस्तर कृतान्तहितं मितं च
यद्ब्रूमहे तदवधारय सावधानः ॥ ६२ ॥

अन्वय—हे कृतान्त ! (त्वया सह) सन्धित्सवः (वयम्) प्रत्यग्र-कर्कशम् अशल्कम् उदर्कपथ्यम् तथ्यम् सतोषम् अपदोषम् अरोषपोषम्, तव हितम् मितम् च यत् ब्रूमहे तत् सावधानः (सन्) अवधारय ।

अर्थ—हे काल ! हम तुम्हारे साथ मैत्री करने के अभिलाषी लोग तुम्हारे हित के लिये आरम्भ में कटु, भविष्य में हितकारक, निष्पाप, सत्य, हर्षदायक, निर्दोष, क्रोधभाव से रहित, अत्यन्त प्रिय और परिमित (कहने में थोड़ा और अर्थ में गम्भीर) जो कुछ कहते हैं, उसे तुम अत्यंत सावधान (एकाग्र) होकर सुनो ।

> अन्यत्र दर्शय निरङ्कुश हुङ्कृतानि
> कीनाश नाशय दुराशय माऽभिमानम् ।
> नाथीकृतेन्दुमुकुटानपि नाम मन्ये
> निर्भर्त्सयिष्यसि हतैव तवेयमाशा ॥ ६३ ॥

अन्वय—हे निरङ्कुश ! हे कीनाश !! हे दुराशय !!! (त्वम्) हुङ्कृतानि अन्यत्र दर्शय, अभिमानम् मा नाशय, नाम (त्वम् किम्) मन्ये (मन्यसे) (अहम्) नाथीकृतेन्दुमुकुटान् अपि निर्भर्त्सयिष्यसि (निर्भर्त्सयिष्यामीति) इयम् तव आशा हता एव (निन्दितैव) ।

अर्थ—हे निरङ्कुश ! हे कुत्सित विचारवाले यमराज !! तुम अपने इन हुङ्कारों को किसी अन्य पुरुष को दिखलाओ ! और अपने अभिमान को मत नष्ट करो !! अरे ओ क्षुद्र ! क्या तुम यह सोचते हो कि मैं शङ्कर के किङ्करों को भी अपना भय दिखलाऊँगा ? यदि हाँ, तब तो तुम्हारी यह आशा अत्यन्त ही गर्हित (निन्दित) है ।

[इस श्लोक में 'मन्ये' और 'निर्भर्त्सयिष्यसि' ये दोनों पद प्रहास (उपहास) में पुरुष-व्यत्यय (अर्थात् मध्यम पुरुष की जगह उत्तम पुरुष और उत्तम पुरुष की जगह मध्यम पुरुष, इस प्रकार के विपरीत क्रम) के व्यञ्जक हैं। जैसे कि किसी भावुक ने अपने चित्त का उपहास करने में पुरुषव्यत्यय किया है—

समेतः]

रे रे चञ्चललोचनाञ्चितरुचे ! चेतः प्रमुच्य स्थिर-
प्रेमाणं महिमानमेणनयनामालोक्य किं नृत्यसि ।
किं 'मन्ये' 'विहरिष्यसे' बत हता मुञ्चान्तराशामिमा-
मेषा कण्ठतटे कृता खलु शिला संसारवारां निधौ ॥

अर्थात्—अरे ओ चञ्चल-नेत्रों के साथ स्नेहाभिलाषा करनेवाले चित्त ! तुम अपने गम्भीर विचार (विवेक) को छोड़कर मृग नेत्री (कामिनी) को देख के नाचते क्या हो ? (किं मन्ये विहरिष्यसे ?) क्या तुम सोचते हो कि मैं इस (कामिनी) के साथ विहार करूँगा ? अरे ! ओ भले मानस, इस अत्यन्त कुत्सित आशा को छोड़ ! क्योंकि यह (दुराशा) तो मनुष्य को इस भवसागर में डुबोने के लिए कण्ठ में बाँधी हुई एक बड़ी भारी शिला है ।

यहाँ चञ्चल नेत्रों के साथ चित्त की मित्रता के कारण नेत्र और चित्त दोनों की ही निन्दा है । और 'मन्यमे' 'विहरिष्यामि' इन दोनों पदों में मध्यम और उत्तम पुरुष की जगह उत्तम और मध्यम पुरुष का व्यत्यय हुआ है । अत्यन्त उपहास में मन धातु की क्रिया के मध्यम पद में उत्तम पुरुष का एकवचन हो जाता है । महर्षि पाणिनिजी का सूत्र है—"प्रहासे च मन्योपपदे मन्यतेरुत्तम एकवच्च" ।

अतएव इसी अभिप्रायानुसार कविवर राजानक शितिकण्ठजी भी कालराज को उलाहना देते हुए कहते हैं:—

'नित्यं दुर्ललितोऽस्मि शीलदमने त्वं चेत्तथापि ध्रुवं
रे रे काल कराल मुञ्च विमने व्यर्थां दुराशामिमाम् ।
किं 'मन्ये'¹ 'प्रहरिष्यसे' जनमिवाऽनाथं बलेन हठात्
स्यात् शङ्करकिङ्करं त्रिभुवने प्रेमैकपात्रं विभोः ॥

---

(१) यहाँ भी 'मन्यमे' और 'प्रहरिष्यामि' इन मध्यम और उत्तम पु[रुषों]
की जगह 'मन्ये' और 'प्रहरिष्यसे' यह व्यत्यय हुआ है ।

अर्थात्—अरे ! अरे !! ओ विकराल काल ! यद्यपि दीन जनों का दमन करना तुम्हारा नित्य का व्यवसाय (ही) हो गया है, तथापि ऐ मतिहीन ! तू इस व्यर्थ दुराशा को छोड़ दे। क्या तू यह सोचता है कि मैं इसको भी अनाथ के समान जबरदस्ती से पकड़ लूँगा ? अरे मन्द ! मैं तो समस्त ब्रह्माण्डों के अधिपति और तुम्हारे जैसों का शासन करनेवाले, कर्तुम्-अकर्तुम्-अन्यथाकर्तुम् समर्थ महेश्वर का 'प्रेमपात्र' तीनों लोकों में विख्यात 'शङ्कर-किङ्कर' हूँ !

येनैश्वरेण महता विहितागसस्ते
कृत्वाऽपि शासनमकारि पुनः प्रसादः ।
तत्सेवका वयमतस्तव विद्विषोऽपि
यद्ब्रूमहे हितमदो मनुषे रुषेति ॥ ६४ ॥

अन्वय—रे काल ! विहितागसं ते शासनम् कृत्वा अपि, येन महता ऐश्वरेण (परमकारुणिकेन) पुनः (त्वयि) प्रसादः अकारि, वयम् तत्सेवकाः (स्म) अतः तव विद्विषः अपि (वयम्) यत् हितम् ब्रूमहे, तत् त्वम् रुषा इति (द्वेषवचनं इदं मयैव वदन्तीति) मनुषे ।।

अर्थ—अरे काल ! जिस परम कृपालु महेश्वर ने राजा श्वेत और मार्कण्डेयादि भक्तों पर भी प्रहार करनेवाले तुझ महान् अपराधी को दण्ड देकर भी पुनः तुम्हें जीवन-दान देकर महान् अनुग्रह किया, हम उसी (दयालु) ईश्वर के सेवक हैं। इसलिए तुम्हारे शत्रु होकर भी तुम्हारे ही हित के लिए जो बात कहते हैं, उसे तुम "ये लोग द्वेष के कारण मुझे ऐसा कहा करते हैं" ऐसा समझते हो ।।

रे दुर्विनीत खल काल पुरा पुरारे-
र्यामाप्तवानसि निग्रा(*)विनयप्रशान्तिम् ।

(*) निग्रहविनयस्य शान्तिम् ऐसा भी पाठ है।

श्रुत्वैव तां धृतिमतामपि कम्पमेति
चेतः कथं पुनरुपक्रमसे तदेव ॥ ६५ ॥

अन्वय—रे दुर्विनीत ! रे खल ! रे काल ! पुरा पुरारेः (सकाशात्) याम् निजाऽविनयप्रशास्तिम् आप्तवान् असि, ताम् श्रुत्वा एव धृतिमताम् अपि चेतः कम्पम् एति, पुनः तदेव कथम् उपक्रमसे ? ।

अर्थ—अरे अत्यन्त उद्धत ! ओ दुर्जन काल ! तुम भगवान् मृत्युञ्जय (के हाथ) से जिस अपनी उद्दण्डता का (उनके भक्तों को डराने का) फल पहिले पा चुके हो, उस (कहानी) को सुनने मात्र से ही बडे-बडे धैर्यशाली वीरों का भी चित्त एकदम कम्पित हो जाता है; अरे मति-मन्द ! फिर भी तुम वही काम क्यों करते हो ? ।

पाणौ निधेहि पवनाशनपाशमाशु
नास्तीह ते पुरुषपाश रुषोऽवकाशः ।
निःसङ्करेषु शरणीकृतशङ्करेषु
रे काल कातरभयङ्कर किं करोषि ॥ ६६ ॥

अन्वय—हे पुरुषपाश ! पवनाशनपाशम् आशु पाणौ निधेहि, इह ते रुषः अवकाशः न अस्ति, रे कातरभयङ्कर ! हे काल ! निःसङ्करेषु शरणीकृत-शङ्करेषु (अस्मासु विषये त्वम्) किम् करोषि ? ।

अर्थ—हे कुत्सित पुरुष ! तुम अपने नागपाश को (समेटकर) शीघ्र अपने हाथ (मुट्ठी) में छिपा लो, क्योंकि यहाँ (हमारे विषय में) तुम्हारे क्रोध का कोई अवकाश (स्थान) ही नहीं है। अरे ओ कातरों (दुर्बलों) को भय देनेवाले काल ! तुम पाप-सम्पर्कों से रहित हम भगवान् शङ्कर के शरणागतों पर अपना क्या बल दिखा सकते हो ? अर्थात् कुछ भी नहीं ।*

* इसी अभिप्राय के अनुसार 'रत्नकण्ठजी' ने भी कहा है—
अन्यत्र प्रसरति ते कृतान्त शक्ति-
र्नैतेषु क्वचिदपि शम्भुकिङ्करेषु ।

व्यापारय स्वपुरुषं पुरुषं परेषु
मा रोषमङ्कुरय शङ्करकिङ्कराणाम् ।
किं विस्मृतं विषधरायुध निर्निरोध-
क्रोध-प्रबोध-पटहं हरहुङ्कृतं ते[1] ॥ ६७ ॥

अन्वय—हे काल ! स्वपुरुषम् पुरुषम् परेषु (शङ्करभक्त विहीनेषु) व्यापारय, शङ्करकिङ्कराणाम् रोषम् मा अङ्कुरय । हे विषधरायुध ! निर्निरोध क्रोध-प्रबोध-पटहम् (तत्) हरहुङ्कृतम् किं ते विस्मृतम् ? ।

अर्थ—हे काल ! तुम अपने दूतों को 'जो लोग भगवान् शिव के भक्त न हों' उनके पास भेजो, (हम) भगवान् शङ्कर के शरणागतों के क्रोध को मत अङ्कुरित (प्रदीप्त) किया करो । अरे सर्पायुध ! तुम क्या भगवान् शङ्कर के अत्युग्र क्रोध के द्योतक हुङ्कार को भूल गये ? ।

एतस्य प्रणयनतस्य पालनार्थं
निर्दग्धकस्त्वमसि पुरा पुरारिणा यत् ॥ १ ॥

अर्थात्—हे काल ! तुम्हारी शक्ति (शासन) औरों पर चल सकती है, किन्तु इन शङ्कर के किङ्करों में तुम्हारी कुछ भी नहीं बन पड़ती । क्या भूल गये हो, अपने एक शरणागत भक्त की रक्षा के निमित्त भगवान् शङ्कर ने तुम्हें भस्म कर डाला था ? । तथा—

क्रोधोद्धुरो जलधरध्वनिघोरघोर-
हुङ्कारतर्जितसमस्तजनो नितान्तम् ।
शर्वाङ्घ्रिभक्तिकवचेन समावृतस्य
किं मे करिष्यति यमोऽपि स दण्डहस्तः ॥ २ ॥

अर्थात्—तीव्र क्रोध से उद्भट, काले जलधर (मेघ) की गम्भीर ध्वनि के समान अत्यन्त घोर हुङ्कारों से समस्त जीवों को कम्पित करनेवाला और हाथ में दण्ड लिये भीषण यमराज भी मेरा क्या कर सकेगा ? क्योंकि, मैं तो शिव-भक्तिरूपी कवच को ओढ़कर बैठा हूँ ।

(१) तत हरयपि पाठः

कीनाश बालिश निरङ्कुश निर्विमर्श
निस्त्रिंश निष्करुण निःशरणेषु चेत्त्वम्।
निष्कारणं निरनुरोध करोषि रोषं
तत्किं चिकीर्षसि महेश्वरसंश्रितेषु ॥ ६८ ॥

अन्वय—हे कीनाश ! हे बालिश ! हे निरङ्कुश ! हे निर्विमर्श ! हे निस्त्रिंश ! हे निष्करुण ! हे निरनुरोध ! त्वम् चेत् निःशरणेषु निष्कारणम् रोषम् करोषि, तत् (तर्हि) महेश्वरसंश्रितेषु किम् चिकीर्षसि ? ।

अर्थ—हे क्षुद्र ! (कुत्सित कर्म करनेवाले) हे मूर्ख ! हे निरङ्कुश ! हे कार्याऽकार्य विवेकहीन ! हे मर्यादा रहित ! हे निर्दयी काल ! यदि तू शरणहीन (अनाथ) जीवों पर बिना कारण ही क्रोध किया करता है तो फिर महेश्वर के शरणागतों पर क्या करने की इच्छा करता है ? अर्थात जो अनाथ हैं उन्हीं पर तू अपना प्रभाव दिखा सकता है। जिन्होंने त्रिलोकीनाथ भगवान् श्री भवानीनाथ को अपना नाथ (स्वामी) बना रक्खा है उनका तू क्या कर सकता है ? ।

कुर्वन् विरोधमनिरोधमबान्धवेषु
धत्से मुधा यम समुद्धतकन्धरत्त्वम्।
तीव्राऽपराधविधुरेष्वपि साधवो हि
बाधां विधातुमधमेष्वपि न क्षमन्ते ॥ ६९ ॥

अन्वय—हे यम ! (त्वम्), अबान्धवेषु (अगतिकेषु) अनिरोधम् विरोधम् कुर्वन् समुद्धतकन्धरत्वम् मुधा धत्से, हि साधवः, तीव्रापराधविधुरेषु अपि अधमेषु अपि, बाधाम् विधातुम् न क्षमन्ते ।

अर्थ—हे यम ! तू आश्वासन देने योग्य बान्धवों से हीन अगतिक जीवों पर अत्यन्त विरोध (कोप) करता हुआ अपनी गर्द- ... रखता है। अरे भले आदमी ! सज्जन लोग तो अति-

तीव्र अपराध करनेवाले महा अपराधी पामरों को भी किसी प्रकार पीड़ा नहीं देते।*

यत्प्राणिषु प्रभवसि प्रसभं महत्त्वं
प्राप्य प्रभोः प्रमथनाथपितुः प्रसादम्।
तत्प्राकृतस्य दुरितस्य दुरुत्तरस्य
तेषां फलं तव किमन्तक पौरुषं तत् ॥ ७० ॥

अन्वय—हे अन्तक ! प्रमथनाथपितुः प्रभोः प्रसादम् प्राप्य, त्वम् यत् प्राणिषु प्रसभम् महत्त्वम् प्रभवसि, तत् तेषाम् (प्राणिनामेव) प्राक्कृतस्य दुरुत्तरस्य दुरितस्य फलम् (अस्ति) तत् (तस्मिन्) तव किम् पौरुषम् ?।

अर्थ—हे काल ! भगवान् शङ्कर का प्रसादानुग्रह पाकर जो तुम जीवों पर बलात्कार से प्रहार किया करते हो, यह उन प्राणियों के ही परिणाम-दुःखदायी, पूर्वोपार्जित पापों का फल है, इसमें तुम्हारा कौन सा पुरुषार्थ है ?।

तत्तथ्यमेव किमकारणकण्टकं त्वां
यद्धर्मराज इति काल जनाः स्तुवन्ति।
लोका न किं जगदमङ्गलमूलकोपं
शंसन्ति मङ्गलविहङ्गम इत्युलूकम् ॥ ७१ ॥

अन्वय—हे काल ! जनाः अकारणकण्टकम् त्वाम् यत् 'धर्मराज इति' स्तुवन्ति, तत् तथ्यम् एव किम् ? (दृष्टं चैतत्-) लोकाः जगदमङ्गलमूलकोपम् उलूकम् मङ्गलविहङ्गम इति किम् न शंसन्ति ?।

---

* अतएव नीति में भी कहा है कि—

उपकारिषु यः साधुः साधुत्वे तस्य को गुणः।
अपकारिषु यः साधुः स साधुरिति कथ्यते॥

अर्थात्—जो अपना उपकार करनेवालों के ही प्रति उपकार किया करता है, उसकी सज्जनता में कौन सा गुण है ? कोई भी नहीं। किन्तु जो अपना अपकार करनेवाले लोगों का भी उपकार करता हो, उसी को सज्जन लोग साधु कहते हैं।

अर्थ—हे यमराज! लोग जो तुम निष्कारण वैरी को 'धर्मराज धर्मराज' कहा करते हैं, क्या यह बात ठीक ही है? क्योंकि लोक में यह देखा भी जाता है कि लोग संसार भर के अमङ्गलों के मूल कोप (खजाना) काले उल्लू को (भी) मङ्गल निहङ्गम (मङ्गलपक्षी) कहा करते हैं। (क्योंकि नीतिशास्त्र का यह नियम है 'अभद्रं भद्रमिति ब्रूयात्' अमङ्गल को मङ्गल के नाम से पुकारना चाहिए। इसी लिए दुर्योधन को सुयोधन और उल्लू को मङ्गलपक्षी कहते हैं, इसी नियम के अनुसार लोग तुम्हें भी धर्मराज कहते होंगे?)

त्वां जीवितेश इति यत्स्तुवते रुदत्यः
कापालिकाः शवदहो गुरवो द्विजाश्च।
तद्युक्तमन्तक यतः परमः सुहृत्त्वं
तेषामकारणरिपुस्त्वसुहृत्परेषाम् ॥ ७२ ॥

अन्वय—हे अन्तक! रुदत्य (मृतमुद्दिश्य रोदनं कुर्वत्यः स्त्रियः) कापालिका, शवदह गुरव, द्विजा च, यत् त्वाम् हे जीवितेश! (प्राणनाथ!) इति स्तुवन्ति, तत् युक्तम् (एव)। यत तेषाम् त्वम् परम सुहृत् (असि) परेषाम् तु (त्वम्) अकारणरिपु, असुहृत् (असि अत ते त्वाम् हे जीवितेश!= जीवितस्य ईशो नेता 'प्राणहर!' इति स्तुवन्ति)।

अर्थ—हे यमराज! मृतक के उद्देश्य से रोदन करनेवाली स्त्रियाँ[1], शव (मुर्दे) को जलानेवाले, कापालिक (अर्थात् वाममार्गी लोग), (मृतक क्रिया करनेवाले) (अन्त्येष्टिक क्रिया करनेवाले) गुरु लोग और ब्राह्मण लोग जो तुम्हें जीवितेश (जीवन प्रदान करनेवाला अर्थात् प्राणनाथ) कहा करते हैं, (तद्युक्तम्) यह ठीक ही है, क्योंकि तुम

(१) कुछ भाड़ा लेकर (किसी के) मृतक व्यक्ति के निमित्त कृत्रिम (बनावटी) रोदन करनेवाली स्त्रियाँ, जिन्हें कि काश्मीर में 'नौरिस्य' और विदेशों में 'कद्दनहारी' कहा करते हैं।

तीव्र अपराध करनेवाले महा अपराधी पामरों को भी किसी प्रकार पीड़ा नहीं देते ।*

यत्प्राणिषु प्रभवसि प्रसभं महत्तु
प्राप्य प्रभोः प्रमथनाथपितुः प्रसादम् ।
तत्प्राक्कृतस्य दुरितस्य दुरुत्तरस्य
तेषां फलं तव किमन्तक पौरुषं तत् ॥ ७० ॥

अन्वय—हे अन्तक ! प्रमथनाथपितुः प्रभोः प्रसादम् प्राप्य, त्वम् यत् प्राणिषु प्रसभम् महत्तुम् प्रभवसि, तत् तेषाम् (प्राणिनामेव) प्राक्कृतस्य दुरुत्तरस्य दुरितस्य फलम् (अस्ति) तत् (तस्मिन्) तव किम् पौरुषम् ? ।

अर्थ—हे काल ! भगवान् शङ्कर का प्रसादानुग्रह पाकर जो तुम जीवों पर बलात्कार से प्रहार किया करते हो, यह उन प्राणियों के ही परिणाम-दुःखदायी, पूर्वोपार्जित पापों का फल है, इसमें तुम्हारा कौन सा पुरुषार्थ है ? ।

तत्तथ्यमेव किमकारणकण्टकं त्वां
यद्धर्मराज इति काल जनाः स्तुवन्ति ।
लोका न किं जगदमङ्गलमूलकोपं
शंसन्ति मङ्गलविहङ्गम इत्युलूकम् ॥ ७१ ॥

अन्वय—हे काल ! जनाः अकारणकण्टकम् त्वाम् यत् 'धर्मराज इति' स्तुवन्ति, तत् तथ्यम् एव किम् ? (दृष्ट चैतत्-) लोगा जगदमङ्गलमूल-कोपम् उलूकम् मङ्गलविहङ्गम इति किम् न शंसन्ति ? ।

---

* अतएव नीति में भी कहा है कि—

उपकारिषु यः साधुः साधुत्वे तस्य को गुणः ।
अपकारिषु यः साधुः स साधुरिति कथ्यते ॥

अर्थात्—जो अपना उपकार करनेवालों के ही प्रति उपकार किया करता है, उसकी सज्जनता में कौन सा गुण है ? कोई भी नहीं। किन्तु जो अपना अपकार करनेवाले लोगों का भी उपकार करता हो, उसी को सज्जन लोग साधु कहते हैं ।

समेतः]

अर्थ—हे यमराज ! लोग जो तुम निष्कारण वैरी को 'धर्मराज धर्मराज' कहा करते हैं, क्या यह बात ठीक ही है ? क्योंकि लोक में यह देखा भी जाता है कि लोग संसार भर के अमङ्गलों के मूल कोष (खजाना) काले उल्लू को (भी) मङ्गल-विहङ्गम (मङ्गलपक्षी) कहा करते हैं। (क्योंकि नीतिशास्त्र का यह नियम है 'अभद्रं भद्रमिति ब्रूयात्' अमङ्गल को मङ्गल के नाम से पुकारना चाहिए। इसी लिए दुर्योधन को सुयोधन और उल्लू को मङ्गलपक्षी कहते हैं, इसी नियम के अनुसार लोग तुम्हें भी धर्मराज कहते होंगे ?)

त्वां जीवितेश इति यत्स्तुवते रुदत्यः
कापालिकाः शवदहो गुरवो द्विजाश्च ।
तद्युक्तमन्तक यतः परमः सुहृत्त्वं
तेषामकारणरिपुस्त्वसुहृत्परेषाम् ॥ ७२ ॥

अन्वय—हे अन्तक ! रुदत्यः (मृतमुद्दिश्य रोदनं कुर्वत्यः स्त्रियः) कापालिकाः, शवदहः गुरवः, द्विजाः च, यत् त्वाम् हे जीवितेश ! (प्राणनाथ !) इति स्तुवन्ति, तत् युक्तम् (एव)। यतः तेषाम् त्वम् परमः सुहृत् (असि) परेषाम् तु (त्वम्) अकारणरिपुः, असुहृत् (असि अतः ते त्वाम् हे जीवितेश!= जीवितस्य ईशो नेता 'प्राणहर!' इति स्तुवन्ति)।

अर्थ—हे यमराज ! मृतक के उद्देश्य से रोदन करनेवाली स्त्रियाँ[1], कापालिक (अर्थात् वाममार्गी लोग), शव (मुर्दे) को जलानेवाले, (अन्त्येष्टि क्रिया करनेवाले) गुरु लोग और (मृतक-क्रिया करनेवाले) ब्राह्मण लोग जो तुम्हें जीवितेश (जीवन प्रदान करनेवाला अर्थात् प्राणनाथ) कहा करते हैं, (तद्युक्तम्) यह ठीक ही है, क्योंकि तुम

---

(१) कुछ भाड़ा लेकर (किसी के) मृतक व्यक्ति के निमित्त झूठा (बनावटी) रोदन करनेवाली स्त्रियाँ, जिन्हें कि काश्मीर में 'नौहिरु' और विदेशों में 'मातमदारी' कहा करते हैं।

उन लोगो के परम सुहृत् (अन्तरङ्ग मित्र) हो, और इनसे अतिरिक्त जो अन्य लोग हैं, उनके तुम निष्कारण वैरी और असुहृत (असून्—प्राणान्—हरतीति असुहृत्=प्राणहर्त्ता) हो, (इसलिए वे लोग तुम्हें जीवितेश—जीवन का नेता अर्थात् प्राणहर—कहते हैं)।

> क्लिश्यन्त्यवश्यमपमार्जनभूतयाग-
> निर्याणकर्मचरमेष्टिशिवक्रियाद्यैः ।
> ये दैशिकाः परमकारुणिकाः परार्थे
> त्वां श्राद्धदेव इति ते रविज स्तुवन्ति ॥ ७३ ॥

अन्वय—हे रविज ! अवश्यम् अपमार्जन भूतयाग-निर्याणकर्म-चरमेष्टि-शिवक्रियाद्यैः (कर्मभिः) ये परमकारुणिका दैशिका परार्थे क्लिश्यन्ति, ते त्वाम् 'श्राद्धदेव' इति स्तुवन्ति।

अर्थ—हे यम ! मृतक प्राणी के निमित्त (उस समय के) आवश्यक कृत्य—जैसे अपमार्जन (पञ्चगव्य और उष्णोदक से मृतक को स्नान कराना), चितायाग एवं निर्वाण कर्म, अन्त्येष्टि कर्म और शिवक्रियादि (श्मशानक्रिया—दाहादि) कर्मों—के द्वारा जो परम कृपालु गुरु लोग (केवल) दूसरों के ही लिए कष्ट करते हैं, वे लोग तुमको (श्राद्धांश-भोगी अथवा पितरों के पति होने के कारण) 'श्राद्धदेव' कहा करते हैं। यानी जो लोग अपना उचित कृत्य छोड़कर केवल जीविका के लिए नित्य मृतकों के ऐसे गर्हित कृत्यों को किया करते हैं, वे लोग ही तुम्हें श्राद्धदेव कहकर तुम्हारी स्तुति किया करते हैं, क्योंकि तुम जब प्राणियों का संहार करते हो, तो ये लोग उनकी अन्त्येष्टि क्रियादि करके अपनी-अपनी जीविका चलाते हैं। इसी लिए तुम्हारी तारीफ किया करते हैं।

> देशं न यस्त्यजति सन्तमसन्तमन्तं
> ध्वान्तं नयंस्तव पिता समवर्त्यतोऽर्कः ।

समेतः]

त्वं सत्स्वसत्स्वपि समं महरस्यतोऽपि
सद्यः स्तुवन्ति समवर्त्तिनमन्तक त्वाम् ॥ ७४ ॥

कोपं विधाय तव येन कृतः प्रसाद-
स्तत्सेवकेष्वपि चिकीर्षसि यत्प्रसादम् ।
किं तत्र वर्तयसि मां समवर्त्यतोऽपि
त्वं स्तूयसे विषमवर्त्यपि मर्मविद्भिः ॥ ७५ ॥
(युग्मम्)

अन्वय—हे अन्तक ! तव पिता अर्कः, ध्वान्तम् अन्तम् नयन् सन्, यत् सन्तम् (शोभनम्) असन्तम् (अशोभनमपि) देशम् न त्यजति, अतः समवर्ती अर्कः (एव भवति) त्वम् (तु) सत्सु असत्सु अपि समम् प्रहरसि, अतः अपि जना समवर्तिनम् सद्य स्तुवन्ति । अत. विषमवर्ती अपि (साध्वसाधुविचाररहितोऽपि त्वम्) मर्मविद्भि समवर्ती (इति) स्तूयसे । (किंतु) येन (शम्भुना) कोपम् विधाय, तव प्रसाद. कृत तत्सेवकेषु अपि यत् त्वम् प्रसादम् चिकीर्षसि (चेत्तर्हि) तत्र माम् प्रति किम् वर्तयसि ।

अर्थ—हे अन्तक ! तुम्हारे पिता भगवान् श्री सूर्यदेव ससार भर के समस्त अन्धकार को नष्ट करते हुए भले और बुरे सारे ही देशों में प्रकाशित होते हैं, इसलिए वे समवर्ती (समदर्शी) हैं। परन्तु तुम तो सज्जन और दुर्जन सभी के ऊपर 'प्रहार किया करते हो' इस कारण साधु और असाधु के विचार से रहित तुझ विषमवर्ती को भी मर्मवेत्ता लोग 'तुष्यतु दुर्जनः' इस न्याय से 'समवर्ती' कहकर तुम्हारी प्रशंसा कर देते हैं। अच्छा, अब कहना बहुत हो चुका, यह तो बतलाओ कि जिस करुणासागर (शिव) ने पहिले तुम्हारे प्रति कोप करके फिर भी तुम्हारे ऊपर प्रसादानुग्रह किया है उसके सेवकों पर भी क्या तुम कुछ अनुग्रह (प्रहार) करना चाहते हो ? यदि हाँ, तो बतलाओ मेरे प्रति

भालस्थलानि कलयस्यमलेन्दुमौलि-
पादारविन्दमकरन्दसितानि येषाम् ।
त्वं मानवानसि विमानय मा नयज्ञ
तन्मानवानवसि रौद्र यदि स्वमौद्रम् ॥ ७६ ॥

अन्वय—हे नयज्ञ ! त्वम् मानवान् असि, (अतः) हे रौद्र ! यदि स्वमौद्रम् (स्वमानमुद्राम्) अवसि, तत् येषाम् भालस्थलानि अमलेन्दुमौलि-पादारविन्दमकरन्दसितानि कलयसि, (तान्) मानवान् मा विमानय ।

अर्थ—हे नीतिज्ञ, यम ! तुम बड़े अभिमानी हो, इसलिए हे रौद्र ! तुम यदि अपनी मानमुद्रा (अभिमान) को सदा बनाए ही रखना चाहते हो, अर्थात् अपने अहंकार को नहीं नष्ट करना चाहते हो, तो जिन लोगों के ललाट-स्थलों को भगवान् श्री चन्द्रमौलि के पादार-विन्द-मकरन्द से स्वच्छ (अङ्कित) हुए देखते हो उन्हें मत अपमानित किया करो ! (क्योंकि वे लोग तुम्हारे गर्व को चूर कर डालेंगे ।)

दुर्वृत्तदर्पशमनाच्छमनोऽसि यत्त्वं
यद्वा यमोऽस्यधमसंयमनात्तदन्यत् ।
मन्ये मदं शमयितुं प्रभवस्तवैव
त्वामेव वा यमयितुं भवभक्तिभाजः ॥ ७७ ॥

अन्वय—हे अन्तक ! यत् त्वम् दुर्वृत्तदर्पशमनात् शमनः असि, यत् वा अधमसंयमनात् यमः असि, तत् अन्यत् । अहम् (तु) मन्ये—यत् भवभक्तिभाजः तवैव मदम् शमयितुम्, वा त्वाम् एव यमयितुम् प्रभवः (भवन्ति) ।

अर्थ—हे यमराज ! दुराचारी (उद्दण्ड) लोगों के दर्प को शमन (नाश) करने के कारण जो तुम 'शमन' कहे जाते हो, और अधमों का संयमन करने अर्थात् पापियों को दण्ड देने के कारण जो तुम 'यम' कहे जाते हो यह बात दूसरी है । (परन्तु) मैं तो समझता हूँ कि

भगवान् शङ्कर के भक्त तुम्हारे ही मद को शमन करने और तुम्हारा ही संयमन करने (अर्थात् तुम्हें ही दण्ड देने) के लिए समर्थ हैं। अर्थात् श्री शिव के भक्त ही तुम्हारे 'यम' और 'शमन' हैं।

> उद्वृत्तमन्तक नृशंस भृशं सगर्व
> शर्व-स्तव व्यवसितेष्वपि चेष्टसे यत् ।
> तद्भावि भाविभव-भैरव-भैरवोग्र-
> भालानलोद्भवपराभवकृत्पुनस्ते ॥ ७८ ॥

अन्वय—हे नृशंस ! हे भृशं सगर्व !! अन्तक !!! त्वम् शर्वस्तवव्यवसितेषु अपि यत् उद्वृत्तं चेष्टसे ! तत् पुनः ते भा-विभव भैरव भैरवोग्र-भालानलोद्भवपराभवकृत् भावि (भविष्यति)।

अर्थ—हे पुरुष घातक ! हे अत्यन्त अहङ्कारी काल !! भगवान् सदाशिव की स्तुति (भक्ति) में परायण हुए लोगों पर भी जो तुम उच्छृङ्खल चेष्टाएँ किया करते हो, यह तुम्हारी चेष्टाएँ आगे भविष्य में भगवान् भैरव के महान् प्रकाश से भयानक भाल नेत्र की प्रचण्ड अग्नि से तुम्हारा पराभव (भस्मरूप तिरस्कार) करानेवाला होगी।

> किं वाऽन्यदर्कज विशङ्क विशङ्कटास्य
> हास्यं चिकीर्षसि यदीश्वरसंश्रयाणाम् ।
> तन्मा कृथा न हि तवाश्रितवत्सलोऽसौ
> सानुग्रहोऽप्यनुचितं क्षमते महेशः ॥ ७९ ॥

(कालापालम्भकुलकम्)

अन्वय—हे विशङ्क ! हे विशङ्कटास्य अर्कज !! किम् वा अन्यत् (ब्रूम)। यत् त्वम् ईश्वरसंश्रयाणाम् हास्यम् चिकीर्षसि, तत् मा कृथा ! हि—आश्रित-वत्सल, असौ महेशः सानुग्रहः अपि तव अनुचितम् न क्षमते।

अर्थ—अरे निःशङ्क ! अरे विकराल मुखवाले काल !! अब तुमसे क्या और अधिक कहें, जो तू भगवच्छरणागतों का हास्य करने की

काम करनेवाला भगवान् श्री चन्द्रशेखर का 'स्तव' (स्तोत्र) सर्वोत्कृष्ट है; अर्थात् मैं उसे प्रणाम करता हूँ।*

मधुरमिन्दुमुखीवदनादपि क्लमहरं सुरसिन्धुजलादपि ।
त्रिभुवनाधिपतिस्तुतिपावनं जयति सत्कविसूक्तिरसायनम् ॥ ४ ॥

अन्वय—इन्दुमुखीवदनात् अपि मधुरम्, सुरसिन्धुजलात् अपि क्लमहरम्, त्रिभुवनाधिपतिस्तुतिपावनम्, सत्कविसूक्तिरसायनम् जयति ।

अर्थ—चन्द्रमुखी के मुख से भी अधिक रमणीय, सुरसरि के जल प्रवाह से भी अधिक खेद को दूर करनेवाला और त्रिभुवननाथ श्री भवानीनाथ की स्तुति से अतीव सुपवित्र हुआ सत्कवि का सूक्तिरूपी रसायन सर्वत्र विजय को प्राप्त होता है।

नवनवभ्रमरस्वनशोभिनी भवमरभ्रम-घर्म-शम-क्षमा ।
हृदयनन्दनचन्दन-कन्दली जयति शङ्करभक्तिरभङ्गुरा ॥ ५ ॥

अन्वय—नवनवभ्रमरस्वनशोभिनी भवमरभ्रम घर्म-शम-क्षमा हृदयनन्दनचन्दन कन्दली अभङ्गुरा शङ्करभक्तिः जयति ।

अर्थ—नवीन स्तुतिरूपी भ्रमरों की ध्वनि से सुशोभित, ससाररूप भीषण मरुस्थल के संभ्रमण से उत्पन्न हुए सताप को समूल शान्त कर देनेवाली और भावुकों के हृदयरूप नन्दन वन में चन्दन-लता के समान विराजमान होनेवाली भगवान् श्री सदाशिव की अविनाशी भक्ति की सदा जय हो।

अथ कथञ्चन रूढमपि क्षणं मनसि वीक्ष्य विवेकनवाङ्कुरम् ।
बहुविधव्यसनौघविघट्टितं सपदि विज्ञपयामि जगद्गुरुम् ॥ ६ ॥

अन्वय—अथ, कथञ्चन (कष्टेन) मनसि क्षणम् रूढम् अपि विवेकनवाङ्कुरम्, बहुविधव्यसनौघविघट्टितम् वीक्ष्य, सपदि जगद्गुरुम् विज्ञपयामि ।

---

* यहाँ भी रूपकालङ्कार है।

अर्थ—किसी प्रकार (अति कष्ट) से मन मे क्षण भर के लिए उत्पन्न हुए भी विवेकरूप नवाङ्कुर को नाना प्रकार के काम क्रोधादि-रूपी जल-पूर (बाढ) से विघट्टित होते (टकराते) देख मैं अब शीघ्र जगद्गुरु श्री सदाशिव से निवेदन करता हूँ।

अपि जगद्विदितः करुणापरः परहिताऽऽहितमूर्त्तिपरिग्रहः।
किमिति हंसि न हंस हृदम्बुजे कृतपदो विपदः शरणार्थिनाम्॥७॥

अन्वय—हे हस ! जगद्विदितः अपि, करुणापर परहिताऽऽहितमूर्ति-परिग्रहः (त्वम्) (मादृशाम्) शरणार्थिनाम् हृदम्बुजे कृतपद (कृतस्थितिः सन्) किम् इति विपद. न हसि ? ।

अर्थ—हे हस ! (पूर्ण परब्रह्म परमात्मन् !) भला सम्पूर्ण जगत् में प्रख्यात अतिशय दयालु और भव सागर मे निमग्न प्राणियो के उद्धारार्थ सगुण स्वरूप धारण करनेवाले आप, (मेरे जैसे) शरणागतों के हृदय-कमल मे निवास करते हुए (भी) इस जन्म मरण रूप त्रास-प्रद विपत्ति को क्यो नहीं दूर करते ? ।*

यदि भवान् विदधीत हृदि स्थितिं व्यसनसम्पदसौ प्रसरेत्कथम्।
यदि न सा प्रसरेत्प्रसजेत्कथं बुधजनोऽप्यसमञ्जसकर्मसु॥८॥

---

* यहाँ भगवान् को हस पद से सम्बोधित करने का विशेष अभि-प्राय यह है कि—(ज्योतिष शास्त्र में कहा है कि—) कमल के समीप मे रहनेवाले हस (पक्षी) के दर्शन से अर्थी लोगों की विपत्तियां दूर हो जाती है। अत इसी अभिप्राय को हृदय मे रख 'कवि' अपने प्रभु से कहते हैं—भगवन् ! जरा देखिए तो, कमल के समीप मे रहनेवाला हंस पक्षी होकर भी अपने दर्शन (ही) से लोगों की विपत्ति दूर कर देता है, तब हे करुणा-सागर ! आप साक्षात् हस (पूर्ण परब्रह्म परमात्मा) हैं और हृदयकमल में ही विराजमान हैं फिर भी हम सरीखे शरणागतों की विपत्तियों को क्यों दूर नहीं करते ? ।

अन्वय—हे स्वामिन् ! यदि भवान् हृदि स्थितिम् विदधीत, तर्हि असौ व्यसन-सम्पत् कथम् प्रसरेत् ? यदि च सा न प्रसरेत् तदा बुधजनः अपि, असमञ्जसकर्मसु कथम् प्रसजेत् ? ।

अर्थ—हे स्वामिन् ! आप दयालु यदि इस हृदय में सर्वदा विराजमान रहे, अर्थात् यदि हृदय में सदा आपका स्मरण बना रहे, तो फिर वह काम-क्रोधादि-रूपी विपत्ति मनुष्य के सम्मुख कैसे आ सकती है ? और यदि वह आपत्ति सम्मुख ही न आवे तो फिर बुद्धिमान् पुरुष भी पापकर्मों में क्यों प्रवृत्त हों ? ।

सारांश यह है कि भगवद्-विस्मरण से ही प्राणी की अधोगति होती है इसलिए मनुष्य को चाहिए कि परमेश्वर को सदा ही स्मरण करता रहे ।

[अब यहाँ से अठारह श्लोकों का महाकुलक आरम्भ करते हैं—]

इह बृहद्भिरुदग्रपरिग्रह-ग्रहगृहीतमतिर्व्यसनोद्गमैः ।
यदि न कातरतां परतन्त्रतामफलतां खलतां च भजेज्जनः ॥९॥

अन्वय—हे विभो ! यदि इह बृहद्भिः व्यसनोद्गमैः उदग्रपरिग्रहग्रह-गृहीतमतिः जनः कातरताम्, परतन्त्रताम्, अफलताम्, खलताम् च न भजेत्, तदा भवत्पदपङ्कज-पूजन-व्यसन-सौमनसीम् अपहाय, विभूतिलवोन्मिषन्मदकदर्य विकार-कदर्थनाम् क सहेत, इति अग्रे स्थितेन श्लोकेन सह सम्बन्धः । एवमग्रेऽपि ।

अर्थ—हे विभो ! इस संसार में मनुष्य यदि महान् व्यसनों की दुर्वासनाओं से हठात् (बलात्कारपूर्वक) उनकी ओर आकृष्टबुद्धि होकर, अत्यन्त दीनता, पराधीनता, निष्फलता और खलता (दुर्जनता) को न प्राप्त होता, तो फिर आपके पादाब्ज-पूजन के अखण्ड आनन्द को छोड़ इन थोड़े धन के मद से उन्मत्त कृपणों का किया हुआ तिरस्कार कौन (पुरुष) सहन करता ? ।

सारांश यह है कि विषयासक्ति ही मनुष्य के अपनी ओर हठात् आकृष्ट कर लेती है, इसी कारण यह प्राणी उस परमानन्द सुधा-सिन्धु के अभिमुख नहीं हो सकता।

यदि भजेत न सज्जनसङ्गम-व्यसनसर्पदनल्पकृपास्पदम्।
हृदयमिन्दुमयूखसुखाहतिव्यतिकरद्रुतचन्द्रमणिश्रियम् ॥ १० ॥

अन्वय—सज्जनसङ्गमव्यसनसर्पदनल्पकृपास्पदम् (जनस्य) हृदयम्, यदि इन्दुमयूखसुखाहतिव्यतिकरद्रुतचन्द्रमणिश्रियम् न भजेत तदेति पूर्व-वत्सम्बन्धः।

अर्थ—सत्सङ्गरूपी व्यसन से उमड़नेवाली अपार करुणा का स्थान, यह मनुष्य का हृदय, यदि चन्द्र-किरणों के सम्पर्क से आर्द्र (पिघले हुए) चन्द्रकान्त मणि के समान न होता, तो फिर आपके चरणारविन्द के सेवा-रस का छोड़ क्षुद्र लोगों की सेवा कौन करता?।

अर्थात् जिस प्रकार चन्द्रकान्त मणि चन्द्रमा की किरणों के सम्पर्क से पिघल जाती है, इसी प्रकार सत्पुरुषों का भी हृदय, यदि इन सांसारिक विषयों के सम्पर्क से पिघलकर क्षुद्र विषय-भोगों में न आसक्त होता, तो हे भगवन्! बुद्धिमान् लोग फिर क्यों आपका भजन न करते अर्थात् अवश्य करते।

अभिलषेयुरनर्गलदुर्गति-प्रसरदीर्घनिदाघ-निपीडिताः।
यदि घनागमवन्न घनागमं प्रणयिनस्तृषिता हरिणा इव ॥११॥

अन्वय—प्रणयिनः (अर्थिनो जनाः) अनर्गलदुर्गतिप्रसरदीर्घनिदाघ-निपीडिताः (अतएव) तृषिताः हरिणाः घनागमम् इव, यदि घनागमम् न अभिलषेयुः, तदा को नाम भवच्चरणाम्बुजसेवाविमुखो भवेदिति पूर्ववदन्वयः।

अर्थ—जैसे अनिवार्य दुर्गतियों (आपत्तियों) के वेग से प्राणियों को भय देनेवाले महान् ग्रीष्मकाल में पीड़ित होकर प्यासे हरिण घना-गम (वर्षाकाल के आगमन) की इच्छा करते हैं, वैसे ही जन्म-मरण-रूपी उग्र आपत्तियों के वेगरूपी महाग्रीष्म काल में पीड़ित अर्थार्थी

पुरुष यदि प्रतिक्षण धनागम (धन के आने) की अभिलाषा न करते होते तो हे भगवन् ! आपकी चरणारविन्द-सेवा का आनन्द छोड धन-मदान्धों का तिरस्कार कौन सहन करता ? ।

यदि न पीनघनस्तनभङ्गुर-त्रिवलिभङ्गितरङ्गितमध्यमाः ।
इह हरेयुरपाङ्गविलोकितैर्धृतरतिप्रमदाः प्रमदा मनः ॥ १२ ॥

अन्वय—यदि इह पीनघनस्तनभङ्गुरत्रिवलिभङ्गितरङ्गितमध्यमा धृतरतिप्रमदाः (एताः) प्रमदा , मन न हरेयु , तर्हीति पूर्ववदन्वय ।

अर्थ—यदि इस भव-सागर में अतीव स्थूल और कठिन स्तनों से सुशोभित त्रिभङ्गी (त्रिवली की कान्ति) से मनोहर उदरवाली, रति-सुख (परम सुख और सन्तोष) को धारण करनेवाली युवतियाँ अपने हावभावों से मनुष्य के मन को हर न लेतीं तो फिर प्रभो ! आपका भजन छोड मदान्ध क्षुद्र धनिकों का तिरस्कार कौन सहन करता ? ।

बलवदिन्द्रियतस्करसङ्कुले विषयभीमभुजङ्गमभीषणे ।
दुरितदीर्घदवानलदुःसहे बहलमोहतमोहतसंविदि ॥ १३ ॥
कृतधियोऽपि भवाध्वनि धावतः प्रबलकर्मरयापहृतात्मनः ।
अवसरे प्रहरेयुरमी न चेन्मदनमानमुखाः परिपन्थिनः ॥ १४ ॥
(युग्मम्)

अन्वय—बलवदिन्द्रियतस्करसङ्कुले विषयभीमभुजङ्गमभीषणे दुरितदीर्घदवानलदुःसहे बहलमोहतमोहतसंविदि भवाध्वनि धावत , प्रबलकर्मरयापहृतात्मन. कृतधिय अपि, अवसरे (श्रीशम्भुध्यानाऽवसरे) अमी मदनमानमुखाः परिपन्थिन न प्रहरेयु चेत्, तदेत्यादि सर्वं पूर्ववत् ।

अर्थ—बलवान इन्द्रियरूप तस्करों (चोरों) से घिरे, शब्दादि पञ्चविषयरूपी भीषण भुजङ्गों से भयङ्कर, दिन पर दिन वृद्धि को प्राप्त हुए पापरूपी दीर्घ (प्रचण्ड) दावानल से अति दुःसह एवं अज्ञानरूपी गाढ अन्धकार से समावृत आत्मज्ञान (चैतन्य-प्रकाश) वाले संसार-मार्ग में दौडते हुए और कर्मरूपी वायु के प्रबल वेग से

(इतस्ततः) उड़ाये जाते हुए बुद्धिमानों को भी आप परमेश्वर का ध्यान करते समय, यदि ये काम, क्रोध, अहङ्कार आदि दस्युगण (डाकू लोग) न पीड़ित करते तो फिर प्रभो! आप परमात्मा की आराधना छोड़कर कौन बुद्धिमान मनुष्य विषयी लोगों की आराधना में तत्पर होता? अर्थात् कोई भी नहीं।

उपचितोऽभिनवाम्रदलावली-कवलनाकुलकोकिलकूजितैः।
यदि न तर्जयितुं प्रभवेन्मधौ मदनदिग्विजयोद्यमडिण्डिमः ॥१५॥

अन्वय—मधौ अभिनवाम्रदलावलीकवलनाकुलकोकिलकूजितैः उपचितः मदनदिग्विजयोद्यमडिण्डिमः, यदि (जनान्) तर्जयितुम् न प्रभवेत्, तदेत्यादि सर्वं पूर्ववत्।

अर्थ—वसन्त ऋतु में नवीन-नवीन सुकोमल आम्रदलों की श्रेणी के समास्वादन में आकुल (आसक्त हुए) कोकिलों की 'कुहू' 'कुहू' ध्वनि से सुवर्धित, कामदेव के दिग्विजय का डिण्डिम (विजय नगारा) यदि लोगों को प्रतिक्षण अपने वश में नहीं किया करता, तो हे विभो! फिर कौन पुरुष आपका भजन न करता?।

यदि मधौ मधुपान-मदोन्मद-भ्रमर-गायन-गुञ्जित-गीतयः।
सुखलवानुभवाय कृतस्पृहं हर हरेयुरिमं न मनोमृगम् ॥ १६ ॥

अन्वय—हे हर! मधौ मधुपानमदोन्मद-भ्रमर-गायन-गुञ्जित-गीतयः, सुखलवानुभवाय कृतस्पृहम् इमम् मनोमृगम्, यदि न हरेयुः, तदेत्यादि पूर्ववदन्वयः।

अर्थ—हे पापहारिन्! वसन्त में मधुपान (पुष्पों के रस का पान करने) के मद से हर्षित भ्रमररूपी गायनाचार्यों के गुञ्जाररूपी गीत, सुख के लवलेश के अनुभव के लिए उत्कण्ठित हुए मनोमृग (मनरूपी हरिण) को यदि अपने वश में न करें तो हे प्रभो! कौन मनुष्य आपके चरणों की शरण छोड़ विषयों में आसक्त होता?।

[इस पद्य में 'सुखलवानुभवाय' पद यह सूचित करता है कि ये (रूपादि) विषय आरम्भ में मधुर और परिणाम में अत्यन्त दुःख-प्रद हैं, अतः साधकों को इस क्षणभङ्गुर विषय-सुख में आसक्त न हो सर्वदा जगदीश्वर के ही चरितामृत का पान कर उस अनन्त आनन्दावाप्ति के लिए सर्वदा प्रयत्नशील होना चाहिए ।]

अभिनवस्तवक-स्तन-सन्नताः पवन-नर्तित-पल्लव पाणयः ।
यदि न बन्ध-निबन्धनमृघ्नुयु-र्मधुपगुञ्जितमञ्जुगिरो लताः ॥१७॥

अन्वय—अभिनव-स्तवक-स्तन सन्नताः पवननर्तितपल्लवपाणयः मधुपगुञ्जितमञ्जुगिरः लताः (लताकामिन्यः) यदि (मनोमृगस्य) बन्धनिबन्धनम् न ऋघ्नुयुः, तदेति पूर्ववत् ।

अर्थ—प्रभो ! नवीन-नवीन स्तवकरूपी स्तनों से झुकी हुई, मलयाचल की सुगन्ध से सम्मिश्रित मन्द मन्द पवन के वेग से अपने पल्लव (पर्ण) रूपी हाथों को नचानेवाली, और भ्रमरों के गुञ्जाररूपी मधुर-मधुर मनोहर स्वरवाली, लतारूपी वराङ्गनाएँ बेचारे मनोमृग को यदि अपने (प्रेमपाश के) बन्धन में न डालतीं तो कौन बुद्धिमान् मनुष्य आपका ध्यान छोड विषयासक्ति में आसक्त होता ? ।

यदि शुचौ मनसीव न मानिनां घनमनेहसि तापमुपावहेत् ।
सरजसो हरितस्तरुणैः करैरविरलं परिरिप्सुरहर्पतिः ॥ १८ ॥

अन्वय—तरुणैः करैः सरजसः हरितः अविरलम् परिरिप्सुः अहर्पतिः (सूर्यः) मानिनाम् शुचौ (निर्मले) मनसि इव, शुचौ अनेहसि (ग्रीष्मकाले) यदि घनम् तापम् न उपावहेत् तदेत्यादि सर्व पूर्ववत् ।

अर्थ—जैसे, सूर्य नवीन किरणरूपी हाथों से सरजस्क (धूलि से युक्त) दिशाङ्गनाओं (दिशारूपी अङ्गनाओं) से गाढ़ आलिङ्गन करने की अभिलाषा करता हुआ ग्रीष्म-काल में अत्यन्त सन्ताप पैदा कर देता है, वैसे ही सरजस्क (रजोधर्मवती) युवतियों से गाढ़

आलिङ्गन करने को उत्कण्ठित हुए कामान्ध लोग (अपने दुःसङ्ग के प्रभाव से) इन्द्रिय-निरोध करनेवाले साधकों के सुनिर्मल मन में यदि क्षोभ न उत्पन्न करें तो, भगवन्! फिर कौन विवेकी मनुष्य आप का आराधन छोड़ विषयासक्त पुरुषों का अपमान सहन करता? ।*

पृथुलसज्जघनोरुपयोधरा गुरुमरुच्चपलाकुलिताम्बराः ।
यदि भवेयुरिमा न घनागमे मृगदृशश्च दिशश्च धृतिच्छिदः ॥१९॥

अन्वय—यदि घनागमे, इमाः पृथुलसज्जघनोरुपयोधरा, गुरुमरुच्चपला-कुलिताम्बराः मृगदृशः, पृथुल-सज्ज घनोरु-पयोधरा, गुरुमरुच्चपलाकुलिताम्बरा, दिशः च, धृतिच्छिदः न भवेयुः, तर्हीत्यादि पूर्ववत्सम्बन्धः ।

अर्थ—हे विभो! वर्षाकाल में ये बड़े-बड़े नितम्बों, बड़ी-बड़ी जङ्घाओं और बड़े-बड़े पयोधरों (स्तनों) से सुशोभित एवं तीव्र वायु के वेग से चञ्चल (कम्पायमान) वस्त्रोंवाली मृगनयनाएँ (युवतियाँ) तथा अति विशाल और सजल एवं सान्द्र पयोधरों (मेघों) से सुशोभित एवं तीव्र वायु और अति चपल विद्युत् से समावृत आकाश से सुमनोहर दिशाएँ यदि मनुष्य के धैर्य को न नष्ट कर डालतीं तो विवेकी पुरुष भी आपका ध्यान छोड़ विषयों में क्यों आसक्त होते? ।†

सुरभिगन्धि-सहास-सुराम्बुजा धृतमनोहरहंसकविभ्रमाः ।
यदि न मज्जनधाम नतभ्रुवः शरदि संस्मरयेयुरगापगाः ॥२०॥

अन्वय—सुरभिगन्धिसहाससुराम्बुजा, धृतमनोहरहंसकविभ्रमाः मज्जन-धाम अगापगाः, शरदि (पुरुषान्) सुरभिगन्धि-सहास सुराम्बुजा, धृतमनोहर-हंसकविभ्रमा, मज्जनधाम नतभ्रुवः, यदि न संस्मरयेयुः, तर्हीत्यादिपूर्ववत् ।

अर्थ—शरत्काल में सुमनोहर सुगन्धियुक्त और विकसित सुवर्ण-वाले कमलों से सुशोभित एवं मनोहर हंसों के विभ्रम (विलास) वा

---

* यहाँ भी पूर्ववत् समासोक्ति नामक अलङ्कार है।
† यहाँ सामुच्चयालङ्कार है।

धारण करनेवाली मजन (स्नान) का धामभूत गिरि-नदियाँ पुरुषों को सुगन्धि और ईषद्हास्ययुक्त मुखकमलवाली तथा मनोहर हंस के समान (मन्द मन्द) गमनवाली मज्जनधाम (भवसागर में डुबानेवाली) युवतियों का स्मरण न कराती होतीं तो विवेकी पुरुष क्या आपका ध्यान छोड कृपण लोगों के किये अपमानों को सहते ? ।*

यदि न दीर्घतमाः समवाप्नुयुः महसि दुर्विषहोल्वणवायवः ।
धृतघनोष्मबृहत्तरुणी-स्तन-स्मरणकारणतामपि रात्रयः ॥२१॥

अन्वय—सहसि (हेमन्ते) दुर्विषहोल्वणवायवः दीर्घतमाः रात्रयः अपि, धृतघनोष्मबृहत्तरुणीस्तनस्मरणकारणताम् यदि न समवाप्नुयुस्तदे-त्यादि पूर्ववत् ।

अर्थ—हेमन्त ऋतु की अत्यन्त दुःसह और उल्वण (प्रचण्ड) वायु वाली अति दीर्घ रात्रियाँ (भी) यदि युवतियों के अत्यन्त उष्ण और स्थूल स्तनों का स्मरण न कराती होतीं तो हे भगवन् ! कौन सा विवेकशील पुरुष आपका भजन छोड धन मदान्धों के द्वार पर अपमानों को सहन करता ? अर्थात् कोई भी नहीं ।

यदि भवेन्न घनावरणोद्गम-
ग्लपितधामनि धामनिधौ बहिः ।
तपसि चेतसि च व्यसनाकुले
तपसि रूढरसोऽप्यलसो जनः ॥ २२ ॥

अन्वय—व्यसनाकुले[1] तपसि[2] (मर्त्यलोकस्य) चेतसि च व्यसनाकुले[3] सति, यदि धामनिधौ (सूर्ये) घनावरणोद्गमग्लपितधामनि सति, तपसि रूढरसः अपि जनः, यदि अलसः न भवेत्तदेत्यादिपूर्ववत् ।

---

* यहां शब्दश्लेष की उपमा द्वारा 'स्मृति' अलङ्कार है ।

(१) पक्षियों पलायनेनाकुले । (२) शिशिरे । (३) सूर्यादि-व्यसनैराकुले ।

अर्थ—हेमन्त ऋतु में शीत के कारण पक्षियों के व्याकुल हो जाने पर मृगया आदि व्यसनों से चित्त के आकुल होने पर और बाहर सघन मेघों द्वारा सूर्य के आच्छादित हो जाने पर, तपस्या में बैठा हुआ पुरुष भी यदि आलसी न बन जाता तो हे विभो ! कौन बुद्धिमान् पुरुष आपकी पूजा का अखण्ड आनन्द छोड़ धनलव के मद में गर्वित कुपुरुषों का मुँह देखता ? अर्थात् कोई भी नहीं।

तदखिलापदुपोद्धरणक्षमं
समधिगम्य दुरापमिदं पुनः ।
पवनवेल्लितबालमृणालिनी-
दलचलज्जलबिन्दुनिभं वपुः ॥ २३ ॥
भव भवत्पदपङ्कजपूजन-
व्यसनसौमनसीमपहाय कः ।
इह सहेत विभूतिलवोन्मिष-
न्मदकदर्यविकारकदर्थनाम् ॥ २४ ॥

(युग्मम् । अष्टादशभिः कुलकम्)

अन्वय—हे विभो ! (यदि पूर्वोक्ताः कामादिविकाराः प्रबलाः सो[?]ऽनैषुः) तत् पुनः हे भव ! इह अखिलापदुपद्रवक्षमम् दुरापम् पवनवेल्लितबाल-मृणालिनीदलचलज्जलबिन्दुनिभम् इदम् वपुः समधिगम्य, भवत्पदपङ्कज-पूजनव्यसनसौमनसीम् अपहाय, इह विभूतिलवोन्मिषन्मदकदर्य विकारकदर्थनाम् कः सहेत ?।

अर्थ—हे विभो ! ये पूर्वोक्त अत्यन्त प्रबल काम-क्रोधादि विकार यदि मनुष्य के विवेक को न नष्ट कर डालें तो फिर इस घोर भवसागर से सम्पूर्ण विपत्तियों से पार करने में समर्थ, अत्यन्त दुष्प्राप्य (अनन्त पुण्यों से प्राप्त होनेवाले) और वायु से कम्पित सुकोमल कमल के दल (पत्र) में स्थित अति चञ्चल 'जल बिन्दु' के समान (अर्थात् अत्यन्त क्षणभङ्गुर) मनुष्य-देह को पाकर, हे भगवन् ! आपके चरण पङ्कज के

पूजन का व्यसन छोड़कर थोड़े धन के मद से उन्मत्त हुए कृपण लोगों के तिरस्कार को कौन विवेकी पुरुष सहन करता ? ।

पूर्वोक्त सभी भावों का सारांश यही है कि ये काम-क्रोधादि विकार ही मनुष्य की इन्द्रियों को चञ्चल करके, इसके विवेक, वैराग्यादि सद्विचारों को हर लेते हैं; इसी लिए मनुष्य इन अत्यन्त दुःखद विषयों में आसक्त होकर (अपने उद्धार के लिए) आपका भजन पूजन नहीं कर सकता। इस कारण वारम्वार इस भीषण भवसागर के जरा, जन्म और मरण के चक्र में ही पीसा जाता है।

इदमुदञ्चति मेघमयं महत्
पिहितभास्वदमन्दमहस्तमः ।
घनवलोऽपि स काल उपस्थित-
स्तदिह हंस पदं कुरु मानसे ॥ २५ ॥

अन्वय—हे हंस ! पिहितभास्वदमन्दमहः इदम् मे अघमयम् महत् तमः उदञ्चति, घनबलः स. कालः अपि उपस्थितः, तत् इह (मम) मानसे पदम् (स्थितिम्) कुरु।

अर्थ—हे हंस ! (पूर्ण परब्रह्म परमात्मन् !) अत्यन्त प्रकाशमान् ज्ञानमय तेज को आच्छादित करनेवाला, यह मेरा महा पापमय अज्ञान (अथवा विषादात्मक तमोगुण) हृदय में प्रस्फुरित होता है; और अतीव बलवान् काल (यमराज अथवा घोर कलिकाल) भी अत्यन्त सन्निकट है इसलिए अब आप मेरे मानस (मन) में निवास कीजिए।

अर्थान्तर—हे राजहंस ! सूर्य के अत्यन्त तेजोमय प्रकाश को आच्छादित करनेवाला यह मेघमय (घनघोर बादलों का) महान् अन्धकार प्रकट हो रहा है, और वह मेघप्राय वर्षाकाल भी सन्निकट है इसलिए अब तू इस मानस (मानसरोवर) में निवास कर !

इति यदन्तरनन्त तिरोदधन्
मुदमुदञ्चति मोहमहातमः ।
तव रवीन्दुहुताशनचक्षुषो
हृदि निवेदयतीदमसन्निधिम् ॥ २६ ॥

अन्वय—हे अनन्त ! अन्तः (हृदि) मुदम् तिरोदधत्, यत् मोह-महातमः इति उदञ्चति, इदम् (मोहतमः, मादृशाम्) हृदि रवीन्दुहुताशन-चक्षुषः तव असन्निधिम् निवेदयति ।

अर्थ—ब्रह्मादि देवों से भी जिसका अन्त (पार) नहीं पाया ऐसे हे अनन्त ! हृदय के अन्दर परम आनन्द को आच्छादित करता हुआ, जो मोहरूपी महान् अन्धकार इस प्रकार प्रस्फुरित होता है, वह (अन्धकार) हम सरीखे लोगों के हृदय में सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि इन तीनों तेजोमय पिण्डों को अपने नेत्रों में धारण किये आप स्वयं-प्रकाश परमेश्वर का असान्निध्य सूचित करता है। अर्थात् यदि आप हमारे हृदय में विद्यमान रहते तो फिर आपके सामने वहाँ यह अज्ञान रूप अन्धकार कैसे टिक सकता ? । क्योंकि—

न हि महेश मनस्त्वदधिष्ठितं
भ्रमयितुं प्रभवन्ति भवोर्मयः ।
न हि वनं हरिणाधिपरक्षितं
क्षपयितुं कपयः कदचन क्षमाः ॥ २७ ॥

अन्वय—हे महेश ! हि (भक्तजनस्य) त्वदधिष्ठितम् मनः भ्रमयितुम् (एताः) भवोर्मयः न प्रभवन्ति । हि (दृष्टं चैतत्-) हरिणाधिपरक्षितम् वनम् क्षपयितुम् कपयः क्वचन क्षमाः न (भवन्ति) ।

अर्थ—हे महेश ! आप परम कृपालु जिसमें विराजमान रहें उस भक्त जनों के मन को भ्रमित (मोहित) करने के लिए (जन्म मरण-रूप भँवर में डालने के लिए) भवसागर की लहरें (विषय वासनाएँ) नहीं

समर्थ हो सकती ? क्योंकि देखा जाता है कि हरिणाधिप-रक्षित (सिंहपालित) वन को नष्ट भ्रष्ट करने (उजाड़ने) के लिए बन्दर कदापि नहीं समर्थ हो सकते हैं ? ।

वरमरण्यसरित्पुलिनस्थली-
तरुतले फलमूलजलाशिनः ।
स्थितिरनर्गलवल्कलवाससो
न शिवभक्तिमृते त्रिदशेन्द्रता ॥

(प्रमिताक्षरावृत्तम्)

अन्वय—अरण्यसरित्पुलिनस्थलीतरुतले फलमूलजलाशिनः अनर्गलवल्कलवाससः स्थितिः वरम्, शिवभक्तिम् ऋते त्रिदशेन्द्रता (अपि) न वरम् ।

अर्थ—वन सरिताओं के एकान्त तट की तरुच्छाया में बैठकर भगवान् शिव का ध्यान करते हुए केवल फल, मूल और जल अशन करनेवाले, कठोर वल्कल वस्त्रधारी भिक्षुक की स्थिति (पवित्र जीवन) अति श्रेष्ठ है, किन्तु 'शिव भक्ति' के बिना त्रिदशेन्द्रता—देवेन्द्रता (इन्द्र-पद की प्राप्ति) भी उत्तम नहीं है ।

भवति पश्यति नश्यति दुर्गतिः स्फुरति शक्तिरुपैति धृतिं मतिः ।
स्तुतिकृति प्रतिपत्तिमति श्रुति-स्मृतिभृति स्थितिमेति च निर्वृतिः ॥२८॥

अन्वय—हे महेश ! भवति (त्वयि) पश्यति (सति) दुर्गतिः नश्यति, शक्तिः स्फुरति, मतिः धृतिम् उपैति, तथा प्रतिपत्तिमति श्रुतिस्मृतिभृति (तव) स्तुतिकृति निर्वृतिः (परमानन्द) स्थितिम् एति ।

अर्थ—हे महेश ! प्रभो !! आपकी कृपादृष्टि होने पर सम्पूर्ण दुर्गति नष्ट हो जाती है, महान् शक्ति स्फुरित होने लगती है, बुद्धि अत्यन्त धैर्य को प्राप्त होती है, और सर्वत्र पूज्यता को प्राप्त होनेवाले एवं समस्त वेद शास्त्रों के पारङ्गत आपकी स्तुति करनेवाले भक्त जनों के चित्त में परम आनन्द (अखण्ड शान्ति) स्थिर हो जाता है ।

कति न बुद्बुदवद्भववारिधा-
विह लसन्ति गलन्ति च जन्तवः ।
समजनि स्पृहणीयजनिः पुन-
र्जगति कश्चन यः शिवसेवकः ॥ २९ ॥

अन्वय—इह भववारिधौ बुद्बुदवत् कति जन्तवः न लसन्ति गलन्ति च, पुनः जगति यः कश्चन शिवसेवकः (अस्ति) सः (एव) स्पृहणीयजनिः समजनि ।

अर्थ—इस भवसागर में 'जल के बुद्बुदों के समान' न मालूम कितने (असङ्ख्य) जीव उत्पन्न होते हैं और कितने मरते हैं। परन्तु जगत् में उसी का जन्म श्लाघ्य है जो कि भगवान् शिव का सेवक (भक्त) हो।

सपदि पीठविलोठितमूर्तिभिर्भगवतः शुचिभिर्धृतभक्तिभिः ।
चरणरेणुकणैरिव मादृशैर्दिविषदामपि मूर्ध्नि पदं कृतम् ॥ ३० ॥

अन्वय—(दिष्ट्या) मादृशैः धृतभक्तिभिः शुचिभिः सपदि पीठविलोठितमूर्तिभिः, (भक्तजनैः) भगवतः चरणरेणुकणैः इव, दिविषदाम् अपि मूर्ध्नि पदम् कृतम् ।

अर्थ—आहा! बड़े भाग्य से मेरे समान बहुत से भक्तिमान्, पवित्र अन्तःकरणवाले और भगवान् के चरणारविन्द रखने की पीठ (चौकी) पर शरीर को लोट-पोट करनेवाले भक्त जनों ने, अतिपवित्र, सुन्दर-शोभा-सम्पन्न और (भगवान् की) चरण-पीठिका में गिरे हुए प्रभु-चरणारविन्द के रजःकणों के समान, स्वर्गनिवासी देवताओं के भी मस्तकों में अपना पद (चरण) रख दिया!।

नियततां विपमे विपदम्बुधौ पदवलम्बनमस्तविडम्बनम् ।
जगदमङ्गलभङ्गविधायि तज्जयति रत्नमहो शिवसेवनम् ॥ ३१ ॥

अन्वय—अहो निरमे विपदम्बुधौ निपतताम् (जन्तूनाम्) यत् अस्तविडम्बनम् अवलम्बनम् (भवति) तत् जगदमङ्गलभङ्गविधायि शिव-सेवनम् 'रत्नम्' जयति ।

अर्थ—अहा ! अति दुस्तर विपत्तिरूपी समुद्र में डूबे हुए जीवों का जो एक निर्विडम्ब (बाधारहित) अवलम्बन (आश्रय) है, वह सम्पूर्ण जगत् के अमङ्गल (दुःख) का नाश करनेवाला, शिव-सेवा (शिवाराधन)-रूपी अद्भुत रत्न सर्वोत्कृष्ट है अर्थात् मैं उसे प्रणाम करता हूँ ।

जयति जन्मजरामरणव्यथा-शमसमर्थमनर्थ[1]निवर्हणम् ।
सकलमङ्गलधाम सुधामयं भगवदर्चननाम महौषधम् ॥ ३२ ॥

अन्वय—जन्मजरामरणव्यथाशमसमर्थम्, अनर्थनिवर्हणम् सकल-मङ्गलधाम सुधामयम् भगवदर्चननाम महौषधम् जयति ।

अर्थ—जन्म, जरा और मृत्यु की पीड़ा को शान्त करने में समर्थ, अनर्थकारक अविद्या आदि पञ्च क्लेशों के निवारण करने-वाला एवं सम्पूर्ण मङ्गलों का मूल-स्थान वह अमृतमय, श्रीभगवत्पूजन नामक महौषध सर्वोत्कृष्ट है अर्थात् भगवच्चरण-पूजन नामक रसायन, अमृत और सञ्जीवनी आदि महौषधि से भी अधिक श्रेष्ठ और दुष्प्राप्य है। क्योंकि—

इदमसाधितमेव रसायनं निरुपभोगमिदं सुखमक्षयम् ।
अमृतमेतदनम्बुधिमन्थनं यदविनश्वरमीश्वरसेवनम् ॥ ३३ ॥

अन्वय—यत् अविनश्वरम् ईश्वरसेवनम् (तत्) इदम् असाधितम् एव रसायनम् (अस्ति) इदम् निरुपभोगम् अक्षयम् सुखम् (अस्ति) एतत्, च अनम्बुधिमन्थनम् अमृतम् (अस्ति) ।

अर्थ—यह जो अविनश्वर (अक्षय—कभी भी नष्ट न होने-वाला) ईश्वर-सेवन (शिवाराधन) है वह बिना किसी का बनाया

---

(१) 'निवारणम्' भी पाठ है ।

हुआ ही रसायन[1] है और यह एक अनुच्छिष्ट (किसी के उपभोग से रहित) और अक्षय (आन्तरिक दुःखनिवृत्ति रूप—अखण्ड) सुख है एवं बिना समुद्र-मन्थन का अमृत है[2]।

किमफलैरपरैर्भवशम्बरैः करितुरङ्गरथाम्बरडम्बरैः ।
भगवदंघ्रिसरोरुह-सेवन-व्यसनमस्तु ममानिधनं धनम् ॥३४॥

अन्वय—अपरैः अफलैः भवशम्बरैः करितुरङ्गरथाम्बरडम्बरैः किम् (भवति ?) मम तु भगवदंघ्रिसरोरुहसेवनव्यसनम्, अनिधनम् धनम् अस्तु ।

अर्थ—संसाररूपी इन्द्रजाल के निष्फल (साहीन) हस्ती, अश्व, रथ और वस्त्रादिकों के आडम्बरों (आटोपों) से मुझे क्या प्रयोजन है ? मुझे तो केवल भगवच्चरण-कमलों के सेवन का व्यसन-रूपी अविनाशी धन चाहिए ।*

वहतु सा रमणी रमणीयता-ममृतमस्त्वमृतं मधु वा मधु ।
भवतु निर्वृतिधाम तु यामिनीरमणमण्डनसेवनमेव नः ॥ ३५ ॥

---

(१) वृद्धावस्था में भी केशों की सफेदी, जरा और रोगों को हरनेवाले, अनेक ओषधियों के रसों से बनाये हुए औषध-विशेष को आयुर्वेद में 'रसायन' कहते हैं ।

(२) यहाँ विभावना अलङ्कार की ध्वनि है ।

* इसी आशयानुसार भावुकवर रत्नकण्ठ जी ने भी कहा है—

'तातस्त्राता नहि न सहजाश्वासनै यत्र पात्मा-
स्नेहारम्भो भवति च मृषा बान्धवो यत्र बन्ध्याः ।
धीराहार्ये क्षयविरहितं सिद्यतां देहभाजा-
मेकं तस्मिन् पथि सुमधुरं शम्बलं शम्भुनाम ॥'

अर्थात्—क्षुर की धारा के समान जिस अति-दुर्गम मार्ग में अत्यन्त खिन्न हुए प्राणियों को पिता भी बचा नहीं सकता, जहाँ सहोदर भ्राताओं का आश्वासन भी नहीं मिलता, जहाँ पुत्रवत्सला जननी का स्नेह भी व्यर्थ हो जाता है और बान्धव जनों का भी जहाँ कुछ वश नहीं चल सकता उस निराधार (पारलौकिक) मार्ग में केवल सुमधुर भगवन्नाम ही शम्बल (पाथेय) का काम देता है ।

अन्वय—सा (प्रसिद्धा) रमणी रमणीयताम् वहतु। अमृतम् (निर्जरत्वविधायि) अमृतम् (एव) अस्तु। मधु (माक्षिकम्) मधु (अस्तु) वा, नः तु यामिनीरमणमण्डनसेवनम् एव निर्वृतिधाम भवतु।

अर्थ—वह रमणी (कामिनी) अत्यन्त रमणीयता को धारण करे, अमृत भी लोगों को अजर-अमर बनाया करे और मधुमक्खियों का सुमधुर मधु भी अति मधुरिमा को धारण करे (हमें इन वस्तुओं से क्या प्रयोजन है ?) हमें तो केवल अखण्ड आनन्द का धाम (अर्थात् कैवल्यधाम का सुख देनेवाली) भगवान् श्री बालेन्दुशेखर (शङ्कर) की अखण्ड भक्ति ही चाहिए।

अहमहर्निशमेकमना मनागुपरमन्मदमन्मथमत्सरः।
भगवतीरवगत्य दुरत्ययाः शशधराभरणं शरणं श्रये ॥ ३६ ॥

अन्वय—अहम् दुरत्ययाः भगवतीः अवगत्य, उपरमन्मदमन्मथमत्सरः (सन्) अहर्निशम् एकमनाः मनाक् सन् शशधराभरणम् शरणम् श्रये।

अर्थ—संसार की अत्यन्त दुस्तर गतियों को जानकर, अहङ्कार और काम क्रोधादिकों से उपरत होता हुआ अब मैं रात-दिन एकाग्रचित्त होकर अतिशय दयालु श्री शशधराभरण (सदाशिव) की शरण लेता हूँ।

[अब हमारे कवि भक्तिरसामृत के परमानन्द में मग्न हो अपना मनोविनोद करते हैं—]

इदमहं करुणामृतसागरं शशिकिशोरशिरोमणिमर्थये।
व्रजतु जन्मनि जन्मनि मे वपुर्भवदुपासनसाधनतामिति ॥ ३७ ॥

अन्वय—अहम् करुणामृतसागरम् शशिकिशोरशिरोमणिम् इदम् (एव) अर्थये, जन्मनि जन्मनि मे वपुः भवदुपासनसाधनताम् व्रजतु इति।

अर्थ—मैं करुणारूपी अमृत के महासागर भगवान् श्री बालेन्दु-शेखर से बस, यही प्रार्थना करता हूँ कि प्रभो ! यह मेरा शरीर प्रत्येक जन्म में आपकी उपासना का साधन हुआ करे।

कमपि नाम निकाममनोहरं
 वहति टङ्कमनङ्कुशमेव यत्।
तदकलङ्कमलङ्करणं मुखे
 भवतु मे शिवनाम निरामयम् ॥ ३८ ॥

अन्वय—यत् (शिवनाम) अनङ्कुशम् कम् अपि निकाममनोहरम् टङ्कम् वहति, तत् अकलङ्कम् निरामयम् शिवनाम मे मुखे अलङ्करणम् भवतु।

अर्थ—जो (शिवनाम) किसी स्वच्छन्द अनिर्वचनीय (अनुपम) मनोहरता को धारण करता है, वह समस्त क्लेशों से रहित 'शिव नाम' मेरे मुख का अति निर्मल आभूपण बन जाय, अर्थात् मेरे मुख से भगवन्नाम सदा निकलता रहे। ['रवि' अब अपने हृदय को उपदेश करते हैं—]

हृदय भावय भावमनाविलं
 निरवधान बधान दृढां धृतिम्[1] ।
त्वमसमर्थ समर्थयसे सुखं
 किमविनाशि विना शिवसेवनम् ॥ ३९ ॥

अन्वय—हे हृदय ! त्वम् अनाविलम् भावम् भावय, हे निरवधान ! दृढाम् धृतिम् बधान, हे असमर्थ ! शिवसेवनम् विना (अन्यत्) किम् अविनाशि सुखम् समर्थयसे ? ।

अर्थ—अयि हृदय ! अब तू अति निर्मल स्वभाव को धारण कर। हे अशान्त हृदय ! तू दृढ़ धैर्य का धारण कर। अरे असमर्थ ! तू एक शिव-सेवन के बिना अविनाशी सुख और किसको समझता है ? ।

भवरसं प्रति सम्प्रति तृष्णया
 त्यजसि मानस मानसमुन्नतिम्।
मदनशासनशासनतः परं
 कमनपायमुपायमुदीक्षसे ॥ ४० ॥

---

(१) 'मतिम्' ऐसा भी पाठ है।

अन्वय —हे मानस ! (त्वम्) सम्प्रति भवरसम् प्रति तृष्णया मानस मुन्नतिम् त्यजसि, मदनशासनत परम् अनपायम् उपायम् कम् उदीक्षसे ? ।

अर्थ—अयि मन ! तुम इस समय सासारिक नीरस रस की तृष्णा के कारण अपनी परमोन्नति को त्याग रहे हो ? अरे भाई ! अनङ्गशासन भगवान् श्री शङ्कर के चरित्र पान के सिवाय इस भवसागर से पार करनेवाला अन्य कौन सा अविनाशी उपाय समझते हो ? ।

उपवने पवनेरितमाधवी-
धवलिते वलिते तरुपङ्क्तिभिः ।
अमल कोमलकोपनिषण्ण षट्-
चरण पारणपावन पङ्कजे ॥ ४१ ॥

समदने मदनेन वशीकृता
वरवधूरवधूय भज प्रभुम् ।
अशरणोद्धरणोद्धतधीः शुचा-
मुपरमं परम स करोति ते ॥ ४२ ॥

(युग्मम्)

अन्वय—पवनेरितमाधवीधवलित, तरुपङ्क्तिभि॰ वलिते, अमलकोमल कोप निषण्णषट्चरणपारणपावनपङ्कजे, समदने उपवने, मदनेन वशी कृता वरवधू अवधूय, प्रभुम् (एव) भज, स अशरणोद्धरणोद्धतधी (प्रभु) ते शुचाम् परमम् उपरमम् करोति ।

अर्थ—अरे मन ! मन्द मन्द पवन से कम्पित माधवी की लताओं से धवलित, अति सुमनोहर तरुपङ्क्तियों से सुशोभित, स्वच्छ और सुकोमल कमलकोपों में बैठे भ्रमरों का मकरन्द पारणा (किञ्जल्क पान) से अति पावन कमल जहाँ शोभा दे रहे हैं ऐसे, मदन के वृक्षों से सुशोभित उपवन में मदन (काम) के वशीभूत हुई कामिनियों के साथ गाढ आलिङ्गन की अभिलाषा छोड़कर केवल प्रभु का ही

भजन कर; क्योंकि शरण-हीन प्राणियों के उद्धार में परायण वह अतिशय दयालु प्रभु ही तुम्हारी जन्म-मरण रूप विपत्तियों का मूलोच्छेदन करेंगे।

जहिहि मोहमुपेहि निजां स्थितिं
त्यज शुचं भज मानपरिग्रहम्।
अहरहर्हरपाद-सरोरुह-
स्मृतिरसायनपानपरं भव ॥ ४३ ॥

अन्वय—हे मानस ! मोहम् जहिहि, निजाम् स्थितिम् (मर्यादाम्) उपेहि, शुचम् त्यज, मानपरिग्रहम् भज, अहरहः हरपादसरोरुहस्मृतिरसायनपानपरम् भव।

अर्थ—हे मन ! तू अज्ञान को छोड़, अपनी मर्यादा में स्थित हो जा। शोक मोह का परित्याग कर दे, उन्नति को प्राप्त कर। सर्वदा भगवान् शङ्कर के पाद-पद्म का स्मरण रूपी रसायन के पान करने में लीन हो जा।

तदसमञ्जसमङ्ग यदङ्गना-
नयनचापलशापमुपेयताम्।
नयसि नित्यबहिर्मुख शङ्कर-
स्मरण-सौमनसीमपि हेयताम् ॥ ४४ ॥

अन्वय—हे नित्यबहिर्मुख ! चित्त ! अङ्ग ! (त्वम्) यत् अङ्गना-नयनचापलशापम् उपेयताम् नयसि (सदैव साधु मन्यसे, इत्यर्थः), शङ्कर-स्मरणसौमनसीम् अपि हेयताम् नयसि, तत् असमञ्जसम् (अयुक्तमित्यर्थः)।

अर्थ—हे परिणाम में दुःख देनेवाले बाह्य विषयों में ही आसक्त हुआ मन ! जो तू नरक में डालनेवाले कामिनी के कटाक्षों को ही साधु (अच्छा) समझता है, और श्रीप्रभु-स्मरण रूप परमानन्द विश्रान्ति को भी सर्वदा त्याग देता है यह बात अत्यन्त ही अनुचित है। क्योंकि—

यदि समर्थयसे दुरतिक्रमं
कुपित-काल-भट-भ्रुकुटीभयम् ।
तदचिकित्स्यभवामयभेषजं
भज भुजङ्गमभूषणतोषणम् ॥ ४५ ॥

अन्वय—हे चित्त ! यदि, (त्वम्) कुपित-काल भट भ्रुकुटीभयम् दुरतिक्रमम् समर्थयसे, तत् अचिकित्स्यभवामयभेषजम् भुजङ्गमभूषण-तोषणम् भज ।

अर्थ—अरे चित्त ! यदि तू अत्यन्त कुपित यमदूतों की विकराल भ्रुकुटियों के भय को अलङ्घनीय समझता है, अर्थात् यदि यमदूतों से भयभीत होता है, तो इस संसार रूप असाध्य रोग की एकमात्र रामबाण ओषधि, भगवान् श्री भुजङ्ग-भूषण (शङ्कर) को ही सन्तुष्ट कर ।

यदि चिकीर्षसि सौहृदमात्मनः
परिजिहीर्षसि यच्चयबन्धनम् ।
यदि तितीर्षसि संसृतिसागरं
श्रयमयस्करमीश्वरसेवनम् ॥ ४६ ॥

अन्वय—हे चित्त ! यदि आत्मनः सौहृदम् चिकीर्षसि, यदि च अघनिबन्धनम् परिजिहीर्षसि, यदि च संसृतिसागरम् तितीर्षसि, तर्हि मयस्करम्* ईश्वरसेवनम् श्रय ।

अर्थ—ऐ प्यारे चित्त ! यदि तू उस आत्मा (पूर्ण परब्रह्म परमात्मा) से मैत्री करना चाहता है, यदि तू (इन) पापों के कारागार-रूप बन्धन को त्यागना चाहता है और यदि जन्म-मरण-प्रवाह रूप संसार-सागर को पार करना चाहता है, तो शीघ्र ही परम कल्याण-कारक ईश्वराराधन का आश्रय ले ।

---

* वेदों में 'मयस्कर' शब्द कल्याणवाचक देखा जाता है, जैसे कि रुद्रसूक्त में कहा है—"नमः शङ्कराय च मयस्कराय च" यद्यपि भाषा में

यदि वराक सुकर्मविपाकतः
करतले पतितस्तव शेवधिः ।
तमखिलापदपाकरणक्षमं
नयसि मूढ निरर्थकतां कथम् ॥ ४७ ॥

अन्वय—हे वराक ! चित्त ! यदि सुकर्मविपाकतः तव करतले शेवधिः पतितः, तर्हि हे मूढ ! अखिलापदपाकरणक्षमम् तम् (श्रीशिवोपासनायोग्य मानुष जन्म) निरर्थकताम् कथम् नयसि ।

अर्थ—अरे बेचारे दीन मन ! यदि किन्हीं प्राचीन अनेक जन्मों में उपार्जित किये पुण्यों के परिपाक से तुम्हारे हाथ में यह (मानुष जन्म रूप) निधि प्राप्त हुआ है, तो हे मूढ ! सम्पूर्ण आपत्तियों को दूर करने में समर्थ इस (श्री भगवान् की उपासना के योग्य) मनुष्य-जन्म रूपी निधि को तुम व्यर्थ क्यों बरबाद कर रहे हो ? । जो कि—

अमल-शीलकुल श्रुत-विश्रुतं
सदसदर्थविचार-विशारदम् ।
पुरजिदर्चनसौख्यपराङ्मुखं
नयसि मानस मानुषजन्म यत् ॥ ४८ ॥

(दशभिश्चित्तोपदेशकुलकम्)

अन्वय—हे मानस ! अमल-शील कुल श्रुत विश्रुतम् सदसदर्थविचार-विशारदम् मानुषजन्म, यत् पुरजिदर्चनसौख्यपराङ्मुखम् नयसि ! ।

अर्थ—अतिपवित्र शील, कुल और विद्या से प्रख्यात तथा नित्यानित्य वस्तु के विचार अथवा कार्याकार्य के विवेक में निपुण, इस

इस (मधुकर) शब्द का कोई प्रसिद्ध प्रयोग नहीं देखा जाता, तथापि यहाँ भक्ति के विषय में अप्रसिद्ध पद का प्रयोग करना दोष नहीं कहा जा सकता। अथवा "छन्दोवत्कवयोऽपि प्रयुञ्जते" (वेद के समान ही कवि लोग भी शब्दों का प्रयोग किया करते हैं) इस न्याय से भी इसका समाधान हो सकता है।

सुदुर्लभ मनुष्य-देह को भगवान् श्री पुरारि के पूजन के सौख्य से पराङ्-मुख बनाये बैठे हो।

भ्रमदमन्थरमन्थरयाहति-
ध्वनदमुद्रसमुद्रसमानया।
शमितशाप-दशा-पदमेहि मे
हर गिरा वितराविततथं वरम् ॥ ४९ ॥

अन्वय—हे हर ! (त्वम्) एहि, भ्रमदमन्थरमन्थरयाहतिध्वनदमुद्रसमुद्रसमानया गिरा शमितशापदशापदम् अवितथम् वरम् वितर।

अर्थ—अयि विपत्तिहर ! शम्भो !! अब आप शीघ्र आइए ! और (समुद्र-मन्थन के समय) बड़ी तेजी से घूमते मन्दराचल के वेग के आघात से गम्भीर शब्दायमान (अतएव) मर्यादाहीन समुद्र के समान गम्भीर वाणी से, मुझ भयभीत को बारम्बार जन्म-मरणरूपी महान् आपत्ति को शान्त करनेवाला सत्य वरदान 'मत डरो ! मत डरो ! ऐसा अभय वचन' दीजिए !।

अनुगृहाण गृहाण घृणार्णव
प्रणयिनः प्रणयानुगुणं वचः।
उपकुरुष्व कुरुष्व दृढं मना-
गशरणोद्धरणप्रवणं मनः ॥ ५० ॥

अन्वय—अयि घृणार्णव ! अनुगृहाण, प्रणयिनः प्रणयानुगुणम् वचः गृहाण। (त्वम् उपकुरुष्व) अशरणोद्धरणप्रवणम् मनः मनाक् दृढम् कुरु।

अर्थ—अयि करुणासागर ! अपने शरणागत के प्रति अनुग्रह कीजिए; और मुझ याचक की याचना को स्वीकार करके उसके अनुकूल प्रतिवचन दीजिए; प्रभो ! इस भवाब्धि से पार करके मेरा महान् उपकार कीजिए; मेरे समान शरण-हीन, दीन जनों के उद्धार में परायण मन को थोड़ा सा दृढ़ कर लीजिए।

पृथुशिरस्त्रिदशापगया श्रितं
करुणया हृदयं शिवया वपुः ।
कथमतिप्रमिते भगवन् धृतिः
श्रवणरन्ध्रपदेऽपि न मे गिरः ॥ ५१ ॥

अन्वय—अयि भगवन् ! तव पृथु(विशालम्) शिरः त्रिदशापगया श्रितम्, पृथु (उदारम्) हृदयम् करुणया श्रितम्, पृथु (विस्तीर्णं) वपुः शिवया (गिरिजया) श्रितम् । तर्हि तव अतिप्रमिते अपि श्रवणरन्ध्रपदे, मे गिरः, धृतिः (धारण) कथ न (भवति ?) ।

अर्थ—अयि भगवन् ! आपने गङ्गा देवी को अपना विशाल मस्तक प्रदान कर दिया, कृपा के रहने के लिए अपना उदार हृदय दे दिया और श्री जगदम्बा पार्वतीजी के बैठने के लिए अपने अङ्ग (गोद) में दान कर डाला, तो फिर हे भगवन् ! ऐसे उदार (औदार्यशाली) होकर भी आप इस मेरी वाणी विचारी के लिए अपने (एक छोटे से) कर्ण-विवर में थोड़ी सी जगह देने में भी इतनी आनाकानी क्यों करते हो ? ।

त्वदनुरागभरेण कदर्थिता
त्वदनुरञ्जनकर्मणि चाक्षमा ।
इति मतिर्मम चाटुपराङ्मुखी
हर करोति निजार्तिनिवेदनम् ॥ ५२ ॥

अन्वय—हे हर ! त्वदनुरागभरेण ,कदर्थिता, त्वदनुरञ्जनकर्मणि च अक्षमा इति (हेतोः) मम मतिः चाटुपराङ्मुखी (सती) निजार्तिनिवेदनम् करोति ।

अर्थ—अयि भगवन् ! जैसे अपने प्रियतम-विषयक अत्यन्त अनुराग से विह्वल, लेकिन उसका मनोरञ्जन करने में असमर्थ कामिनी, चाटु वचनों से पराङ्मुख होकर स्वामी से अपना दुःख-निवेदन करती है, वैसे ही यह मेरी मति (भी) आपके विषयक अत्यन्त गाढ़ अनुराग से

विह्वल है लेकिन आपका मनोरञ्जन करने योग्य कार्य करने में असमर्थ है। इस कारण यह (मेरी मति) आपकी खुशामदें न करके केवल आपसे अपना दुःख निवेदन करती है।

प्रियतमोऽसि मतेर्मम सा पुन-
र्न गुणवत्यपि ते हृदयङ्गमा।
इति महेश भवद्विरहातुरा
भजति कामपि कामकदर्थनाम् ॥ ५३ ॥

अन्वय—हे महेश ! (त्वम्) मम मतेः प्रियतम, असि, सा पुनः गुणवती अपि ते हृदयङ्गमा न (भवति), इति (सा) भवद्विरहातुरा (सती) काम् अपि कामकदर्थनाम् भजति।

अर्थ—हे महेश ! जैसे कोई सद्गुणवती (शील, सदाचार, पातिव्रत्य आदि सद्गुणों से सम्पन्न) प्रियतमा अपने पति को अपना प्राणप्रिय समझती हो, परन्तु पति को यदि वह प्रिय न लगती हो, तो वह स्त्री काम व्यथा से पीडित हो असह्य वेदना को प्राप्त होती है, वैसे ही आप मेरी मति के प्राणप्रिय (प्राणनाथ) हो और यह गुणवती होकर भी (अर्थात् सत्व, रजस्तम इन तीनों गुणों से, अथवा दया-दाक्षिण्यादि गुणों से भरी हुई भी) आपको प्रिय नहीं लगती, इस कारण यह (मेरी मति) आपके विरह से व्याकुल होती हुई अपने अभीष्ट मनोरथ के पूर्ण न होने के कारण अत्यन्त असह्य व्यथा को प्राप्त होती है।

भव भवत्परिरम्भसुखोऽस्तु मा
त्वदुपभोगविधौ तु कथैव का।
तव तु दर्शनमात्रककांक्षिणीं
मम मतिं कथमित्थमुपेक्षसे ॥ ५४ ॥

अन्वय—हे भव ! (तस्याः मम मतेः) भवत्परिरम्भसुखः मा अस्तु, त्वदुपभोगविधौ तु कथा एव का ? किं तु, तव दर्शनमात्रककाङ्क्षिणीम् मम मतिम् इत्थम् कथम् उपेक्षसे ?।

अर्थ—हे भगवन् ! इस मेरी मति को आपके आलिङ्गन का सौख्य तो किस प्रकार मिल सकता है ? और आपके उपभोग (लाड़-प्यार) का तो कहना ही क्या है ? किन्तु हे स्वामिन् ! केवल एक आपके दर्शन मात्र की इच्छा करनेवाली मेरी मति की इस प्रकार आप क्यों उपेक्षा कर रहे हो ? ।

कुटिलतां न जगाम निसर्गतो
न सहजं मलिनत्वमुपेयुषी ।
वहसि किं घनरागकदर्थितां
मम मतिं प्रति कर्कशमाशयम् ॥ ५५ ॥

अन्वय—अयि स्वामिन् ! (इयम्) निसर्गतः कुटिलताम् न जगाम, सहजम् मलिनत्वम् च न उपेयुषी । तर्हि, घनरागकदर्थिताम् मम मतिम् प्रति कर्कशम् आशयम् किम् वहसि ? ।

अर्थ—अयि स्वामिन् ! यह मेरी मति-रूपी कामिनी कुटिल स्वभाववाली नहीं है और स्वाभाविक दोषों से भरी भी नहीं है । तब हे विभो ! आपके गाढ़-स्नेह से विह्वलित हुई इस मेरी मति के प्रति आपका हृदय इतना कठोर क्यों हो गया ? ।

अथ गता परिणामदशामिति
त्यजसि चेन्मम मुग्धतमां मतिम् ।
किमपरं घनमोहविमूर्छिता
प्रथयतां तव निर्दयतामियम् ॥ ५६ ॥

अन्वय—अथ, इयम् परिणामदशाम् गता इति चेत् मम मुग्धतमाम् मतिम् त्यजसि ? तर्हि भवान् किम् (अपि) घनमोहविमूर्छिता इयम् तव निर्दयताम् प्रथयताम् ।

अर्थ—हाँ, यह (मति रूपी कामिनी) परिणामदशा—प्रौढ़ता (अर्थात् प्रकृति के परिणाम) को प्राप्त हो गई है । ऐसा समझ कर

यदि आप इस मेरी मूढ़तमा (अत्यन्त मुग्धा अर्थात् भोली भाली) मति का त्याग करते हैं, तो मैं और क्या कहूँ, अत्यन्त मोह (अज्ञान और कामोद्रेक) से मूर्च्छित होती हुई यह (मेरी मति) अब आपकी ही निर्दयता को प्रकट करेगी ! ।

इदमनङ्गजनङ्गमसङ्गमभ्रमदमन्दमलं चपलं मनः ।
अमृतकुम्भकर द्युतरङ्गिणीधर सुधाकरशेखर शोधय ॥५७॥

अन्वय—हे अमृतकुम्भकर ! हे द्युतरङ्गिणीधर !! हे सुधाकरशेखर !!! इदम् अनङ्गजनङ्गमसङ्गमभ्रमदमन्दमलम् (मम) चपलम् मन शोधय ।

अर्थ—अयि अमृतकुम्भ को हाथ मे धारण करनेवाले ! हे आकाशगङ्गा को शीश पर धारण करनेवाले !! हे सुधाकरशेखर ! (ललाट में चन्द्रकला को धारण करनेवाले !) आपने समस्त जगत् को पवित्र करने के लिए अमृतकलश, भगवती गङ्गा और चन्द्रमा को अपने अङ्गों मे धारण किया है; इसलिए हे प्रभो ! कामरूपी चाण्डाल के सङ्गम से अत्यन्त अपवित्र (मलिन) हुए मेरे चञ्चल मन को अब आप पवित्र कर दीजिए ।

भव मरुभ्रमखेदकदर्थितं सुविषमैस्तृषितं विषयोष्मभिः ।
मदयते हृदयं मम निर्भरं भव भवचरणस्मरणामृतम् ॥५८॥

अन्वय—हे भव ! भवमरुभ्रमखेदकदर्थितम्, सुविषमै. विषयोष्मभि. तृषितम्, मम हृदयम् (कर्मभूतम्) निर्भरम् भवचरणस्मरणामृतम् (कर्तृ) मदयते ।

अर्थ—अयि शम्भो ! संसाररूपी अति घोर मरुस्थल मे भटक-भटक कर अत्यन्त खिन्न और विषयरूपी महा प्रचण्ड ताप से तृषित मेरे हृदय को आपके चरणों का स्मरणरूपी अमृत अत्यन्त आनन्दित करता है । अर्थात् संसाररूपी मरुस्थल के भ्रमण से सन्तप्त हृदय का तीव्र ताप आपके चरणारविन्द-स्मरणाऽमृत के सेवन से समूल ही नष्ट हो रहा है ।

विषयपन्नगपाशवशीकृतं
भवमहार्णवमग्नमनीश्वरम् ।
बहलमोह-महोपलपीडितं
हर समुद्धर मां शरणागतम् ॥ ५९ ॥

अन्वय—हे हर ! विषयपन्नगपाशवशीकृतम्, भवमहार्णवमग्नम्, अनीश्वरम्, बहलमोहमहोपलपीडितम् माम् शरणागतम् समुद्धर ।

अर्थ—अयि समस्त दुःखहारिन् ! विषयरूपी नाग पाशों से बँधे हुए, संसाररूपी महासमुद्र में निमग्न और उस पर भी अति गाढ मोह (अज्ञान)-रूपी महाशिला (बड़े पत्थर) से मारे मुझ अनाथ शरणागत का उद्धार कीजिए ।

यमभटैर्ह्रियमाणमयन्त्रणै-
रशरणं शरणं चरणौ श्रितम् ।
घनघृणामृतनिर्भरया दृशा
मदन-मर्दन मामवलोकय ॥ ६० ॥

अन्वय—हे मदन-मर्दन ! अयन्त्रणैः यमभटैः ह्रियमाणम् अशरणम्, चरणौ शरणम् श्रितम् माम्, घनघृणामृतनिर्भरया दृशा अवलोकय ।

अर्थ—अयि कामदेव का मान मर्दन करनेवाले प्रभो ! अनियमित (अत्यन्त उच्छृङ्खल) यमदूतों से आकर्षित किये जाते, सर्वथा अनाथ और केवल एक आपके चरणों का शरण लिये मुझ दीन को अति गाढ़ कृपारूपी अमृत से परिपूर्ण दृष्टि द्वारा देखिए ।

अभयघोषमिषोन्मिषिताऽमृत-
द्रवमवन्ध्यधृतस्मितचन्द्रकम् ।
वदनचन्द्रमसं तव पश्यतो
मम कदा नु तमः शममेष्यति ॥ ६१ ॥

अन्वय—अयि विभो ! प्रणततापविपत्क्षपणक्षमाम्, दलितसन्ततसन्तमसस्थितिम्, अमृतस्रुतम् दयाम्, मूर्धनि हरिणकेतुकलाम् इव, हृदि निधेहि ।

अर्थ—हे विभो ! शरणागतों के समस्त तापों को शान्त करने में समर्थ और गाढ़ अन्धकार को नष्ट करनेवाली अमृतमयी चन्द्रकला को जिस प्रकार आपने अपने मस्तक में धारण किया है, उसी प्रकार अयि शरणागतवत्सल ! शरणागतों की तापरूपी विपत्ति को दूर करने में समर्थ, अज्ञानरूपी गाढ़ अन्धकार को समूल नष्ट करनेवाली, और अमृत के प्रवाह को झरनेवाली, विशाल करुणा को (भी) हृदय में धारण कीजिए।

अभिमताधिकसिद्धिविधायिनीं
　　भवदवच्छिदमव्यभिचारिणीम् ।
वह विभो हृदये दयितां दयां
　　वपुषि भूधरराजसुतामिव ॥ ६४ ॥

अन्वय—अयि विभो ! अभिमताधिकसिद्धिविधायिनीम्, भवदवच्छिदम्, अव्यभिचारिणीम्, दयिताम् दयाम्, वपुषि भूधरराजसुताम् इव, हृदये वह ।

अर्थ—अयि विभो ! जैसे आपने शरणागतों को इच्छा से भी अधिक सिद्धि देनेवाली, संसाररूपी दावानल (वनाग्नि) का समूल छेदन करनेवाली और सर्वदा ही साथ रहनेवाला प्रियतमा श्री गिरिजा को अपनी गोद में बैठा रक्खा है, वैसे ही भक्तजनों को उनके मनोरथों से भी अधिक वर देनेवाली, संसाररूपी घोर दावानल को समूल नष्ट कर देनेवाली और सर्वदैव सुस्थिर रहनेवाली प्रियतमा 'करुणा' को भी अपने हृदय में बैठा लीजिए !

चिन्तामणिः स्फटिकजातिरचेतनोऽपि
　　कल्पद्रुमः कठिनकाष्ठविनिर्मितोऽपि ।

तिर्यग्दशामपि गता किल कामधेनु-
भाग्यैरभीष्टफलदा कृतिनां भवन्ति ॥ ६५ ॥
त्वं तु प्रभो त्रिभुवनैकमहेश्वरोऽपि
पर्याप्तशक्तिरपि पूर्णकृपार्णवोऽपि ।
आक्रन्दतोऽपि करुणं विधिवञ्चितस्य
त्यक्तादरोसि मम दर्शनमात्रकेऽपि ॥ ६६ ॥
(युग्मम्)

अन्वय—स्फटिकजातिः चिन्तामणिः अचेतनः अपि, कल्पद्रुमः कठिन-काष्ठविनिर्मितः अपि, कामधेनुः च तिर्यग्दशाम् गता अपि (एते) कृतिनाम् भाग्यैः अभीष्टफलदा भवन्ति । हे प्रभो ! त्वम् तु त्रिभुवनैकमहेश्वरः अपि, पर्याप्तशक्तिः अपि, पूर्णकृपार्णवः अपि, (सन्) करुणम् आक्रन्दतः अपि, विधिवञ्चितस्य मम दर्शनमात्रके अपि त्यक्तादरः असि ।

अर्थ—भगवन् ! (जरा देखिए तो) स्फटिक पत्थर से उत्पन्न हुआ चिन्तामणि अचेतन (जड पदार्थ) होकर भी, कल्पवृक्ष अत्यन्त कठोर काष्ठमय होकर भी और कामधेनु पशु रूप होकर भी, (ये पदार्थ) पुण्यात्मा लोगों को उनके भाग्य से नाना प्रकार के मनोभीष्ट वरों को देते हैं ।

परन्तु, हे विभो ! आप तो तीनों लोकों के एक ही महान् अधिपति होकर भी, पर्याप्त (पूर्ण) शक्ति से सम्पन्न होकर भी और कृपा के पूर्ण समुद्र होकर भी, अत्यन्त दीनता से आक्रन्दन करते हुए (चिल्लाते हुए) भी मुझ भाग्यहीन को एकमात्र केवल दर्शन देने में भी इतनी आनाकानी करते हो। (यह मेरे ही भाग्य की खूबी है*)।

---

* इसी अभिप्राय से किसी भावुक ने अपने चित्त से कहा है :—
निश्चेतनं तृणमणिस्तृणमाददाति
लोहं च लोहमणिराऽऽमवशं करोति ।

चिरं द्वारोपान्ते स्थितमवसरोद्वीक्षणधिया
तिरस्कारः सोढः[1] कुपितमुखरद्वाःस्थविहितः।
मुखं दीनं कृत्वा विभवलवगर्वान्वितदृशां
कदीशानामग्रे क इव न विसोढः परिभवः ॥६७॥

परिम्लानो मानस्तनुरपि तनुस्ताम्यतितमां
मनो मोहावर्ते भ्रमति धृतिरस्तं व्रजति च।
कथापि क्लेशानामवतरति नोच्छेदपदवीं
दवीयस्यामस्यां भवभुवि मुधा धावति मतिः ॥६८॥

तदेवं दुर्वारव्यसनशतसंपातविषमं
विशन्नेष स्वामिन्नहह सुमहन्मोहगहनम्।
अविन्दन्नाश्वासक्षममपरमापन्नसुहृदं
जनोऽवज्ञापात्रं भवति करुणाब्धेर्न भवतः ॥ ६९ ॥

(तिलकम्)

अन्वय—(अस्माभिः) अवसरोद्वीक्षणधिया, विभवलवगर्वान्वित-दृशाम् कदीशानाम् द्वारोपान्ते चिरम् स्थितम्, (तत्रैव) कुपितमुखरद्वाःस्थ-विहितः तिरस्कारः सोढः। (तदेवम् अस्माभिः) कदीशानाम् अग्रे दीनं मुखम् कृत्वा क इव परिभवः न विसोढः? हे विभो! (मम) मानः परिम्लानः, तनुः अपि तनुः ताम्यतितमाम्, मनः मोहावर्ते भ्रमति, धृतिः च अस्तं व्रजति, क्लेशा-

---

रे चित्त! चेतनमपि स्वमभाग्यतो मे
स्वाधीनमाचरसि नो स्वधियं दयालुम्॥

अर्थात्—तृणमणि (तृणग्राहक क्षुद्र मणि—'कहरवा') अचेतन (जड़ पदार्थ) को अपनी तरफ़ खींच लेती है। और लोहमणि (चुम्बक अचेतन पत्थर) लोहे को भी अपने वश में कर लेती है। परन्तु अरे चित्त! तू तो मेरे अभाग्यवश, अतिशय दयालु प्रभु साक्षात् 'चेतन' को भी अपने वश में नहीं कर सकता!

(१) 'प्राप्तः' ऐसा भी पाठ है।

नाम् यथा अपि उच्छेदपदवीम् न भवतरति, मातः अस्याम् दवीयस्याम् भवभुवि मुधा धावति। अहह ! हे स्वामिन् ! तत् एवम् दुवारव्यसनशत सपातविषमम् सुमहन्मोहगहनम् विशन् (अतएव) आश्वासक्षमम् अपरम् (विभोरन्य नाथ बान्धवं वा) आपन्नसुहृदम् अविन्दन् एष (मल्लक्षण) जन, करुणाब्धे भवत अवज्ञापात्रम् न भवति (अवज्ञापात्र भवितुं नार्हति)।

अर्थ—अयि विभो ! हमें कब अन्दर जाने का अवसर (मौका) मिलेगा' ऐसे विचार से हम लोग थोड़े से धन के मद से अन्ध हुए क्षुद्र राजाओं के द्वारों (दरवाजों) पर बहुत समय तक स्थिर रहे और वहीं पर अत्यन्त कुपित द्वारपालों का किया तिरस्कार भी खूब सहन किया। प्रभो ! इस प्रकार महान् अहङ्कारी क्षुद्र-धनिकों के आगे हमने कौन सा अपमान नहीं सहन किया ? अर्थात् अनेकों अपमान सहन किये।

अयि भगवन् ! अब मेरा अभिमान अर्थात् मैं भी कोई एक हूँ ऐसा अहङ्कार, अत्यन्त म्लान हो गया है और कृशता को प्राप्त हुआ शरीर भी अत्यन्त ग्लानि को प्राप्त हो रहा है। मन मोहरूपी भँवर में पड़कर चक्कर खा रहा है। धैर्य भी अस्त हो रहा है। क्लेशों (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेशों) के नाश होने की सम्भावना तक नहीं होती और इस अपार संसार-रूपी दुर्गभूमि में मति व्यर्थ ही दौड़ा करती है। अहह ! हे स्वामिन् ! इस प्रकार अनेकों अनिवार्य विपत्तियों के संघातों से गहन, महान् मोहरूपी दुर्गम (निर्जन) स्थल में प्रवेश करता हुआ (अतएव) एक मात्र आप के सिवाय आश्वासन (धैर्य) देने में समर्थ और विपत्ति में घिरे अनाथ जनों का अपनानेवाला, अन्य किसी (ईश्वर अथवा बान्धव) को न पाता (देखता) हुआ यह दीन प्राणी, आप करुणासागर का तिरस्कार-पात्र होने योग्य नहीं है।

कदर्याणामग्रे तरलनलिनीपल्लवतल-
प्रलीनप्रालेयप्रचलकमला-मूढमनसाम्।

अदभ्रभ्रूभङ्गप्रभवमवमानं हतधियः
सहन्ते हन्तेह द्रविणकणतृष्णान्धितदृशः ॥ ७० ॥

अहं तु प्रत्यग्रप्रभुचरणराजीवरजसा
पवित्रं मूर्धानं दधदधिकभक्तिग्रहगुरुम् ।
भ्रुकुंसत्वं बिभ्रत्प्रमदभरसन्दर्भरभसा-
द्भजेयं भूतेशभ्रुकुटिघटनाभाजनभुवम् ॥ ७१ ॥

(युग्मम्)

अन्वय—हन्त ! इह द्रविणकणतृष्णान्धितदृशः हतधियः, तरलनलिनी-पल्लवतलप्रलीनप्रालेयप्रचलकमलामूढमनसाम् कदर्याणाम् अग्रे अदभ्रभ्रूभङ्ग-प्रभवम् अवमानम् सहन्ते । अहम् तु, प्रत्यग्रप्रभुचरणराजीवरजसा पवित्रम्, अधिकभक्तिग्रहगुरुम् मूर्धानं दधत्, प्रमदभरसन्दर्भरभसात् भ्रुकुंसत्वम् बिभ्रत्, भूतेशभ्रुकुटिघटनाभाजनभुवम् भजेयम् ।

अर्थ—हाय ! कितने खेद की बात है कि इस नीरस संसार में, धन के कण की तृष्णा से जिनकी बुद्धि मारी गई है ऐसे अभागे लोग, अति-चञ्चल कमलपत्र पर गिरे जलबिन्दु के समान अत्यन्त चलाय-मान (अर्थात् क्षणभङ्गुर) धन के मद से मूढ (अन्ध) बने कृपण लोगों के आगे, उनका अत्यन्त टेढ़ी और विकराल भ्रुकुटियों (नजरों) से उत्पन्न अपमान को सहन करते हैं !

(किन्तु) मैं तो प्रभु के सुकोमल चरणारविन्द के रज से पवित्र और अति गाढ भक्ति के आग्रह से गुरु मस्तक को धारण करता हुआ भक्तिसरूपा आसव (सुरा) के पान से परमानन्द प्रवाह के वश में आकर स्त्रीवपधारी नट बनकर भगवान् शङ्कर की भ्रूभङ्ग-रचना के स्थल का सेवन कर रहा हूँ।

[अब कवि श्री शिवभक्तिरसाऽमृत के आनन्दोद्रेक में अपना मनो-विनोद करते हैं—]

सुरस्रोतःस्वत्यास्तटविटपिपुष्पौघसुरभौ
गिरिग्रावग्रामस्खलनमुखरस्रोतसि जले।
श्रमक्षामैरङ्गैरगणितभवक्लेशविपदां
कदा स्यान्नस्तृप्तिर्हरचरणसेवासुखरसैः ॥ ७२ ॥

अन्वय—तटविटपिपुष्पौघसुरभौ गिरिग्रावग्रामस्खलनमुखरस्रोतसि सुरस्रोतस्वत्या, जले, श्रमक्षामैः अङ्गैः (उपलक्षितानाम्, अतएव) अगणितभवक्लेशविपदाम् नः, हरचरणसेवासुखरसैः तृप्तिः कदा स्यात् ?

अर्थ—अहा ! तट-वृक्षों के सुमनोहर पुष्पों से सुगन्धित और पर्वत की शिलाओं की टक्करों से शब्दायमान स्रोत(प्रवाह)वाले सुरसरि के जलावगाहन में, हम—श्रम से क्षीण (कृशित) अङ्गवालों को, सांसारिक क्लेशों की विपत्तियों पर कुछ भी ध्यान न रखते हुए श्री शिव-पादारविन्द की सेवा के सुख से अतिशय तृप्ति कब मिलेगी ?।

अमन्दानन्दानां दलदलघुसन्तापविपदां
पदाम्भोजद्वन्द्वं शिरसि दधतामिन्दुशिरसः।
कदा नः कालिन्दीसलिलशबलैरम्बरसरि-
त्तरङ्गैरङ्गारीभवति भवबन्धेन्धनचयः ॥ ७३ ॥

अन्वय—इन्दुशिरसः पदाम्भोजद्वन्द्वम् शिरसि दधताम् (अतएव) अमन्दानन्दानाम् दलदलघुसन्तापविपदाम् नः, भवबन्धेन्धनचयः, कालिन्दीसलिलशबलैः अम्बरसरित्तरङ्गैः कदा अङ्गारीभवति ?

अर्थ—(अहा !) भगवान् श्री इन्दुमौलि के पादपद्म-युगल को मस्तक पर धारण किये (अतएव) अति गाढ़ आनन्द में मग्न होकर महान् सन्ताप रूपी विपत्तियों का निर्मूलन करते हुए हमारा यह सांसारिक बन्धन-रूपी इन्धनगण (काष्ठ का समूह) श्री यमुना-सलिल से सम्मिश्रित भगवती देव-सरिता (गङ्गा) की तरङ्गों से कब भस्म होगा ?

सान्द्रानन्दस्तिमितकरणः पुण्यनैपुण्यभागी
भागीरथ्यास्तटविटपिनः क्वापि मूले निलीनः।
सर्वाकारं गिरिपतिसुताकान्तमेकं प्रपन्नः
स्वात्मारामः शमसुखसुधास्वादमभ्येति धन्यः॥ ७४ ॥

अन्वय—सर्वाकारम् एकम् गिरिपतिसुताकान्तम् प्रपन्नः (अतएव) सान्द्रानन्दस्तिमितकरणः पुण्यनैपुण्यभागी धन्यः स्वात्मारामः, भागीरथ्याः तटविटपिनः क्वापि मूले निलीनः (सन्) शमसुखसुधास्वादम् अभ्येति।

अर्थ—अहा! एकाग्रचित्त होकर मन, वचन, कर्म द्वारा सम्पूर्ण प्रयत्नों से एकमात्र श्री सदाशिव का ही शरण लिया हुआ (अतएव) अति गाढ़ आनन्द से संरुद्ध (शिथिल) हुई इन्द्रियोंवाला कोई महान् पुण्य-शाली, आत्मा में रमण करनेवाला धन्यात्मा पुरुष, पतित-पावनी भागी-रथी के तीर-वृक्ष के किसी मूल में बैठा हुआ शान्तिरूपी अमृत का आस्वादन करता है!

अभिजनगुणख्यातिप्रज्ञाभिमानभरोद्धुरां
क इव सदसि प्रह्वीकर्तुं क्षमेत[1] शिरोधराम्।
विदधति मुहुर्हेलाखेलं भवत्यवधीरणं
भ्रमयितुममी युक्ता न स्युर्यदीन्द्रियवैरिणः॥ ७५ ॥

अन्वय—भोः स्वामिन्!, भवति मुहुः हेलाखेलम् अवधीरणम् विद-धति (सति) अमी इन्द्रियवैरिणः (जनम्) भ्रमयितुम् यदि न युक्ताः स्युः, तर्हि कः इव (पुमान्) सदसि अभिजनगुणख्यातिप्रज्ञाऽभिमानभरोद्धुराम् शिरोधराम् प्रह्वीकर्तुम् क्षमेत ? न कोपीत्यर्थः।

अर्थ—अयि स्वामिन्! आपके बार-बार हँसी में अपमानित करने पर (अर्थात् आपके विमुख हो जाने पर) ये इन्द्रियरूपी वैरीगण यदि मनुष्य को भ्रमण करने के लिए न तैयार होते, तब कौन पुरुष (क्षुद्र लोगों

---

(१) सहेत, ऐसा भी पाठ है।

की) सभा मे अपने सत्कुल, गुण, कीर्ति एवं बुद्धि के अभिमान मे उन्नत हुई ग्रीवा (गरदन) को नम्र करता ? अर्थात् कोई भी नहीं। क्योंकि—

मानः कस्य न वल्लभः खलमुखप्रेक्षित्वदुःस्था स्थितिः
कस्य प्रीतिकरी त्रपाभरनतं कस्मै शिरो रोचते।
किन्तु स्वामिनि साऽवलेपहृदये दासीकृताः शत्रुभिः
क्षुद्रानद्यतनेश्वरान्धनमदक्षीबान्निषेवामहे ॥ ७६ ॥

अन्वय—मानः कस्य वल्लभः न (भवति ?) खलमुखप्रेक्षित्वदुःस्था स्थितिः कस्य प्रीतिकरी (भवति ?) [याच्ञावशात्] त्रपाभरनतम् शिरः कस्मै रोचते ? किन्तु, स्वामिनि सावलेपहृदये (सति) शत्रुभिः (आन्तरै कामादिभिः) दासीकृताः वयम् धनमदक्षीबान्, अद्यतनेश्वरान् क्षुद्रान् निषेवामहे।

अर्थ—हे भगवन्! अभिमान या सत्कार किस पुरुष को प्रिय नहीं लगता ? अर्थात् सबको ही प्रिय लगता है। दुःख व्यथा को असह्यता के कारण खलों का मुँह देखने से सत्पुरुष की जो दीन-दशा होती है, उसे कौन अच्छा समझता है ? अर्थात् कोई भी नहीं। याचना-वश लज्जा के भार से शिर को नम्र करना, किसको अच्छा लगता है ? अर्थात् किसी को भी नहीं। परन्तु, हाय करें क्या ? आप सरीखे प्रभु के दरबार मे हमारा तिरस्कार होने के कारण (अर्थात् आपके विमुख हो जाने से ही) इन काम-क्रोधादिरूपी शत्रुओं ने हमे अपना दास बना लिया है, जिससे हम लोग धन के मद से पागल हुए आधुनिक क्षुद्र नृपों की सेवा करते हैं !

स्तब्धा द्वारि यदास्महे क्षितिभुजां निर्भर्त्सिता वेत्रिभि
र्यद्द्रव्यान्धनरेन्द्रवल्लभदुरुद्गारैर्विदह्यामहे।
यन्मिथ्यास्तुतिपातकैर्भगवतीं वाचं तिरस्कुर्महे
तत्सर्वं तव वक्रवक्त्रवलनामात्रस्य विस्फूर्जितम् ॥ ७७ ॥

अन्वय—क्षितिभुजाम् द्वारि, वेत्रिभिः निर्भर्त्सिताः (सन्तः) वयम्, यत् स्तब्धाः आस्महे, यच्च गर्वान्धनरेन्द्रवल्लभदुरुद्गारैः विदह्यामहे, (क्षुद्रनृपतीनाम्) मिथ्यास्तुतिपातकैः भगवतीम् वाचम् तिरस्कुर्महे, हे विभो! तत् सर्वम् तव वक्रवक्त्रस्खलनामात्रस्य विस्फूर्जितम् (अस्ति)।

अर्थ—राजाओं के दरवाजों पर दण्डधारी द्वारपालों (चौकीदारों) से अपमानित होकर हम लोग जो अत्यन्त स्तब्ध (शिथिल-प्रयत्न) से हो जाते हैं और जो महा मदान्ध राज-पुरुषों के मुख से निकले दुष्ट-वचनों (फटकारों) से जलते रहते हैं, और भी जो क्षुद्र राजाओं के मिथ्या-स्तुतिरूपी महान् पातक से भगवती वाणी का तिरस्कार करते हैं, हे विभो! यह सब आपके रुष्ट होने का ही फल है!

दृष्ट्वा पाटलगण्डलेखमरुणोद्बाष्पेक्षणं प्रस्फुरद्-
बिम्बोष्ठं प्रथमापराधकुपितं वक्त्रं कुरङ्गीदृशः।
यत्सप्रेम सविस्मयं सविनयं सापत्रपं सस्पृहं
सत्रासं च मनोऽभवत्तदधुना शान्तं च शान्तं च नः॥७८॥

अन्वय—पाटलगण्डलेखम् अरुणोद्बाष्पेक्षणम् प्रस्फुरद्बिम्बोष्ठम् प्रथमापराधकुपितम् कुरङ्गीदृशः वक्त्रम् दृष्ट्वा, नः (अस्माकम्) मनः यत् सप्रेम, सविस्मयम् सविनयम् सापत्रपम् सस्पृहम् सत्रासम् च अभवत्, तत् (एव) अधुना (श्रीशिवभक्तिरसामृतेन सिक्तम् सत्) शान्तम् च शान्तम् च (जातम्)।

अर्थ—लाल लाल कपोलोंवाले, अरुण और बाष्पमय नेत्रोंवाले, बिम्ब के समान अतीव सुन्दर अधरों(ओठों)वाले और प्रथम अपराध से कुपित कुरङ्गनयनी (कामिनी) के मुख-कमल को देखकर (पहले) जो हमारा मन, अतिशय प्रेम-युक्त, विस्मय-युक्त, विनय से युक्त, लज्जा-युक्त, तृष्णा-युक्त और त्रासयुक्त होता था, वही मन अब इस समय श्रीशिव-भक्ति-रूपी अमृत से सिञ्चित हो जाने पर अत्यन्त शान्त (स्निग्ध) और शान्त हो गया है।

यत्खर्वीक्रियते सुखं विषयजं त्वद्भावनाजन्मना
ह्लादेन क्षणिकं स्थिरेण महता स्वल्पं किमत्राद्भुतम्।
तच्चित्रं भवदुःखजं भवदनुध्यानप्रमोदाश्रुणा
बाष्पाम्बु ध्रुवमध्रुवेण सुमहत्सूक्ष्मेण यद्भिद्यते ॥७९॥

अन्वय—हे विभो ! क्षणिकम्, स्वल्पम्, विषयजम् सुखम्, स्थिरेण, महता, त्वद्भावनाजन्मना ह्लादेन, यत् खर्वीक्रियते, अत्र किम् अद्भुतम् ? न किंचिदित्यर्थः, किन्तु, अध्रुवेण (क्षणिकेन) सूक्ष्मेण च, भवदनुध्यानप्रमोदाश्रुणा, यत् ध्रुव सुमहत् च भवदुःखजम् बाष्पाम्बु भिद्यते, तत् चित्रम् !

अर्थ—हे विभो ! जो क्षणिक (अत्यन्त अस्थिर) और स्वल्प विषय-जन्य सुख, आपकी भावना (ध्यान) से उत्पन्न होनेवाले सुस्थिर और महान् आनन्द से अति अल्प हो जाता है, इसमें क्या आश्चर्य है ? अर्थात् आपमें एकाकार वृत्ति से होनेवाले सुस्थिर आनन्द के सामने यह क्षणभंगुर विषय सुख जो अति तुच्छ प्रतीत होने लगता है यह कोई विशेष आश्चर्य की बात नहीं है ! किन्तु, आपके चिन्तन (स्मरण) से होनेवाले क्षणिक और अत्यन्त सूक्ष्म आनन्दाश्रु से जो सांसारिक दुःखों से होनेवाला, अत्यन्त सुस्थिर और महान् (बहुत बड़ा) अश्रुप्रवाह सहसा ही नष्ट हो जाता है, इसमें महान् आश्चर्य है !

साराश यह है कि—क्षण भर और स्वल्प मात्रा में किये भी प्रभु के चिन्तन से, अत्यन्त स्थिर और बहुत बड़े भी सांसारिक दुःखों का अपाकरण (नाश) हो जाता है।

अज्ञानान्धमबान्धवं कवलितं रक्षोभिरक्षाभिधैः
क्षिप्तं मोहमहान्धकूपकुहरे दुर्हृद्भिराभ्यन्तरैः।
क्रन्दन्तं शरणागतं गतधृतिं सर्वापदामास्पदं
मा मा मुञ्च महेश पेशलदृशा सन्त्रासमाश्वासय ॥८०॥

अन्वय—हे महेश ! अज्ञानान्धम् अबान्धवम्, अक्षाभिधैः (इन्द्रियनामकैः) रक्षोभिः कवलित, आन्तरैः दुर्हृद्भिः मोहमहान्धकूपकुहरे क्षिप्तम्, क्रन्दन्तम्, गतधृतिम्, सर्वापदाम् आस्पदम् मा (माम्) शरणागतम् मा मुञ्च। सत्रासम् (माम्) पेशलदृशा आश्वासय।

अर्थ—हे महेश ! अज्ञान रूपी अन्धकार से अन्ध हुए, (आश्वासन देने योग्य) बान्धव से हीन, इन्द्रिय नामक राक्षसों से ग्रस्त किये, आन्तरिक काम-क्रोधादि शत्रुओं द्वारा मोहरूपी महान् अन्धकूप के बिल (गड्ढे) में फेंके हुए, दीनता के कारण अत्यन्त विलाप करते हुए, धैर्य से च्युत (धैर्यहीन) और सम्पूर्ण विपत्तियों के स्थान, मुझ अनाथ शरणागत का त्याग मत कीजिए, मुझ भयभीत को अपनी कोमल करुणामयी दृष्टि से (देखकर) आश्वासन दीजिए।

यद्विश्वोद्धरणक्षमाऽप्यशरणत्राणैकशीलापि ते
मामार्त्तं दृगुपेक्षते स महिमा दुष्टस्य मे कर्मणः।
देव्यां दिव्यमृतैः पयोधरधृतैः पृथ्वीं पृणत्यां[1] कणा
द्वित्राश्चेन्न मुखे पतन्ति शिखिनः किंवाच्यमेतद्दिवः॥८१

अन्वय—हे विभो ! विश्वोद्धरणक्षमा अपि, अशरणत्राणैकशीला अपि ते दृक्, माम् आर्त्तम् यत् उपेक्षते, सः महिमा मे दुष्टस्य कर्मणः (अस्ति) (युक्तं चेतत्—) पयोधरधृतै अमृतैः पृथ्वीम् पृणत्याम् देव्याम् दिवि, द्वित्राः कणाः शिखिनः मुखे चेन्न पतन्ति, तर्हि एतत् दिवः किम् वाच्यम् ?

अर्थ—हे विभो ! त्रैलोक्य के उद्धार में समर्थ होकर भी, एकमात्र शरणहीन प्राणियों के त्राण (रक्षा) में ही तत्पर होकर भी जो आपकी करुणामयी दृष्टि, मुझ आर्त की उपेक्षा कर रही है, यह सब मेरे प्राचीन पाप कर्मों की ही महिमा है।

क्योंकि (यह बात युक्त ही है—) आकाश के मेघों में धारण किये जल से सम्पूर्ण पृथ्वी को परिपूर्ण कर देने पर (भी) दो तीन

(१) 'स्तृणत्याम्' ऐसा भी पाठ है।

बूँद यदि मयूर के मुख में न पड़े, तो इसमें आकाश की क्या निन्दा हो सकती है ? कुछ भी नहीं ।

शुभ्रं बिभ्रत्तरुणकरुणाऽऽक्रान्तमश्रान्तमन्तः
स्वान्तं शान्तप्रणतजनता-क्लेशलेशाप्रवेशम् ।
प्राणत्राणप्रणयकृपणप्राकृतप्राणिवर्ग-
व्यापत्तापक्षपणनिपुणां मुञ्च चण्डीश वाणीम् ॥८२॥

अन्वय—अयि चण्डीश ! अन्तः, अश्रान्तम् तरुणकरुणाक्रान्तम्, शान्तप्रणतजनताक्लेशलेशाप्रवेशम्, शुभम् स्वान्तम् बिभ्रत् (त्वम्) प्राणत्राणप्रणयकृपणप्राकृतप्राणिवर्गव्यापत्तापक्षपणनिपुणाम् वाणीम् मुञ्च ।

अर्थ—हे चण्डीपते ! अन्दर निरन्तर नवीन करुणा से आक्रान्त और शरणागत जनों के क्लेशों के लेशमात्र सम्पर्क से रहित अर्थात् प्राणियों के क्लेश जिसको कुछ भी नहीं सम्पर्क कर सकते ऐसे, यानी परम आनन्द स्वरूप, अतीव स्वच्छ हृदय को धारण किये आप, प्राणों के त्राण (रक्षा) के लिए याचना करनेवाले दीन, पामर प्राणियों की (जन्म, मरणादि रूपी) विपत्ति के सन्ताप को दूर करने में चतुर (अपना) प्रतिवचन (हमें) दीजिए अर्थात् हम आश्वासन दीजिए ।

अदभ्रश्वभ्रेयं भवसरणिरातङ्कबहुला
गलद्बोधज्योत्स्ना निरवधिरसौ मोहरजनी[1] ।
नयन्त्येते शान्तिं विषमविषयोत्पातमरुतः
प्रदीपं प्रज्ञाख्यं प्रतिदिश दशां क्लेशशमनीम् ॥८३॥

अन्वय—आतङ्कबहुला, इयम् भवसरणिः, अदभ्रश्वभ्रा (अस्ति) असौ निरवधि मोहरजनी, गलद्बोधज्योत्स्ना (अस्ति)। एते विषमविषयोत्पातमरुत, प्रज्ञाख्यम् प्रदीपम् शान्तिम् नयन्ति, (अत.) हे विभो ! क्लेशशमनीम् दशाम् प्रतिदिश ।

---

(१) 'मोहजननी' ऐसा भी पाठ कहीं देखा जाता है।

अर्थ—अनेकों दुःखों और रोगों से भरी यह भव-सरणि (संसार रूपी मार्ग) अनन्त छिद्रों (दुःखरूप गर्तों) से परिपूर्ण है। यह अपार मोहरजनी (अज्ञानरूप रात्रि) बोधरूपी प्रकाश से हीन है और ये अत्यन्त कठोर विषयरूपी उत्पातवायु (कल्पान्तवायु) इस चेतन रूपी दीप (ज्ञान) को शान्त कर रहे हैं, इसलिए हे विभो! अब आप शरणागतों की रक्षा के लिए सम्पूर्ण क्लेशों को शान्त करने-वाली अपनी करुणामयी दृष्टि को खोलिए।

शरीरं नीरोगं नवमपि वयः संस्कृतिमती
　　मतिर्वन्द्या जातिः प्रभुरपि भवान् भक्तिसुलभः।
इतीयं सामग्री सुकृतशतलभ्या विघटते
　　न यावत्तावन्मे शृणु करुणमाक्रन्दितमिदम् ॥८४॥

अन्वय—नीरोगम् शरीरम्, नवम् अपि वयः, संस्कृतिमती मतिः, वन्द्या जातिः, भक्तिसुलभः भवान् अपि प्रभुः, इति इयम् सुकृतशतलभ्या सामग्री, यावत् न विघटते, तावत् (एव) हे विभो! इदम् मे करुणम् आक्रन्दितम् शृणु।

अर्थ—नीरोग शरीर, तरुण अवस्था, शास्त्राभ्यास से सुसंस्कृत (अर्थात् विशुद्ध) मति, सब लोगों से वन्दनीय श्रेष्ठ (ब्राह्मण) जाति और केवल भक्तिमात्र से सुलभ आप जैसे आशुतोषी प्रभु, इस प्रकार की, पूर्वोपार्जित अनेक सुकृतों से प्राप्त हुई यह अलभ्य सामग्री, जब तक छिन्न-भिन्न न हो जाय, उसके पहले ही हे प्रभो! आप मेरा करुणाक्रन्दन (दीन-विलाप) सुन लीजिए।*

---

* सारांश यह है कि—सम्पूर्ण सामग्री के विद्यमान रहते ही मनुष्य को आत्मकल्याण कर लेना चाहिए, शक्ति क्षीण हो जाने पर प्राणी क्या कर सकता है? महात्मा श्री भर्तृहरिजी ने भी कहा है—

यावत्स्वस्थमिदं शरीरमरुजं यावज्जरा दूरतो
　　यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नाऽऽयुषः।

जयन्ति कृतिनः कवेरमृतसारसिक्ताक्षरा
विकस्वरशरत्सुधाकरकरानुकारित्विषः ।
पुरारिपदपङ्कजस्तवपवित्रचित्रक्रमाः
समुन्मिषितमालतीमुकुलकोमलाः सूक्तयः ॥८५॥

अन्वय—पुरारिपदपङ्कजस्तवपवित्रचित्रक्रमाः अमृतसारसिक्ताक्षराः विकस्वरशरत्सुधाकरकरानुकारित्विषः समुन्मिषितमालतीमुकुलकोमलाः कृतिनः कवेः सूक्तयः जयन्ति ।

अर्थ—श्री त्रिपुरारि के पदपङ्कज की स्तुति से पवित्र और मनोहर क्रमवाली, अमृत के रस से सिञ्चित अक्षरोंवाली, शरत्काल के पूर्णचन्द्र की किरणों के समान कान्तिमय (अति स्वच्छ), और मालती-पुष्प (जाती पुष्प) के विकसित कुड्मलों (कोरकों) के समान अति सुकोमल, सत्कवि की प्रौढोक्तियाँ सर्वोत्कृष्ट हैं।

[कवि सहृदयों को शिवभक्तों के ऐहलौकिक—लोकोत्तर ऐश्वर्य का दिग्दर्शन कराते हैं—]

शिवस्तवकृतो मधौ मलयवायुवेल्लल्लता-
गलन्मधुमदोन्मदभ्रमरपुञ्जगुञ्जच्छलात् ।
नदन्मदनशिञ्जिनीभणितभीतसीमन्तिनी-
भुजाकलितकन्धरा अधिवसन्ति लीलावनम् ॥८६॥

आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्
सन्दीप्ते भवने तु कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः ॥

अर्थात्—जब तक यह शरीर नीरोग और स्वस्थ रहता है, जब तक वृद्धावस्था दूर है, जब तक इन्द्रियों की शक्ति क्षीण न हो जाय, जब तक आयु क्षय न हो जाय, तब तक बुद्धिमान् पुरुष को अपने कल्याण के लिए प्रयत्न कर लेना चाहिए। क्योंकि—जिस समय घर में आग लगने लगे उस समय कूप-निर्माण करने से क्या लाभ हो सकता है ?

अन्वय—शिवस्तवकृतः,[१] मधौ नदन्मदनशिञ्जिनीक्वणितभीतसीमन्तिनीभुजाकलितकन्धराः (सन्तः) मलयवायुवेल्लल्लतागलन्मधुमदोन्मदभ्रमरपुञ्जगुञ्जच्छलात्, लीलावनम् अधिवसन्ति ।

अर्थ—अहा ! भगवान् श्री शङ्कर की स्तुति करनेवाले सहृदय जन वसन्त ऋतु के समय—कामदेव के धनुष की शब्दायमान प्रत्यञ्चा की झङ्कार से भयभीत हुई सीमन्तिनियों (वधूजनों) की भुजाओं से कण्ठ में आलिङ्गित होते हुए, मन्द-मन्द मलय-वायु से कम्पित हुई लताओं से गिरनेवाले मकरन्द के मद से उन्मत्त हुए भ्रमरों के गुञ्जार के व्याज से, (स्वर्ग के) नन्दन-वन की विहारस्थली में निवास करते हैं। और—

अदूरबहिरङ्गनोपवनजातचूतावली-
विलीनकलकोकिलाकलितकाकलीकूजितैः ।
चलन्मलयमारुतप्रचलदुल्लसन्मल्लिका-
विकासिकुसुमस्खलद्भ्रमरमण्डली-गुञ्जितैः ॥८७॥

निगूढतिमिघट्टनस्फुरितदीर्घिकासंभ्रम-
प्रसक्तकमलोदरस्थितमरालबालध्वनैः ।
रटत्पटहझल्लरीमुरजतूर्यभेरीगण-
प्रणादमुखरीभवद्वनबर्हिकेकारवैः ॥ ८८ ॥

सुधामधुरवारुणीरसकषायकण्ठोद्भव-
श्रवश्रुतिरसायनप्रगुणगायनीगीतकैः ।
प्रवीणपरिवादकोदितविभासरागस्वर-
क्रमानुगतवल्लकीविकचवंशिकामञ्जुलैः ॥ ८९ ॥

प्रभातगुणवर्णनप्रवणवन्दिवृन्दस्तुति-
प्रयुक्तशुकसारिकाकलहकेलिकोलाहलैः ।

---

(१) श्रीपरमेश्वरस्तुतिकर्तारः, श्रोतारश्च सहृदयाः ।

बहिर्विहरदङ्गनारणितरत्नकाञ्चीगुण-
क्वणत्कनककिङ्किणीझणझणारवाडम्बरैः ॥९०॥

खुरक्षतवसुन्धरोद्धुरतुरङ्गहेषोन्मिष-
त्प्रबोधधुतकन्धरद्विरदकण्ठघण्टारवैः ।
स्मरालसविलासिनीस्तनभरोपरुद्धोरस-
स्त्यजन्ति शयनं शनैरुपसि शम्भुशंसाजुषः ॥९१॥

(पञ्चभि कुलकम्)

अन्वय—शम्भुशंसाजुष (श्रीपरमेश्वरस्तुतिकर्तार कवय , श्रोतारश्च सहृदया) स्मरालसविलासिनीस्तनभरोपरुद्धोरस सन्त , उपसि, अदूरबहिरङ्गनो पवननातचूतावलीनिलीनकलकोकिलाकलितकाकलीकूजितै , चलन्मलयमारुत प्रचलदुल्लसन्मल्लिका विकासि कुसुम स्खलद्भ्रमरमण्डलीगुञ्जितै , तथा— निगूढतिमि - घट्टनस्फुरितदीर्घकासम्भ्रमनसत्कमलकोटरस्थितमराल बालरवै , रटत्पटहझल्लरीमुरजतूर्यभेरीगणप्रणादमुखरीभवद्भवननाट्यकेकारवै , सुधामधुर वारुणीरसकषायकण्ठोद्गत नवश्रुतिरसायनप्रगुणगायनीगीतकै , प्रवीणपरिवाद कोदितविभासरागस्वरक्रमानुगतवल्लकीविपञ्चकोचरप्रक्वणै , प्रभातगुणवर्णन प्रवणवन्दिवृन्दस्तुतप्रबुद्धशुकशारिकाकलहकेलिकोलाहलै , बहिर्विहरदङ्गनार णितरत्नकाञ्चीगुणक्वणत्कनककिङ्किणीझणझणारवाडम्बरै , खुरक्षतवसुन्धरोद्धु रतुरङ्गहेषोन्मिषत्प्रबोधधुतकन्धरद्विरदकण्ठघण्टारवै , शनै शयनम (निद्रा रसम्) त्यजन्ति ।

अर्थ—भगवान् शङ्कर की स्तुति करनेवाले सत्कवि और प्रेम रसिक सहृदय जन कामोद्रेक म आलसी बनी कामिनियों क स्तनमण्डल स आलिङ्गित हृदय हो, प्रात काल में—गृहसमीपवर्ती (बाहरी) आँगन की पुष्प वाटिका म आम्रवृक्षों पर बैठे मधुर स्वरवाले कोकिलों क 'कुहू' 'कुहू' शब्दों म, मलयाचल क मन्द मन्द वायु स कम्पित हुई मल्लिकाओं क विकसित पुष्पों स स्खलित होनेवाली भ्रमर मण्डली के गुञ्जार से,

जल के अन्दर विलीन हुई मछलियों के सघट्टन से स्फुरित तड़ागोदक के वेग (कम्प) से भयभीत हुए कमल कोटर-निवासी (कमलों के मध्य में रहनेवाले) मराल-बालो (हंस-बालकों) के शब्दों से, (दरवाजे पर) शब्दायमान दुन्दुभी, झल्लरी, भेरी आदि वाद्यो की गम्भीर ध्वनि को सुनकर हर्ष के मारे नाचनेवाले गृह मयूरों (घर के पालतू मोरों) का 'केका' वाणी से, अमृत के समान मधुर वारुणी-रस (मद्य) के पान से सुकोमल कण्ठ द्वारा निकलते हुए गायिकाओं के नवीन शब्द-रसायन (कर्ण मनोहर) गानों से, चतुर गायकों के मधुर राग, स्वर और क्रम से सम्मिश्रित वीणा की ध्वनि से, प्रभात समय के गुणगणों के वर्णन में तल्लीन हुए वन्दीगणों (भाट लोगों) की स्तुतियों को सुनकर जगे हुए शुकों और सारिकाओं (मैनाओं) की कलह-क्रीड़ा के कोलाहल से, बाहर विहरती हुई अङ्गनाओं की शब्दायमान रत्नकाञ्ची (रत्नों की करधनी) पर लटकती हुई स्वर्ण घण्टिकाओं के 'झण झण' शब्दाडम्बरों से और खुरों द्वारा पृथ्वी को क्षुण्ण करनेवाले उद्धत घोड़ों की 'हिनहिनाहट' से जगकर ग्रीवा को कम्पित करनेवाले हाथियों के कण्ठ स्थल में लम्बायमान घण्टिकाओं की गम्भीर ध्वनि से, धीरे-धीरे निद्रा का परित्याग करते हैं।

इति श्री प्रेममकरन्दोपेत काश्मीरक महाकवि-श्रीमज्जगद्धरभट्ट
विरचिते भगवतो महेश्वरस्य स्तुति-कुसुमाञ्जलौ
करुणाक्रन्दन नाम दशम स्तोत्रम्

एकादशं स्तोत्रम्

अब इसके अनन्तर कवि "दीनाक्रन्दन" नामक एकादशवें स्तोत्र को प्रारम्भ करते हैं—

धन्योऽस्मि सम्यगमृतं किमपि स्रवन्ती
सञ्जीवनं भगवती विदधाति यस्य ।
स्नेह-स्नुतस्तनयुगा जननीव जीव-
रक्षार्थमार्त्तिविधुरस्य ममोक्तिदेवी ॥ १ ॥

अन्वय—(शिशोः) जीवरक्षार्थम् किमपि अमृतम् स्रवन्ती स्नेह-स्नुतस्तनयुगा जननी इव, किमपि सम्यक् अमृतम् स्रवन्ती भगवती उक्तिदेवी, आर्त्तिविधुरस्य यस्य मम सञ्जीवनम् विदधाति[1] [सोऽहम्] धन्यः अस्मि ।

अर्थ—जैसे पुत्रवत्सला जननी अपने बालक की प्राण-रक्षा के लिए स्नेह के मारे स्तन-युगल से दिव्य अमृत (दुग्ध) को टपकाती है, वैसे ही, किसी विलक्षण (अनिर्वचनीय) अलौकिक अमृत को झरती हुई भगवती वाणी जिस मुझ आर्ति पीड़ित शिशु का आप्यायन (सञ्जीवन) कर रही है, वह मैं अतीव धन्य हूँ !

धन्योऽस्मि दुःसहविपत्पतितस्य यस्य
वाणीधृतोन्नतिरपुण्यकृतामभूमिः ।
कल्याणिनी सुमनसामुपसेवनीया
सौमेरवीव पदवी न दवीयसीयम् ॥ २ ॥

अन्वय—दुःसहविपत्पतितस्य धृतोन्नतिः, अपुण्यकृताम् अभूमिः (अगम्या), कल्याणिनी[2], सुमनसाम् उपसेवनीया, सौमेरवी[3] पदवी इव (सरणिरिव), इयम्—धृतोन्नतिः अपुण्यकृताम् अभूमिः (अप्राप्या), कल्याणिनी (समस्तमङ्गलवती), सुमनसाम् उपसेवनीया वाणी, दुःसहविपत्पतितस्य

---

(१) आप्यायनम् करोति ।

(२) 'कल्याणं सुवर्णं' तन्मयी, कनकमयत्वात् सुमेरोः ।

(३) सुमेरुगिरिसम्बन्धिनी ।

यस्य (मम) दवीयसी (अतिशयेन दूरस्थिता) न (भवति, किन्तु निकटस्थितैव[1]) [सोऽहम्] धन्य: अस्मि ।

अर्थ—अति दु:सह विपत्ति (दरिद्रता) में पड़े पुरुष की परमोपकारिणी, अपुण्यात्माओं के लिए अतिदुर्गम, सुमनसों (देवताओं) की उपसेवनीया (सेवन करने योग्य) सुमेरु-पर्वत की सुवर्णमयी पदवी (मार्ग) के समान, शब्द और अर्थ की उन्नति को धारण करनेवाली, अपुण्यात्माओं को दुष्प्राप्य, समस्त मङ्गलोंवाली और सुमनसों (सहृदय विद्वानों) के सेवन करने योग्य वाणी, जो अति दु:सह जन्म-मरण-रूपी विपत्ति में निमग्न हुए मेरे सन्निकट (मुँह) में ही स्थित है, सो मैं अतीव धन्य हूँ,

धन्योऽस्मि मोहतिमिरान्धदृशोऽपि यस्य
सानुग्रहेण विधिना परिकल्पिता मे ।
वल्गुस्वना गुणवती धृतवक्रभङ्गि-
राराधनाय गिरिशस्य सरस्वतीयम् ॥ ३ ॥

अन्वय—यथा तिमिरान्धदृश: पुरुषस्य, सानुग्रहेण विधिना वल्गुस्वना (मधुरस्वना) गुणवती (तन्त्रीयुक्ता) धृतवक्रभङ्गि: (कुटिला) च सरस्वती (वीणा), गिरिशस्य आराधनाय क्रियते तथा—(मयि) सानुग्रहेण विधिना मोहतिमिरान्धदृश: अपि, यस्य मे गिरिशस्य आराधनाय, इयम् वल्गुस्वना गुणवती धृतवक्रभङ्गि: सरस्वती (वाणी) परिकल्पिता, (सोऽहम्) धन्य: अस्मि ।

अर्थ—जैसे नेत्र रोग से अन्ध पुरुष को सद्भाग्यवश शङ्कर की आराधना करने के लिए अति मधुर स्वरोंवाली, सुन्दर तन्त्रियों(तारों) वाली और कुटिल आकारवाली सरस्वती (वाणी) प्राप्त हो जाती है, वैसे ही मोहरूपी अन्धकार से अन्ध बने जिस मुझ को सद्भाग्यवश

---

(१) स्वमुख एव तस्स्थानात् ।

विधाता ने अनुग्रहपूर्वक 'भगवान् सदाशिव' की आराधना के लिए यह सुमधुर शब्दोंवाली, माधुर्यादि गुणोंवाली एवं उपचार और वक्रोक्ति को धारण करनेवाली सरस्वती (वाणी) प्रदान की है, वह मैं (अतीव) धन्य हूँ।

सञ्जीवनौषधिरवैमि नवा भवाग्नि-
भस्मीकृतस्य विधिना मम निर्मितेयम्।
वाणी शिवैकविषयाभिनवोढगौरी-
दृष्टिच्छटेव चकिता मकरध्वजस्य ॥ ४ ॥

अन्वय—(अहम्; इति) अवैमि भवाग्निभस्मीकृतस्य मकरध्वजस्य नवा सञ्जीवनौषधि, शिवैकविषया चकिता अभिनवोढगौरीदृष्टिच्छटा इव—विधिना इयम् शिवैकविषया वाणी भवाग्निभस्मीकृतस्य मम नवा सञ्जीवनौषधि निर्मिता।

अर्थ—मैं समझता हूँ कि जैसे भवाग्नि (शिव की नेत्राग्नि) से भस्म हुए कामदेव को पुन उज्जीवित करने के लिए ब्रह्मा ने नवोढा-पार्वती की चकित दृष्टिच्छटारूपी नवीन सञ्जीवनी औषधि का निर्माण किया था, वैसे ही मुझ भवाग्नि(संसाररूपी वनाग्नि) से भस्म हुए को सजीवित करने के लिए विधि ने यह एकमात्र श्री शिव को सन्तुष्ट करनेवाली वाणी (स्तुति) साक्षात् नूतन सञ्जीवनी औषधि निर्मित की है।

जाने कथञ्चिदुदिता मम शोकवह्नि-
तप्तात्स्खलन्मृदुपदा हृदयादियं गौः।
चेतः प्रवेक्ष्यति शनैः करुणामृतौघ-
निःष्यन्दशीतमपि शीतमयूखमौलेः ॥ ५ ॥

अन्वय—[यथा गौ[1] वह्नितप्तात् स्थानात् उदिता, स्खलन्मृदुपदा (सती) शनै अमृतौघनि ष्यन्दशीतम्[2] आस्पदम् प्रविशति, तथा—]

---

(१) धेनु । (२) जलप्रवाहशीतलम्।

शोकवह्नितप्तात् मम हृदयात् कथञ्चित् उदिता[1] स्खलन्मृदुपदा इयम् गौः (मम वाणी) करुणामृतौघनिःष्यन्दशीतम् शीतमयूखमौलेः चेतः अपि शनैः प्रवेक्ष्यति (इति अहम्) जाने ।

अर्थ—मैं समझता हूँ कि [जैसे गाय, वह्नि-सदग्ध स्थल (अग्नि से जले हुए स्थान) से किसी तरह निकलकर अपने सुकोमल पदों (चरणों) को लुढ़काती हुई धीरे धीरे जल-प्रवाह से सुशीतल स्थल में चली जाती है, वैसे ही—] मेरे शोकाग्नि-सन्तप्त हृदय से किसी प्रकार (बड़े कष्ट से) निकली, अति कोमल पदोंवाली यह मेरी गौ (मेरी स्तुति) करुणारूपी अमृत के प्रवाह से सुशीतल बने भगवान् 'चन्द्र-मौलि' के चित्त में भी धीरे-धीरे प्रविष्ट हो सकेगी !

यच्चाटुचापलमलङ्घ्यभवभ्रमोऽहं
मोहं वहन्निह मुहुर्मुहुराचरामि ।
तत्र स्पृहावहमहार्यमहार्यपुत्री-
भर्तुः परार्ध्यमपराध्यति सौकुमार्यम् ।। ६ ।।

अन्वय—मोहम् वहन् अलङ्घ्यभवभ्रमः अहम्, इह (जगति) मुहुर्मुहुः यत् चाटुचापलम् आचरामि, तत्र (चाटुचापलकरणे) अहार्यपुत्रीभर्तुः (गिरिजापतेः) अहार्यम्, स्पृहावहम्, परार्ध्यम् सौकुमार्यम् एव अपराध्यति ।

अर्थ—अज्ञान में डूबा और अपार संसार के भ्रम में पड़ा हुआ मैं, यहाँ जो बार-बार अनेक चाटूक्तियाँ कहकर यह चपलता कर रहा हूँ इसमें भगवान् श्री गिरिजापति की स्पृहणीय परमोत्कृष्ट सुकुमारता (सुकोमल अन्तःकरण) का ही अपराध है। अर्थात् यदि प्रभु का अन्तःकरण इतना अधिक दयालु न होता तो मैं इतनी चपलता नहीं कर सकता। किन्तु प्रभु की ही अपार करुणा को याद कर मैं यह चपलता (धृष्टता) कर रहा हूँ ।

---

(१) उत्पन्ना, उच्चरिता च ।

यो मूर्धनि ध्वनदनर्गलनिर्झरौघ-
झाङ्कारिणीममरनिर्झरिणीं दधानः ।
गृह्णाति भक्तजनतः कलशाभिषेकं
कस्तं न विज्ञपयितुं विभुमुत्सहेत ॥ ७ ॥

अन्वय—यः (विभुः) शिरसि ध्वनदनर्गलनिर्झरौघझाङ्कारिणीम् अमरनिर्झरिणीम् दधानः (सन् अपि) भक्तजनतः कलशाभिषेकम् गृह्णाति, तम् (दयालु-शिरोमणिम्) विभुम् विज्ञपयितुम् (निजावस्था निवेदयितुम्) कः न उत्सहेत ? (अपि तु सर्व एवेत्यर्थः) ।

अर्थ—जो प्रभु स्वयम् अपने मस्तक में अविच्छिन्न रूप से बहनेवाले शब्दायमान निर्झरों (जल-प्रवाहों) से झङ्कार (कल कल शब्द) करती 'देवगङ्गा' को धारण करता हुआ भी (पूजा के समय) कृपया भक्त लोगों के हाथ से कलशाभिषेक के (थोड़े से) जल को ग्रहण कर लेता है; भला, उस दयालु शिरोमणि से निज अवस्था (अपनी दीन दशा) के निवेदन करने के लिए कौन पुरुष नहीं उत्साह करेगा ? अर्थात् सभी करेंगे ।

दग्धोस्मि तावदमुना दमुना ममाऽन्त-
र्यः प्रज्ज्वलत्यघनिदाघनिदानजन्मा ।
मुक्तस्य मे प्रतिभयातिभयाकुलस्य
वाणी कथं विगलतो गलतोऽभ्युदेति ॥ ८ ॥

अन्वय—यः अघनिदाघनिदानजन्मा दमुना (अग्निः), मम अन्तः प्रज्ज्वलति, अमुना तावत् (प्राथम्ये) अहम् दग्धः अस्मि, अतः प्रतिभया मुक्तस्य, अतिभयाकुलस्य, विगलतः (पततः) मे गलतः, वाणी कथम् अभ्युदेति ?

अर्थ—प्रभो ! जो पापरूपी उष्ण काल के द्वारा उत्पन्न हुआ अग्नि मेरे अन्दर प्रज्वलित हो रहा है, इससे मैं दग्ध हो चुका हूँ, इस

कारण मेरी प्रतिभा[1] नष्ट हो गई है, अतः मुझ अत्यन्त भयाकुल और विगलित (पतित) के दीन कण्ठ से वाणी (मनोहर स्तुति) कैसे निकल सकती है ?

क्रन्दाम्यतः किमपि नाम पिनाकपाणे
तीव्रार्तिनिस्तरणकारण कातरोऽहम् ।
मोहाटवीविकटसङ्कट-सस्थितस्य
तन्मेऽवधारय शिवाय शिवातुरस्य ॥ ९ ॥

अन्वय--अयि पिनाकपाणे ! हे तीव्रार्तिनिस्तरणकारण ! ! अत. (पूर्वोक्तकारणात्) कातर अहम्, किम् अपि (उच्चानचम्) क्रन्दामि, अपि शिव ! मोहाटवीविकटसङ्कटसस्थितस्य मे शिवाय, तत् (विलपितम्) अवधारय ।

अर्थ—इसलिए हे पिनाकपाणे ! हे तीव्र दु ख से पार लगानेवाले सदाशिव !! अत्यन्त कातर हुआ मैं, जो कुछ भी उच्च, नीच (भला और बुरा) विलाप कर रहा हूँ, सो हे कैवल्यदाता शिव ! मोहरूपी अरण्य के महान् सङ्कट स्थल मे पड़े मुझ अनाथ के कल्याण के लिए आप उस मेरे विलाप पर अवश्य विचार कीजिए !

आक्रन्दमिन्दुधर धारय देव कर्णे
कस्त्वत्परः परमकारण कर्णधारः ।
मूर्ध्ना वहन्नुडुपखण्डमखण्डपुण्य
कं कं न तारयसि संसृतिसागरान्नः ॥ १० ॥

अन्वय—हे इन्दुधर ! हे देव !! (मम) आक्रन्दम् कर्णे धारय (शृणु वेत्यर्थ.), अयि परमकारण ! त्वत्पर कर्णधार क (अस्ति ?) य उडुपखण्डम् मूर्ध्ना वहन्, संसृतिसागरात् कम् कम् अखण्डपुण्यम् न तारयसि ?

---

(१) 'मतिर्नवनवोल्लेखशालिनी प्रतिभा मता ।' अर्थात् नवीन नवीन उल्लास(नवीन नवीन रचना-शक्ति)शालिनी मति का नाम प्रतिभा है ।

अर्थ—अयि चन्द्रमौले ! मेरे करुण आलाप को अपने कर्णो मे धारण कर लीजिए (अर्थात् सुन लीजिए)। अयि परमकारण (कारणो के भी कारण) परमशिव ! आपके सिवाय और कौन ऐसा कर्णधार (मल्लाह) होगा, जो कि (एक उडुपखण्ड—नाव के खण्ड-को धारण कर लोगो को समुद्र से पार कर देनेवाले कर्णधार के समान) एक छोटे से उडुपखण्ड (चन्द्र-कला) को मस्तक पर धारण करता हुआ प्रत्येक भाग्यशाली को भवसागर से पार कर देता है !*

असमादृशैरशुचिभिश्चटुचापलानि
वल्गुन्यवैमि न मनस्तव नन्दयन्ति ।

---

* इसी श्लोक के अभिप्रायानुसार श्री रत्नकंठजी की भी दो मर्मभरी उक्तियां है—

'बहुविधपरिभ्राम्यन्मायातरङ्गशताकुलाद्-
भवजलनिधेः को वा त्रासो ममास्ति सुदुस्तरात् ।
तरणिमुडुपं यस्त्वक्षिल्यं त्रिलोचनगोचरे
स भवति विभुर्यस्य स्वामी कृपैकसुधाम्बुधिः ॥'

अर्थात्—अनेक प्रकार से घूमती हुई मायारूपी अनन्त तरङ्गों से आकुल, इस दुस्तर भव-सागर से मुझे क्या डर है ? जिसका कि तरणि—बड़ी नाव—(सूर्य) और उडुप—छोटी नाव—(चन्द्रमा) को नित्य दृष्टि में रखनेवाला वह अपार करुणासागर (शङ्कर) स्वामी है ! तथा—

'कथं न लोके परिहास्यतामहं
मजाम्यतीवार्तिकदर्थिताशयः ।
भवाम्बुधि तर्तुमकर्णधारकं
जडो यतो याम्युडुपार्धधारिणम् ॥'

अर्थात्—मैं लोक में क्यों न उपहास को प्राप्त होऊँगा ? अर्थात् अवश्य होऊँगा, क्योंकि तीव्र आर्ति से पीड़ित होकर मैं मूर्ख भवाम्भोधि को पार करने के लिए अकर्ण-धार—कर्णधार को न रखनेवाले-(सर्पधारी) और उडुपार्धधारी—आधी नौका को धारण करनेवाले (अर्धचन्द्रधारी) की शरण ले रहा हूँ !

आवर्जनाय विहितान्यपि चन्द्रमौले
कौलेयकस्य लडितानि किमाद्रियन्ते ॥ ११ ॥

अन्वय—अयि चन्द्रमौले ! अस्मादृशैः अशुचिभिः कलुसानि चटु-चापलानि तव मनः न नन्दयन्ति (इति, अहम्) अवैमि, (दृष्टं चैतत्—) आवर्जनाय विहितानि अपि कौलेयकस्य (शुनः) लडितानि (जनैः) किम् आद्रियन्ते ? (नाद्रियन्ते इत्यर्थः) ।

अर्थ—अयि भगवन् ! मैं समझता हूँ कि—हम सरीखे अपवित्र लोगों के चञ्चलता और चाटुकारिता से युक्त वचन आप प्रभु के मन को आनन्दित नहीं कर सकते ! क्योंकि यह बात देखी जाती है कि कौलेयक (कुत्ता) अपने स्वामी को वश मे करने के लिए उसके आगे खूब लाड़ (चरणो में लोट-पोट) किया ही करता है, पर क्या उसके 'लोट पोटों' का कोई आदर होता है ? नहीं होता ।

यद्वा न मुग्धचरितान्यपि न प्रसाद-
मुत्पादयन्ति भवतः करुणार्णवस्य ।
स्वामिन्दरत्पुरविहारपरस्य किं न
चेतो हरन्ति तव बालकवल्गितानि ॥ १२ ॥

अन्वय—यत् वा, हे स्वामिन् ! मुग्धचरितानि अपि, भवतः करुणा-र्णवस्य प्रसादम् न उत्पादयन्ति इति न, (किन्तु, उत्पादयन्त्येव) तथा हि—हे विभो ! दरत्पुरविहारपरस्य (तद्देशीयबालकैः सह क्रीडापरस्य) तव बालकवल्गितानि किम् चेतः न हरन्ति ? (हरन्त्येवेत्यर्थः) ।

अर्थ—अथवा, हे विभो ! मूर्खों के चरित्र भी आप करुणासागर के मन में प्रसन्नता उत्पादन करते ही हैं । क्योंकि—दरत्पुर (दरत्पुर नामक नगर) में, तद्देशीय बालकों के साथ क्रीडा में तत्पर हुए आपके चित्त को क्या उन बालकों के नृत्य नहीं हरते ? हरते ही हैं । —

ठीक ही है—

दीनैर्विमुग्धवचनैरसमञ्जसार्थै-
र्यद्वद्द्रवन्ति हृदयानि दयानिधीनाम् ।
तद्वन्न दृप्तसभसप्रतिभप्रगल्भ-
सन्दर्भगर्भरचनाञ्चितवाक्प्रपञ्चैः ॥ १३ ॥

अन्वय—दीनैः असमञ्जसार्थैः, विमुग्धवचनैः, यद्वत् दयानिधीनाम् हृदयानि द्रवन्ति, तद्वत् दृप्तसभसप्रतिभ प्रगल्भ सन्दर्भगर्भरचनाञ्चितवाक्प्रपञ्चैः न द्रवन्ति।

अर्थ—मुग्ध लोगों के अत्यन्त करुणा-जनक (दीन) और अप्रकटितार्थक (अव्यक्त अर्थवाले) वचनों को सुनकर दयालु प्रभुओं के हृदय जितने द्रवीभूत (कृपा से आर्द्र) होते हैं, उतने द्रवीभूत प्रकाण्ड विद्वानों की महाप्रतिभाशाली[1] प्रौढोक्तियों के सन्दर्भ में गर्भित रचनाओं-वाले वाग्जालों से (कदापि) नहीं हो सकते।

[इसी बात का समर्थन फिर से करते हैं—]

दुग्धाब्धिदोऽपि पयसः पृषतं वृणोषि
दीपं त्रिधामनयनोऽप्युररीकरोषि ।
वाचां प्रसूतिरपि मुग्धवचः शृणोषि
किं किं करोषि न विनीतजनानुरोधात् ॥ १४ ॥

अन्वय—हे विभो ! दुग्धाब्धिदः अपि त्वम् (पूजासमये भक्तजनेन वितीर्णम्) पयसः पृषतम् वृणोषि, त्रिधामनयनः अपि, दीपम् उररीकरोषि, वाचाम् (ब्राह्मी-वाणीनाम्) प्रसूतिः अपि, मुग्धवचः शृणोषि। (अयि दयालो !) (त्वम्) विनीतजनानुरोधात् किम् किम् न करोषि ?

अर्थ—हे विभो ! (बालक उपमन्यु के लिए) क्षार-समुद्र का दान करनेवाले भी आप (पूजन के समय भक्त लोगों के दिये हुए)

---

(१) नवीन-नवीन रचना-शक्तिवाली बुद्धि से सम्पन्न।

दुग्धबिन्दु को ग्रहण कर लेते हो ! और (आपके तीनों नेत्रों में सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि सर्वदा विराजमान रहते हैं, इस प्रकार) तीनों तेजोमय पिण्डों के आधारभूत होकर भी आप भक्तों के दिये हुए (एक छोटे से) दीपक को ग्रहण कर लेते हो ! और समस्त ब्राह्मी-वाणियों (श्रुतियों) के उत्पत्तिस्थान होकर भी (मेरे सरीखे) अल्पज्ञ और मुग्ध लोगों की वाणियों (स्तुतियों) को (स्नेहपूर्वक) सुन लेते हो। (इस प्रकार) हे दयासागर ! भक्ति स विनीत लोगों के अनुरोध (आग्रह) से आप न मालूम क्या क्या नहीं करते ?*

यत्सत्यवत्यपि जगद्विदिताऽनसूया
वाणी ममेयमिदमेव हि देव चित्रम् ।
अत्यद्भुतं पुनरिदं यदरुन्धतीयं
त्वामारिराधयिषुरेवमुदीरिताऽपि ॥ १५ ॥

अन्वय—हे देव ! जगद्विदिता सत्यवती अपि यद् इयम् मम वाणी, अनसूया (भवति) इदम् एव चित्रम् ! (आश्चर्यम्), एवम् उदीरिता अपि (त्वाम्) अरुन्धती (अप्राप्तवती सती) इयम्, यत् त्वाम् एव आरिराधयिषुः (अस्ति), तत् पुनः अत्यद्भुतम् ! (अत्याश्चर्यम्) ।

---

* इसी अभिप्राय से रत्नकण्ठजी ने भी कहा है—

गङ्गाधरोऽपि शृणुषे पयसोऽभिषेकं
गृह्णासि चार्घ्यकणिकाः स्वयमप्यनर्घ्यः ।
ज्योतिः परं त्वमसि दीपमुरीकरोषि
किं किं करोषि न विनीतजनानुरोधात् ॥

अर्थात्—हे भगवन् ! शिर पर निर्मल मन्दाकिनी गङ्गा को धारण करते हुए भी आप भक्तों के दिये जलाभिषेक को ग्रहण कर लेते हो, स्वयं अनर्घ्य (साक्षात् अद्वितीय परमेश्वर) होकर भी भक्तों के दिये अर्घ्य के कणों को ग्रहण कर लेते हो और परम ज्योतिर्मय (पूर्ण परब्रह्म) होकर भी लोगों के दिये दीपक को ग्रहण कर लेते हो। प्रभो ! भक्ति से विनीत लोगों के आग्रह से न मालूम आप क्या-क्या करने को तैयार रहते हो !

एका त्वमेव भवितासि मम प्रियेति
　　दत्तं वरं स्मरसि चेद्गिरिराजपुत्र्याः ।
प्रेम्णा बिभर्षि कथमम्बरसिन्धुमिन्दु-
　　लेखां च मूर्ध्नि हृदये दयितां दयां च ॥ १७ ॥

अन्वय—हे अपरो ! त्वम् एव एका मम प्रिया भवितासि, इति दत्तम् वरम् गिरिराजपुत्र्याः स्मरसि चेत्, तर्हि हे स्वामिन् ! (त्वम्) प्रेम्णा अम्बरसिन्धुम्, इन्दुलेखाम् च मूर्ध्नि, दयिताम् दया च हृदि, कथम् बिभर्षि ?

अर्थ—हाँ, आपने श्री पार्वतीजी को ऐसा वरदान दिया था, कि 'हे गिरिजे ! मैं तुम्हारे सिवाय दूसरी किसी स्त्री को प्यार नहीं करूँगा"—तो क्या कहो इसी प्रतिज्ञा के भङ्ग होने के भय से ही आप इस बेचारी मेरी वाणी (मेरी स्तुति) के विषय में उदासीन तो नहीं हो रहे हो ? यदि यही कारण है, तब तो फिर बतलाइए कि आपने अत्यन्त प्रेम से देवगङ्गा और चन्द्रकला को मस्तक में क्यों बैठाया। और हृदय में प्यारी करुणा को भी क्यों धारण किया ? (क्या इनके धारण करने से आपकी प्रतिज्ञा का भङ्ग नहीं हुआ ?)

एतां निसर्गसरलामभिजातमुग्धा-
　　मद्धाऽवधीरयसि धीरगभीरमानी ।
जानासि किं न शतशो नतसान्त्वनेषु
　　यद्गूढया करुणया नरिनर्तितोऽसि ॥ १८ ॥

अन्वय—अद्धा, हे विभो ! धीरगभीरमानी (त्वम्) निसर्गसरलाम् अभिजातमुग्धाम् एताम् (मम स्तुतिम्) अवधीरयसि, तत् किं न जानासि ? यत् शतशः नतसान्त्वनेषु गूढया करुणया (त्वम्) नरिनर्तितः असि ?

अर्थ—हे विभो ! अपने को महान् धैर्यशाली और गम्भीर माननेवाले आप इस मेरी सरल स्वभाववाली, अति सुकुमार और मुग्धा (भोली-भाली) वाणी (स्तुति) को अपमानित कर रहे हो ?

क्या आप यह नहीं जानते, जो कि सहस्रों बार भक्त जनों को आश्वासन (अभय वचन) देने में निरन्तर वृद्धि को प्राप्त हुई (अर्थात् अतिवृद्धा) करुणा ने आपको बार-बार नचा डाला है ?

प्रस्तौति निस्त्रपतयार्त्तिकदर्थितेयं
चाटूनि कर्तुमपि मौग्ध्यविसंस्थुलानि ।
कात्यायनीवचनदुर्ललितस्य तानि
मुक्तोपमानि न मनस्तव नन्दयन्ति ॥ १९ ॥

अन्वय—हे स्वामिन् ! आर्त्तिकदर्थिता (केन केन प्रकारेणाहं नाथस्य प्रियतमा स्यामित्याधिना पीडिता) इयम् (मम वाणी) निस्त्रपतया मौग्ध्य-विसंस्थुलानि चाटूनि अपि कर्तुम् प्रस्तौति, किन्तु मुक्तोपमानि तानि (मदीय-वाण्याः चाटूनि) कात्यायनीवचनदुर्ललितस्य तव मनः न नन्दयन्ति ।

अर्थ—हे प्रभो ! "किसी भी उपाय से मैं अपने नाथ की *प्रियतमा (अति-प्रिय) हो जाऊँ ?"* इस *प्रकार की अनेक मानसी* व्यथाओं से पीडित हुई यह मेरी वाणी (मेरी स्तुति) निर्लज्जता के कारण मुग्धता (भोले स्वभाव) से विशृङ्खलित चाटुकारिता (खुशा-मदें) भी कर रही है, परन्तु मेरी वाणी की अति सुमनोहर भी वह चाटूक्तियाँ कात्यायनी[1] (श्री पार्वती) के वचनों पर ही मुग्ध (मोहित) हुए आपके मन को नहीं रञ्जित कर सकतीं !

अस्यामसह्यविरहज्वरकातरायां
प्रीतिर्न ते यदि परं निरवग्रहस्य ।

---

(१) यहाँ 'कात्यायनी' पद बडे मार्के का है, क्योंकि अर्द्धवृद्धा नायिका को भी 'कात्यायनी' कहते हैं—'कात्यायन्यर्धवृद्धा स्यात्' (अमरकोष) अतः कवि यहाँ व्यङ्ग्य से प्रभु का उपहास भी कर रहे हैं—

प्रभो ! आप एक कात्यायनी (अर्द्धवृद्धा) के वचनों पर इतने मुग्ध हुए हो कि इस मुग्धा बाला की मनोहर चाटूक्तियाँ भी आप को अच्छी नहीं लगतीं !

सर्वान्तरार्तिदलनाय दृढा प्रतिज्ञा
विज्ञाततत्त्व कथमीश्वर विस्मृता ते ॥ २० ॥

अन्वय—हे विज्ञाततत्त्व ! हे ईश्वर !! निरवग्रहस्य (निरङ्कुशस्य) तव प्रीतिः, परम्[१] असह्यविरहज्वरकातरायाम् अस्याम् (मम स्तुतौ) यदि न (भवति) तर्हि, हे विभो ! सर्वान्तरार्तिदलनाय दृढा प्रतिज्ञा ते कथम् विस्मृता ?

अर्थ—अपनी अन्तर्यामिका शक्ति से सबके हृदयगत भावों को जाननेवाले हे परमेश्वर ! आप निरकुश (स्वतन्त्र) प्रभु की प्रीति यदि केवल एक इस आपके असह्य विरहरूपी ज्वर से कातर हुई मेरी वाणी पर ही नहीं होती अर्थात् आप स्वतन्त्र हैं, आप पर किसी का अकुश तो है नहीं, अतः आप सब पर प्रेम करते हैं परन्तु केवल एक इस मेरी वाणी पर ही नहीं करते; तो फिर हे प्रभो ! समस्त जीवों की आन्तरिक पीडा (मानसिक व्यथा) के दलन करने के लिए जो आपकी दृढ़ प्रतिज्ञा है, उसे आप कैसे भूल गये ?

सत्यं कलां वहसि बिभ्रदुमां यदर्धे
धत्से दयां हृदि ययार्थिषु नर्तयन्त्या ।
नीतोऽसि नीलगल नीलगलत्वमेव
मद्वाचि साचि तु मुखं कुरुषे रुषेव ॥ २१ ॥

अन्वय—हे नीलगल ! (त्वम्) सत्यम् कलाम् वहसि ! यत् अर्धे (शरीरार्धे) उमाम् बिभ्रत्, ताम् दयाम् हृदि धत्से; यया (दयया) अर्थिषु (त्वाम्) नर्तयन्त्या, त्वम् नीलगलत्वम् एव नीत- असि, किन्तु, हे प्रभो ! (त्वम्) मद्वाचि तु रुषा इव, साचि मुखम् कुरुषे ।

अथवा—बाला नायिका की अपेक्षा वयोधिका नायिका में अधिक रसानुभूति होती है अतः यहाँ इस पद से वह भी भाव लक्षित हो सकता है ।

(१) केवलम् ।

अर्थ—हे नीलकण्ठ ! अवश्य ही आप कला (चन्द्रकला अथवा शिल्पकला) को धारण करते हो, अर्थात् कलावानों में श्रेष्ठ हो, क्योंकि जो अर्धाङ्ग में श्री उमा (पार्वती) को धारण करते हुए हृदय में उस दया को (भी) धारण करते हो, जिसने कि अर्थी जनों (शरणागतों) के बीच में आपको खूब नाच नचाकर नीलकण्ठ (उनके परित्राण के लिए कालकूट भक्षण कराकर काले कण्ठवाला, अथवा नाचनेवाला मयूर) ही बना डाला है। किन्तु, हे प्रभो ! अपने विरह में व्याकुल हुई बेचारी इस मेरी वाणी पर तो आप क्रोध से जैसी कुटिल भृकुटी (वक्र दृष्टि) कर रहे हो।

गृह्णासि मूर्धनि जलैर्धवलैर्विलोलै-
रुद्वेलितां निजपदस्खलितां द्युसिन्धुम् ।
एतामनन्यगतिमुज्झसि साधुवृत्तां
वाचं स्वतन्त्रचरितस्य किमुच्यते ते ॥ २२ ॥

अन्वय—हे स्वामिन् ! धवलैः विलोलैः जलैः उद्वेलिताम्, निजपदस्खलिताम् द्युसिन्धुम् मूर्धनि गृह्णासि अनन्यगतिम्, साधुवृत्ताम् एताम् (मम) वाचम् उज्झसि (अतः) स्वतन्त्रचरितस्य ते किम् उच्यते ?

अर्थ—हे प्रभो ! [जैसे कोई स्वेच्छाचारी पुरुष अति चञ्चल जड़ों (मूर्ख लोगों) में उद्वेलित (धर्म मर्यादा—कुल-मर्यादा—से च्युत की हुई) और निजपद—पातिव्रत धर्म से विचलित हुई (कुटिला) स्त्री को प्रेम से ग्रहण कर लेता है और अनन्यपरायणा साध्वी पतिव्रता का परित्याग कर देता है, वैसे ही—] आप स्वच्छ और चञ्चल जलों से उद्वेलित (कम्पित), निज पद (अपने स्थान अर्थात् स्वर्ग) से च्युत हुई देवगङ्गा (मन्दाकिनी) को बड़े प्रेम से मस्तक पर धारण करते हो, और इस अनन्य शरणा, सुन्दर वृत्तों (मनोहर छन्दों) वाली मेरी वाणी का परित्याग कर रहे हो। आप स्वतन्त्र स्वेच्छाचारी परमेश्वर हैं, अतः आपको क्या कहा जाय ?

किं भूयसा यदि न ते हृदयङ्गमेय-
मस्या गृहे वससि किं हृदये मदीये ।
सार्धं प्रियेण वसनं तदुपेक्षणं च
दुःखावहं हि मरणादपि मानिनीनाम् ॥ २३ ॥

अन्वय—भूयसा (बहुनोक्तेन) किम् ? इयम् (मदीया वाणी) यदि ते हृदयङ्गमा न (भवति), तर्हि अस्या गृहे मदीये हृदये, किम् वससि ? हि-प्रियेण सार्धम् वसनम्, तदुपेक्षणम् च, मानिनीनाम् मरणात् अपि दुःखावहम् (भवति)।

अर्थ—प्रभो ! अब आपसे अधिक क्या कहूँ ? यदि यह मेरी वाणी आपको प्रिय न लगती हो तो फिर आप इसके घर—मेरे हृदय में क्यों निवास करते हो ? जरा लोगों में भी तो देखिए। यदि प्रियतमा अपने प्राणपति के साथ निवास करे और वह (पति) उसकी उपेक्षा किया करे, तो यह बात मानिनी महिलाओं को मरण से भी अधिक दुःखदायी हो जाती है। (अच्छा, जैसी आपकी इच्छा हो वैसा ही कीजिए।)

मातः सरस्वति बधान धृतिं त्वदीयां
विज्ञप्तिमार्त्तिविधुरां विभवे निवेद्य ।
देवी शिवा शशिकला गगनापगा च
कुर्वन्त्यवश्यमबलाजनपक्षपातम् ॥ २४ ॥

अन्वय—अयि मातः सरस्वति ! धृतिम् बधान, शिवा देवी, शशिकला, गगनापगा च, त्वदीयाम् आर्त्तिविधुराम् विज्ञप्तिम् विभवे (स्वामिने) निवेद्य, अवश्यम् (एव) अबलाजनपक्षपातम् कुर्वन्ति।

अर्थ—अयि सरस्वति, अयि माँ ! तू अत्यन्त धैर्य धारण कर, (जाने दे, प्रभु को उपेक्षा करने दे, तू उनकी स्तुति करती ही जा ! यदि वह तेरी प्रार्थना को नहीं भी स्वीकार करेंगे तो उनके सङ्ग में रहने-

वाली) वह पार्वती देवी, चन्द्रकला और आकाशगङ्गा, ये स्त्रियाँ तेरी करुण-विज्ञप्ति (दीन प्रार्थना) को प्रभु से निवेदन कर अवश्य ही स्त्री जन का (तुम्हारा) पक्षपात करेंगी, अर्थात् प्रभु से प्रार्थना कर उन्हें तुम्हारे अभिमुख कर देंगी।

एषा निसर्गकुटिला यदि चन्द्रलेखा
स्वर्गापगा च यदि नित्यतरङ्गितेयम् ।
देवी दयार्द्रहृदया तु नगेन्द्रकन्या
धन्या करिष्यति न ते निविडामवज्ञाम् ॥ २५ ॥

अन्वय—(अयि मातः सरस्वति !) यदि, एषा चन्द्रलेखा निसर्गकुटिला (भवति), स्वर्गापगा च नित्यतरङ्गिता (भवति), तर्हि दयार्द्रहृदया धन्या देवी नगेन्द्रकन्या तु, ते निविडाम् अवज्ञाम् न करिष्यति ।

अर्थ—हाँ, यदि वह चन्द्रकला स्वभाव से ही बड़ी कुटिल है, और व्योमगङ्गा (केवल) बात बनाने में चतुर है, क्योंकि उसमें अनेक प्रकार की ऊँची और नीची तरङ्गें उठा करती हैं, अतः ऐसी नारियों का तुझे विश्वास नहीं होता है, तो न सही, अतिशय दयालुहृदया महाभागा भगवती श्री गिरिजा (कैलासपुत्री अर्थात् पार्वती) जो तो तेरी अवहेलना कदापि न करेंगी? क्योंकि वे 'नगेन्द्रकन्या' (पर्वतराज श्री हिमालय की पुत्री) है। वे अपने पिता के ही समान क्षमाशाली हैं, अतः किसी के भी अवगुणों पर दृष्टि नहीं देती हैं, इसलिए अवश्य प्रभु से तेरा आत्मनिवेदन स्वीकृत कराकर तुझे अवश्य ही आश्वासन देंगी, इसमें तो तू सन्देह ही मत कर !

त्वामेव देवि शरणीकरवाणि वाणि
कल्याणि सूक्तिभिरुपस्तुहि चन्द्रमौलिम् ।
मातर्नयामि न पुनर्भवतीमलीक-
वाचालबालिशविलङ्घनभाजनत्वम् ॥ २६ ॥

अन्वय—हे देवि ! हे कल्याणि, वाणि !! (अहम्) त्वाम् एव शरणीकरवाणि, (त्वम्) सूक्तिभिः चन्द्रमौलिम् उपस्तुहि । हे मातः (अहम्) भवतीम् अलीकवाचालबालिशनिलङ्घ[1]नभाजनत्वम् पुनः न नयामि ।

अर्थ—हे देवि, हे मङ्गलदायिनी, भगवति सरस्वति ! माँ !! मैं तुम्हारी ही शरण लेता हूँ । तू सूक्तियों (सुमनोहर उक्तियों) से भगवान् 'चन्द्रमौलि' की स्तुति कर। अयि माँ ! मैं तुझ साध्वी को मिथ्यावाद (झूठी श्लाघा) से वाचाल बने हुए मूर्खों द्वारा अपमानित कराना नहीं चाहता, अर्थात् मैं आपसे केवल एक प्रभु के सिवाय अन्य किन्हीं भी प्राकृत पुरुषों की प्रशंसा कराना नहीं चाहता हूँ !

देवि प्रपन्नवरदे गुणगौरि गौरि
यद्गौरियं परिमितं स्रवतीह किञ्चित् ।
तत्स्वामिने समुचिते समये सुपाक-
माकूतवेदिनि निवेदयितुं प्रसीद ॥ २७ ॥

अन्वय—[गौः (धेनुः) यत् किञ्चित् परिमितम् क्षीरम् स्रवति, तच्च सुपाकं (वह्निना सुपक्वम्) कृत्वा, यथा कोऽपि (पुरुषः) प्रभवे निवेदयति, तथा—] हे प्रपन्नवरदे ! हे गुणगौरि, देवि गौरि !! इयम् गौः (वाणी) इह यत् किञ्चित् परिमितम् स्रवति, तत् सुपाकम्, समुचिते समये, आकूतवेदिनि स्वामिने निवेदयितुम् प्रसीद ।

अर्थ—[गौ जो कुछ दुग्ध दे, उसे अच्छे प्रकार अग्नि से परिपक्व करके जैसे कोई पुरुष किसी महापुरुष को समर्पण कर देता है, वैसे ही—] अयि शरणागतों को वर देनेवाली ! अयि दया-दाक्षिण्यादि गुणों से भरी माँ, गिरिजे !! यह मेरी गौ (वाणी) जो कुछ भी परिमित दुग्ध दुह रही है (स्तुति कर रही है) उसे आप अच्छे प्रकार

---

(१) 'तिरस्कृतिभाजनत्वम्' पाठ ठीक मालूम पड़ता है ।

उचित समय पर प्रभु को निवेदित (अर्पण) कर देने की कृपा कर दीजिए, क्योंकि आप उनके आशय को भले प्रकार जानती हो।

स्वेच्छाविकल्पितमदृष्टविशिष्टपाकं
मात्राविहीनमिदमार्यजनैरजुष्टम् ।
उन्मत्तभाषितमथापि भवत्यवश्यं
सद्भेषजं विषमयस्य भवामयस्य ॥ २८ ॥

अन्वय—(यद्यपि) इदम् (मम वचनम्) स्वेच्छाविकल्पितम्, अदृष्टविशिष्टपाकम् मात्राविहीनम्, आर्यजनैः अजुष्टम्, उन्मत्तभाषितम् अवश्यम् भवति, अथापि (एवमेव सति) इदम् विषमयस्य भवामयस्य सद्भेषजम् भवति।

अर्थ—यद्यपि यह मेरी वाणी (मेरी स्तुति) अवश्य ही स्वेच्छा से विनिर्मित, विशिष्ट पाक (प्रौढ़ता) से रहित, मात्रा (परिमाण) से विहीन (अर्थात् प्रलापरूप), आर्यजनों से अनादृत (असेवित) और उन्मत्त प्रलाप के समान असङ्गत है, तथापि (ऐसा होने पर भी) यह (मेरा वचन) इस विषमय[1] भव रोग (संसाररूपी रोग) की एक मात्र अमोघ (अचूक) ओषधि है! अर्थात् यद्यपि मेरा यह निबन्ध उन्मत्त पुरुष के आलाप के समान असमञ्जस होने के कारण सबको ही प्रिय न लगेगा, तथापि किन्हीं भव-भय-पीड़ित सहृदयों के लिए तो यह अवश्य ही परम आदरणीय होगा।

भालानलं तव यथा मुकुटस्थितैव
शक्नोति नो शमयितुं किल सिद्धसिन्धुः ।
तद्वज्ज्वलन्तमनिशं हृदि शोकवह्निं
वक्त्रे वसन्त्यपि ममाऽत्र सरस्वतीयम् ॥२९॥

---

(१) सुख भी परिणाम में दुःखद होने के कारण दुःखरूप ही है, इसी अभिप्राय से समस्त संसार को विषमय बतलाया है।

अन्वय—हे स्वामिन् ! यथा किल तव मुकुटस्थिता एव सिद्धसिन्धुः तव भालानलम् शमयितुम् न शक्नोति, तद्वत् मम हृदि अनिशम् ज्वलन्तम् शोकवह्निम् शमयितुम् अत्र मम वक्त्रे वसन्ती अपि, इयम् मम सरस्वती (त्वत्कृपा विना) न शक्नोति ।

अर्थ—अयि नाथ ! जैसे आपके मुकुट मे ही स्थित भी देव-गङ्गा आपके भालानल (ललाटस्थ अग्नि) को शान्त करने के लिए नहीं समर्थ हो सकती, बस, वैसे ही दिन रात मेरे हृदय मे जाज्वल्यमान शोकानल (शोक-चिन्तारूपी अग्नि) को शान्त करने के लिए मेरे मुख मे ही निवास करती हुई भी यह मेरा सरस्वती (वाणी) आपका प्रसादानुग्रह हुए बिना नही समर्थ हो सकती ।

प्राक्चेन्मया विहितमाविलमेव कर्म
स्वामिन् कुतस्त्वयि ममैष दृढोऽनुरागः ।
एकान्तशुक्लमथ चेदतिदुःसहोऽयं
शोकानलो हृदयदाहकरः किमन्तः ॥ ३० ॥

अन्वय—हे स्वामिन् ! चेत् मया प्राक् (पूर्वजन्मनि) आविलम् एव कर्म विहितम्, तदा त्वयि (विषये) मम एष दृढः अनुरागः कुतः स्यात् ? अथ चेत् मया एकान्तशुक्लम् (एव) कर्म विहितम्, तर्हि अयम् अतिदुःसहः हृदयदाहकरः शोकानलः (मम) अन्तः किं स्यात् ? ।

अर्थ—हे नाथ ! यदि मैंने पूर्व जन्म मे केवल कलुषित (पाप) ही कर्म किया होता तो फिर आपमे मेरा यह दृढ़ अनुराग कैसे होता ? और यदि केवल पुण्य ही किया होता तो फिर यह हृदय मे दाह पैदा करनेवाला, अत्यन्त दुःसह शोकानल (जरा-मरणरूपी चिन्ताग्नि) मेरे अन्तः करण मे क्यो उत्पन्न होता ?*

---

* अर्थात् पूर्व जन्म मे मैंने शुभ अशुभ दोनों ही प्रकार के कर्म किये थे, जिसमे शुभ कर्मों के परिपाक से तो आप में मेरा यह दृढ़ अनुराग हुआ और अशुभ कर्मों के परिपाक से यह आपका वियोग हुआ है । इस कथन से यह

क्वाप्यन्यजन्मनि विधाय विभोरवश्य-
मारधनामनुशयालु मनो ममाभूत् ।
नो चेत् कथं कुलगुणादिपवित्रमेत-
त्सर्वं नृजन्म मम निष्फलमेव जातम् ॥ ३१ ॥

अन्वय—अयि विभो ! क्वापि अन्यजन्मनि, विभोः आराधनाम् विधाय, मम मनः अवश्यम् (एव) अनुशयालु अभूत् (इत्यहं जाने) नो चेत् तर्हि कुलगुणादिपवित्रम् (अपि) एतत् मम नृजन्म सर्वं निष्फलम् एव कथम् जातम् ? ।

अर्थ—प्रभो ! (मैं समझता हूँ कि) पहले किसी जन्म में प्रभु की आराधना करके मेरा मन (फल-प्राप्ति के विषय में) अवश्य पश्चात्ताप-युक्त (संशयात्मक) हुआ होगा, क्योंकि नहीं तो मेरा सत्कुल, गुण आदि से पवित्र हुआ भी यह मनुष्य-जन्म सब निष्फल ही क्यों हो जाता ? ।

मानुष्यनावमधिगम्य चिरादवाप्य
निस्तारकं च करुणाभरणं भवन्तम् ।
यस्याऽभवद्भरवशस्तरितुं भवाब्धिं
सोऽहं ब्रुडामि वद कस्य विडम्बनेयम् ॥ ३२ ॥

अन्वय—हे प्रभो ! चिरात् मानुष्यनावम् अधिगम्य, चिरात् (अपार-भवार्णवात्) निस्तारकम् करुणाभरणम् भवन्तम् अवाप्य, यस्य (मम) भवाब्धिम् तरितुम् भरवशः (महान् प्रत्यय) अभवत्, सः अहम् यदि (तत्रैव) ब्रुडामि, तर्हि इयम् विडम्बना (लोकोपहासः) कस्य (भवति ? इति त्वं) वद (अर्थात् तवैव) ।

सिद्ध हुआ कि योगियों के सिवाय अन्य लोगों के कर्म शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के रहते हैं, अतएव भगवान् श्री पतञ्जलि भी कहते हैं—
'कर्माऽशुक्लाऽकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् ।'

अर्थ—अयि विभो ! अनेक जन्मों के अनन्तर इस मनुष्य-जन्म-रूपी नौका को प्राप्त कर तथा (अनेक जन्म परम्परा से उपार्जित पुण्य के वश) *इस भीम भवार्णव से पार करनेवाले, आप सरीखे आशुतोषी* करुणाभूषण प्रभु को पाकर जिसे (मुझे) इस भवसागर को पार करने का बड़ा विश्वास था, वह मैं अब यदि इसी भवसागर में डूब जाऊँ तो फिर यह विडम्बना (लोकोपहास) किसको होगी ? भला, यह आप ही बतलाइए !

स्वामी प्रसादमुपकारिषु सेवकेषु
योग्येषु साधुषु करोति किमत्र चित्रम् ।
सन्तस्त्वभाजनजनेष्वपि निर्निमित्तं
चित्तं वहन्ति करुणामृतसारसिक्तम् ॥ ३३ ॥

अन्वय—स्वामी, उपकारिषु सेवकेषु योग्येषु साधुषु (विनीतेषु भक्त-जनेषु यदि) प्रसादम् करोति, अत्र किम् चित्रम् ? सन्तः तु, अभाजनजनेषु अपि, निर्निमित्तम् करुणामृतसारसिक्तम् चित्तम् वहन्ति ।

अर्थ—स्वामी (प्रभु) यदि अपना उपकार (मन, वचन और कर्म द्वारा नित्य अपनी उपासना) करनेवाले, सेवापरायण, शील-कुला-चार आदि सद्गुणों से अलङ्कृत और अतिशय विनीत भक्तजनों पर (ही) अनुग्रह किया करे, तो इसमें क्या आश्चर्य है ? कुछ भी आश्चर्य नहीं । क्योंकि सन्त पुरुष तो कुपात्र जनों (अयोग्य पुरुषों) पर भी बिना ही कारण अतिशय दयार्द्रचेता हुआ करते हैं ।*

---

* *इसी अभिप्राय से किसी भावुक ने भी अपने भगवान् से कहा है—*

"भवदङ्घ्रिसरोजसेविनि प्रकट चेत्तनुरेव ते कृपा ।
यदि नाथ ! तदास्थताधिके मयि दर्शयेत तदैव ते कृपा ॥"

अर्थात्—अयि नाथ ! जो सदैव आपके चरणारविन्द की सेवा किया करता है उसी पर यदि आप कृपा करते हो, तब तो आपकी कृपा बहुत थोड़ी

तस्मात्समाप्तसकलाऽभ्युदयाभ्युपाय-
मायस्तचेतसमसंभवभग्नवृत्तम् ।
सीदन्तमन्तकभयादभयार्पणेन
संभावय स्वयमनर्थकदर्थितं माम् ॥ ३४ ॥

अन्वय—तस्मात् समाप्तसकलाभ्युदयाभ्युपायम्, आयस्तचेतसम्, असंभवभग्नवृत्तम्, अन्तकभयात् सीदन्तम्, अनर्थकदर्थितम् माम् (वराकम्) अभयार्पणेन स्वयम् सम्भावय ।

अर्थ—इसलिए हे प्रभो ! अभ्युदय के समस्त उपायों से रहित, खिन्न-चित्त, प्रयोजनवाली सभी वस्तुओं के अभाव (दरिद्रता) के कारण नष्ट सदाचार, मृत्यु के भय से आर्त्त और जरा-मरणादि दुःख व्यथाओं से व्यथित हुए मुझ दीन को (मत डरो ! मत डरो ॥ ऐसा) अभयदान देकर आप ही स्वयं सँभाल लीजिए ।

त्वां नीतिमान् भजति यः स भवत्यनीति-
र्मुक्तः स यो हि भवता हृदयान्न मुक्तः ।
यस्ते रतोऽपचितयेऽपचितिं स नैति
तत्त्वा श्रितोऽस्मि भवमस्म्यभवो न कस्मात् ॥३५॥

अन्वय—अयि नाथ ! य नीतिमान् (कार्याऽकार्यविचारपरो नरः) त्वाम् भजति, स. अनीति (ईतिरहित अनुपद्रव इत्यर्थः) भवति, तथा—यः भवता हृदयात् न मुक्तः, स हि मुक्त भवति, य ते अपचितये (पूजायै) रत, स अपचितिम् (अपचयम्) न एति, तत् अहम् त्वाम् भवम् श्रित अस्मि, तर्हि (अहम्) अभव. कस्मात् न अस्मि ? ।

अर्थ—अयि नाथ ! जो नीतिमान् (कार्याऽकार्य-विचार में परायण) पुरुष आपको भजता है, वह अनीति (उपद्रवों से रहित)

ही है । हाँ, यदि आपकी सेवा से विमुख, मुझ अधम पर भी आप कृपा करें, तब तो मैं भी जानूँ कि आपकी कृपा अवश्य अतिशय उदार और अहेतुकी है

हो जाता है, जिसे आप अपने हृदय में नहीं मुक्त करते (नहीं त्यागते) वह पुरुष अवश्य ही मुक्त (आत्यन्तिक दुःखों से रहित) हो जाता है और जो मनुष्य सदैव आपकी अपचिति (पूजा) में तत्पर रहता है वह कदापि अपचिति (अपचय अर्थात् हीनता) को नहीं प्राप्त होता। इस कारण हे विभो! मैंने आप भव (ब्रह्मादि जगत्कारणों के भी कारण) की शरण ली है, सो मैं अभव (जन्म-मरणरूप संसार-चक्र से रहित) क्यों नहीं होता? ।*

स्वापः सचिन्तमनसो निशि मे दुरापो
निर्दाह एव गमयामि कदा सदाहः।
रक्ष त्वदेकशरणं शिव मामवश्यं
कस्माद्भवस्यपरुषो मम कर्कशस्त्वम् ॥ ३६ ॥

अन्वय—हे विभो! सचिन्तमनसः मे, निशि स्वापः दुरापः (भवति) हे भगवन्! (भवदनुग्रहेण) अहम् निर्दाहः सन् सदा अहः[1] कदा गमयामि? हे शिव! त्वदेकशरणम् माम् अवश्यम् रक्ष, त्वम् अपरुषः मम कर्कशः कस्मात् भवसि? ।

अर्थ—हे विभो! जरा मरण के भय से चिन्तित-मन होने के कारण मुझे रात्रि में निद्रा दुर्लभ हो गई है। हे भगवन्! आपके अनुग्रह से मैं आन्तरिक दाह(चिन्ता)रहित हो सर्वदा सुखपूर्वक कब दिन व्यतीत करूँगा? अयि सदाशिव! एकमात्र आपकी ही शरण ग्रहण किये मुझ दीन की अवश्य रक्षा कीजिए। प्रभो! मुझ सुकोमल चित्तवाले के लिए आप इतने कठोर क्यों होते हो?

पापः खलोऽहमिति नार्हसि मां विहातुं
किं रक्षया कृतमतेरकुतोभयस्य।

---

* यहाँ विरोधाभास अलङ्कार है।

(१) अहानि इत्यर्थः, अत्र जातावेकवचनम्।

यस्मादसाधुरधमोऽहमपुण्यकर्मा
तस्मात्तवास्मि सुतरामनुकम्पनीयः ॥ ३७ ॥

अन्वय—अयि विभो ! अयम् खलः पापः इति (हेतोः) माम् विहातुम् न अर्हसि, अकुतोभयस्य कृतमतेः (प्राज्ञस्य) रक्षया किम् (भवति ?) यस्मात् अहम् असाधुः, अधमः, अपुण्यकर्मा अस्मि, तस्मात् तव सुतराम् अनुकम्पनीय अस्मि ।

अर्थ—अयि विभो ! "यह खल (पिशुन) और पापी है" ऐसा समझकर आप मेरा परित्याग मत कीजिए ! क्योंकि अकुतोभय (सर्वथा निर्भय) पुण्यात्मा को आपकी रक्षा से क्या प्रयोजन है ? जिस कारण मैं अत्यन्त असज्जन, अधम और पापात्मा हूँ, इसीलिए आप परम दयालु का सुतराम् ही अनुकम्पनीय हूँ । हाँ,—

स्वैरेव यद्यपि गतोऽहमधः कुकृत्यै-
स्तत्रापि नाथ तव नास्म्यवलेपपात्रम् ।
दृप्तः पशुः पतति यः स्वयमन्धकूपे
नोपेक्षते तमपि कारुणिको हि लोकः ॥ ३८ ॥

अन्वय—अयि नाथ ! यद्यपि, अहम् स्वैः एव कुकृत्यैः अधः गतः अस्मि, तत्रापि तव अवलेपपात्रम् न अस्मि, हि—यः दृप्तः (तारुण्यमदेन सगर्वः) पशुः, स्वयम् (एव) अन्धकूपे पतति, तम् अपि कारुणिकः लोकः न उपेक्षते ।

अर्थ—हे नाथ ! यद्यपि मैं अपने ही किये कुकर्मों (पाप-कृत्यों) से इस अधोगति को प्राप्त हुआ हूँ, तथापि हे विभो ! मैं आप करुणासागर के तिरस्कार का पात्र नहीं हूँ ! क्योंकि जरा देखिए तो ! यदि कोई तारुण्य के मद से गर्वित उद्धत पशु अपनी ही उद्दण्डता के वश किसी अन्धकूप (गड्ढे) में गिर जाता है, तो उसको भी दयालु लोग अन्धकूप से निकाल ही लेते हैं ।

अत्युन्नतान्निजपदाच्चपलश्च्युतोऽयं
भूरीन्भ्रमिष्यति जडप्रकृतिः कुमार्गान्।
मत्वेति चेत्त्यजसि मामयमीदृगेव
गाङ्गस्त्वया किमिति मूर्ध्नि धृतः प्रवाहः ॥ ३९ ॥

हन्ताऽयमार्तिमपि नारकिणां धृतश्चे-
न्मूर्ध्ना किलेति वहसे यदि गाङ्गमोघम्।
एतत्तवोचितमनाथजनार्तिभङ्ग-
हेवाकिनो घनघृणामृतसागरस्य ॥ ४० ॥

अस्मादृशस्य रसना तु सहस्रधेयं
गच्छेदवाप्य तव शीर्षमितीरयन्ती।
किं तूद्धरामि भवदग्रपदावमर्श-
मात्रादहं त्रिजगतीमिति मे प्रतिज्ञा ॥ ४१ ॥

(तिलकम्)

अन्वय—हे विभो! अत्युन्नतात् निजपदात् च्युतः, चपलः, अयम् जड-प्रकृतिः भूरीन् कुमार्गान् भ्रमिष्यति, इति मत्वा (त्वम्) माम् त्यजसि चेत्, तर्हि ईदृग् एव अयम् गाङ्गः प्रवाहः, मूर्ध्नि त्वया किमिति धृतः ? किल, मूर्ध्ना धृतः चेत्, तदा अयम् (गाङ्गः ओघः) नारकिणाम् आर्तिम् हन्ता (दूरीकरिष्यति), इति (हेतोः) हे नाथ! यदि त्वम् गाङ्गम् ओघम् (शिरसि) वहसि, तदा, अनाथजनार्तिभङ्गहेवाकिनः घनघृणामृतसागरस्य तव एतत् उचितम् (एवास्ति) अस्मादृशस्य (भक्तजनस्य) इयम् रसना, तव शीर्षम् अवाप्य (अहम् गङ्गावत् सुखम् तिष्ठामि) इति ईरयन्ती सहस्रधा गच्छेत्, किन्तु (भवच्छीर्षप्राप्तिमनोरथस्य तु चैव कथा) भवदग्रपदावमर्शमात्रात् अहम् त्रिजगतीम् (नरकात्) उद्धरामि इति मे प्रतिज्ञा (नारकिणा तु चैव कथेतिभावः)।

अर्थ—हे नाथ! "अतीव उन्नत निज पद्वी (स्वरूप-स्थिति) से च्युत, चपल-स्वभाव, यह जड़ प्रकृति (दुरात्मा) अनेक कुमार्गों में

भटकेगा" ऐसा समझकर यदि आप मेरा परित्याग कर रहे हो, तो फिर यह बतलाइए कि इन्हीं अवगुणों से पूर्ण अर्थात् अत्यन्त उन्नत अपने पद (मर्त्यलोक) से च्युत, अति चञ्चल, जलप्रकृति[1] (अर्थात् अचेतन) और कुमार्गों (कु = पृथ्वी के, मार्गों) में भ्रमण करनेवाले इस गङ्गा-प्रवाह को आपने अपने मस्तक में क्यों धारण किया[2] ! हाँ, "यदि यह गङ्गा का प्रवाह मस्तक पर धारण किया जाय तो यह नारकी (पातकी) लोगों की पीड़ाओं को दूर कर देगा" इस अभिप्राय से यदि आपने इस (गङ्गा-प्रवाह) को अपने मस्तक पर धारण किया है तब तो हे नाथ ! अनाथ जनों के दुःख-भार को दूर करने में तत्पर हुए आप *करुणासागर का यह उचित ही कर्तव्य है।*

किन्तु हमारे सरीखे भक्त लोगों को यह रसना यदि ऐसा कहे *कि—'हे नाथ ! मैं भी आपके मस्तक पर गङ्गा के समान सुखपूर्वक* रहूँगी" तो इसके सहस्रों टुकड़े हो जायँ, किन्तु मैं तो केवल आपके चरणाग्र के स्पर्श मात्र से ही एक क्षण में त्रैलोक्य का उद्धार कर लूँगा, (केवल पापियों के उद्धार का तो कहना ही क्या है !) मेरी यह प्रतिज्ञा है !

क्षामो निकामजडिमा कुटिलः कलावान्
दोषाकरोऽयमिति चेत्त्यजसि प्रभो माम् ।
एतादृशैरुपगतोऽपि समस्तदोषैः
कस्मात्त्वया शिरसि नाथ धृतः शशाङ्कः ॥ ४२ ॥

अन्वय—हे प्रभो ! अयम् 'क्षामः, निकामजडिमा, कुटिलः, कलावान्, दोषाकरः' इति (हेतो) चेत् माम् त्यजसि, तर्हि—हे नाथ ! एतादृशैः (क्षामत्वादिभिः) समस्तदोषैः उपगतः अपि अयं शशाङ्कः त्वया शिरसि कस्मात् धृतः ? ।

(१) "डलयोरभेदः" ।
(२) यहाँ पर शब्दश्लेष नामक अलङ्कार है ।

अर्थ—हे प्रभो ! यह पुरुष 'क्षाम (अत्यन्त कृश), सुतरां जड (मूर्खता युक्त), कुटिल अन्त करण, कलावान् (दूसरो को वञ्चित करने की चातुरीवाला) और दोषाकर (दोषों का आकर) है' ऐसा समझकर यदि आप मेरा परित्याग करते हो, तो फिर हे नाथ ! आपने ऐसे ही अब गुणोवाले शशाङ्क (चन्द्रमा) को क्यो अपने मस्तक मे धारण किया ? यह भी तो क्षाम (अत्यन्त कृश) और अतिशय जडिमा(शीतलता) वाला, कुटिल, कलावान् (कलायुक्त) और दोषाकर (रात्रि मे उदय होनेवाला) है !

शान्ताकृतिर्द्विजपतिर्विमलः कलङ्क-
मुक्तः किलेति यदि मूर्ध्नि विधुं बिभर्षि ।
एवंविधोऽपि भवता कथमङ्घ्रिपीठ-
प्रान्तेऽपि धर्तुमुचितो न समर्थितोऽहम् ॥ ४३ ॥

अन्वय—किल, (अयम् चन्द्र) शान्ताकृति , द्विजपति , विमल , कलङ्कमुक्त इति (हेतो) यदि त्वम् विधुम् मूर्ध्नि बिभर्षि तर्हि एवंविध अपि अहम्, भवता अङ्घ्रिपीठप्रान्ते अपि धर्तुम् उचित कथम् न समर्थित ?

अर्थ—हाँ, 'यह चन्द्रमा शान्त आकृतिवाला, द्विजपति (नक्षत्रो का स्वामी), स्वच्छ और निष्कलङ्क है' इस कारण यदि आप इसे मस्तक पर धारण किये हुए हो, तो फिर भगवन् ! मै भी तो ऐसा हू— 'शान्त आकृति, द्विजपति (ब्राह्मणश्रेष्ठ), स्वच्छ (निष्पाप) और निष्कलङ्क' हूँ, मुझे आप क्यो शरण मे नही लेते ? हाँ, मुझे आप मस्तक मे धारण करने योग्य न समझते हो, तो अपने सिंहासन के समीप मे ही मुझे थोडी सी जगह क्यो नही दे देते ?*

पापग्रहो धृतिमुपैति विना परेषां
न स्वापहारमयमित्यथ मां जहासि ।

* यहाँ भी शब्दश्लेष अलङ्कार है ।

एवंविधोऽपि तव दक्षिणदृष्टिपात-
पात्रत्वमीश्वर कथं रुचिमानुपेतः ॥ ४४ ॥

अन्वय—हे ईश्वर ! अयम्, अयम् पापग्रहः, परेषाम् स्वापहारम् विना धृतिम् न उपैति, इति (हेतो.) चेत् माम् जहासि, तर्हि एवंविधः अपि अयम् रुचिमान् (सूर्यः) तव दक्षिणदृष्टिपातपात्रत्वम् कथम् उपेतः ?

अर्थ—हे परमेश्वर ! हाँ, यदि 'यह पापात्मा अन्य लोगों के स्व (द्रव्य) का अपहरण किये विना धैर्य को नहीं प्राप्त होता' अर्थात् यह दूसरों के द्रव्य का अपहरण करता है, ऐसा समझकर आप मेरा त्याग करते हो तो फिर (यह बतलाइए कि) इस सूर्य को आपने अपने दक्षिण नेत्र में कैसे स्थान दिया ? क्योंकि यह भी तो पापग्रह (अनिष्ट फलदायी ग्रह) है और सब लोगों के स्वाप (निद्रा) का हरण किया करता है !

मित्रत्वमेप भवतो गुणिबन्धुतां च
प्रख्याप्य चेदुपगतस्तव वल्लभत्वम् ।
दासत्वमेव तव नित्यमुपेत्य भूत्वा
सेवापरश्च गुणिनां कथमप्रियोऽहम् ॥ ४५ ॥

अन्वय—एष (सूर्यः) भवतः मित्रत्वम्, गुणिबन्धुताम् च प्रख्याप्य, चेत् तव वल्लभत्वम् उपगतः, तर्हि नित्यम् तव दासत्वम् एव उपेत्य, गुणिनाम् सेवापरः च भूत्वा, अहम् कथम् तव अप्रियः (अस्मि ?) ।

अर्थ—हाँ, यदि यह सूर्य आपसे अपना 'मित्रत्व' (सबके साथ मित्रभाव, सविता) और 'गुणि-बन्धुता' (कमल तथा दयादाक्षिण्यादि गुणवानों में बन्धुता) को ख्यापन करके यदि आपका प्रेम-पात्र बना है तो फिर नित्य आपके 'दासत्व' (दासभाव) को प्राप्त हो और गुणवानों की सेवा में परायण होकर मैं क्यों आपका अप्रिय हो गया ?

अत्यूष्मलं मलिनमार्गमनेकजिह्वं
स्पर्शेऽप्यनर्हमवधार्य जहासि चेन्माम् ।

एतादृशोऽपि शुभदृष्टिनिवेशनस्य
पात्रीकृतः कथमयं भवताऽऽश्रयाशः ॥ ४६ ॥

अन्वय—अत्यूष्मलम्, मलिनमार्गम्, अनेकजिह्वम्, स्पर्शे अपि अनर्हम् अवधार्य, चेत् माम् जहासि, तर्हि एतादृशः अपि अयम् आश्रयाशः (अग्निः) भवता शुभदृष्टिनिवेशनस्य कथम् पात्रीकृतः ?।

अर्थ—और यदि मुझे अत्यूष्मल (अत्यन्त गर्वित), मलिन-मार्ग (पापकर्मा), अनेक जिह्वाओंवाला अर्थात् क्षण-क्षण में असत्य बोलनेवाला और स्पर्श करने में भी अयोग्य, समझकर आप मेरा परित्याग करते हो, तो फिर ठीक ऐसे ही अर्थात् अत्यूष्मल (अतिशय सन्तापयुक्त), मलिन-मार्ग (कृष्णवर्त्मा), अनेक (सात) जिह्वावाले और (उष्ण होने के कारण) स्पर्श के भी अयोग्य इस 'आश्रयाश' (अग्नि) को आपने अपने तृतीय नेत्र में क्यों धारण किया ?*

[यहाँ पर 'आश्रयाशः' पद विशेष अभिप्राय को सूचित करता है—अर्थात् जो 'आश्रयाश'—निजं आश्रयमेव अश्नातीति आश्रयाशः = अपने आश्रय (निवासस्थान) को ही भस्म कर डालता—है, उसे भी जब आपने शरण में ले लिया तब मुझे भी क्यों नहीं अपना लेते ?]

यद्बन्धुजीवदलसद्रुचिरर्थिभाव-
मायाति साधुविबुधव्रजजीवनाय ।
यन्मित्रमण्डलमुखेन च विश्वमेषः
पुष्णाति तेन दहने यदि सादरोऽसि ॥ ४७ ॥
आप्यायनं सुमनसामनिशं विधातु-
मर्थीभवामि यदि कोऽपि न मेऽस्ति दाता ।
कर्तुं च बन्धुजनजीवनमक्षमोऽहं
विश्वं च पोषयितुमीश सुहृन्मुखेन ॥ ४८ ॥

---

* यहाँ भी शब्दश्लेष अलङ्कार है ।

तेनाद्य मां निरपराधमवेहि देहि
 दृष्टिं प्रसादविशदाममृतद्रवार्द्राम् ।
दीनं दयास्पदमदभ्रमदभ्रमेण
 भ्रूविभ्रमेण सदयं भज भङ्गुरेण ॥ ४९ ॥

(तिलकम्)

अन्वय—बन्धुजीवदलसद्युति एषः (अग्निः) साधु (कृत्वा) विबुधजनजीवनाय यत् अर्थिभावम् आयाति, यत् च मित्रमण्डलमुखेन विश्वम् पुष्णाति, तेन (हेतुना) यदि दहने सादरः असि । हे ईश ! सुमनसाम् अनिशम् आप्यायनम् विधातुम् यदि (अहम्) अर्थीभवामि, तर्हि (तादृशः अन्य) कः अपि दाता मे नास्ति । (अतः) अहम् बन्धुजनजीवनम् कर्तुम्, सुहृन्मुखेन विश्वम् पोषयितुम् च अक्षमः असिम । तेन (हेतुना) हे ईश ! अत्र (विषये) माम् निरपराधम् अवेहि, प्रसादविशदाम् अमृतद्रवार्द्राम् दृष्टिम् देहि, दयास्पदम् दीनम् अदभ्रमदभ्रमेण भङ्गुरेण भ्रूविभ्रमेण सदयम् भज ।

अर्थ—हाँ, यह अग्नि बन्धुजीव (नामक रक्तपुष्प) के दल के समान सुमनोहर कान्तिवाला तथा विबुधगणों (देवगणों और विद्वज्जनों) के जीवन (आप्यायन) के लिए सम्यक् प्रकार अर्थिभाव (आज्याहुति ग्रहण कर प्रार्थीभाव) को प्राप्त होता है और दिनान्त[1] में मित्रमण्डल (सूर्यमण्डल) के मुख से विश्व का पोषण करता है, इस कारण यदि आप इसे आदरपूर्वक नेत्र में धारण किये हो, तो हे ईश ! मैं भी अहर्निश विबुधगणों के आप्यायन के लिए यदि अर्थी (प्रार्थी) बन जाऊँ, तो कोई ऐसा दाता ही नहीं है, जो कि मेरे मुख से उनका आप्यायन (तृप्ति) करे। और बन्धुजनों के जीवन एवं मित्रमण्डल द्वारा विश्व के पोषण करने के लिए मैं असमर्थ हूँ। इसलिए हे ईश ! इस (पूर्वोक्त) विषय में आप मुझे निरपराध समझिए, प्रसन्नता

(१) सायंकाल में सूर्य का तेज अग्नि में प्रविष्ट हो जाता है।

से निर्मल और अमृत द्रव से आर्द्र दृष्टि द्वारा मुझे अनुगृहीत कीजिए। प्रभो ! मुझ दीन कृपापात्र को अतिशय हर्ष के भरे कुटिल-कटाक्षों से अनुकम्पित कीजिए।

अन्वग्रहीरमलदृष्टिसमर्पणेन
मित्रं शुचिं द्विजपतिं यदि युक्तमेतत् ।
एवंविधेऽपि भगवन् दृशमप्रसन्नां
धत्से मयीति विधिरेष पराङ्मुखो मे ॥ ५० ॥

अन्वय—अयि भगवन् ! यदि अमलदृष्टिसमर्पणेन मित्रम् (सूर्यम्) शुचिम् (अग्निम्) द्विजपतिम् (चन्द्रमसम् च) अन्वग्रहीः, तदेतत् युक्तम्। (किन्तु) एवंविधे अपि मयि यत् अप्रसन्नाम् दृशम् धत्से, तत् एषः मे विधिः (दैवम्) पराङ्मुखः अस्ति (एषा ममैवाऽभाग्यचातुरीत्यर्थः)।

अर्थ—हे भगवन् ! आपने जो मित्र (सूर्य), शुचि (अग्नि) और द्विजपति (चन्द्रमा) को अपनी विमल दृष्टि (निर्मल नेत्रों) में स्थान देकर इन पर अनुग्रह किया है यह तो युक्त ही है, (परन्तु) ठीक इसी प्रकार के मुझ मित्र (प्रत्येक प्राणियों के मित्र[1]), शुचि (पवित्र अर्थात् निर्दोष) और द्विजपति (श्रेष्ठ ब्राह्मण) पर जो आप अप्रसन्न दृष्टि को धारण करते हो (अर्थात् मुझ पर शीघ्र प्रसन्न नहीं होते हो) यह मेरा ही भाग्य प्रतिकूल है, यानी यह मेरे ही अभाग्य की चातुरी है, इसमें आपका दोष नहीं है।

निष्करुणं एष कुसृतिव्यसनी द्विजिह्वो
मत्वेति चेत्त्यजसि निःशरणं प्रभो माम् ।
एतादृशोऽपि पवनाशन एष कस्मा-
त्स्वीकृतः कण्ठपुलिने भवता गृहीतः ॥ ५१ ॥

(१) 'मैत्रो ब्राह्मण उच्यते' ब्राह्मण प्राणिमात्र का 'मित्र' होता है।

अन्वय—हे प्रभो! एषः निष्कर्णः, कुसृतिव्यसनी, द्विजिह्वः (च अस्ति) इति मत्वा माम् नि शरणम् जहासि चेत्, तर्हि हे श्रीकण्ठ! एतादृशः अपि एष पवनाशन, भवता कण्ठपुलिने कस्मात् गृहीतः?

अर्थ—हे प्रभो! "यह पुरुष निष्कर्ण (किसी की बातों को नहीं सुननेवाला), कुसृतिव्यसनी (कुमार्गगामी) और द्विजिह्व (असत्यवादी) है" ऐसा समझकर यदि आप मेरा परित्याग कर रहे हो, तो फिर इन्हीं सब दोषों से भरे हुए अर्थात् निष्कर्ण (कर्णहीन*) कुसृतिव्यसनी (पृथ्वी में खिसक खिसककर चलनेवाले) और द्विजिह्व (दो जिह्वाओंवाले) सर्प (वासुकि) को हे श्रीकण्ठ! आपने कण्ठतट में क्यों बैठाया?।

जिह्वासहस्रयुगलेन पुरा स्तुतस्त्व-
मेतेन तेन यदि तिष्ठति कण्ठपीठे।
एकैव मे तव नुतौ रसनाऽस्ति तेन
स्थानं महेश भवदङ्घ्रितले ममाऽस्तु ॥ ५२ ॥

अन्वय—हे महेश! एतेन (शेषनागेन) पुरा जिह्वासहस्रयुगलेन (सहस्रशिरस्त्वाच्छेषस्य) त्वम् स्तुतः (असि) तेन (हेतुना) यदि (स) तव कण्ठपीठे तिष्ठति, तदा मे तव नुतौ एका एव रसना अस्ति, तेन हे ईश! भवदङ्घ्रितले (एव) मम स्थानम् अस्तु।

अर्थ—हाँ, (यह सर्प—वासुकि पहले किसी जन्म में शेषनाग बना था, इस कारण) इस सर्प ने अपना दो हजार जिह्वाओं से, पहले (चिरकाल तक) आपकी स्तुति की थी, इसलिए (इसकी स्तुति से अत्यन्त प्रसन्न होकर) यदि आपने इसको अपने कण्ठतट में स्थान दिया हो, तो हे महेश! मेरे पास तो आपकी स्तुति करने के लिए एक ही जिह्वा है। अतः मैं इस सर्प की स्तुति की बराबरी कैसे कर सकता हूँ? हाँ, आपने दो हजार जिह्वाओं द्वारा स्तुति करने पर ही यदि इसको अपने कण्ठ पर बैठाया है और मैं केवल एक ही जिह्वा द्वारा

* सर्प के कान नहीं होते इसी कारण उसको चक्षुःश्रवा कहते हैं।

आपकी स्तुति कर रहा हूँ अतः मुझे इसकी बराबरी का स्थान देना आप नहीं चाहते हो, तो प्रभो ! केवल इतनी ही कृपा कर दीजिए कि बस, आपके चरण कमलों के तले ही मेरा निवास हो जाय !

> भृङ्गी विवेकरहितः पशुरुन्मदोऽयं
> मत्वेति चेत्परिहरस्यतिकातरं माम् ।
> एवंविधोऽपि वृषभश्चरणार्पणेन
> नीतस्त्वया कथमनुग्रहभाजनत्वम् ॥ ५३ ॥

अन्वय—अयम् भृङ्गी, विवेकरहित , पशु , उन्मद , इति मत्वा चेत् अतिकातरम् माम् परिहरसि, तर्हि एवंविध अपि वृषभ , त्वया चरणार्पणेन अनुग्रहभाजनत्वम् कथम् नीत ?

अर्थ—और "यह पुरुष भृङ्गी (अत्यन्त अहङ्कारी), विवेक-रहित, पशु सदृश और उन्मत्त है" ऐसा समझकर यदि आप मुझ दीन का परित्याग कर रहे हो (मुझे दर्शन नहीं देते) तो फिर आपने ठीक मेरे ही जैसे, अर्थात् भृङ्गी (सींगवाले), विवेक-रहित, पशु और उन्मद वृषभ (नन्दी) को अपने चरण-कमल अर्पित करके उसे क्यो अनुग्रह का पात्र बनाया ? ।

> पृष्ठे भवन्तमयमुद्वहते कदाचि-
> देतावता यदि तवैति दयास्पदत्वम् ।
> स्वामिन्नहं तु हृदयेऽन्वहमुद्वहामि
> त्वामित्यतः कथमहो न तवाऽनुकम्प्यः ॥ ५४ ॥

अन्वय—(यत्) अयम् (वृषभ) कदाचित् भवन्तम् पृष्ठे उद्वहते एतावता यदि तव दयास्पदत्वम् एति, तर्हि हे स्वामिन् ! अहम् तु अन्वहम् त्वाम् हृदये उद्वहामि, इत्यत अहो !' (अहम्) कथम् न तव अनुकम्प्य (अस्मि) ?

अर्थ—हाँ, (शायद इस बैल को आपने इसलिए अपनाया होगा कि—) जब आपको कहीं जाने की इच्छा होती है तब यह बैल आपको अपनी पीठ पर बैठाकर ले जाता है, यदि इसी कारण यह (वृषभ) आपकी दया का पात्र बना है, तो हे स्वामिन् ! (यह वृषभ तो आपको आपके इच्छानुसार कभी-कभी इधर-उधर ले जाता है, किन्तु) मैं तो आपको प्रति क्षण अपने हृदय में वहन करता हूँ, इसलिए अहो ! बड़े आश्चर्य की बात है कि मैं क्यों आपका अनुकम्पनीय (दयनीय) नहीं होता ? । और हाँ,—

क्रूरः पराङ्मुखमसावनृजुर्जहाति
योग्यं गुणग्रहणकर्मणि मार्गणौघम् ।
मत्वेति चेत्त्यजसि मां कथमीदृगेव
स्वामिन्धृतः करतले भवता पिनाकः ॥ ५५ ॥

अन्वय—असौ क्रूरः अनृजुः गुणग्रहणकर्मणि योग्यं मार्गणौघम् (मार्गणानां याचकानां ओघम् समूहम्) पराङ्मुखम् (कृत्वा) जहाति, इति मत्वा चेत् माम् त्यजसि, तर्हि हे स्वामिन् ! ईदृगेव (अर्थात् क्रूरः, अनृजुः गुणग्रहणकर्मणि[1] योग्यम् मार्गणौघम्[2] पराङ्मुखम् त्यजन् अयम्) पिनाकः भवता करतले कथम् धृतः ? ।

अर्थ—"यह क्रूर (कुटिल) पुरुष गुण ग्रहण करने योग्य मार्गणों (याचकगणों) को पराङ्मुख (हताश) करके छोड़ देता है" ऐसा समझकर यदि आप मेरा परित्याग करते हो तो हे विभो ! फिर आपने ठीक वैसे ही, क्रूर (कठोर), और गुणग्रहण (प्रत्यञ्चा के ग्रहण) करने में योग्य मार्गणों (बाणों के समुदाय) को पराङ्मुख (तिरछा) करके छोड़नेवाले इस पिनाक (धनुष) को अपने करतल (हाथ) में क्यों धारण किया ? ।

---

(१) प्रत्यञ्चाग्रहणविधौ । (२) शरसमूहम् ।

कोटिं परामुपगतेऽपि गुणे नितान्तं
नम्रं विमृश्य यदि नाऽजगवं जहासि ।
स्वल्पे गुणेऽपि नतिमानतिमात्रमेव
किं तद्य येन न भवामि तवानुकम्प्यः ॥ ५६ ॥

अन्वय—पराम् कोटिम् (धनुरग्रम्, सख्याविशेषम् च) उपगते गुणे (प्रत्यञ्चायां दयादाक्षिण्यादौ च) नितान्तम् नम्रम् विमृश्य, यदि अजगवम् न जहासि, तदा स्वल्पे गुणे (दयादाक्षिण्यादौ) अपि अतिमात्रम् एव नतिमान् (विनीतोऽस्मि) तत् च किम् येन तव अनुकम्प्यः न भवामि ?

अर्थ—हाँ, यदि परमकोटि (धनुष के अग्रभाग) तक पहुँचे हुए गुण (प्रत्यञ्चा) से अतीव नम्र समझकर पिनाक (धनुष) को अपनाये हो तो, हे विभो ! मैं स्वल्प ही गुण (दयादाक्षिण्यादि) से अतिमात्र नम्र हूँ, सो यह क्या कारण है कि मैं आपका अनुकम्पापात्र नहीं होता ?

अत्यन्ततीक्ष्णमतिकर्कशमार्जवेन
कृत्वा प्रवेशमतिमात्रमरुन्तुदं माम् ।
मत्वा जहासि यदि नाथ किमर्थमेत-
देवंविधं वहसि हस्तगतं त्रिशूलम् ॥ ५७ ॥

अन्वय—अत्यन्ततीक्ष्णम् अतिकर्कशम् (अभिमुखे) आर्जवेन प्रवेशम् कृत्वा (पश्चात्) अतिमात्रम् अरुन्तुदम् मत्वा यदि माम् जहासि, तर्हि हे नाथ ! एवंविधम् हस्तगतम् एतत् त्रिशूलम् किमर्थम् वहसि ?

अर्थ—हाँ, मुझे अत्यन्त तीक्ष्ण (रोषयुक्त), अति कठोर हृदय और पहले बड़ी विनम्रता से प्रवेशकर पीछे अत्यन्त ही। मर्म भेदन करनेवाला समझ कर यदि आप मेरी उपेक्षा करते हो, तो हे नाथ ! फिर ठीक ऐसे ही अर्थात् अत्यन्त तीक्ष्ण, अति कठोर, और पहले बड़ी सरलता से प्रवेश करके फिर मर्म भेदन करनेवाले त्रिशूल को आप क्यों हाथ में धारण करते हो ?

ज्ञात्वाऽथ चेत्समरसंहितकर्मयोग्यं
कोटित्रयोज्ज्वलमुरं त्रिशिखं बिभर्षि ।
निःस्वं न किं समरसं हितकर्मयोग्यं
मां वेत्सि येन कुरुषे मयि न प्रसादम् ॥ ५८ ॥

अन्वय—अथ समरसंहितकर्मयोग्यम् कोटित्रयोज्ज्वलमुरम् ज्ञात्वा चेत् त्रिशिखम् बिभर्षि, तर्हि माम् निःस्वम् समरसम् हितकर्मयोग्यम् किम् न वेत्सि ? येन मयि प्रसादम् न कुरुषे ।

अर्थ—हाँ, त्रिशूल को समर (संग्राम) में युद्ध करने के योग्य और कोटित्रय (तीन शिखाओं) से उज्ज्वलित मुखवाला समझकर इसे धारण करते हो, तो फिर क्या आप मुझे निर्धन (कोटित्रय विहीन) एवं समरस सर्वत्र समान अर्थात् एकरस और (सभी का) हितकर्म करने योग्य नहीं समझते ? जिससे कि मुझपर अनुग्रह नहीं करते हो ।

न्यग्भावितद्विजमखर्वितपूर्वदेव—
गुर्वाऽपदर्पणपरं कृतगोत्रभेदम् ।
संभाव्य चेत्त्यजसि मां कथमीदृगेव
नेत्रोत्सवस्तव जगद्विजयी कुमारः ॥ ५९ ॥

अन्वय—हे स्वामिन् ! माम् न्यग्भावितद्विजम्, अखर्वितपूर्वदेव-गुर्वापदर्पणपरम्, कृतगोत्रभेदम् संभाव्य चेत् त्यजसि, तर्हि ईदृक् एव (न्यग्भावितद्विजः[1] अखर्वितपूर्वदेवगुर्वापदर्पणपरः कृतगोत्रभेदः) जगद्विजयी कुमारः कथम् तव नेत्रोत्सवः (नयनप्रकाशकरः, अतिप्रियः, सुतः इत्यर्थः) ?

अर्थ—हे नाथ ! मुझे द्विजों (ब्राह्मणों) का तिरस्कार करने-वाला, अपने इष्टदेवता और गुरुजनों को दुःख देने में तत्पर और (दुःशीलता के कारण) अपने गोत्र (वंश) को भेदन करनेवाला

---

(१) अर्थवशाद् विभक्तिविपरिणामः ।

समझ कर यदि मेरी उपेक्षा करते हो, तो फिर ठीक मेरे ही समान अर्थात् द्विज (अपने वाहन मोर) को तिरस्कृत करनेवाला, बड़े बड़े पूर्व-देवों (दैत्यों) के गुरुजनों को दुःख देने में तत्पर और गोत्र (क्रौञ्च पर्वत) का भेदन करनेवाला यह जगद्विजयी कुमार (स्वामी कार्तिकेय) आपको अत्यन्त प्रिय कैसे लगता है ?

मत्वाऽथ नाथ शुचिजातिममुं विशाख-
मस्मिन्मनो यदि बिभर्षि दृढप्रसादम् ।
एवंविधोऽप्यहमनन्यपरायणस्ते
कस्माद्भवामि भगवन्नवलेपभूमिः ॥ ६० ॥

अन्वय—हे नाथ ! अथ अमुम् शुचिजातिम् विशाखम् मत्वा यदि अस्मिन् मनः दृढप्रसादम् बिभर्षि, तर्हि हे भगवन् ! एवंविधः अपि अनन्य-परायणः अहम् ते अवलेपभूमिः कस्मात् भवामि ?

अर्थ—और हे नाथ ! इस (स्वामी कार्तिकेय) को शुचिजाति (अग्नि से उत्पन्न हुआ) और विशाख (कुमार) समझकर यदि इसे अत्यन्त प्रिय समझते हो, तो हे भगवन् ! मैं भी तो ठीक ऐसा ही— अर्थात् शुचिजाति (पवित्र जातिवाला अर्थात् ब्राह्मण) और विशाख (निराश्रय)—हूँ, अतः मैं अनन्यशरण आपके तिरस्कार का पात्र कैसे हो सकता हूँ ?

सर्वापहाररतिरुन्मदवक्रवक्त्र-
स्त्याज्योऽस्मि कर्णचपलो यदि तुन्दिलस्ते ।
एवंविधोऽपि भगवन् गणनायकत्वे
कस्मादयं गजमुखो भवता नियुक्तः ॥ ६१ ॥

अन्वय—हे भगवन् ! सर्वापहाररतिः, उन्मदवक्रवक्त्रः कर्णचपलः तुन्दिलः (अहम्) यदि ते त्याज्यः अस्मि, तर्हि एवंविधः अपि अयम् गजमुखः भवता गणनायकत्वे कस्मात् नियुक्तः ?

अर्थ—हे भगवन्! मुझे सर्वापहार (जहाँ कहीं भी मिलने वाली प्रत्येक वस्तुओं को अपहरण) करने में तत्पर, उन्मद और कुटिल मुखवाला, चञ्चल कर्णों वाला और बड़े जठर(फूले पेट)वाला जानकर यदि मेरा परित्याग कर रहे हो, तो फिर आपने ठीक मेरे ही समान—अर्थात समान वस्तुओं के अपहरण करने में तत्पर, उन्मद और कुटिल मुखवाले, अति चञ्चल कर्णों और स्थूल उदरवाले गजमुख (हाथी के समान मुखवाले गणेश) को अपना गणनायक (नन्दी, भृङ्गी, महाकाल आदि गणों का नेता) क्यों बनाया ?

हस्तं सदा वहति दानजलावसिक्त
तेनैष चेदलभत प्रमथाधिपत्यम् ।
दानं प्रदातुमधनो यदि न क्षमोऽहं
दासत्वमस्तु मम देव भवद्गणानाम् ॥ ६२ ॥

अन्वय—हे देव! एष (गजमुख) यत दानजलावसिक्तम्[1] हस्तम् सदा वहति, तेन (हेतुना) एष प्रमथाधिपत्यम् अलभत चेत्, तर्हि अधन अहम् दानम् प्रदातुम् यदि न क्षमः (अस्मि) तदा भवद्गणानाम् दासत्वम (एव) मम अस्तु ।

अर्थ—हाँ, यह गणेश जो सदा दान जल (मद के जल) से सिञ्चित हस्त (सूँड) को धारण किये रहता है यदि इसी कारण इसको आपने अपने गणों का अधिपति बना लिया है, तो हे स्वयप्रकाश परमेश्वर! मैं निर्धन और दान देने को असमर्थ हूँ, अतएव सदा दानजल (दान देने के लिए जल) से सिञ्चित हस्त को नहीं धारण कर सकता, इस कारण यदि मुझे आप गणेश के समान सेनानायक बनाने योग्य न समझते हो तो बस, मुझपर इतनी ही कृपा कर दीजिए कि मुझे अपने गणों का दास ही बना दीजिए!

---

(१) मदाम्भसाऽवसिक्तम्, दानार्थं जलेन चावसिक्तञ्च ।

हेयोऽस्म्यसेवकतया तव चेद् ग्रहेषु
　　कुर्वत्सु तुल्यमखिलेष्वपि राशिभोगम् ।
द्वावुज्झतस्तव न दृक्पथमर्कचन्द्रा-
　　वेतावता परिहृता भवता किमन्ये ॥ ६३ ॥

अन्वय—हे नाथ ! अखिलेषु अपि ग्रहेषु तुल्यम् (एव) राशिभोगम् कुर्वत्सु (सत्सु) अर्कचन्द्रौ द्वौ (एव) तव दृक्पथम् न उज्झतः चेत्, तर्हि एतावता (एव) भवता अन्ये (भौमादयः ग्रहाः) किम् परिहृता, (अहम्) असेवकतया कथम् हेय अस्मि ?

अर्थ—हे नाथ ! सूर्यादि सभी नव ग्रहों के (मेषादि बारह) राशियों का तुल्य भोग करने पर उनमें से केवल सूर्य और चन्द्रमा ही आपके दृष्टिमार्ग (नेत्र मार्ग) को नहीं छोड़ते, तो इतने से ही आपने और (मंगल आदि) ग्रहों को क्यों छोड़ दिया ? और अहर्निश आपका ही चिन्तन करनेवाले मुझ शरणागत को सेवक न मान हेय (त्याग करने योग्य) क्यों समझ लिया ?

बालावुभौ द्विजपती तव नाथ भक्ता-
　　वेकस्तयोर्हरति सन्तमसं प्रजानाम् ।
तेनावृतं यदि परं सहसे महेश
　　द्रष्टुं ततो विषमदृष्टिरिति श्रुतोऽसि ॥ ६४ ॥

अन्वय—हे नाथ ! बालौ उभौ द्विजपती (एकः द्विजपतिर्बालेन्दुः अन्यो द्विजपतिर्ब्राह्मणः तौ) तव भक्तौ (स्तः) तयोः एकः (द्विजपतिः तव मौलिस्थो बालेन्दुः) प्रजानाम् सन्तमसम् हरति, परम् द्विजपतिम् (माम् बालम्) तेन (सन्तमसेन) आवृतम् द्रष्टुं यदि सहसे, ततः (एव) हे महेश ! (त्वम्) विषमदृष्टिः इति श्रुतः असि ।

अर्थ—नाथ ! दोनों कुमार (चन्द्रमा और मैं) द्विजपति (तारकराज और ब्राह्मणेन्द्र) हैं और दोनों आपके भक्त हैं, सो उनमें एक द्विज-

पति (आपका मौलिस्थ बालेन्दु) तो समस्त प्रजाओं के अन्धकार को दूर करता है, और दूसरे द्विजपति (मुझ)को उस (अज्ञान रूप) अन्धकार ने घेर रक्खा है, ऐसी दशा में यदि आप इसे इस अन्धकार में ही पड़े रहने दें, तब तो हे महेश ! आप अवश्य ही विषम-दृष्टि—पक्षपाती—(त्रिनेत्रधारी) हो !

युक्तं रिपौ सुहृदि वा समदर्शनस्य
दोषोद्धतेऽपि यदि ते हृदयं दयार्द्रम् ।
तत्साम्प्रतं गतिविहीनमनात्मनीनं
दीनं जनं प्रति कुतः करुणाऽवलेपः ॥ ६५ ॥

अन्वय—अयि भगवन् ! दोषोद्धते अपि रिपौ सुहृदि वा समदर्शनस्य ते हृदयम् यदि दयार्द्रम् (अस्ति, तत्) युक्तम् । तत् साम्प्रतम् गतिविहीनम् अनात्मनीनम् दीनम् जनम् (माम्) प्रति कुतः तव करुणावलेपः ?

अर्थ—हे नाथ ! यदि आपका हृदय (मद, मात्सर्य आदि) दोषों से उद्धत शत्रु और अभिन्न मित्र, दोनों के प्रति (एक ही समान) दयार्द्र रहता है, तो आप सरीखे समदर्शी के लिए यह उचित ही है। परन्तु, हे नाथ ! अब मुझ सरीखे शरणहीन, भयातुर और अगतिक दीन जन के प्रति आपकी वह करुणा कहाँ चली गई ?

अभ्युद्गमोऽयमशनैरमृतांशुबिम्बा-
त्स्वामिन्नसौ दिनमणेस्तिमिरप्ररोहः ।
युष्मादृशस्य करुणाम्बुनिधेरकस्मा-
दस्मादृशेष्वशरणेष्ववधीरणं यत् ॥ ६६ ॥

अन्वय—हे स्वामिन् ! युष्मादृशस्य (एकनिमेषेणैव त्रिजगदुद्धारकस्य) करुणाम्बुनिधेः अकस्मात् अस्मादृशेषु अशरणेषु यत् अवधीरणम् (अस्ति) अयम् अमृतांशुबिम्बात् अशनैः अभ्युद्गमः (भवति) तथा असौ दिनमणेः तिमिरप्ररोहः (भवति) ।

अर्थ—हे स्वामिन् ! आप सदृश (एक निमेष मात्र में ही तीनों लोकों का उद्धार कर सकनेवाले) करुणासागर द्वारा बिना कारण ही जो हम सरीखे शरण-हीनों का तिरस्कार (उपेक्षा) होता है, सो यह अमृत-मय चन्द्रमण्डल से वज्रपात का अभ्युद्गम और भगवान् दिनमणि (सूर्य) के मण्डल से अन्धकार का प्रादुर्भाव होता है।

स्वामिन् मृडस्त्वमुरुदुःखभरार्दितोऽहं
मृत्युञ्जयस्त्वमथ मृत्युभयाकुलोऽहम् ।
गङ्गाधरस्त्वमहमुग्रभवोपताप—
तप्तः कथं कथमहं न तवानुकम्प्यः ॥ ६७ ॥

अन्वय—हे स्वामिन् ! त्वम् मृडः (असि) अहम् उरुदुःखभरार्दितः (अस्मि) त्वम् मृत्युञ्जयः (असि) अथ अहम् मृत्युभयाकुलः (अस्मि) त्वम् गङ्गाधरः (असि) अहम् उग्रभवोपतापतप्तः (अस्मि) अतः हे विभो ! अहम् तव कथं कथम् न अनुकम्प्यः (अस्मि)।

अर्थ—हे नाथ ! आप मृड (सबको सुखी करनेवाले) हो, मैं बड़े भारी (जरा, जन्म और मरण रूपी) दुःख के भय से पीड़ित हूँ; आप मृत्युञ्जय (यमराज का शासन करनेवाले) हैं, मैं मृत्यु के भय से आकुल हूँ। और आप गङ्गाधर (मस्तक में गङ्गा को धारण करनेवाले) हो, मैं सांसारिक उग्र ताप से सन्तप्त हुआ हूँ। बतलाइए, मैं किस किस प्रकार आपका अनुकम्पनीय नहीं हूँ ? अर्थात् मैं सभी प्रकार आपका अनुकम्पा-पात्र (चिकित्सनीय) हूँ।*

---

* इसी आशय से किसी प्रेम-रसिक ने प्रभु से कहा है—

भवजीर्णज्वरातापमोहकम्पाकुलाय मे ।
एकं सुदर्शनरसांशं देहि विश्वचिकित्सक ! ॥

अर्थात् हे विश्वचिकित्सक ! संसाररूपी जीर्णज्वर के संताप से उत्पन्न हुए मोहरूपी कम्प से व्याकुल मुझ दीन को सुदर्शन (अपने सुन्दर दर्शन) की एक मात्रा दीजिए।

भक्तप्रियः स्वयमपि क्षुधयाऽन्वितस्य
पानोत्सवैकरसिकोऽपि पिपासितस्य ।
तापातुरस्य घनसेवनसादरोऽपि
जानासि नाथ न कथं सहसा ममार्तिम् ॥ ६८ ॥

अन्वय—हे नाथ ! (त्वम्) स्वयमपि भक्तप्रिय (सन्) क्षुधया (त्वद्दर्शनबुभुत्सया) अन्वितस्य मम आर्तिम् सहसा कथम् न जानासि ? पानोत्सवैकरसिक (सन्) अपि पिपासितस्य (त्वदालोकनपिपासाकुलितस्य) मम आर्तिम् कथं न जानासि ? तथा घनसेवनसादरः सन् अपि तापातुरस्य मम आर्त्तिम् सहसा कथम् न जानासि ।

अर्थ—नाथ ! (तुच्छ-पुरुष भी क्षुधा-पिपासा-पीडित प्राणी के दुःखों पर विचार करता है तो) आप स्वयं भक्तप्रिय (भक्तों के प्रिय करनेवाले) होकर भी मुझ क्षुधापीडित (आपके दर्शन रूपी भूख से व्याकुल हुए) की पीडा को क्यों नहीं देखते ? पानोत्सव (त्रैलोक्य-संरक्षण) के एकमात्र रसिक होकर भी मुझ पिपासाकुल (आपके दर्शन के प्यासे) के दुःख पर क्यों नहीं विचार करते और घनसेवन (भक्त जनों की गाढ़ सेवा) के प्रेमी होकर भी मुझ तापत्रय-विह्वलित की व्यथा को शीघ्र क्यों नहीं दूर कर देते ?*

सर्वज्ञ सर्वमवगच्छसि भूतभावि
भाग्यक्षयः पुनरसौ भगवन् ममैव ।

* कवि ने यहा शब्द श्लेषालङ्कार द्वारा चमत्कार किया है, और खूब किया है । वह कहता है कि नाथ, आप भक्तप्रिय—तण्डुलों अर्थात् भात के प्रेमी होकर भी मुझ क्षुधापीडित (भूखे) की व्यथा को नहीं देखते, जल-पान के प्रेमी होकर भी प्यासे की व्यथा पर विचार नहीं करते और घन-सेवन (कर्पूर के सेवन) के प्रेमी होकर भी मुझ तापातुर का दुःख नहीं दूर करते । वाह, कितना हृदयग्राही भाव है !

जानासि यस्य हृदयस्थित एव नार्त्तिं
ज्ञात्वाऽपि वा गजनिमीलितमातनोषि ॥ ६९ ॥

अन्वय—हे सर्वज्ञ ! (त्वम्) सर्वम् भूतभावि अवगच्छसि। हे भगवन्! पुनः मम एव असौ भाग्यक्षयः (अस्ति), यस्य हृदयस्थित एव (मम) आर्त्तिम् न जानासि, ज्ञात्वा अपि वा गजनिमीलितम् आतनोषि।

अर्थ—अयि सर्वज्ञ परमेश्वर! आप भूत, भविष्य (वर्तमान) सब कुछ जानते हो। परन्तु हे भगवन्! यह मेरा ही हीन-भाग्य है कि आप अहर्निश मेरे हृदय में ही रहकर मेरी व्यथा को नहीं जानते, अथवा जानकर भी हाथी का जैसा नेत्र[1]-निमीलन कर लेते हो।

भालेऽनलं तव गले गरलं करे च
शूलं प्रकाशमखिलोऽयमवैति लोकः।
अन्तर्गतं त्रयमिदं तु मम त्वमेव
जानासि नासि च दयालुरतो हतोऽहम् ॥ ७० ॥

अन्वय—अयि नाथ! तव भाले अनलम्, गले गरलम्, करे च शूलम् प्रकाशम् (स्फुटमेव) अयम् अखिल लोकः अवैति। मम तु अन्तर्गतम् इदम् त्रयम्[2] त्वम एव (अन्तर्यामित्वात्) जानासि, दयालुः च न असि, अतः (एव) अहम् हतः।

अर्थ—अयि नाथ! आपके ललाट में अनल (अग्नि), कण्ठ में गरल (कालकूट विष) और हाथ में शूल (त्रिशूल) है इस बात को सभी लोग स्पष्ट ही जानते हैं। परन्तु मेरे तो अनल (अज्ञान से होनेवाला शोक), गरल (प्रारम्भ में मधुर और परिणाम में दुःख देनेवाला पापरूप विष) और जरामरण-रूपी शूल रोग ये तीनों अन्दर रहते

---

(१) अनदेखा (देखकर भी न देखा सा)

(२) शोकात्मकमनलमज्ञानवियोगजातोऽग्निम्, मधुरमपि परिणामदारुणं दुःखसंरूपं गरलम् जरामरणाख्यं शूलम्।

हैं, सो इसे (मेरी आन्तरिक व्यथा को) केवल आप अन्तर्यामी ही जानते हो, तो भी आप को दया नहीं आती, इस कारण मैं इस घोर ससार में बुरी तरह मारा गया हूँ।

एकस्त्वमेव भविनामनिमित्तबन्धु-
नैसर्गिकी तव कृपा सवितुः प्रभेव।
वामः पुनर्मम विधिः परिदेवितानि
जातान्य[1]रण्यरुदितेन समानि यस्य ॥ ७१ ॥

अन्वय—हे ईश ! एकः त्वम् भविनाम् एव अनिमित्तबन्धुः (असि), सवितुः प्रभा इव तव (एव) नैसर्गिकी कृपा (अस्ति) पुनः यस्य परिदेवितानि अरण्यरुदितेन समानि जातानि(तस्य)मम(एषः) विधिः वामः (अस्ति)।

अर्थ—प्रभो ! ससारी जीवों के निष्कारण बान्धव एक आप ही हैं, सूर्य की प्रभा के समान स्वाभाविकी करुणा एक आपकी ही है। परन्तु (ऐसा होने पर भी) जो मेरे करुणालाप अरण्य-रोदन (अरण्य में किये गये रोदन) के समान हो रहे हैं, यह मेरा ही भाग्य प्रतिकूल है।

अत्यन्तदुर्भगमयोग्यमभाग्यभाज-
माजन्मनर्मविमुखं मुखरोग्रवाचम्।
दैवादवाप्य सकलापसदं महेश
नैवाऽत्यजत्कुलवधूरिव दुर्गतिर्माम् ॥ ७२ ॥

अन्वय—हे महेश ! अत्यन्तदुर्भगम् अयोग्यम् अभाग्यभाजम् आजन्मनर्मविमुखम् मुखरोग्रवाचम् सकलापसदम् माम् दैवात् अवाप्य इयम् दुर्गतिः कुलवधूः इव (माम्) नैव अत्यजत्।

---

(१) 'जानासि' इत्यपि पाठः।

अर्थ—हे महेश ! दैववश मुझ अत्यन्त अभागे, अयोग्य, जन्म से लेकर सुखहीन, अत्यन्त असम्बद्ध और कठोर भाषण करनेवाले, तुच्छातितुच्छ पुरुषापसद को पाकर यह दुर्गति कुलवधू (पतिव्रता स्त्री) की तरह अब मुझे छोड़ती ही नहीं।

मुक्त्वा समाधिमसमाधिहरं परं च
प्रोद्दामधाम शिव धाम सुधामयं ते।
भ्रान्तोऽस्मि तेन मलयानिलवेल्ल्यमान-
कल्लोललोलनिधनानि धनानि लब्धुम् ॥ ७३ ॥

अन्वय—हे शिव ! तेन (पूर्वोक्तहेतुना) असमाधिहरम् समाधिम् मुक्त्वा, परम् प्रोद्दामधाम ते सुधामयम् धाम च मुक्त्वा (अहम्) मलयानिल वेल्ल्यमानकल्लोललोलनिधनानि धनानि लब्धुम् (दश दिशः) भ्रान्तः अस्मि।

अर्थ—हे शिव ! इसी (पूर्वोक्त) कारण मैं महा विषम आधियों (मानसी-पीड़ाओं) को हरनेवाली 'समाधि' को छोड़ और अत्यन्त उत्कट तेज से देदीप्यमान आपके सुधामय धाम (परम ज्ञान रूप स्थान) को भी छोड़कर, मलयानिल से कम्पित होती तरङ्गों के समान अति चञ्चल परिणामवाली (अर्थात् अत्यन्त क्षणभङ्गुर) सम्पदाओं को प्राप्त करने के लिए (दशों दिशाओं में) वृथैव भ्रान्त हुआ हूँ।

आराधिताः प्रचपलाश्चपलावदेव
दुष्टेश्वरा न गुरवो गुरवो गुणाप्तैः।
यातानि तानि मम हानिमहानि मिथ्या
भ्रान्तोऽस्मि हा विततमोहतमोहतोऽहम् ॥ ७४ ॥

अन्वय—हे विभो ! (मया मूढेन) चपलावद् प्रचपलाः दुष्टेश्वरा एव आराधिताः। गुणाप्तैः गुरवः गुरवः, न आराधिताः (अतः) मम तानि अहानि मिथ्या हानिम् यातानि हा ! विततमोहतमोहतः अहम् भ्रान्तः अस्मि।

अर्थ—प्रभो ! मुझ मूढ ने चपला (विद्युत) के समान चञ्चल चित्तवाले दुरीश्वरों (क्षुद्र राजाओं) की ही आराधना की। और विद्वत्ता आदि गुणों से गम्भीर सद्गुरुओं की आराधना नहीं की। इस कारण मेरे ये दिन मिथ्या (व्यर्थ) हो गये, हाय ! अज्ञान रूपी गाढ अन्धकार से मारा मैं अब अत्यन्त श्रान्त (खिन्न) हो गया हूँ।

तृष्णा दिनादिनमवृंहत वहिमान-
मायामिनी मनसि हैमनयामिनीव ।
नाथ त्रिधामनयनाऽर्पयदृक्प्रसादं
सादं नयान्धतमसं भ्रमसंभृतं मे ॥ ७५ ॥

अन्वय—हे नाथ ! (मम) मनसि तृष्णा आयामिनी हैमनयामिनी इव दिनादिनम् वहिमानम् अवृंहत, अयि त्रिधामनयन ! (त्वं, मयि) दृक्प्रसादम् अर्पय, भ्रमसंभृतम् मे अन्धतमसम् सादम् नय।

अर्थ—हे नाथ ! मन में यह तृष्णा हेमन्त ऋतु की बड़ी रात्रि के समान दिन पर दिन वृद्धि को प्राप्त हो रही है। अयि त्रिधामनयन ! (सूर्य, चन्द्र और अग्नि इन तीनों तेजोमय पिण्डों को तीनों नेत्रों में धारण करनेवाले स्वयंप्रकाश परमेश्वर !) अब आप मुझपर अपना प्रसाद दृष्टि को समर्पण कीजिए और भ्रम से (अर्थात् असत्य में सत्य की प्रतीति से) सञ्चित किये अज्ञान रूपी गाढ अन्धकार को शीघ्र नष्ट कर दीजिए।

स्तम्भं विजृम्भयति दम्भमयं भ्रमं च
कंचित्प्रपञ्चयति यच्छति वाचि मुद्राम् ।
कं नाम नाऽऽमयमयं प्रथयत्यसर्व-
गर्वज्वरज्वलनदःसहसन्निपातः ॥ ७६ ॥

अन्वय—हे प्रभो! अयम् असर्वगर्वज्वरज्वलनदुःसहसन्निपातः, दम्भमयम् स्तम्भम् विजृम्भयति, भ्रमम् च कञ्चित् प्रपञ्चयति, वाचि मुद्राम् यच्छति, कम् नाम आमयम् न प्रथयति।

अर्थ—जैसे सन्निपात ज्वर वात की विषमता से लोगों को काष्ठ के समान स्तब्ध कर देता है, पित्त की विषमता से भ्रम का विस्तार कर देता है—(न पित्तेन विना भ्रमः) और श्लेष्म (कफ) की विषमता से वाणी में मौन भाव उत्पन्न कर देता है, वैसे ही हे प्रभो! महान् अहङ्कार रूपी ज्वर से उत्पन्न हुआ सन्ताप रूप दुःसह सन्निपात ज्वर मनुष्यों को स्तब्ध कपटमय बना देता है, असत्य में सत्य रूप एवं अकार्य में कार्यरूप भ्रम को विस्तीर्ण करता है और वाणी को मूक बना देता है। इस प्रकार हे भगवन्! यह अहंकार रूपी सन्निपातज्वर किस किस रोग को नहीं उत्पन्न करता? अर्थात् सभी काम क्रोधादि रोगों को पैदा कर देता है।*

तत्साम्प्रतं भुवनविश्रुतहस्तसिद्धिं
त्वामोषधीपतिशिखामणिमाश्रयामि।

---

* इसी अभिप्राय से रत्नकण्ठजी ने भी कहा है—

तैस्तैरुग्रैर्विविधरचितैः संभृते यत्र दोषै-
रुत्पद्यन्ते सततमरुचिभ्रान्तिमोहप्रलापाः।
संसाराख्यं प्रमतिविषमं सन्निपातं नराणा-
मेको हन्तुं प्रभवति विभुर्लीलयाऽसौ किरातः॥ १॥

अर्थात् नाना प्रकार के अनेकों महा-उग्र दोषों के सम्पर्क से जहाँ नित्य अरुचि (ग्लानि), भ्रम, मोह, प्रलाप आदि विपत्तियाँ उत्पन्न होती रहती हैं, ऐसे संसाररूपी अत्यन्त विषम सन्निपात (रोग) को हरने के लिए केवल एक 'लीला किरात' (करुण करधारी प्रभु, भगवान् शिव) ही समर्थ हैं।

मौनं विमुद्रय दरिद्रय मोहनिद्रां
विद्रावय द्रुतमुपद्रवमिन्द्रियाणाम् ॥ ७७ ॥

अन्वय—तत् हे नाथ ! साम्प्रतम् भुवनविश्रुतहस्तसिद्धिम् त्वाम् ओषधीपतिशिखामणिम् (अहम्) आश्रयामि, हे विभो ! (मम) मौनम् विमुद्रय, मोहनिद्राम् दरिद्रय, इन्द्रियाणाम् उपद्रवम् द्रुतम् विद्रावय ।

अर्थ—इस कारण हे नाथ ! [जैसे कोई सन्निपात का रोगी लोक में प्रख्यात हस्तसिद्धिवाले* (महायशस्वी) ओषधीश शिरोमणि (सिद्ध-वैद्य) की शरण ले, तो वह वैद्य उस रोगी के मौन (वाणी का स्तम्भन), मोहनिद्रा (मूर्च्छा और निद्रा) और इन्द्रियों के प्रबल दोषों को शीघ्र शान्त कर देता है, वैसे ही हे नाथ !] अहंकार रूपी सन्निपात से पीड़ित हुआ मैं अब आप समस्त भुवनों में विख्यात हस्त-सिद्धिवाले (अनन्त बाहुओं की प्रसिद्धिवाले) ओषधिपति शिरोमणि (चन्द्रचूडामणि) की शरण में आया हूँ, सो हे प्रभो ! मेरे मौन (आपकी स्तुति के विषय में अवर्णनीयत्व रूप दोष) को दूर कर दीजिए, मोह-निद्रा (अज्ञानरूपी निद्रा) को क्षीण कर दीजिए और चक्षुरादि इन्द्रियों के उपद्रव (चञ्चलता रूप दोष) को शान्त कर दीजिए ।†

विस्रम्भमम्भसि भजे भगवन्नगाधे
बाधे रिपुव्यवसितेऽप्यलसीभवामि ।

---

* जिसके हाथ में यश हो ऐसे ।

† इसी अभिप्राय के अनुसार भावुक प्रवर राजानक श्रीरत्नकण्ठजी की भी एक उक्ति है—

'मोहान्ध्यहरणात्तीव्रभवज्वर-निवारणे ।
देहिनां दक्ष एकस्त्वमोषधीशशिखामणिः ॥'

अर्थात्—अयि ओषधीशशिखामणे ! (चन्द्र-मुकुट !) प्राणियों के मोहरूपी महान्धकार का हरण कर संसाररूपी तीव्र ज्वर की शान्ति करने में अति चतुर ओषधीश-शिखामणि (वैद्य-शिरोमणि) एक आप ही हो ।

जागर्मि यन्न समवर्तिनि हन्तुकामे
का मे गतिर्यदि करोषि मनागवज्ञाम् ॥ ७८ ॥

अन्वय—हे भगवन् ! (अहं मूढः) अगाधे अम्भसि (भवार्णवे) विस्रम्भम् भजे, रिपुव्यवसिते बाधे अपि अलसीभवामि (कुतः) यत् हन्तुकामे समवर्तिनि (यमे) न जागर्मि । हे विभो ! (त्वम् दयालुः) यदि मनाक् (एव) अवज्ञाम् करोषि, तर्हि मे का गतिः ।

अर्थ—हे भगवन् ! मैं मूढ़ अगाध सागर (संसार-समुद्र) में (यह थाहवाला ही है ऐसा समझकर) विश्वास धारण करता हूँ, और शत्रु-जनित महाबाधाओं से बाधित हो जाने पर भी आलसी (निरुद्योगी) ही हूँ, जो कि यमराज के (मुझे) मारने को उद्यत हो लेने पर भी मैं सचेत नहीं होता । अतः हे विभो ! अब यदि आप थोड़ी भी अवज्ञा (उपेक्षा) करें तो मेरी क्या गति होगी ? (यह आप ही बतलाइए ।)

यस्ते ददाति रवमस्य वरं ददासि
यो वा मदं वहति तस्य दमं विधत्से ।
इत्यक्षरद्वयविपर्ययकेलिशीलः
किं नाम कुर्वति नमो न मनः करोषि ॥ ७९ ॥

अन्वय—हे विभो ! यः (धन्यः पूजासमये) ते रवम् (मुखवाद्यम्, विलापेनाक्रन्दं वा) ददाति, अस्य त्वम् वरम् ददासि, यः वा मदम् (गर्वं) वहति तस्य (त्वम्) दमम् विधत्से । इति अक्षरद्वयविपर्ययकेलिशीलः (त्वम्) नमः (नमस्कारम्) कुर्वति (मयि) मनः (चित्तम्) किं नाम न करोषि ? (अत्रापि विपर्ययं कर्तुं युक्तमित्यर्थः) ।

अर्थ—जो धन्यात्मा पुरुष (पूजन के समय) आपको रव देता है (आपके आगे गाल बजाकर आपको अपना मुखवाद्य या दीन आक्र-

न्दन सुनाता है) उसको आप ('रव' का उलटा) 'वर' देते हो और जो मद (अहंकार) को धारण करता है, उसको आप उसके बदले में ('मद' का उलटा) 'दम' अर्थात् दमन रूप दण्ड देते हो। सो इस प्रकार हे भगवन् ! 'रव', 'मद' आदि दो दो अक्षरोंवाले शब्दों का विपर्यय रूप क्रीडा करना (दो दो अक्षरवाले पदों का उलटा कर देना) आपका स्वभाव है, तो फिर (बतलाइए) आपको नम (नमस्कार) करनेवाले (मुझ अनाथ) पर आप ('नम' का उलटा) मन (अपना चित्त, अर्थात् अपने अन्तःकरण को सुकोमल) क्यों नहीं करते ?

चन्द्रः करे शिरसि चक्षुषि पादमूले
मूर्तावपीति शिव चन्द्रसुभिक्षमेतत्।
तापान्धकारविधुरं शरणागतं कि-
मायातु लङ्घितवतस्तव मोघभावम् ॥ ८० ॥

अन्वय—हे शिव ! तव करे, शिरसि, चक्षुषि, पादमूले, मूर्तौ अपि चन्द्र, इति तत् एतत् (तव) चन्द्रसुभिक्षम् तापान्धकारविधुरम् माम् शरणागतम् लङ्घितवत तव मोघभावम् किम् आयातु ? (एतेन स्वायत्तेन चन्द्रसुभिक्षेण मदीय तापमन्धकारं च निर्वाप्य तत्साफल्यं कुर्वित्यर्थः ।)

अर्थ—हे सदाशिव ! आपके हस्त[१] में भी चन्द्र, मस्तक में भी चन्द्र, वामनेत्र में भी चन्द्र, एवं पादकमल और मूर्ति[२] में भी चन्द्र है, सो क्या आपका यह चन्द्र-सुभिक्ष (चन्द्रमाओं का सुकाल) मुझ तापत्रय और अज्ञानरूप अन्धकार से विकल हुए शरणागत को अपमानित कर (अर्थात् मेरे संताप को न शान्त कर) यों ही निष्फल (निरर्थक) हो

(१) दर्वं सुधाकलश-सोमकरम्, इत्यादि स्थल में चन्द्रमा को हाथ में धारण करना पाया जाता है।

(२) शुभ मूर्ति होने के कारण मूर्ति में भी चन्द्रमा का धारण करना कहा है।

जाय ? अर्थात् आप अपने इस स्वाधीन चन्द्र-समुदाय से मेरे ताप-त्रय और अज्ञानान्धकार को शान्त कर उसे सफल कीजिए।

कौटिल्यमिन्दुदलतो न सुधामयत्व-
मूष्माणमूर्ध्वनयनान्न परं प्रकाशम्।
मालिन्यमेव गलतो न गभीरभावं
त्वत्तोऽपि मे तितउकल्पमवाप चेतः ॥ ८१ ॥

अन्वय—हे नाथ ! (प्रतिक्षणं भवदीयध्यानासक्त) तितउकल्पम् मे चेतः (त्वत्) इन्दुदलतः कौटिल्यम् (एव) अवाप, सुधामयत्वम् न अवाप, ऊर्ध्वनयनात् ऊष्माणम् (एव) अवाप, परम् प्रकाशम् न (अवाप), गलतः मालिन्यम् एव अवाप, त्वत्त. अपि गभीरभावम् न अवाप।

अर्थ—अयि नाथ ! मेरा यह तितउ (चलनी) के समान चित्त प्रतिक्षण आपके ध्यान में आसक्त हुआ भी आपकी (मुकुट में विराजमान) चन्द्रकला से (केवल) कुटिलता को ही प्राप्त हुआ, अमृतमय भाव को नहीं प्राप्त हुआ; आपके ऊर्ध्व नेत्र (भाल-नेत्र) से केवल अहङ्कार-रूप सन्ताप को ही प्राप्त हुआ, किन्तु परम प्रकाश को नहीं ! और आपके कण्ठ से केवल मलिनता को ही प्राप्त हुआ, न कि गम्भीरता को प्राप्त हुआ, अर्थात् जैसे चलनी सार वस्तु को छोड़ केवल असार वस्तु को ही ग्रहण करती है, वैसे ही मेरे चित्त ने आपका ध्यान करते हुए आप सर्वगुणनिधान प्रभु से केवल असारता को ही ग्रहण किया है।

किं वर्णयामि गुरुतां विपदः पदे मां
स्थाणोर्न्ययुङ्क्त यदियं सहसोपदिश्य।
निःशाखतां सुमनसामनुपेयभावं
विच्छायतां विफलतां रसहीनतां च ॥ ८२ ॥

अन्वय—अहम् विपदः गुरुताम् किं वर्णयामि, यत् इयम् (विपत्) निःशाखताम् सुमनसाम् अनुपेयभावम् विच्छायताम् विफलताम् रसहीनताम् च उपदिश्य सहसा माम् स्थाणोः पदे (श्री शम्भुचरणे) न्ययुङ्क्त।

अर्थ—अहा! मैं इस जन्म-मरण-जन्य विपत्ति के महत्त्व(महिमा) का क्या वर्णन करूँ? जो कि इस (विपत्ति) ने मुझे शाखाहीन (निराधार), सुमनसों (देवताओं या विद्वानों) के समाश्रयण से रहित, छाया(कान्ति)विहीन, विफल (सकाम कर्मों की इच्छा से रहित) और रसहीन अर्थात् ऐहलौकिक (सांसारिक) वासना से रहित समझकर मुझे शीघ्र ही स्थाणु के पद (श्री शङ्कर के चरणों) में नियुक्त कर दिया!

सर्वज्ञशम्भुशिवशङ्करविश्वनाथ-
मृत्युञ्जयेश्वरमृडप्रभृतीनि देव ।
नामानि तेऽन्यविषये फलवन्ति किन्तु
त्वं स्थाणुरेव भगवन् मयि मन्दभाग्ये ॥ ८३ ॥

अन्वय—हे देव! सर्वज्ञ शम्भु-शिवशङ्कर-विश्वनाथ-मृत्युञ्जयमृड-प्रभृतीनि ते नामानि अन्यविषये फलवन्ति (सन्ति)। किन्तु हे विभो! मन्दभाग्ये मयि त्वम् स्थाणुः एव (असि)।

अर्थ—अयि स्वयप्रकाश परमेश्वर! आपके सर्वज्ञ, शम्भु, शिव, शङ्कर, विश्वनाथ, मृत्युञ्जय, ईश्वर, मृड इत्यादि-इत्यादि सभी शुभसूचक नाम अन्य (भाग्यशाली भक्त) लोगों के लिए फलदायक हैं। अर्थात् आप किसी को सर्वज्ञता प्रदान कर अपने 'सर्वज्ञ'—(सर्वं जानातीति सर्वज्ञ-) इस नाम को चरितार्थ करते हो, किसी को कल्याण प्रदान कर अपने 'शम्भु' (शंभवतीति शम्भुः) नाम को चरितार्थ करते हो और किसी को मङ्गल देकर 'शिव' नाम को चरितार्थ करते हो, इसी प्रकार आपके सभी सुन्दर-सुन्दर नाम भाग्यवान् भक्तों को उत्तम उत्तम फल देकर चरितार्थ होते हैं। किन्तु मुझ अभागी के लिए तो आपका (केवल) एक स्थाणु—ठूँठ अर्थात् पत्र, पुष्प, फल और शाखा से रहित सूखा वृक्ष - (प्रलय में अचल रहनेवाला) ही नाम सार्थक है।

श्वेते सुदर्शनसमर्पणतत्परस्य
कृष्णे च यस्य न बभूव विशेषबुद्धिः ।
सत्त्वं श्रियं सृजसि पुण्यजनेषु मां च
मुञ्चस्यपुण्यजनमेष विधिः क्षतो मे ॥ ८४ ॥

अन्वय—हे विभो ! श्वेते (श्वेताख्यनृपतौ) सुदर्शनसमर्पण-तत्परस्य (सु=शोभन, दर्शन, तस्य समर्पणे तत्परस्य) तथा कृष्णे च (श्रीकृष्णे च) सुदर्शनसमर्पणतत्परस्य (सुदर्शनाख्यचक्रसमर्पणे तत्परस्य) यस्य (तव) विशेषबुद्धिः न बभूव । सः त्वम् पुण्यजनेषु (कुबेरादिषु) श्रियम् सृजसि, माम् अपुण्यजनम् (=पुण्यहीन जनम्) मुञ्चसि (यत्) एषः मे विधिः क्षतः ।

अर्थ—हे विभो ! श्वेत (राजा) को सुदर्शन (सुन्दर दर्शन) समर्पण करने में और कृष्ण (भगवान् विष्णु) को सुदर्शन (चक्र) समर्पण करने में जिस (आप) की (श्वेत और कृष्ण दोनों में) किञ्चिन्मात्र भी विशेष बुद्धि (विषम बुद्धि अर्थात् भेद-दृष्टि) नहीं हुई, वही आप पुण्यजन (कुबेर आदिकों) को श्रेय प्रदान करते हो, और मुझ अपुण्यजन (पुण्यहीन जन) का परित्याग करते हो यह मेरा ही मन्द भाग्य है !

आवर्जनं क्रतुभुजां गजवाजिरत्न-
श्रीपारिजातमदिरेन्दुसुधाऽर्पणेन ।
कृत्वाऽग्रहीर्गरलमात्मनि यन्महिम्ना
सा ते क्व सम्प्रति कृपा मयि मन्दभाग्ये ॥ ८५ ॥

अन्वय—हे विभो ! गजवाजिरत्न-श्रीपारिजातमदिरेन्दुसुधार्पणेन क्रतुभुजाम् आवर्जनम् (वशीकरणम् परमसंतोषम् च) कृत्वा (त्वम्) आत्मनि यन्महिम्ना गरलम् अग्रहीः, सा ते कृपा सम्प्रति मन्दभाग्ये मयि क्व (अस्ति) ?

अर्थ—हे विभो ! जिस (करुणा) की महिमा से आपने देवताओं को 'गज' (ऐरावत हाथी), अश्व (उच्चैःश्रवा घोड़ा), रत्न (कौस्तुभ मणि), लक्ष्मी, पारिजात (कल्पवृक्ष), मदिरा, चन्द्रमा और 'सुधा' ऐसे-ऐसे उत्तम पदार्थ समर्पण कर उन्हें परम सन्तुष्ट और अपने वश में करके स्वयं हलाहल विष का ग्रहण किया, वह आपकी उदार करुणा मुझ मन्दभाग्य के लिए अब कहाँ चली गई ?

दृप्तेषु ते मदनदक्षयमान्धकेषु
प्रादुर्भवन्मनसि रोषविषप्ररोहः ।
सिक्तः सुधामयमसूत यया प्रसादं
सा ते क्व सम्प्रति कृपा मयि भाग्यहीने ॥ ८६ ॥

अन्वय—दृप्तेषु मदनदक्षयमान्धकेषु ते मनसि प्रादुर्भवन् (यः) रोषविषप्ररोहः, यया सिक्तः सन्, सुधामयम् प्रसादम् असूत, सा ते कृपा सम्प्रति भाग्यहीने मयि क्व (अस्ति) ?

अर्थ—हे विभो ! (त्रैलोक्यविजयी होने के कारण) अत्यन्त अहङ्कारी कामदेव, दक्ष प्रजापति, यमराज और अन्धकासुर पर आपके मन में उत्पन्न होता क्रोध रूपी विष का अंकुर जिस (कृपा के रस) से सिंचित हुआ फिर (उन्हीं लोगों के लिए संजीवन रूपी) अमृतमय प्रसाद को उत्पन्न किया, वह आपकी अतिशय उदार करुणा इस समय मुझ भाग्यहीन दीन के लिए कहाँ चली गई है ?

केचिद्वरस्य भगवन्नभयस्य केचि-
त्सान्द्रस्य केचिदमृतस्य करस्थितस्य ।
प्रापुः कृपाप्रणयिनस्तव भाजनत्वं
शूलस्य केवलमभाग्यपरिक्षतोऽहम् ॥ ८७ ॥

अन्वय—हे भगवन् ! केचित् कृपाप्रणयिनः (कृपाप्रार्थका भक्तजनाः) तव वरस्य भाजनत्वम् प्रापुः, केचित् तव अभयस्य भाजनत्वम् प्रापुः,

केचित् तव करस्थितस्य सान्द्रस्य अमृतस्य भाजनत्वम् प्रापुः, (किन्तु) अभाग्यपरिहतः अहम् केवलम् शूलस्य भाजनत्वम् (प्राप्तम्) ।

अर्थ—हे भगवन् ! (आपके एक हाथ में वर, दूसरे से अभय, तीसरे में अमृत-कलश और चौथे हाथ में 'शूल' है सो) कोई कृपा-प्रणयी भक्त (आपकी कृपा के चाहनेवाले भक्त लोग) आपके 'वर' के पात्र बन गये । कोई लोग आपके (आयुध-स्थानीय) 'अभय' के भाजन बन गये हैं। और कोई (भाग्यवान् लोग) आपके करकमलस्थ सान्द्र अमृत के भाजन हो गये हैं (परन्तु) भाग्य से हीन मैं (तो) केवल आपके शूल (त्रिशूल, अथवा शूल रोग) का ही पात्र[1] बना हूँ ।

अभ्रान्तवृत्ति भवतान्तरधिष्ठितं मे
चेतः प्रकाशवपुषा रविणेव बिम्बम् ।
सोपप्लवं यदि कृतं तमसा कदाचि-
दक्षीणपुण्यमहिमैव तदा विभाति ॥ ८८ ॥

---

(१) सुना जाता है कि ग्रन्थकार को शूल रोग की बीमारी थी, इसी अभिप्राय से इन्होंने अपने को शूल का पात्र बताया ।

इसी आशय के अनुसार परम शैव श्रीमद्राजानक रत्नकण्ठजी ने भी क्या ही अच्छा कहा है—

हा हा महार्त्योऽस्मि विमोहितोऽहं
जरादिदुःखेन सदैकशूली ।
त्रिशूलिनं त्रिजगत्प्रसिद्धं
चिकित्सकं यामि यदस्य शान्त्यै ॥

अर्थात्—हाय, हाय ! मैं इस जरा मरणादि दुःखरूपी महान् व्याधि से कितना मोहित हुआ हूँ, जो कि सदा एक शूली (शूलरोगी) होकर इसी की शान्ति (चिकित्सा) के लिए तीनों लोकों में प्रसिद्ध त्रिशूली (हाथ में त्रिशूल को धारण करनेवाले) चिकित्सक की शरण मैंने ली है ? क्योंकि जो स्वयं त्रिशूली है वह मेरे (एक) शूल को कैसे निवृत्त करेगा ?

अन्वय—[इव = यथा, तथा] यथा हे प्रभो ! प्रकाशवपुषा रविणा अन्तः अधिष्ठितम् अभ्रान्तवृत्ति बिम्बम् यदि कदाचित् तमसा (राहुणा) सोपप्लवम् कृतम्, तदा (तत्) अक्षीणपुण्यमहिम विभाति । तथा—प्रकाशवपुषा भवता अन्तः अधिष्ठितम् अभ्रान्तवृत्ति (त्वत्परायणम्) मे चेतः यदि कदाचित् तमसा (अज्ञानेन) सोपप्लवम् कृतम्, तदा (तत्रापि) अक्षीणपुण्यमहिम एव विभाति ।

अर्थ—हे प्रभो ! जैसे आकाश के मध्य में रहनेवाले सुप्रकाशमय श्री सूर्यदेव से अधिष्ठित, बिम्ब (सूर्य-मण्डल) यदि कदाचित् तम (राहु) से ग्रस्त हो जाय (सूर्यमण्डल में कभी राहु का ग्रहण भी लग जाय) तो भी उसके पुण्य की महिमा क्षीण नहीं होती । वैसे ही हे नाथ ! अन्दर आप परम ज्योति-स्वरूप चित्प्रकाशमय परब्रह्म परमेश्वर से अधिष्ठित (अतएव) भ्रान्तिमयी वृत्ति (भ्रम) से रहित (अर्थात् एकमात्र आपमें ही परायण) मेरा चित्त यदि कदाचित् तम (अज्ञान) से उपद्रुत (उद्वेजित) हो जाता है, तो भी इसके पुण्य की महिमा क्षीण नहीं होती ।

जानामि नाऽमृतमयं हृदयं प्रवेष्टु-
मुद्दामदुःखदवदाहहतस्तवाऽहम् ।
धर्तुं हृदि त्रिदशसिन्धुसुधा-सुधांशु-
शीतं भवन्तमपि न प्रभवामि धिङ्माम् ॥ ८९ ॥

अन्वय—हे विभो ! उद्दामदुःखदवदाहहतः अहम्, तव अमृतमयम् हृदयम् प्रवेष्टुम् न जानामि, त्रिदशसिन्धुसुधासुधांशुशीतम् भवन्तम् अपि हृदि धर्तुम् न प्रभवामि, (इति, उभयथा) माम् धिक् ।

अर्थ—हे विभो ! महान् दुःखरूपी दावानल से सन्तप्त हुआ मैं आपके अमृतमय (शीतल) हृदय में प्रवेश करना नहीं जानता, और आकाशगङ्गा, सुधा एवं चन्द्रमा के सम्पर्क से अत्यन्त शीतल

समेतः]

हुए आपको भी अपने हृदय में धारण करने के लिए नहीं समर्थ हो सकता (अर्थात् न तो मैं आपके हृदय में प्रवेश करने को समर्थ हूँ और न आपको ही अपने हृदय मे धारण कर लेने के लिए समर्थ हूँ) अतः दोनों ही प्रकार से मुझे धिक्कार है।

क्षीणः क्षताऽखिलकलः प्रविलीनधामा
त्वामाश्रितोऽस्मि सवितारमिवाऽमृतांशुः ।
नास्त्येव जीवनकला मम काचिदन्या
पादार्पणेन कुरुषे यदि न प्रसादम् ॥ ९० ॥

अन्वय—क्षीणः क्षताखिलकलः प्रविलीनधामा (अहम्) शीतांशुः सवितारम् इव, त्वाम् आश्रितः अस्मि। हे विभो ! यदि (त्वम्) पादार्पणेन प्रसादम् न कुरुषे, तर्हि मम काचित् अन्या जीवनकला नास्त्येव।

अर्थ—हे नाथ ! जैसे अत्यन्त क्षीण, सम्पूर्ण (सोलहों) कलाओं से हीन और निस्तेज चन्द्रमा शरणहीन होकर (जीवनरूपी कला की प्राप्ति के निमित्त) सूर्य-देव का आश्रय लेता[1] है वैसे ही (जन्म, जरा और मरण रूप विपत्ति के त्रास से) अत्यन्त क्षीण, (शिल्प आदि) सम्पूर्ण कलाओं से हीन और क्षीण तेजवाला मैं अनन्यशरण होकर आपकी शरण में आया हूँ, सो हे विभो ! यदि अब आप मुझे अपना चरणारविन्द अर्पण न करके मेरे पर नहीं अनुग्रह करें तो फिर (इसके सिवाय) अब मेरी कोई अन्य जीवन-कला (मेरे जीवन का साधन) ही नहीं है।

घोरान्धकारविधुरं त्रिविधोपताप-
तप्तं विपद्गुरुतुषारपराहतं माम् ।

---

(१) चन्द्रमा अमावास्या के दिन सूर्य में प्रविष्ट होता है, यह शास्त्रों में प्रसिद्ध है।

अन्वय—प्रभो ! विपदपस्मृतिपीडितस्य यस्य व्यक्तिः न, मति न, तथा गतिः (च) न, शक्तिः न, स्मृति अपि न (अस्ति) तस्य मम त्रिजगद्गुरुम् त्वाम् ओषधीशमुकुटम् मुक्त्वा पर क चिकित्साम् करिष्यति ?

अर्थ—प्रभो ! जिस विपत्तिरूपी अपस्मार रोग से पीड़ित हुए की कोई प्रसिद्धि नहीं है, और न बुद्धि है, न गति (गमन करने की शक्ति) ही है, न शक्ति (किसी कार्य करने की सामर्थ्य) है और न स्मरणशक्ति ही है, ऐसे मुझ दीन की चिकित्सा (इस रोग का इलाज) त्रैलोक्यगुरु आप औषधीशमुकुट—वैद्य-शिरोमणि—(चन्द्रशेखर) को छोड़कर दूसरा और कौन करेगा ? क्योंकि—जिस अपस्मार रोग से पीड़ित हुए पुरुष का न व्यक्ति (प्रसिद्धि) है, न मति है, न गति (शरण) है, न शक्ति और न स्मृति ही है, उसकी चिकित्सा केवल एक औषधीश-मुकुट (वैद्यशिरोमणि) के सिवाय दूसरा और कौन कर सकता है ?

त्वं निर्गुणः शिव तथाहमथ त्वदीयं
　　शून्यं परं किमपि धाम तथा मदीयम् ।
त्वं चेद्गवि प्रविदधासि धृतिं तथाऽहं
　　कष्टं शिवस्त्वमशिवस्तु विधिक्षतोऽहम् ॥ ९३ ॥

अन्वय—हे शिव ! (यथा) त्वम् निर्गुण[1] असि, तथा अहम् (अपि) निर्गुण (दाक्षिण्यादिगुणरहितः अस्मि) अथ त्वदीयम् परम् धाम किमपि शून्यम्[2], तथा मदीयम् अपि धाम (गृहम्) परम् शून्यम् (व्यावहारिकोपकरणहीनम् अस्ति) त्वम् चेत् गवि धृतिम् (स्थितिम्) विदधासि, तथा अहम् अपि गवि (वाण्याम्) धृतिम् (प्रीतिम्) विदधामि । (किन्तु) कष्टम् तु (एतत्) त्वम् शिव असि, विधिक्षत अहम् तु अशिव अस्मि ।

---

(१) सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था मूलप्रकृति, 'न प्रकृतिर्न विकृति पुरुष' इति साङ्ख्या ।

(२) ब्रह्माण्डोर्ध्वं शून्यास्पदत्वात्पर ज्योतिः स्वरूपस्य परमात्मनः।

अर्थ—हे सदाशिव ! जैसे आप निर्गुण (प्रकृति के गुणों के सम्पर्क से रहित) हो, वैसे ही मैं भी निर्गुण (पाण्डित्य, दया-दाक्षिण्य आदि सद्गुणों से रहित) हूँ। जैसे आपका वह आपका परमधाम शून्य (परमज्योतिस्वरूप) है, वैसे ही मेरा भी धाम (गृह) अत्यन्त ही शून्य (अतिदरिद्रता के कारण व्यावहारिक वस्तुओं से रहित) है। और जैसे आप गौ (वृषभ) में धृति (स्थिति) रखते हो, वैसे ही मैं भी गौ (वाणी में) प्रीति रखता हूँ। पर कष्ट तो यही है कि (पूर्वोक्त प्रकार से आप और मुझमें समानता होते हुए भी) आप शिव (परम कल्याण अर्थात् आनन्द सुधा के निधि) हो, परन्तु मैं अभागी अशिव (सुख से हीन) हूँ।

कामस्त्वयीव मयि निष्फलतामवाप
क्षिप्तो मयापि विफलो भवतेव कालः ।
विध्वस्तधाम मम देव वपुस्तवेव
कष्टं शिवस्त्वमशिवस्तु विधिक्षतोऽहम् ॥ ९४ ॥

अन्वय—हे विभो ! कामः त्वयि इव, मयि निष्फलताम् अवाप, भवता इव, मया अपि कालः विफलः क्षिप्तः। अयि देव ! तव वपुः इव, मम (अपि) वपुः विध्वस्तधाम अस्ति, कष्टं त्वेतत् त्वम् शिवः असि, विधिक्षतः अहम् तु अशिवः (अस्मि)।

अर्थ—हे प्रभो ! जैसे काम (कामदेव) आपके विषय में निष्फलता को प्राप्त (विफलप्रयास) हुआ, वैसे ही मेरे विषय में काम (अभिलाष) निष्फलता को ही प्राप्त हुआ, जैसे आपने (राजा श्वेत व मार्कण्डेय जी आदि भक्तजनों की रक्षा के निमित्त) काल (मृत्यु) को विफल (निष्फल-प्रयास) किया, वैसे ही मैंने भी काल (अपना समय) विफल—निरर्थक कर दिया। अयि देव ! जैसे आपका शरीर विध्वस्तधाम (विधुना अस्तं धाम यत्र—चन्द्रमा के तेज से युक्त) है,

वैसे ही मेरा भी शरीर विध्वस्तधाम (तेज से हीन) है। पर खेद तो यही है कि (इस प्रकार आप और मैं, दोनों एक समान लक्षणवाले होते हुए भी) आप तो शिव (तीनों लोकों के कल्याणदाता) हो और मैं अभागो कल्याण से वञ्चित ही हूँ।

यद्वद्विभो तव हृदि प्रविभाति नाग-
स्तद्वन्ममापि भवदेकपरायणस्य।
यद्वत्स्वधर्मनिरतस्त्वमहं तथैव
कष्टं शिवस्त्वमशिवस्तु विधिक्षतोऽहम् ॥ ९५ ॥

अन्वय—हे विभो ! यद्वत् तव हृदि नागः (वासुकिः) प्रविभाति, तद्वत् भवदेकपरायणस्य मम अपि हृदि, नागः (न, आगः = अपराध.) प्रविभाति। यद्वत् त्वम् स्वधर्मनिरतः असि, तथैव अहम् अपि स्वधर्मनिरतः (अस्मि) कष्टं तु एतत्—हे विभो ! त्वम् शिवः (असि) विधिक्षतः अहम् तु अशिवः (अस्मि)।

अर्थ—हे विभो ! जैसे आपके हृदय में नाग (वासुकि सर्प) शोभित होता है, वैसे ही मेरे भी हृदय में नाग (न आगः = अपराध) नहीं है, क्योंकि मैं—'भवदेकपरायण' सदा एकमात्र आपके चरणों ही मे परायण हूँ। और जैसे आप स्वधर्मनिरत (अपने वृषभ में निरत) हो, वैसे ही मैं भी स्वधर्मनिरत (अपने धर्म में तत्पर) हूँ, पर खेद तो यह है कि आप तो शिव हो, किन्तु मैं मन्दभाग्य अशिव (मङ्गल से हीन) हूँ।

मूर्तिस्तवेव शिव मे विधुरोचितेयं
दृष्टिस्तवेव भगवन् विषमा ममापि।
शूली विषादहतशक्तिरहं यथा त्वं
कष्टं शिवस्त्वमशिवस्तु विधिक्षतोऽहम् ॥ ९६ ॥

अन्वय—हे शिव ! तव मूर्तिः इव, इयम् मे मूर्तिः विधुरोचिता अस्ति, ममापि दृष्टिः तव दृष्टिः इव, विषमा अस्ति। यथा त्वम् विषात् अहतशक्तिः (अस्ति) तथैव अहम् (अपि) विषादहतशक्तिः अस्मि कष्टम् तु एतत्—त्वम् शिवः (असि) विधिवशतः अहम् अशिवः अस्मि।

अर्थ—हे सदाशिव ! जैसे आपकी मूर्ति विधु-रोचिता (चन्द्रमा से शोभित) है, वैसे ही मेरी भी यह मूर्ति विधुरोचिता (दीनता से युक्त) है, जैसे आपकी दृष्टि विषमा—(तीन नेत्र होने के कारण) विषम सङ्ख्यावाली है, वैसे ही मेरी भी दृष्टि (रोषयुक्त होने के कारण) विषमा है, जैसे आप शूली (त्रिशूलधारी) हैं, वैसे ही मैं भी शूली (जन्म-जरा-मरणादि दुःख रूपी शूल रोग से पीडित) हूँ। और जैसे आप विषाद् अहतशक्तिः (हालाहल के पान से अक्षीणशक्ति) हो, वैसे ही मैं भी 'विषादहतशक्ति' (विषाद-खेद से हत-शक्ति) हूँ। इस प्रकार से एक समान होने पर भी आप तो शिव (आनन्दमय) हो, और मैं अभागा अशिव (सुख से हीन) हूँ।

कण्ठे विषं वसति मे विषमं तवेव
भूतेश्वरः पशुपतिश्च भवानिवाऽहम् ।
अङ्गं ममापि गुरुरुज्ज्वलितं तवेव
कष्टं शिवस्त्वमशिवस्तु विधिक्षतोऽहम् ॥ ९७ ॥

अन्वय—हे विभो ! यथा, तव कण्ठे विषमम् विषम्[१] वसति, तथा मे कण्ठे (अपि) विषमम् विषं[१] वसति। यथा भवान् भूतेश्वरः, पशुपतिः च असि, तथैव अहमपि भूतेश्वरः[२] पशुपतिः[३] अस्मि। यथा तव अङ्गम् गुरु-रुग उज्ज्वलितम्[४] अस्ति, तथैव ममापि अङ्गम् गुरुरुज्ज्वलितम्[५] अस्ति, किन्तु कष्टमेतत्—त्वम् शिवः असि विधिक्षतः अहम् तु अशिवः (अस्मि)।

(१) कालकूटम्। (२) मात्सर्यरूपम्। (३) लक्षणया महोन्मादानाम् अग्रणीः। (४) उपचारेण—अज्ञाना पति। (५) गुर्वी या रुक् कान्तिः तथा दीप्तम्। (६) महाव्याधिदग्धम्।

अर्थ—हे विभो ! जैसे आपके कण्ठ में विषम विष (हालाहल) रहता है, वैसे ही मेरे भी कण्ठ में यह मात्सर्यरूपी विषम विष रहता है, जैसे आप भूतेश्वर (सम्पूर्ण प्राणियों के ईश्वर) और पशुपति (अणु, माया और कर्मरूप तीनों पाशों से बद्ध हुए समस्त प्राणियों के पति) हो, वैसे ही मैं भी भूतेश्वर (महान् उग्र—क्रूर लोगों का अग्रणी) और पशुपति (पशु-सदृश अज्ञ, या मूर्खों का अधिपति) हूँ एवं जैसे आपका अङ्ग गुरु रुक्-ज्वलित (विशाल कान्ति से दीप्त) है, वैसे ही मेरा भी अङ्ग गुरु-रुक्-ज्वलित (महान् व्याधि से दग्ध) है, पर हाय ! आप तो शिव हैं, और मैं अभागा अशिव हूँ।

स्वर्भानुगीर्णमिव पूर्णशशाङ्कबिम्ब
　　बालाङ्गनाङ्गमिव दारुणरुग्विरुग्णम् ।
श्रीखण्डचन्दनमिवाऽजगरोपगूढ
　　व्यूढं नृपस्य पिशुनैरिव पादमूलम् ॥ ९८ ॥
हालाहलाक्तमिव दुग्धमहाब्धिनीरं
　　तीरं महामकररुद्धमिव द्युसिन्धोः ।
दारिद्र्यदग्धमिव साधुगृहस्थवृत्तं
　　चित्तं समत्सरमिव श्रुतविश्रुतस्य ॥ ९९ ॥
विद्याविहीनमिव सत्कुलजस्य रूपं
　　निर्दानभोगमिव कापुरुषस्य वित्तम् ।
मानुष्यमुज्ज्वलकुल-श्रुत-शीलशुद्धं
　　जातं विपद्विधुरितं मम शोचनीयम् ॥ १०० ॥
　　　　　　　　　　(तिलकम्)

अन्वय—स्वर्भानुगीर्णम् पूर्णशशाङ्कबिम्बम् इव, दारुणरुग्विरुग्णम् बालाङ्गनाङ्गम् इव, अजगरोपगूढम् श्रीखण्डचन्दनम् इव, पिशुनैः व्यूढम् नृपस्य पादमूलम् इव, हालाहलाक्तम् दुग्धमहाब्धिनीरम् इव, महामकररुद्धम्

युक्तिचो तीरम् इव, दारिद्र्यदग्धम् साधुगृहस्थवृत्तम् इव, श्रुतनिश्रुतस्य समत्सरम् चित्तम् इव, सत्कुलजस्य विद्याविहीनम् रूपम् इव, कापुरुषस्य निर्दानभोगम् वित्तम् इव, उज्ज्वलकुलश्रुतशीलशुद्धम् (अपि इदम्) मम मानुष्यम्, विपद्विधुरतम् सत् शोचनीयम् जातम्।

अर्थ—हे प्रभो ! राहु से ग्रस्त हुए पूर्ण चन्द्रमा के बिम्ब के समान, दारुण व्याधि (महारोग) से खाए हुए बालाऽङ्गना के अङ्ग के समान, अजगरों (भयङ्कर सर्पों) से परिवेष्टित श्रीखण्ड चन्दन के समान, खलों से घिरे हुए धार्मिक राजा के पादमूल के समान, महान् हालाहल विष से व्याप्त हुए क्षीरसागर के नीर के समान, महान् मकरों से रोके हुए गङ्गा नद के समान, दरिद्रता से जले हुए साधु गृहस्थ के चरित्र के समान, विद्वान् पुरुष के समत्सर (ईर्ष्यायुक्त) चित्त के समान, विद्या विहीन कुलीन पुरुष के रूप के समान तथा दान और भोग से रहित कृपण पुरुष की सम्पत्ति के समान (यह) निर्म्मल कुल, विद्या, शील आदि सद्गुणों से विशुद्ध हुआ भी मेरा मनुष्य-जन्म विपत्ति (दारिद्र्य) से विफल किया हुआ सब शोचनीय (व्यर्थ) हो गया है ! [यहाँ से अत्यन्त करुणाजनक विलाप करते हुए कवि कहते हैं—]

पश्चात्पुरः प्रतिदिशं च विमृश्य पश्य-
न्क्रूरं कृतान्तहतकं फणिपाशपाणिम् ।
भूमौ पतामि कृपणं प्रलपामि पाद-
पीठे लुठामि शठवत्क्वविभोऽसि कस्मात् ॥ १०१ ॥

अन्वय—हे विभो ! पश्चात्, पुरः, प्रतिदिशम् च विमृश्य, क्रूरम् फणिपाशपाणिम् कृतान्तहतकम् (दुष्टयमम) पश्यन् (अहम्) भूमौ पतामि, कृपणम् प्रलपामि, (तव) पादपीठे लुठामि। (तथापि) त्वम् शठवत् वधिर कस्मात् असि ?

अर्थ—हे विभो ! मैं आगे भी, पीछे भी और प्रत्येक दिशा मे भी सर्वत्र ही अत्यन्त क्रूर और नागपाश को हाथ मे लिये हत्यारे (जीवहिंसक) यमराज को देखता हुआ (कभी) धरती पर गिर जाता हूँ, (कभी) अत्यन्त दीन विलाप करने लगता हूँ, और (कभी) आपके पादपीठ पर लोट-पोट करने लगता हूँ, (तथापि) आप निरे शठ (धूर्त) के समान कठोर क्यों हो गये हो ?*

आः किं न रक्षसि नयत्ययमन्तको मां
हेलावलेपसमयः किमयं महेश ।
मा नाम भूत्करुणया हृदयस्य पीडा
व्रीडापि नास्ति शरणागतमुज्झतस्ते ॥ १०२ ॥

अन्वय—हे महेश ! अयम् अन्तक. (हठात्) माम् नयति, आ. (त्वम्) माम् किं न रक्षसि ? किम् अयम् हेलावलेपसमय (अस्ति ?) नाम, करुणया (तव) हृदयस्य पीडा मा भूत् (परन्तु) शरणागतम् (माम्) उज्झतः ते व्रीडा अपि नास्ति !

अर्थ—एक निमेष मात्र में ही तीनों लोकों का उद्धार कर सकनेवाले हे परमेश्वर ! यह यमराज मुझे (हठात्) ले जा रहा है, आह !

---

* इसी उक्ति के आशयानुसार श्रीरत्नकण्ठजी की भी एक उक्ति है :-
जलधर इव गर्जित नितान्तमयमयमागत एव पाशहस्तः ।
शरणमशरणस्य को दयालो ! मम कृपणस्य दयां कुरु त्वमत्र ॥
अर्थात्—गम्भीर मेघध्वनि के समान गर्जन करता हुआ और नागफांस को हाथ में लिये हुए यह यमराज मुझे ले जाने को आ ही गया है । हे दया-सागर ! ऐसी अवस्था पर केवल एक आपके सिवाय मुझ शरणहीन, दीन का दूसरा अब कौन शरण है ? अतः हे विभो ! अब आप मुझ कातर के प्रति करुणा कीजिए !

क्यों आप मेरी रक्षा नहीं करते ? प्रभो ! क्या यह हँसी दिल्लगी करने का समय है ? हाय ! (मेरी ऐसी दशा को देखकर) करुणा से आपके हृदय में कुछ पीडा तो नहीं हो होती, किन्तु मुझ शरणागत को छोडते हुए आपको कुछ लज्जा भी नहीं आती है !

अज्ञोऽसि किं किमनलोऽसि किमाकुलोऽसि
व्यग्रोऽसि किं किमघृणोऽसि किमक्षमोऽसि ।
निद्रालसः किमसि किं मदघूर्णितोऽसि
क्रन्दन्तमन्तकभयार्त्तमुपेक्षसे यत् ॥ १०३ ॥

अन्वय—प्रभो (त्व) किं अज्ञः (परपीडाऽनभिज्ञ) असि ? किम् अनल. (=ईदृशसङ्कटस्थशरणागतसंरक्षणसामर्थ्यहीनः) असि ? किम् वा व्यग्र. असि ? किम् अघृण असि ? किंवा अक्षम. असि ? किंवा निद्रालस असि ? किम् मदघूर्णित असि ? यत् (ईदृशम्) क्रन्दन्तम् (अपि माम्) अन्तकभयार्तम् उपेक्षसे ।

अर्थ—हे प्रभो ! क्या आप परपीडा के अनभिज्ञ हो ? या निर्बल (ऐसे सङ्कट मे पडे हुए शरणागत की रक्षा करने की सामर्थ्य से हीन) हो ? अथवा क्या किसी महान् कार्य मे व्यग्र हो ? क्या अत्यन्त (ही) निर्दयी हो ? किंवा सामर्थ्य से हीन हो गये हो ? या (समस्त ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयरूप कार्य मे श्रान्त होकर) निद्रा से आलसी तो नहीं हो गये हो ? अथवा (हालाहलरूपी मदिरा पान के) मद से घूर्णित (मदोन्मत्त) हो गये हो ? जो कि आप इस प्रकार अत्यन्त दीनता से चिल्लाते हुए भी मुझ-यमराज के भय से-आर्त्त की (इस तरह) उपेक्षा कर रहे हो !*

---

* इसी आशय पर श्रीरत्नकण्ठजी ने भी बहुत अच्छा कहा है—
किं सुप्तोऽसि किमाकुलोऽसि जगतः सृष्टस्य रक्षाविधौ
किं वा निष्करुणोऽसि नूनमथवा क्षीब स्वतन्त्रोऽसि किम् ।

द्वेषः किमेष कृपणे किमुताऽक्षमेयं
　　निस्त्रिंशता किमथवा किमशक्तिरेव ।
हुङ्कारमात्रकनिराकरणीयगर्वे
　　सर्वेश कालहतके यदियत्युपेक्षा ॥ १०४ ॥

अन्वय—अयि सर्वेश ! (मयि) कृपणे एषः द्वेषः किम् ? उत इयम् अक्षमा किम् ? निस्त्रिंशता किम् ? अथवा अशक्तिः एव किम् ? यत् (केवलम्) हुङ्कारमात्रकनिराकरणीयगर्वे, कालहतके (अपि) इयती उपेक्षा (भवति) ?

अर्थ—हे विश्वनाथ ! मुझ कृपण पर क्या यह आपका द्वेष है ? अथवा क्या यह आपकी अशक्ति है ? किंवा यह निर्दयता है ? या यह (आपकी) सामर्थ्य-हीनता है ? जो कि केवल एक हुङ्कार मात्र से ही जिसके अहङ्कार का निराकरण हो सकता है ऐसे, हत्यारे काल पर भी आप इतनी बड़ी उपेक्षा कर रहे हो ?

इत्यादि दूक्य इव निष्ठुरपुष्टभाषी
　　यत्किञ्चन ग्रहगृहीत इवाऽस्तशङ्कः ।
आर्यां मुहुर्मुहुरयुक्तमपि ब्रवीमि
　　तत्रापि निष्कृप भिनत्सि न मौनमुद्राम् ॥१०५॥

किं वा मादृशनिःशरण्यकृपणाऽभाग्यैर्जडोऽवासि
　　स्वामिन्यत्र श्रुणोषि मे विलपितं यन्नोत्तरं यच्छसि ॥

अर्थात्—हे प्रभो ! क्या आप अपने रचे हुए इस जगत् की रक्षा करते करते थककर सो गये हो ! अथवा किसी अन्य कार्य में व्याकुल हुए हो ? या निष्करुण (अत्यन्त कठोर) हो गये हो ? किंवा प्रमत्त हो गये हो ? अथवा स्वतन्त्र हो ? या मेरे समान शरणहीन दीन लोगों के मन्द भाग्यों से मूक (जड़) तो नहीं हो गये हो ? जो कि मेरे ऐसे करुण-विलाप को नहीं सुनते हो, और न कोई (उचित) उत्तर ही (मुझे) देते हो !

अन्वय—दुष्टः इव, निष्ठुरपुरुषभाषी, ग्रहगृहीतः इव, अस्तशङ्कः (अहम्) आर्त्या मुहुर्मुहुः अयुक्तम् अपि, इत्यादि यत्किंचन ब्रवीमि, तत्राऽपि हे निष्कृप ! (त्वम्) मौनमुद्राम् न भिनत्सि ?

अर्थ—हे नाथ ! दुष्ट अन्तःकरणवाले खल के समान अत्यन्त कठोर भाषण करनेवाला मैं पिशाचग्रस्त पुरुष के समान निःशङ्क होकर आर्त्ति से पीड़ित होने के कारण बार-बार इस प्रकार अयुक्त भी बातें कह सुनाता हूँ, तो भी हे निष्करुण ! हे कठोर ! आप अपनी मौन-मुद्रा को नहीं छोड़ते ?

भीते भवार्तिविधुरे चरणावलग्ने
भग्नेप्सिते गतिमपश्यति कांचिदन्याम् ।
कस्मादनागसि मनागसि विश्वसाक्षि-
न्दाक्षिण्यदिग्धहृदयोऽपि पराङ्मुखस्त्वम् ॥ १०६ ॥

अन्वय—अयि विश्वसाक्षिन् ! भीते भवार्तिविधुरे, चरणावलग्ने, भग्नेप्सिते, तथा काचित् अन्याम् गतिम् अपश्यति अनागसि (मयि) दाक्षिण्यदिग्धहृदयः अपि त्वम् मनाक् (अपि) पराङ्मुखः कस्मात् असि ?

अर्थ—अयि समस्त विश्व के साक्षी, स्वयप्रकाश परमेश्वर ! अनेकों उपद्रवों से भयभीत, इस घोर भवसागर से उत्पन्न हुई पीड़ाओं से व्याकुल आपके चरणारविन्दों पर लोटते हुए, भग्न-मनोरथ और आपके सिवाय अन्य कोइ गति (आसरा) नहीं देखनेवाले मुझ निरपराध बालक पर, अत्यन्त-स्नेह भरे हृदयवाले होकर भी आप थोड़ा सा भी कुपित क्यों होते हो ?

स्वामिन्निसर्गमलिनः कुटिलश्चलोऽह-
मेतादृगेव च रिपुर्मम मृत्युपाशः ।
भ्रूपल्लवस्तव तथाविध एव तस्य
शान्त्यै विषे हि विषमे विषमेव पथ्यम् ॥ १०७ ॥

अन्वय—हे स्वामिन् ! अहम् निसर्गमलिनः कुटिलः, चलः च अस्मि, मम रिपुः मृत्युपाशः च एतादृक् एव अस्ति। तथाविध एव (निसर्गमलिनः कुटिलः चलः च) तव भ्रूपल्लवः तस्य (मम रिपोर्मृत्युपाशस्य) शान्त्यै (क्षमः अस्ति) हि—विषमे विषे, विषम् एव पथ्यम् (भवति)।

अर्थ—अयि नाथ ! मैं स्वभाव से ही मलिन (अन्तःकरणवाला) (अतएव) अत्यन्त कुटिल व चञ्चल (चल प्रकृति) हूँ। और वह मेरा शत्रु नाग पाश भी ऐसा ही अर्थात् स्वभावतः मलिन (काला), कुटिल (टेढ़ा) और चञ्चल है। सो हे भगवन् ! उस (मेरे शत्रु कालपाश) की शान्ति (उसे निश्चेष्ट) करने के लिए ठीक वैसा ही (अर्थात् स्वभावतः मलिन—श्यामल, कुटिल—धनुष के आकार के समान और चञ्चल) आपका भ्रुकुटि-पल्लव ही समर्थ हो सकता है। क्योंकि (वृद्ध लोगों की यह सम्मति है कि) विषम (अत्यन्त उग्र) विष में विष ही पथ्यकारक होता है।*

किं कार्यमेभिरनिशं पुनरुक्तशुक्तै-
रुद्वेगकारिभिरलब्धफलैः प्रलापैः।
एवं विदन्नपि मुहुर्मुखरं विरौमि
पश्यामि न त्वदितरं हि परं शरण्यम् ॥ १०८ ॥

---

* इसी प्रसङ्ग के अनुसार दुःखोपहत जनों के प्रस्ताव के वर्णन में श्री रत्नकंठजी की एक अति सुन्दर उक्ति है—

दुःखितस्य बहुदुःखमंचयैर्दुःखमुग्रमपि किं करिष्यति।
नाहिफेनमहिफेनसेविनः क्वापि दुर्जरतरं भविष्यति॥

अर्थात्—अतीव दुःसह दुःख-परम्पराओं से दुःखित हुए पुरुष को अत्युग्र दुःख भी क्या कर सकता है ? कुछ नहीं, क्योंकि अहिफेनसेवी (अफीम खानेवाले) के लिए क्या अहिफेन कभी भी दुर्जरतर हो सकता है !

अन्वय—हे विभो ! पुनरुक्तशुष्कैः, उद्वेगकारिभिः, अलब्धफलैः एभिः प्रलापैः अनिशम् किम् कार्यम् ? एवम् विदन् अपि अहम्, मुहुः मुहुः घोरम् विरौमि, हि त्वदितरम् परम् शरण्यम् न पश्यामि ।

अर्थ—हे प्रभो ! बार-बार गद्गद होकर कहे हुए (पर्युषित—बासी ओदन के तुल्य) और मन में उद्वेग उत्पन्न करनेवाले इन निष्फल (निरर्थक) प्रलापों से क्या (लाभ) होता है ? कुछ भी नहीं, ऐसा जानता हुआ भी मैं बारम्बार यह घोर विलाप कर रहा हूँ, क्योंकि मुझे आपके सिवाय अन्य कोई शरण ही नहीं दिखलाई देता ।

त्वं चेत्प्रसादसुमुखः प्रणयोक्तिभिः किं
त्वं चेदनादरपरः प्रणयोक्तिभिः किम् ।
भाग्योदये सति वृथैव गुणेषु यत्न-
स्तस्मिन्नसत्यपि वृथैव गुणेषु यत्नः ॥ १०९ ॥

अन्वय—हे नाथ ! त्वम् चेत् प्रसादसुमुखः (भवसि) तर्हि प्रणयोक्तिभिः किम् ? तथा त्वम् चेत् अनादरपरः (भवसि) तर्हि प्रणयोक्तिभिः किम् (भवति ?) (इह चैतत्—) भाग्योदये सति गुणेषु यत्न वृथैव (भवति), तस्मिन् असति अपि गुणेषु यत्नः वृथैव (भवति) ।

अर्थ—हे नाथ ! आप यदि (स्वयं ही) प्रसन्नता से प्रसादाभिमुख हो जायँ तो फिर (आपको प्रसन्न करने के लिए) प्रणयोक्तियों (विनीत-वचनों अर्थात् स्तुतियों) की क्या आवश्यकता है ? और यदि आप विमुख हो जायँ, तो भी प्रणयोक्तियों से क्या लाभ हो सकता है ? क्योंकि मनुष्य के भाग्य के उदय होने पर फिर विद्वत्ता आदि गुणों में प्रयत्न करना वृथा ही होता है, और यदि भाग्योदय नहीं हुआ तो भी गुणों के लिए प्रयत्न करना वृथा ही होता है ?

जानन्नपीति विरमामि न यत्प्रलापा-
दार्त्तेर्महेश महिमैष दृशास्तवैव ।

या रात्रिमेव दिवसं तिमिरं प्रकाश-
मग्निं हिमं गरलमप्यमृतं करोति ॥ ११० ॥

अन्वय—हे महेश ! इति (पूर्वोक्तप्रकारेण) जानन् अपि (अहम्) यत्, (अस्मात्) प्रलापात् न विरमामि, एषः तव दृशः इव, (मम) आर्तेः (एव) महिमा (अस्ति) या रात्रिम् एव दिवसं करोति, तिमिरम् (अपि) प्रकाशम् करोति, अग्निम् (अपि) हिमम् करोति, गरलम् (अपि) अमृतम् करोति ।

अर्थ—हे परमेश्वर ! पूर्वोक्त प्रकार से सब जानता हुआ भी, मैं जो इस निरर्थक प्रलाप से चुप नहीं होता हूँ, यह सब इस मेरी आर्त्ति (पीड़ा) की ही महिमा है। क्योंकि यह आर्त्ति आपकी अनुग्रह-दृष्टि के समान, रात्रि को ही दिन, अन्धकार ही को प्रकाश, अग्नि को हिम (अति शीतल) और विष को भी अमृत बना देती है। अर्थात् जैसे आपकी अनुग्रह-दृष्टि अतीव असभव कार्यों को भी सभव कर देती है, वैसे ही यह आर्त्ति भी असंभव कार्यों को संभव कर देती है, क्योंकि आर्त्तिपीडित-प्राणी तीव्र दुःख की वेदना में आकर रात्रि को दिन समझ बैठता है, अन्धकार को प्रकाश समझता है, अग्नि को शीतल पदार्थ समझकर उसमें झम्पान देने लगता है और विष को मधुर रसायन समझ बैठता है।*

---

* इसी आशयानुसार किसी परमेश्वर के भक्त की भी एक उक्ति है—

अरिर्मित्रं विषं पथ्यमधर्मो धर्मतामियात् ।
अनुकूले जगन्नाथे विपरीते विपर्ययः ॥

अर्थात्—जगन्नाथ (ईश्वर) के अनुकूल होने पर शत्रु भी मित्र, विष भी अमृत और अधर्म भी धर्म हो जाता है। और उनके विपरीत (प्रतिकूल) होने पर भी सभी विपरीत (अर्थात् अपना मित्र भी शत्रु, अमृत भी विष और धर्म भी अधर्म) हो जाता है।

आर्त्तिः श्रुतैव कृपणात्करुणां तवान्त-
रुत्पादयत्यनिशमग्निशिखां शमीव ।
जातैव निर्दहति तामियमित्यमुत्र
किं ब्रूमहे महदनङ्कुशमीश्वरस्य ॥ १११ ॥

अन्वय—प्रभो कृपणात् श्रुता एव (श्रुतमात्रैव) आर्त्तिः, तव (दयालो) अन्तः, शमी अग्निशिखाम् इव, अनिशम् करुणाम् उत्पादयति, तथा इयम् (करुणा) जाता एव (जातमात्रैव) ताम् (दीनजनार्त्तिम्) निर्दहति। इति (हेतो) अमुत्र (अस्मिन् विषये) ईश्वरस्य महत् अनङ्कुशम् (वयम्) किम् ब्रूमहे!

अर्थ—हे प्रभो! जैसे शमी वृक्ष की शाखा (अपने अन्दर) अग्नि को उत्पन्न करती है, और वह अग्नि उत्पन्न होते ही उसी (शमी वृक्ष की शाखा) को भस्म कर डालती है; बस, ठीक ऐसे ही दीन जनों की आर्त्ति (विपत्ति) भी केवल सुनने मात्र से ही आप (करुणा-सागर) के हृदय में अपार करुणा को उत्पन्न करती है, और वह करुणा उत्पन्न होते ही (जिससे उत्पन्न होती है) उसी (दीनजनों की आर्त्ति) को (तत्क्षण) भस्म कर देती है। इसलिए इस विषय में आप सर्व शक्ति-सम्पन्न सर्वस्वतन्त्र परमेश्वर की इस अनिवार्य ऐश्वर्य शक्ति (की महिमा) को (हम) क्या कहें?

यन्नाम पामरजनोचितमत्र किञ्चि-
दौचित्यमुक्तमसमञ्जसमभ्यधायि ।
तत्रापि भर्तुरुचिता रुचिरीश्वराणां
चेतश्चमत्कृतिकरी रुपिभङ्गिकाऽपि[1] ॥ ११२ ॥

अन्वय—हे विभो! अत्र (स्तुतिकुसुमाञ्जली) यत् किञ्चित् पामरजनोचितम्, औचित्यमुक्तम्, असमञ्जसम् अभ्यधायि, नाम तत्रापि (मादृशपामरजन-

(१) पुष इत्यपि पाठः ।

विरचितस्तुतिवचनेऽपि) भर्तुः (स्वामिस्तव) रुचिः उचिता (युक्ता एव) दृष्टं चैतत्-कपिक्रम्पिका अपि ईश्वराणाम् (स्वतन्त्राणां प्रभूणाम्) चेतश्च मत्कृतिकरी (भवत्येव)।

अर्थ—हे विभो ! मैंने इस स्तुति पुष्पाञ्जलि में पामर जनों के समान, परमार्थ से हीन और अत्यन्त अयुक्त जो कुछ भी कहा है, तो भी इसमें (मेरे समान पामरजनों की स्तुति को सुनने) में आप प्रभु की रुचि (अभिलाषा) होना उचित ही है। क्योंकि (लोक में भी यह प्रायः देखा जाता है कि) बन्दरों का (इधर-उधर) कूदना भी कभी-कभी समर्थ लोगों के चित्त में चमत्कार करता ही है।

चौरैर्गृहीतमपि दष्टमपि द्विजिह्वै-
ग्रस्तं ग्रहैरपि निरुद्धमपि द्विषद्भिः।
व्याघ्रैरुपद्रुतमपि द्रुतमाक्षिपद्भि-
रन्विष्टमप्यवनिभृत्पुरुषैः सरोषैः ॥ ११३ ॥

भूताऽभिभूतमपि सिन्धुजलेऽपि मग्नं
भग्नं रणेऽपि पतितं दवपावकेऽपि।
किं भूयसा यमभटैरपि कृष्यमाणं
कस्त्रातुमर्हति महेश्वरमन्तरेण ॥ ११४ ॥ (युग्मम्)

अन्वय—चौरैः गृहीतम् अपि, द्विजिह्वैः दष्टम् अपि, ग्रहैः (ब्रह्मराक्षसवेतालादिभिः) ग्रस्तम् अपि, द्विषद्भिः निरुद्धम् अपि, द्रुतम् आक्षिपद्भिः व्याघ्रैः उपद्रुतम् अपि, सरोषैः अवनिभृत्पुरुषैः अन्विष्टम् अपि, भूताभिभूतम् अपि, सिन्धुजले मग्नम् अपि, रणे भग्नम् अपि, तथा दवपावके पतितम् अपि, भूयसा (बहूक्तेन) किम् ? (एतेभ्योऽप्यतिउत्कृष्टं महाभयम्–) यमभटैः अपि कृष्यमाणम् (आर्त्तजनम्) त्रातुम् (केवलम् करुणासिन्धुम्) महेश्वरम् अन्तरेण (अपरः) कः अर्हति ?

अर्थ—चोरों से ग्रहण किये हुए भी, सर्पों से काटे हुए भी, (महाराक्षस, वेताल आदि) ग्रहों से ग्रस्त किये भी, प्रबल शत्रुओं से रोके हुए भी, अत्यन्त शीघ्र झपटते हुए महान् व्याघ्रों से पकड़े हुए भी, अति क्रोधयुक्त राजपुरुषों से घेरे हुए भी, भूत-प्रेतादिकों से डराये हुए भी, समुद्र में डूबे हुए भी, संग्राम में पराजित किये हुए भी, दावानल में गिरे हुए भी, बहुत क्या कहें ? (इन सबमें भी अधिक सङ्कट-जो महाभय-दायी, नागपाश, दण्ड, मुद्गर आदि हाथ में लिये अति विकराल) यमदूतों से आकर्षित किये (खीचे) जाते हुए भी आर्त्त प्राणी को बचाने के लिए केवल एक करुणासागर भगवान् महेश्वर (श्री सदाशिव) के सिवाय दूसरा और कौन समर्थ है ? कोई भी नहीं।

तज्ज्ञो बतास्म्यभिलपन् सुखमक्षयं य-
दुःखैकधाम वपुरस्थिरमर्थयामि ।
यद्वा भवाब्धितरणाय पुराणमुग्र-
शीलं पुमांसमुडुपार्धधरं श्रयामि ॥ ११५ ॥

अन्वय-बत ! (अहम्) तज्ज्ञ. अस्मि ? (विचक्षणोऽस्मि[1]) यत् (अहम्) अक्षयम् सुखम् अभिलपन् , दुःखैकधाम अस्थिरम् वपुः अर्थयामि । यद्वा भवाब्धितरणाय उग्रशीलम्, पुराणम् पुरुषम्, उडुपार्धधरम् श्रयामि !

आपाततः प्रतीयमान अर्थ—आह ! मैं बड़ा बुद्धिमान् हूँ ! (अर्थात् मैं महामूर्ख[2] हूँ) जो कि मैं अखण्ड-सुख को चाहता हुआ, केवल दुःखों से भरे अस्थिर (क्षणभंगुर) शरीर को मांगता हूँ ? अथवा—भव-सागर को तरने के लिए एक अत्यन्त उग्र-स्वभाववाले, रौद्र, पुराण-पुरुष (अत्यन्त वृद्ध), और उडुपार्धधर—आधी नौका को धारण किये

---

(१) भक्तराजस्य सविडम्बनमात्मान प्रत्युक्तिरियम्, अर्थात् अहं विचक्षणो नास्मीत्यर्थः ।

(२) यहाँ जहल्लक्षणा है ।

हुए की शरण लेता हूँ ! क्योंकि जिसका स्वभाव महान् उग्र है और जो अतीव वृद्ध है एवं आधी नाव को रखता है, वह मुझे कैसे भव-सागर पार कर देगा ?

वास्तविक अर्थ—अहा ! मैं बड़ा ही बुद्धिमान् हूँ, जो कि उस अखण्ड सुख की अभिलाषा-पूर्ति के लिए इस बहुदुःखमय अस्थिर शरीर (मनुष्य-देह) की प्रार्थना करता हूँ, अथवा इस अपार भवाम्भोधि के पार करने के लिए, उग्र शीलवाले (रुद्ररूप) पुराण-पुरुषोत्तम, उडुपाधधर (अर्धचन्द्रधारी) भगवान् का आश्रय ले रहा हूँ।

दृङ्मार्गमात्रपतिताः सहसैव यस्य
पञ्चत्वमिन्दुरविहव्यभुजोऽप्यवापुः ।
धीमानहं बत तमेव सदाशिवं य-
द्देवं श्रयामि शरणं-मरणार्त्तिभीरुः ॥ ११६ ॥

अन्वय—यस्य दृङ्मार्गमात्रपतिताः इन्दु-रवि-हव्यभुजः अपि सहसा एव पञ्चत्वम् (पञ्चसङ्ख्यात्वम् , अथ च मरणमपि) अवापुः, बत ! अहम् धीमान् , यत् मरणार्त्तिभीरुः सन्, तम् एव देवम् सदाशिवम् शरणम् श्रयामि ।

आपाततःप्रतीयमान अर्थ—ओह ! जिसके दृष्टिगोचर होते ही बड़े तेजस्वी चन्द्र, सूर्य और अग्नि भी सहसा ही पञ्चत्व (मृत्यु) को प्राप्त हो गये, तो फिर मैं कितना मूर्ख हूँ, जो कि मृत्यु-पीड़ा से भयभीत होता हुआ उसी सदाशिव की शरण ग्रहण कर रहा हूँ !

वास्तविक अर्थ—अहा ! जिसके दृष्टि गोचर होने मात्र से ही इन्दु, सूर्य और अग्नि भी पञ्चत्व (पञ्च पञ्च सङ्ख्यात्व) को प्राप्त हो गये (पाँच पाँच हो गये) अर्थात् प्रभु के (१) सद्योजात, (२) तत्पुरुष, (३) अघोर, (४) वामदेव और (५) ईशान, इन पाँच मुखों के ५ × ३ = १५ नेत्रों में आश्रय पाकर चन्द्र, सूर्य, अग्नि ये तीनों पाँच पाँच बन गये। तो मैं बड़ा ही बुद्धिमान् (चतुर) हूँ, जो कि मरण-

पीडा से भयभीत होता हुआ (मैं) उसी दयालु सदाशिव की शरण ग्रहण कर रहा हूँ।

स्थाणुः स यत्र विभुरस्य वधूरपर्णा
सा यत्र यत्र च तयोस्तनयो विशाखः।
प्रज्ञावतामहमहो प्रवरः प्रवेष्टु-
मिच्छामि धाम तदभीष्टफलाप्तये यत् ॥ ११७ ॥

अन्वय—यत्र (धामनि) स. स्थाणु विभुः (अस्ति), यत्र च अस्य (स्थाणोः) वधू सा अपर्णा, यत्र च तयोः तनयः विशाखः (अस्ति) अहम् यत् अभीष्ट-फलाप्तये तत् धाम प्रवेष्टुम् इच्छामि, तत् अहम् प्रज्ञावताम् प्रवरः (अस्मि) ।

आ० प्र० अर्थ—आह ! जिस धाम मे स्थाणु—वृक्ष का ठूँठ—स्वामा है, जहाँ उस (मालिक) की वधू अपर्णा—पत्र-रहित ,लता—स्वामिनी है और जहाँ उन दोनों (स्थाणु और अपर्णा) का पुत्र विशाख—शाखा-रहित—है, उस धाम मे जो मैं अपने मनोभीष्ट फल की प्राप्ति के लिए प्रवेश करना चाहता हूँ, सो मैं बुद्धिमानों मे बडा ही श्रेष्ठ हूँ ! अर्थात् बडा ही मूर्ख हूँ। क्योंकि जहाँ का मालिक ठूँठ है और मालकिन अपर्णा—बिना पत्रवाली लता है, और कुँवर विशाख—शाखारहित—है, वहाँ अभिलषित फल मिलने की आशा ही क्या हो सकती है ?

वास्तविक अर्थ—अहा ! जिस धाम मे भगवान् स्थाणु (सदाशिव) स्वामी हैं, जहाँ उनकी प्रियतमा—श्री अपर्णा (भवानी) जी हैं और जहाँ उनके प्रिय पुत्र श्री विशाख (स्वामी कार्तिकेय) जी हैं, उस धाम—शिवलोक—में जो मैं अपने मनोलिषित फल को प्राप्ति के लिए प्रवेश करना चाहता हूँ, सो मैं बुद्धिमानों मे बडा ही चतुर हूँ।

मार्जारशूकरशृगाल-करालवक्त्र-
वेतालभूतशतसङ्कुलमीश्वरस्य ।
भीष्मं निशाचरपिशाचरवैः प्रवेष्टु-
मिच्छामि धाम मतिमानतिमात्रभीहः ॥ ११८ ॥

अन्वय—अतिमात्रभीरुः (सन् अहम्) मार्जार-शूकर-शृगाल-करालवक्त्रवेतालभूतशतसङ्कुलम् , निशाचरपिशाचरवैः भीष्मम्, ईश्वरस्य धाम प्रवेष्टुम् इच्छामि, (तदहं) मतिमान् अस्मि ।

आ० प्र० अर्थ—ओह ! जो मैं अत्यन्त भयभीत होता हुआ बड़े-बड़े विकराल मुखोंवाले मार्जार (बिडाल), शूकर और शृगालों एवं सैकड़ों वेताल[१] और भूतगणों से समाकुल, निशाचर (राक्षस) और पिशाचगणों के भीषण शब्दों से भयानक धाम में प्रवेश करना चाहता हूँ, सो बड़ा ही बुद्धिमान् हूँ !

वास्तविक अर्थ—अहा ! मैं अतीव भयभीत होता हुआ जो बड़े-बड़े विकराल मुखवाले मार्जार, शूकर और शृगालों एवं शतशः वेताल[१] और भूतगणों से समाकुल, निशाचर और पिशाचगणों के भीषण शब्दों से भयानक शिवधाम में प्रविष्ट होना चाहता हूँ, सो मैं महा बुद्धिमान् हूँ ।

कर्णोक्षणादचरणात्त्रिफणात्कृतान्त-
पाशास्त्रसम्भृतसहस्रफणोरगेन्द्रम् ।
मात्रः सहस्रशिरसं पुरुषं सहस्र-
नेत्रं सहस्रचरणं शरणं श्रयामि ॥ ११९ ॥

---

(१) भूताधिष्ठितं शवशरीरं वेतालः ।

अन्वय—अहम् प्राज्ञः, यत् कर्णेक्षणात्, अचरणात्, त्रिफणात् कृतान्तपाशात् त्रसन्, धृतसहस्रफणोरगेन्द्रम् सहस्रशिरसम्, सहस्रनेत्रम् सहस्रचरणम् पुरुषम् शरणम् श्रयामि ।

आ० प्र० अर्थ—ओह मैं कितना बुद्धिमान् हूँ ! अर्थात् महामूर्ख हूँ, जो कि केवल नेत्रों से सुननेवाले (अर्थात् श्रोत्रहीन), चरणहीन और तीन फणोंवाले यमराज के नागपाश से भयभीत होता हुआ, सहस्र फणोंवाले सर्पराज को पास में रखनेवाले, सहस्र शिर, सहस्र नेत्र और सहस्र चरणोंवाले महापुरुष की शरण ग्रहण कर रहा हूँ !

वास्तविक अर्थ—अहा ! मैं बड़ा बुद्धिमान हूँ ! जो कि केवल नेत्रों से सुननेवाले (श्रोत्रहीन), चरणहीन और तीन फणोंवाले काल के नागपाश से भयभीत होता हुआ, सहस्र फणवाले सर्पराज श्रीवासुकि को धारण करनेवाले, सहस्र शिर, सहस्र नेत्र और सहस्र चरणवाले[1] पुरुष (विराट् पुरुष देवाधिदेव श्री महादेव) की शरण ले रहा हूँ ।

त्रस्तः समस्त जनताऽपहृतिप्रगल्भा-
दीप्ताऽनलोल्वणदृशः शिव जीवितेशात् ।
प्राज्ञः समस्तजनतापहृतिप्रगल्भं
त्वां जीवितेशमनलोग्रदृशं श्रयामि ॥ १२० ॥

अन्वय—हे शिव ! समस्तजनताऽपहृतिप्रगल्भात् दीप्तानलोल्वणदृशः जीवितेशात् (कालात्) त्रस्तः (अहम्) प्राज्ञः, समस्तजन-तापहृतिप्रगल्भम् अनलोग्रदृशम् त्वाम् जीवितेशम् आश्रयामि ।

आ० प्र० अर्थ—ओह ! शिव !! शिव !!! मैं महामूर्ख हूँ, जो कि समस्त जनता की अपहृति (अपहरण अर्थात् संहार) करने में प्रवीण और (क्रोध के कारण) प्रदीप्त हुई अग्नि के समान उल्वण दृष्टिवाले जीवितेश (यमराज) से भयभीत होता हुआ, समस्त जनता की अपहृति (संहार करने) में प्रवीण और अग्नि से प्रज्वलित नेत्रवाले आप जीवितेश (प्राणान्तकारी) की शरण ले रहा हूँ।

(१) 'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्'।

वास्तविक अर्थ—अहा! मैं बड़ा बुद्धिमान् हूँ, क्योंकि जो समस्त जनता के संहार करने में चतुर और क्रोधवश जलती हुई अग्नि के समान नेत्रवाले जीवितेश (काल) से ग्रस्त होता हुआ, समस्त जनों के सन्तापों को दूर करने में चतुर और अग्नि से प्रज्वलित नेत्रवाले आप जीवितेश (जीवन के आधार) अर्थात् प्राणनाथ की शरण ग्रहण कर रहा हूँ।

निर्भर्त्सितक्रतुमृगं समशिश्रियत्त्वां
संन्यस्तलाञ्छनमृगः कलया मृगाङ्कः।
यत्कामवैरिणमवेत्य सकाम एव
त्वामाश्रितोऽस्मि सुधियामधिकस्ततोऽहम्॥१२१॥

अन्वय—हे विभो! निर्भर्त्सितक्रतुमृगम् त्वाम्, मृगाङ्कः सन्न्यस्तलाञ्छनमृगः सन्, कलया (बुद्धिरूपेण, व्याजेन च) समशिश्रियत् (तद्युक्तमेवेत्यर्थः) यत् (तु) कामवैरिणम् (त्वाम्) अवेत्य, सकामः एव (साभिलाष एव) त्वाम् आश्रितः अस्मि, ततः अहम् सुधियाम् (मध्ये) अधिकः ?

आ० प्र० अर्थ—हे विभो! दक्ष प्रजापति के यज्ञमृग का विध्वंस करनेवाले आपको मृगाङ्क (चन्द्रमा) ने जो अपने लाञ्छन मृग (कलङ्करूप मृग) को त्याग करके कलारूप (व्याज यानी कपट) से आश्रित किया, वह ठीक ही है। परन्तु जो मैंने आपको कामवैरी (कामदेव का शत्रु) समझकर सकाम (साभिलाष) से ही आपका आश्रय ग्रहण किया है, सो मैं बड़ा ही मूर्ख हूँ। अर्थात् चन्द्रमा ने सोचा कि मैं मृगाङ्क हूँ, और प्रभु मृग के वैरी हैं; क्योंकि उन्होंने दक्ष-प्रजापति के यज्ञमृग को मार डाला है, इसलिए उसने अपने मृगलाञ्छन का परित्याग करके कलारूप से व्याजतः आपका शरण लिया, सो ठीक ही है। परन्तु मैं कितना मूर्ख हूँ, क्या मेरी मूर्खता का कुछ ठिकाना है? जो कि उस चन्द्रमा से शिक्षा पाकर भी मैं आप काम-वैरी को

सकाम होकर (सकाम भाव से) सेवित कर रहा हूँ, क्योंकि मुझे भी चाहिए था कि काम (सकाम भाव) को छोड़कर (निष्काम होकर) आपकी शरण लेता !

वास्तविक अर्थ—नाथ ! यज्ञ-मृग को मारनेवाले आपको मृगाङ्क ने अपने लाञ्छन मृग (कलङ्क) का परित्याग करके कलारूप (षोडशांश रूप) से समाश्रयण किया, परन्तु मैंने जो आपको कामवैरी समझकर (भी) सकाम (साभिलाष) होकर ही आपका आश्रय लिया है, सो मैं महा बुद्धिमान् हूँ ।

> पद्माश्रितः शतधृतिश्चतुराननोऽपि
> यस्मात्पराभवमवाप्तवाच्यमेव ।
> त्यक्तः श्रिया गतधृतिर्मृदुमन्दवक्त्रः
> प्राप्तस्तमीश्वरमनुग्रहमर्थयेऽहम् ॥ १२२ ॥

अन्वय—पद्माश्रितः शतधृतिः चतुराननः अपि (ब्रह्माऽपि), यस्मात् (ईश्वरात्) अवाच्यम् एव पराभवम् अवाप्त्, अहम् प्राप्तः (तद्विपरीतः) श्रिया त्यक्तः गतधृतिः मृदु मन्दवक्त्रः सन्, तम् ईश्वरम् अनुग्रहम् अर्थये ।

आ० प्र० अर्थ—ओह ! पद्माश्रित (लक्ष्मी का आश्रय लिया हुआ), शतधृति (महाधैर्यशाली) और चतुरानन (चतुर मुखवाला) ब्रह्मा भी जिस ईश्वर से अवाच्य पराभव (अकथनीय तिरस्कार अर्थात् शिरश्छेदन-रूप अपमान) को प्राप्त हो चुका है, मैं मूर्ख जो (उस ब्रह्मा से विपरीत—) पद्मा से परित्यक्त (अर्थात् अपद्माश्रित) गतधृति (धैर्यहीन) और अतीव मन्दवक्त्र (अर्थात् अचतुरानन) होकर भी उसी ईश्वर से अनुग्रह की प्रार्थना कर रहा हूँ, सो क्या मेरी मूर्खता का भी कुछ ठिकाना है ?

वास्तविक अर्थ—अहा ! पद्माश्रित (कमलासन पर बैठा हुआ) शतधृति और चतुरानन (चार मुखोंवाला) ब्रह्मा भी जिस प्रभु से

महान् पराभव को प्राप्त हुआ अर्थात् जिस प्रभु का पार न पा सका* मैं श्रीविहीन, धैर्यविहीन और अतीव मन्दमुख होकर भी जो उस परमेश्वर से अनुग्रह चाहता हूँ, सो मैं अतीव चतुर हूँ।

आजन्म कर्म विरचय्य फलं यदाप्तं
हृत्वा क्षणात्तदखिलं चिरकालभोग्यम्।
यः स्वीकरोत्यपुनरागमनाय भक्तं
सेवे तमीश्वरमहो मतिमत्तमोऽहम् ॥ १२३ ॥

अन्वय—(भक्तेन) आजन्म कर्म विरचय्य, यत् (शुभाशुभम्) फलम् आप्तम्, तत् चिरकालभोग्यम् अखिलम्, क्षणात् हृत्वा यः भक्तम् अपुनरागमनाय स्वीकरोति, अहो ! अहम् मतिमत्तमः तम् ईश्वरम् सेवे।

आ० प्र० अर्थ—अहो ! भक्त लोग जन्म भर कर्म करके जिस फल को प्राप्त करते हैं, उस चिरकाल-पर्यन्त उपभोग करने योग्य समस्त फल को जो क्षणमात्र में अपहरण करके भक्तजनों का अपुनरागमन-अर्थात् पास आना ही बन्द—कर देता है, मैं उसी स्वामी की सेवा कर रहा हूँ। वाह, मैं बड़ा ही बुद्धिमान् हूँ अर्थात् महामूर्ख हूँ !

वास्तविक अर्थ—अहो ! भक्तजन आजन्म अनेकों शुभाशुभ कर्म करके चिरकाल तक भोग करने योग्य जिस शुभाऽशुभ फल को प्राप्त करते हैं, उस चिरकाल भोग्य फल को क्षणमात्र में हरण कर जो भक्त-वत्सल प्रभु भक्तों को अपुनरागमन—पुनरावृत्ति से रहित अर्थात् आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति रूप मोक्षधाम—को पहुँचा देते हैं, मैं उसी दयालु प्रभु की सेवा कर रहा हूँ, सो बड़ा ही बुद्धिमान् हूँ।

---

* तवैश्वर्यं यत्नाद्यदुपरि विरिञ्चो हरिरधः
परिच्छेत्तुं यातावनलमनलस्कन्धवपुषः।
ततो भक्तिश्रद्धाभरगुरुगृणद्भ्यां गिरिश यत्
स्वयं तस्थे ताभ्यां तव किमनुवृत्तिर्न फलति ॥

श्मशानैकस्थानव्यसनमनलोत्तालनयनं
विषज्ज्योतिर्ज्वालाजटिलकुटिलव्यालवलयम् ।
विभुं मुण्डश्रेणी-विकटमुकुटं भीरुहृदयः
श्रयन् भीमं धीमानहमहसनीयः कृतधियाम् ॥१२४॥

अन्वय—श्मशानैकस्थानव्यसनम् अनलोत्तालनयनम् विषज्योतिर्ज्वाला-जटिलकुटिलव्यालवलयम् मुण्डश्रेणीविकटमुकुटम् भीमम् (अतिभयानकम्) विभुम् श्रयन् भीरुहृदयः अहम् धीमान् कृतधियाम् अहसनीयः ।

आ० प्र० अर्थ—अहो ! मैं जो अत्यन्त भीरुहृदय होकर केवल श्मशान-स्थान में निवास करनेवाले, प्रचण्ड अग्नि से भीषण नेत्रोंवाले, विषरूपी अग्नि-ज्वालाओं से जटिल घने कुटिल सर्प का कङ्कण धारण करनेवाले और अति विकराल मुण्डमालाओं का मुकुट धारण करनेवाले अत्यन्त भयानक महेश्वर का आश्रय ले रहा हूँ, सो क्या मैं विद्वज्जनों का उपहास-पात्र नहीं हूँ ? अर्थात् अवश्य हूँ ।*

वास्तविक अर्थ—अहो ! जो मैं अत्यन्त भीरुहृदय होकर भी श्मशानस्थान में प्रीति रखनेवाले, अग्नि से प्रज्वलित नेत्रोंवाले, विष-ज्वाला से जटिल घने कुटिल सर्प (वासुकि) का कङ्कण धारण करनेवाले और मस्तक पर विशाल मुण्डमाला धारण करनेवाले महा-भीम भगवान् श्री महेश्वर का आश्रय ले रहा हूँ सो मैं विद्वज्जनों का सम्माननीय हूँ ।

अहो तत्त्वज्ञोऽहं करतलविलीनैकफणिनः
समुत्त्रस्यन्कालात्क्रमकवलितैकैकभविनः ।
महाकालं सर्वावयवसुलभानल्पभुजगं
सकृद्विश्वग्रासप्रवणमतिमभ्येमि शरणम् ॥ १२५ ॥

---

* यहाँ काकु है ।

अन्वय—अहो ! करतलविलीनैकफणिनः क्रमकवलितैकैकभविनः कालात् समुत्त्रस्यन् अहम् (यत्) सर्वावयवसुलभानल्पभुजगम् सकृद्विश्वग्रासप्रवणमतिम् महाकालम् शरणम् अभ्येमि, (तत्) अहम् तत्त्वज्ञः अस्मि।

आ० प्र० अर्थ—अहो ! मैं बड़ा ही तत्त्वज्ञ अर्थात् महान् मूर्ख हूँ, जो कि हाथ में केवल एक सर्प (नाग-पाश) के छिपाये रखनेवाले और क्रम से एक एक प्राणी को ग्रास करनेवाले काल से भयभीत होता हुआ समस्त अवयवों (हाथ, पाँव, कण्ठ आदि प्रत्येक अङ्ग) में अनेकों सर्प धारण करनेवाले और एक ही बार समस्त विश्व को निगल जानेवाले महाकाल की शरण में जा रहा हूँ !

वास्तविक अर्थ—अहो ! मैं हाथ में नागपाश धारण किये और क्रमशः प्रत्येक प्राणी का ग्रास कर जानेवाले काल (यमराज) से अतीव भयभीत होता हुआ जो प्रत्येक अङ्गों में भुजङ्ग धारण करनेवाले और प्रलयकाल में समस्त ब्रह्माण्ड का ग्रास करनेवाले महाकाल अर्थात् काल के भी काल की शरण ले रहा हूँ, सो मैं अवश्य ही तत्त्वज्ञ—परमार्थ को जाननेवाला हूँ।

भृङ्गी यत्र स्फटिकशिखरी यत्र भृङ्गी पिनाकः
भृङ्गी सोऽपि स्फुरति वृषभो वल्लभो यत्र भर्तुः।
तत्र त्रस्तः प्रकृतिसरलः स्वल्पवागप्रगल्भः
प्राज्ञः सेवासमयमुचितं स्वामिनः प्रार्थयेऽहम्॥१२६॥

अन्वय—यत्र भर्तुः वल्लभः स्फटिकशिखरी भृङ्गी (पर्वतः, अथ च गर्वी) यत्र च भर्तुः वल्लभः पिनाकः (अपि) भृङ्गी (शृङ्गनिर्मितः गर्वी च) यत्र च भर्तुः वल्लभः सः वृषभः अपि भृङ्गी (शृङ्गद्वयवान् दर्पी च) स्फुरति, तत्र (महाराजद्वारि) त्रस्तः, प्रकृतिसरलः स्वल्पवाक् अप्रगल्भः अहम् प्राज्ञः, समुचितम् सेवासमयम् स्वामिनः प्रार्थये।

अर्थ—जहाँ (जिस दरबार में) प्रभु का प्रियतम स्फटिक शिखर वाला शृङ्गी—कैलास पर्वत—है, जहाँ प्रभु का प्रियतम शृङ्गी—

शृंग-विनिर्मित—पिनाक (धनुष) है और जहाँ वह प्रभु का प्रियतम शृङ्गी (दो सींगवाला) वृषभ—नन्दी है,—प्रभु के इस दरबार में जो मैं भीरु, सरल-स्वभाव, स्वल्प भाषण करनेवाला (मितभाषी) और अप्रगल्भ पुरुष प्रभु की सेवा के लिए उनसे उचित अवसर माँग रहा हूँ, सो मैं बुद्धिमान् हूँ !*

विश्रान्तिर्न क्वचिदपि विपद्ग्रीष्मभीष्मोष्मतप्ते
चित्ते वित्ते गलति फलति प्राक्प्रवृत्ते कुवृत्ते ।
तेनात्यन्धं सपदि पतितं दीर्घदुःखान्धकूपे
मामुद्धर्तुं प्रभवति भव त्वां दयाब्धिं विना कः ॥१२७॥

अन्वय—हे विभो ! वित्ते गलति, प्राक्प्रवृत्ते कुवृत्ते फलति (सति) विपद्ग्रीष्मभीष्मोष्मतप्ते चित्ते क्वचित् अपि विश्रान्तिः न अस्ति, तेन अत्यन्धम् सपदि दीर्घदुःखान्धकूपे पतितम् माम् उद्धर्तुम् हे भव ! त्वाम् दयाब्धिम् विना कः प्रभवति ?

अर्थ—हे विभो ! वित्त (धन) के क्षय को प्राप्त होने पर और पूर्व जन्म में उपार्जित किये दुराचार (पाप) के फलीभूत होने पर, विपत्तिरूपी ग्रीष्म ऋतु के अति प्रचण्ड ताप से तप्त हुए मेरे चित्त में कहीं भी शान्ति नहीं है। इस कारण अत्यन्त अन्ध हुए अतएव

---

* यहाँ भी कवि ने शब्दश्लेष से बड़ा ही चमत्कार कर दिखाया है। वह कहता है कि—जिस दरबार में शृङ्गी—दर्पोद्धत स्फटिक शिखर (अचेतन पर्वत) स्वामी का प्रियतम है, जहाँ शृङ्गी-अहङ्कारी-पिनाक (धनुष) भी प्रभु का प्रियतम है और जहाँ शृङ्गी (घमण्डी) बैल महाराज का परम प्रेमास्पद है अर्थात् जहाँ ऐसे-ऐसे महाअहङ्कारी लोग रहा करते हैं, उस दरबार में जो मैं प्रभु से सेवा के लिए उचित अवसर माँग रहा हूँ सो मैं कितना विद्वान् हूँ ? क्या मेरी मूर्खता की भी कोई सीमा है ? वाह, कितना मर्मस्पर्शी भाव है !

तत्क्षण महान् दुःखरूपी अन्धकूप में गिरे हुए मुझ पतित का उद्धार करने के लिए केवल एक आप दयासागर के छोड़कर दूसरा कौन समर्थ हो सकता है ?

येषामेषा तनुधनलवप्रार्थनाऽनर्थकन्था
पन्थानं न प्रदिशति परं स्थानमानन्दि लब्धुम् ।
तेषामेषामकृपण कृपाभाजनानां जनाना-
माशापाशाकुलितमनसां दृष्टिमिष्टां निधेहि ॥१२८॥

अन्वय—हे अकृपण ! एषा तनुधनलवप्रार्थनानर्थकन्था येषाम् परम् आनन्दि स्थानम् लब्धुम् पन्थानम् न प्रदिशति, तेषाम् एषाम् (अस्मल्लक्षणानाम्) कृपाभाजनानाम् आशापाशाकुलितमनसाम् जनानाम् इष्टाम् दृष्टिम् निधेहि ।

अर्थ—हे दानियों में श्रेष्ठ परमेश्वर ! यह स्वल्प धन लेश की प्रार्थना रूपी अनर्थ कन्था, जिन लोगों को परम आनन्द (मोक्ष) धाम (को प्राप्त करने) का मार्ग नहीं देती, उन (मेरे समान) आशापाशों से आकुल हुए चित्तवाले दीन कृपापात्र जनों को अपनी अनुग्रहपूर्ण दृष्टि से देखिए ।

उदञ्चय मुखं मनागभयघोषमुद्घोषय
प्रयच्छ विशदां दृशं गतिविहीनमाश्वासय[1] ।
किमन्यदयमागतः कुपितदृष्टिरुत्कन्धरः
कृतान्त इति मा स्म भूरविरलावलेपालसः ॥१२९॥

अन्वय—हे विभो ! मनाक् मुखम् उदञ्चय, अभयघोषम् उद्घोषय, विशदाम् दृशम् प्रयच्छ, गतिविहीनम् आश्वासय । किम् अन्यत् (वच्मि) अयम् उत्कन्धरः कुपितदृष्टिः कृतान्तः आगतः इति अविरलावलेपालसः मा स्म भूः ।

(१) धृतिविहीनमित्यपि पाठः ।

अर्थ—हे प्रभो ! अब आपसे और क्या अधिक कहूँ ? अत्यन्त क्रोधी और नागपाश को हाथ मे लिये यम-दूतो को सामने आते जैसा देखते हुए मेरा धैर्य चलित हो जाता है, गति (शक्ति) स्खलित हो जाता है, शरीर कम्पित होता है, शय्या जलने लगता है, सुख क्षीण हो जाता है और स्मृति नष्ट हो जाती है।

दुर्गं यत्सुगमत्वमेति भजते दूरं यदभ्यर्णतां
यत्क्रीडोपवनत्वमेति मरुभूर्मित्रायते यद्रिपुः ।
यस्या सा भुवि शक्तिरप्रतिहता सार्त्तिस्त्वदाक्रन्दने
स्वामिन्मामनुदत्कृपाऽपि नुदतु त्वां मत्समाश्वासने ॥१३१॥

अन्वय—यत् (यस्या आर्त्तेः सामर्थ्यात्) दुर्गम् सुगमत्व एति, यत् दूरम् अभ्यर्णताम् भजते, यत् (सामर्थ्यात्) मरुभू क्रीडोपवनत्वम् एति, यत् रिपु (अपि) मित्रायते, भुवि सा यस्या शक्ति अप्रतिहता (दुर्निवारा) (अस्ति) सा आर्त्ति त्वदाक्रन्दने माम् अनुदत्, हे स्वामिन् ! मत्समाश्वासने कृपा अपि त्वाम् नुदतु ।

अर्थ—हे भगवन् ! जिस (आर्त्ति) का सामर्थ्य से दुर्गम भी सुगम हो जाता है, जिसकी सामर्थ्य से अत्यन्त दूर भी सन्निकट हो जाता है, जिसकी सामर्थ्य से नीरस मरुस्थल भी विहार करने योग्य उपवन (बाग) हो जाता है, और जिसकी सामर्थ्य से शत्रु भी अपना परम मित्र बन जाता है, इस प्रकार संसार में जिसकी शक्ति ऐसी अप्रतिहत (अनिवार्य) है, उस आर्त्ति (विपत्ति) ने मुझे आपसे अपना करुणाक्रन्दन बयान करने के लिए प्रेरित किया । अयि नाथ ! अब मुझे आश्वासन देने में आपकी करुणा भी आपको प्रेरित करे !

द्वारि श्रीश्च सरस्वती च वसतः स्वामिंस्तवाऽस्तक्रुधो
मां तु श्रीर्भवदङ्घ्रिविष्टरतले नित्यमरूरुदस्थितिम् ।

यावन्मात्रसरस्वतीपरिचयद्वेषाद्हासीदतो
वह्निं दुर्वहमुद्वहामि हृदये ग्लायन्नुदन्वानिव ॥१३२॥

अन्वय— हे स्वामिन् ! अस्तद्धी श्रीः च सरस्वती च तव द्वारि वसत., किन्तु भवदङ्घ्रिविष्टरतले नित्यप्ररूढस्थितिम् माम् तु यावन्मात्रसरस्वती-परिचयद्वेषात् श्री. अहासीत्, अत. उदन्वान् इव ग्लायन् (अहम्) हृदये दुर्वहम् वह्निम् उद्वहामि।

अर्थ—हे प्रभो ! 'लक्ष्मी और सरस्वती' दोनों परस्पर वैरभाव को छोडकर आपके द्वार पर निवास किया करती हैं, परन्तु मुझ सदैव आपके चरण-कमलों के सिंहासन के तले बैठनेवाले को तो सरस्वती से किञ्चिन्मात्र (थोड़ा सा) परिचय होने के कारण लक्ष्मी ने द्वेष से त्याग दिया। इस कारण मैं ग्लानि को प्राप्त होता हुआ समुद्र के समान हृदय में अति दु सह अग्नि (शोकाग्नि) को धारण करता हूँ।

नाथ प्राथमिकं विवेकरहितं तिर्यग्वदस्तं वय-
स्तारुण्यं विहतं विराधितवधूविस्रम्भणारम्भणैः ।
स्वामिन्संप्रति जर्जरस्य जरसा यावन्न धावन्नयं
मृत्युः कर्णमुपैति तावदवशं पादाश्रितं पाहि माम्॥१३३॥

अन्वय--हे नाथ ! (मया) प्राथमिकम् वय तिर्यग्वत् विवेकरहितम् अस्तम् (अविवाहितम्) विराधितवधूविस्रम्भणारम्भणै. तारुण्यम् विहतम् (विनाशितम्) हे स्वामिन् ! सम्प्रति जरसा जर्जरस्य (मम) धावन् अयम् मृत्यु· यावत् कर्णम् न उपैति, तावदेव अवशम् पादाश्रितम् माम् पाहि।

अर्थ—हे नाथ ! मैंने बाल्यावस्था को तो पशु के समान कार्या-कार्य के विवेक के बिना ही वरबाद कर डाला और युवाऽवस्था को प्रणय-कुपिता युवती के समाश्वासन (मनाने) मे नष्ट कर दिया। हे प्रभो ! अब इस समय वृद्धावस्था से अत्यन्त जर्जर (जीर्ण) हुए मेरे कानों के समीप मे जब तक अति वेग से दौडती हुई वह मृत्यु न

आ जाय उसके पहले ही आप मुझ अपने चरणाश्रित अनाथ की रक्षा कर लीजिए (मुझे बचा लीजिए)।*

आसीद्यावदखर्वगर्वकरणग्रामाभिरामाकृति-
स्तावन्मोहतमोहतेन न मया श्वभ्रं पुरः प्रेक्षितम् ।
अद्याऽकस्मिकपातकातरमतिः कं प्रार्थये कं श्रये
किं शक्नोमि करोमि किं कुरु कृपामात्मद्रुहं पाहि माम्॥१३४॥

अन्वय—प्रभो ! यावत् (मम) अखर्वगर्वकरणग्रामाऽभिरामाकृतिः आसीत्, तावत् मोहतमोहतेन मया पुरः (स्थितम्) श्वभ्रम् न प्रेक्षितम्, अद्य आकस्मिकपातकातरमतिः (अहम्) कम् प्रार्थये, कम् श्रये, किम् शक्नोमि किम् करोमि ? हे विभो ! कृपाम् कुरु, माम् आत्मद्रुहम् पाहि ।

अर्थ—प्रभो ! जब तक मेरी आकृति अत्यन्त गर्वित (अहङ्कार-मय) हुई इन्द्रियों से सुमनोहर थी (अर्थात् जब तक मेरी इन्द्रियाँ

---

* इसी अभिप्राय पर किसी भावुक की भी एक उक्ति है :—

बाल्ये मोहमहाऽन्धकारपटलग्लानेन्द्रियस्य, प्रिया-
वक्त्राम्भोरुहसौरभोद्भवमदोन्मत्तात्मनो यौवने ।
वृद्धत्वे किल घोरयातिजरसा ग्रस्तस्य नष्टस्मृते-
स्त्वं चेन्नाद्य कृपां करोषि मम कस्त्रातास्ति शंभोऽपरः ॥

अर्थात्—हे प्रभो ! बाल्यावस्था में, मेरी इन्द्रियाँ मोहरूपी गाढ़ अन्धकार के पटल (परदे) से ढकी हुई थीं, और युवावस्था में मैं प्रिया के मुखकमल की सुगन्धि से उत्पन्न हुए मद से उन्मत्त हो गया था । नाथ ! अब इस समय वृद्धावस्था में अत्यन्त घोर जरा ने मुझे ग्रस्त कर लिया है, अतएव मेरी स्मृति भी सब नष्ट हो गई है, ऐसी अवस्था में हे पतितपावन ! यदि अब आप मुझ पर कृपा न करें, तो फिर (आप ही बतलाइए) मेरी रक्षा दूसरा और कौन करेगा ?

और शरीर में बल था) तब तक (तो) मोहरूपी अन्धकार के मारे मैंने अपने सामने गर्त (गड्ढा--अन्धकूप) नहीं देखा। अब आज (वृद्धावस्था में, समस्त इन्द्रियों और शरीर के सामर्थ्यहीन हो जाने पर) आकस्मिक पतन होने से मेरी मति एकदम कातर हो गई है, सो अब ऐसी हालत में मैं किससे प्रार्थना करूँ, किसकी शरण पकड़ूँ, कैसे समर्थ होऊँ ? और क्या करूँ ? हे पतित पावन ! अब आप ही मुझ अनाथ पर कृपा कीजिए। मुझ आत्मद्रोही की रक्षा कीजिए !

जात्यन्धः पथि सङ्कटे प्रविचरन्हस्तावलम्बं विना
यातश्चेदवटे निपत्य विपदं तत्राऽपराधोऽस्य कः ।
धिग्धिङ् मां सति शास्त्रचक्षुषि सति प्रज्ञाप्रदीपे सति
स्निग्धे स्वामिनि मार्गदर्शिनि शठः श्वभ्रे पतत्येव यः॥१३५॥

अन्वय—हे विभो ! जात्यन्ध (पुरुष) सङ्कटे पथि हस्तावलम्बम् विना प्रविचरन् अवटे निपत्य चेत् विपदम् यातः, तर्हि तत्र अस्य कः अपराधः ? (स निन्दाभाजनं न भवतीत्यर्थ) तम् माम् धिक् धिक् (अस्तु) यः शठः शास्त्रचक्षुषि सति, प्रज्ञाप्रदीपे सति, मार्गदर्शिनि स्निग्धे स्वामिनि च सति श्वभ्रे एव पतति !

अर्थ—हे नाथ ! यदि कोई जन्मान्ध (नेत्रहीन) पुरुष सङ्कटमय मार्ग में बिना किसी के हस्तावलम्बन के ही (बिना किसी का हाथ पकड़े ही) गर्त (गड्ढे) में गिरकर विपत्ति (मृत्यु) को प्राप्त हो जाय, तो इसमें उस बेचारे (जन्मान्ध) का क्या अपराध है ? (अर्थात् वह निन्दा पात्र नहीं हो सकता) परन्तु, मुझे तो बार बार धिक्कार है, जो कि मैं मूर्ख शास्त्ररूपी (तीसरे) नेत्र के होते हुए, और प्रज्ञा (सद्बुद्धि) रूपी दीपक के होते हुए, एवं सन्मार्ग को बतलानेवाले आप जैसे अतिशय दयालु स्वामी के होते हुए भी (फिर फिर) इस अन्धकूप (भवसागर) में ही गिरता जाता हूँ।

त्राता यत्र न कश्चिदस्ति विषमे तत्र प्रहर्तुं पथि
द्रोग्धारो यदि जाग्रति प्रतिविधिः कस्तत्र शक्यक्रियः।
यत्र त्वं करुणार्णवस्त्रिभुवनत्राणप्रवीणः प्रभु-
स्तत्रापि प्रहरन्ति चेत्परिभवः, कस्यैष गर्हावहः ॥१३६॥

अन्वय—यत्र विषमे पथि कश्चित् अपि त्राता नाऽस्ति तत्र द्रोग्धारः (वधकाः) यदि प्रहर्तुम् जाग्रति, तर्हि तत्र कः प्रतिविधिः (प्रतीकारः) शक्यक्रियः ? यत्र (तु) त्वम् करुणार्णवः त्रिभुवनत्राणप्रवीणः प्रभुः, (त्राता अस्ति) तत्राऽपि (आन्तराः कामक्रोधाद्याः) द्रोग्धारः चेत् (शरणागतम्) प्रहरन्ति, तर्हि एषः परिभवः कस्य गर्हावहः ! (प्रभो ! त्वमेवाऽत्र विचार कुर्वित्यर्थः)।

अर्थ—प्रभो ! जिस सङ्कट मय मार्ग में अपना कोई रक्षक न हो, वहाँ पर यदि शत्रु लोग मारने को तत्पर हों, तो वहाँ उसका क्या प्रतीकार (बदला) हो सकता है ? कुछ भी नहीं। परन्तु, जहाँ पर त्रैलोक्य की रक्षा करने में समर्थ आप करुणा-सिन्धु प्रभु रक्षक विद्यमान हैं वहाँ भी यदि ये (आन्तरिक काम-क्रोधादि) शत्रु गण (आपके) शरणागत के ऊपर प्रहार करते हैं, तो यह तिरस्कार (शरणागत का अपमान) किसके लिए निन्दावह होगा ? (इसमें आप ही जरा विचार कीजिए)।

किं शक्तेन न यस्य पूर्णकरुणा-पीयूषसिक्तं मनः
किं वा तेन कृपावता परहितं कर्तुं समर्थो न यः।
शक्तिश्चास्ति कृपा च ते यमभयाद्भीतोऽपि दीनो जनः
प्राप्तो निःशरणः पुरः परमतः स्वामी स्वयं ज्ञास्यति ॥१३७॥

अन्वय—यस्य (पुंसः) पूर्णकरुणासिक्तम् मनः न अस्ति, तेन शक्तेन (अपि) किम् (भवति ?) यः परहितम् कर्तुम् न समर्थः, तेन कृपावता (दयालुनाऽपि) किम् ? हे विभो ! शक्तिः कृपा च ते (तवैव) अस्ति।

यमभयात् भीत नि शरण दीन जन अपि (तव) पुर प्राप्त, अत परम् स्वामी स्वयम् (एव) ज्ञास्यति ।

अर्थ—हे प्रभो ! जिस पुरुष का अन्त करण पूर्ण कृपा से आर्द्र न हो, वह पुरुष यदि शक्ति सम्पन्न भी हो, तो उससे क्या लाभ हो सकता है? अर्थात् कुछ भी नहीं, और जो पुरुष दूसरे का उपकार करने को समर्थ नहीं है, वह यदि अत्यन्त दयालु भी हो, तो उससे भी क्या लाभ हो सकता है? अर्थात् कुछ भी नहीं। किन्तु हे नाथ ! आपके पास तो पूर्ण (अविनश्वर) शक्ति, और पूर्ण कृपा, ये दोनो ही विद्यमान हैं। और यमराज के भय से त्रस्त हुआ, यह शरणहीन, दीन (अर्थी अर्थात् मैं) भी आपके सामने उपस्थित है, अब इससे आगे प्रभु स्वयं जानते ही हैं (अवश्य ही मुझ पर कृपा करेंगे)।

भृङ्गारे करपुष्करप्रणयिनि स्वर्निम्नगानिर्झरे
सम्पूर्णे करुणारसे परिणतस्फारे तुषारत्विषि ।
अस्ति स्वादु च शीतलं च सुलभं पीयूषमोषच्छिदे
प्राप्तश्च प्रणयी पुरः परमतः स्वामी स्वयं ज्ञास्यति॥१३८॥

अन्वय—हे स्वामिन् ! आर्तच्छिदे करपुष्करप्रणयिनि भृङ्गारे, स्वर्निम्नगानिर्झरे, सम्पूर्णे करुणारसे, परिणतस्फारे तुषारत्विषि च, स्वादु शीतलम् च, सुलभम् च पीयूषम् अस्ति, पुर (अयम्) प्रणयी च प्राप्त, अत परम् स्वामी स्वयम् (एव) ज्ञास्यति ।

अर्थ—हे प्रभो ! आपने भक्त जनों के संसाररूपी दावानल में उत्पन्न हुए सन्ताप को शान्त करने के लिए अपने करकमलस्थ सुवर्ण कलश में, जटाजूट पर विराजमान हुई देवगङ्गा के प्रवाह में, हृदयस्थ सम्पूर्ण करुणारस में और ललाट पर सुशोभित परिपूर्ण चन्द्रमा में, (इन सब में) सुन्दर, स्वादु, शीतल और अत्यन्त सुलभ अमृत भरा है। और यह ताप सन्तप्त प्रणयी भी आपके आगे उपस्थित

है। अब आगे आप ही स्वयं समझ जायँगे। मुझ पर अवश्य ही कृपा करेंगे।

आर्त्तिः शल्यनिभा दुनोति हृदयं नो यावदाविष्कृता
सूते लाघवमेव केवलमियं व्यक्ता खलस्याऽग्रतः ।
तस्मात्सर्वविदः कृपाऽमृतनिधेरावेदिता सा विभो-
र्यद्युक्तं कृतमेव तत्परमतः स्वामी स्वयं ज्ञास्यति ॥१३९॥

अन्वय—शल्यनिभा आर्तिः यावत् (सहृदयाग्रे) नो आविष्कृता, तावत् इयम् हृदयम् दुनोति, खलस्य अग्रतः व्यक्ता (सती) इयम् केवलम् (वक्तुः) लाघवम् एव सूते। तस्मात् सा (आर्तिः) सर्वविदः कृपामृत-निधेः विभोः (तव पुरः) मया आवेदिता। यत् युक्तम् (आसीत्) तत् कृतम् एव, अतः परम् स्वामी स्वयम् ज्ञास्यति।

अर्थ—अपनी आर्ति (विपत्ति) जब तक किसी सहृदय जन (दयालु) के आगे न प्रकट की जाय, तब तक वह (आर्ति) शल्य (बाण) के समान हृदय को दुःख देती है। और यदि किसी खल (निर्दयी) के सामने प्रकट की जाय, तब तो केवल कहनेवाले की लघुता को ही जाहिर करती है। इसलिए, हे नाथ! मैंने आप सर्वज्ञ (अन्तर्यामी), करुणा-रूपी अमृत के सागर सर्व-समर्थ प्रभु से ही यह अपनी आर्ति (अपना दुःख) निवेदन की है। हे प्रभो! जो उचित था सो मैंने कर ही दिया, अब आगे आप जानते ही हैं। (जैसी आपकी इच्छा हो, वैसा करें।)

लेखाः सन्तु प्रसन्ना बुधसदसि शुचेरागमस्यास्तु लब्धि-
र्मिथ्यादृष्टिश्च माभूदनुपधिरहतो दीर्घकालोऽस्तु भोगः ।
सभ्याः सर्वेऽनुवृत्तिं विदधतु तदपि न्यायतो नास्ति मुक्तिः
सम्यग्दर्शी प्रमाता रचयति न भवानीश्वरश्चेद्विचारम् ॥१४०॥

अन्वय—बुधसदसि (देवसभायाम्) लेखा. (देवाः) प्रसन्नाः सन्तु, तथा बुधसदसि (पण्डितसभायाम्) शुचेः आगमस्य लाभः अस्तु । मिथ्यादृष्टिः (अज्ञान, नास्तिकता च) च मा भूत्, अनुपधि, अहतः दीर्घकालः भोगः अस्तु, सर्वे सभ्याः अनुवृत्तिम् (तदनुवर्तनम्) विदधतु । तदपि न्यायतः मुक्तिः (मोक्षः) नाऽस्ति, (यावत्) सम्यग्दर्शी स्वयम् प्रमाता भवानीश्वर. (शिव) चेत् विचारम् न रचयति ।

अर्थ—देव-सभा मे ब्रह्मा, विष्णु आदि देवता लोग प्रसन्न हों, पण्डितो की सभा मे निर्दोष शास्त्र का अध्ययन भी हो, अज्ञान और नास्तिकता न हो, कपट रहित, अत्यन्त चिरस्थायी ऐहिक या आमुष्मिक अखण्ड भोग भी प्राप्त हों। और सम्पूर्ण सभ्य लोग (विद्वज्जन) शास्त्रोक्त मार्ग का अनुसरण भी करें अर्थात सब कुछ अनुकूल हो, परन्तु, जब तक कि सम्यग्दर्शी (विश्वसाक्षी) स्वय प्रमाता भवानीश्वर भगवान् श्री शङ्कर स्वय विचार न करें, तब तक वस्तुतः मुक्ति (आत्यन्तिकी दुःख की निवृत्ति) नहीं हो सकती।॰

जानुभ्यामुपसृत्य रुग्णचरणः को मेरुमारोहति
श्यामाकामुकबिम्बमम्बरतलादुत्प्लुत्य गृह्णाति कः ।

॰ कवि ने यहा शब्दश्लेष से क्या ही अनूठा चमत्कार कर दिखाया है। वह कहता है—लेख (लेख्य पत्र) अतीव सुनिर्मल हों, बुध-समाज मे शुचि आगम (मालन भूर्ज) की उपलब्धि (प्राप्ति) हो, मिथ्यादृष्टि (अनुचितसाक्षिता—झूठी गवाही) भी न हो, अनुपधि (अवधि—काल-रहित) दीर्घकालिक अहत (किसी न न उपभोग किया हुआ) भोग (धरोहर) हो, और सभी सभ्यजन अनुवृत्ति (अनुमोदन) भी करते हों, यह सब कुछ हो, परन्तु, जब तक सम्यग्दर्शी प्रमाता, भवानीश्वर (भगवान् भवानीनाथ, अथवा—भवान् ईश्वर = आप प्रभु) स्वय विचार न करें, तब तक न्याय-निर्वाह (नीति से निर्वाह) नहीं हो सकता! वाह, कितना हृदयभेदी भाव है!

को वा बालिशभाषितैः प्रभवति प्राप्तुं प्रसादं प्रभो-
रित्यन्तर्विमृशन्नपीश्वर बलादार्त्यास्मि वाचालितः ॥१४१॥

अन्वय—हे ईश्वर ! रुग्णचरणः जानुभ्याम् उत्प्लुत्य मेरुम् कः आरोहति ? (न कोऽपि), उत्प्लुत्य अम्बरतलात् श्यामाकामुकबिम्बम् (चन्द्रबिम्बम्) कः गृह्णाति ? कः वा बालिशभाषितैः प्रभोः प्रसादम् प्राप्तुम् प्रभवति ? इति अन्तः विमृशन् अपि (अहम्) आर्त्या (त्वत्स्तवने) बलात् वाचालितः (अस्मि) ।

अर्थ—हे ईश्वर ! रोग से मारे हुए चरणोंवाला (अर्थात् चरण हीन) कौन पुरुष केवल जङ्घाओं के बल से चलकर सुमेरु पर्वत पर चढ़ सकता है ? अर्थात् कोई भी नहीं। आकाश में कूदकर चन्द्र मंडल को कौन पकड़ सकता है ? और मूर्खों के वचनों से प्रभु (ईश्वर) को प्रसन्न करने के लिए कौन समर्थ हो सकता है ? कोई भी नहीं। सो भगवन् ! इन सब बातों को अपने मन में अच्छी तरह विचार करता हुआ भी मैं यह आपकी स्तुति करने के लिए उद्यत हुआ हूँ। करूँ क्या ? इस विपत्ति ने ही मुझे बलात्कार से वाचालित (आपकी स्तुति के लिए उन्मुख) किया है।

धत्ते पौण्ड्रकशर्कराऽपि कटुतां कण्ठे चिरं चर्विता
वैरस्यं वरनायिकाऽपि कुरुते सक्त्या भृशं सेविता ।
उद्वेगं गगनापगाऽपि जनयत्यन्तर्मुहुर्मज्जनाद्
विश्रद्धां मधुराऽपि पुष्यति कथा दीर्घेति विश्रम्यते ॥१४२॥

अन्वय—(यथा-) पौण्ड्रकशर्करा अपि चिरम् चर्विता (सती) कण्ठे कटुताम् धत्ते, वरनायिका अपि सक्त्या भृशम् सेविता (सती) वैरस्यम् कुरुते, अन्तः मुहुः मज्जनात् गगनापगा अपि उद्वेगम् जनयति, (तथैव-) मधुरा अपि कथा, दीर्घा (सती) विश्रद्धाम् पुष्यति, इति (हेतो) मया विश्रम्यते ।

अर्थ—पौण्ड्रक (पुण्ड्र देशोत्पन्न) इक्षु से बनी हुई शर्करा भी चिरकाल तक चर्वित की हुई कण्ठ में कटुता को धारण करती है अर्थात् कड़वा लगने लगती है, वराङ्गना (सुन्दर युवती) भी दीर्घकाल तक सेवित करने पर फिर अत्यन्त नीरस (फीका) मालूम पड़ती है। और बार बार अन्दर निमज्जन (अवगाहन) करने पर देवगङ्गा भी मन में उद्वेग पैदा करने लगती है, (वैसे ही) अति सुन्दर मधुर भी कथा बार बार सुनाने से (श्रोताओं के मन में) अश्रद्धा पैदा कर देती है, इसलिए हे नाथ! मैं (भी) अब इस करुणाजनक विलाप से उपरत (चुप) होता हूँ।

इत्थं तत्तदनन्तसन्ततलसच्चिन्ताशतव्यायत-

व्यामोहव्यसनावसन्नमनसा दीनं यदाक्रन्दितम्।

तत्कारुण्यनिधे निधेहि हृदये स्वं ह्यन्तरात्माऽखिलं

वेत्स्यन्तःस्थमतोऽर्हसि प्रणयिनः क्षन्तुं ममाऽतिक्रमम्॥१४३॥

अन्वय—इत्थम् तत्तदनन्तसन्ततलसच्चिन्ताशतव्यायतव्यामोहव्यसनावसन्नमनसा (मया) यत् दीनम् आक्रन्दितम्, हे कारुण्यनिधे! तत् (सर्वम्) हृदये निधेहि, हि त्वम् अन्तरात्मा अखिलम् अन्तःस्थम् वेत्सि, अतः प्रणयिनः मम अतिक्रमम् क्षन्तुम् अर्हसि।

अर्थ—हे प्रभो! इस प्रकार, अनन्त चिन्ता जालों से अहर्निश वृद्धि गत (अतीव विस्तृत हुए) व्यामोह (मोह) के द्वारा खिन्न हुए मन से, मैंने आपके सामने जो यह दीन आक्रन्दन किया है, हे करुणा सागर! उसे आप अपने हृदय में रख लीजिए। क्योंकि आप अन्तरात्मा (अन्तर्यामी) हो, हृदय के सभी भावों को जानते हो। इसलिए नाथ! मुझ दीन शरणागत के इस (अनर्थक प्रलाप रूप) अपराध को क्षमा करने योग्य हो।

इति श्री प्रेममकरन्दनाम्नीटीकोपेते काश्मीरक महाकविश्रीमज्जगद्धरभट्टविरचिते भगवतो महेश्वरस्य स्तुति कुसुमाञ्जलौ दीनाक्रन्दनं नामैकादशं स्तोत्रम्।

द्वादशं स्तोत्रम्

अब इसके अनन्तर "तमःशमन" (अर्थात् अज्ञानरूप अन्धकार-नाशक) नामक द्वादश (१२) वें स्तोत्र का आरम्भ करते हुए कवि कहते हैं :—

मखैरुपास्योऽपि नयज्ञसेव्यो निरामयोऽपि प्रथितोग्रशूलः ।
वेदप्रियोऽप्यश्रुतिवल्लभो यः श्रयामि तं देवमचिन्त्यशक्तिम् ॥१॥

अन्वय—यः (देवः) मखैः उपास्यः अपि नयज्ञसेव्यः, निरामयः अपि प्रथितोग्रशूलः, वेदप्रियः अपि अश्रुतिवल्लभः (अस्ति), तम् अचिन्त्य-शक्तिम् देवम् (अहम्) श्रयामि ।

अर्थ—जो (स्वयप्रकाश परमेश्वर) यज्ञो से उपास्य होकर भी नयज्ञ-सेव्य (नीतिज्ञ जनों का सेवनीय) है; शीत, आतप आदि छः ऊर्मियों (रोगों) से रहित[1] होकर भी उग्रशूल (त्रिशूल) वाला प्रसिद्ध है और श्रुतियों (वेदों) को प्रिय करनेवाला होकर भी अश्रुतिवल्लभ (अश्रुति=कर्णहीन सर्पों से प्रेम रखनेवाला) है उस (ब्रह्मादि देवों से भी) अचिन्त्य-शक्ति भगवान् सदाशिव की मैं शरण लेता हूँ।*

---

(१) शीतातपौ शरीरस्य, क्षोभमोहौ च चेतसः ।
प्राणस्य क्षुत्पिपासे द्वे, षडूर्मीरहितः शिवः ॥

* यहाँ कवि ने शब्दश्लेष में विरोधाभास की संपुट देकर इसे खूब चमत्कृत कर दिया है। वह कहता है कि जो मखों—यज्ञों—से उपास्य होकर भी 'न यज्ञसेव्य' यज्ञों से असेव्य है, निरामय—व्याधि-रहित होकर भी उग्र शूल रोग वाला प्रसिद्ध है और वेदप्रिय होकर भी 'अश्रुतिवल्लभ'—वेद-प्रिय नहीं है, उस अचिन्त्य चरित्रवाले देव का मैं आश्रय ले रहा हूँ। वाह, क्या ही सुन्दर भाव है !

स्तुत्यस्त्वमेव स्तुतिकृत्त्वमेव स्तुतिस्त्वमेव त्वदृतेऽस्ति नान्यत् ।
इयं त्वविद्या यदहं स्तुवे त्वां स्तुत्येति मिथ्या पृथगर्थबुद्धिः ॥ २ ॥

अन्वय—हे विभो ! स्तुत्य. त्वमेव (असि) स्तुतिकृत् त्वमेव (असि) स्तुतिः च त्वमेव (असि) त्वदृते अन्यत् न (किञ्चित् अस्ति) यद् अहम् स्तुत्या त्वाम् स्तुवे, इयम् मिथ्या पृथगर्थबुद्धिः तु, अविद्या (अज्ञानमेव)।

अर्थ—हे विभो ! स्तुति करने के योग्य एक आप ही हैं, स्तुति करनेवाले भी आप ही हैं और स्तुति भी आप ही हैं। (जो कुछ भी पदार्थ दिखलाई देता है सो सब आप ही हैं) आपके सिवाय और कुछ भी नहीं है। हे भगवन् ! मैं जो इस स्तुति (स्तोत्र) से आपकी स्तुति कर रहा हूँ, यह पृथक् (भेद) दृष्टि तो मिथ्या अविद्या (केवल अज्ञान) ही है।

स्तौम्येव तत्राऽपि पुनः पुनस्त्वां नश्यत्यविद्या यदविद्ययैव ।
रजःप्ररूढं मुकुरे प्रमार्ष्टुं रजो विना न ह्यपरोऽस्त्युपायः ॥ ३ ॥

अन्वय—तत्रापि (एवमेव सत्यपि) अहम् त्वाम् पुनः पुनः स्तौमि एव, यत् अविद्या अविद्यया एव नश्यति, हि मुकुरे प्ररूढम् रजः प्रमार्ष्टुम् रज. विना अपरः उपाय. न अस्ति।

अर्थ—सो हे भगवन् ! यद्यपि कर्ता, करण और कार्य स्वरूप सब आप ही हैं, अतः आप अद्वितीय पूर्ण परब्रह्म में स्तुत्य, स्तोता, और स्तुति की पृथक्-पृथक् कल्पनाएँ करना, केवल अविद्या (अज्ञान) है, तथापि मैं (तो) बार-बार आपकी स्तुति करता हूँ। क्योंकि अविद्या की निवृत्ति अविद्या से ही होती है। जैसे कि दर्पण पर लगे हुए रज (धूलि) को स्वच्छ करने के लिए रज (धूलि) को छोड़कर दूसरा और कोई उपाय ही नहीं है।

विजृम्भमाणे तमसि प्रगल्भे यथा भवासक्तमतिः स्थितोऽहम् ।
हतेऽपि तस्मिन्नुदितावबोधस्तथा भवासक्तमतिर्भवेयम् ॥ ४ ॥

अन्वय—प्रगल्भे तमसि विजृम्भमाणे (सति) यथा (अहम्) भवासक्तमतिः (संसारासक्तबुद्धिः) स्थितः (अस्मि) तथा तस्मिन् हते अपि उदिताऽवबोधः सन् भवासक्तमतिः (सदाशिवासक्तमतिः) भवेयम् ।

अर्थ—हे प्रभो ! जैसे अति-गाढ़ अज्ञान रूप अन्धकार के उदय (प्रकट) होने पर मेरी मति इस भव (संसार) में आसक्त हुई है, वैसे ही इस अज्ञान के नष्ट हो जाने पर भी तत्त्वज्ञान से सुसम्पन्न होते हुए मेरी मति भव (श्री सदाशिव के चरण-कमलों) में आसक्त हो जाय ।

जगद्विधेयं ससुरासुरं ते भवान् विधेयो भगवन् कृपायाः ।
सा दीनताया नमतां विधेया ममाऽस्त्ययत्नोपनतैव सेति ॥ ५ ॥

अन्वय—हे भगवन् ! ससुरासुरम् जगत् ते विधेयम् (अस्ति) भवान् कृपायाः विधेयः (अस्ति) सा (कृपा) नमताम् दीनतायाः विधेया (अस्ति) सा (दीनता) मम अयत्नोपनता एव अस्ति ।

अर्थ—हे भगवन् ! देवता और दानवों सहित यह समस्त जगत् आपके वश (अधीन) है, आप कृपा के वश में हैं, और वह कृपा भक्तजनों की दीनता के वश में है, और वह दीनता मुझे बिना ही प्रयत्न से प्राप्त है । अतः—

जाने न शैथिल्यमुपैष्यवश्यं ममार्तिभङ्गे भगवँस्तथापि ।
विज्ञप्यसे कर्म ममैव माभून्मयि प्रसादप्रतिघस्तवेति ॥ ६ ॥

अन्वय—हे भगवन् ! (त्वम्) अवश्यम् मम (दीनस्य) आर्तिभङ्गे शैथिल्यम् न उपैषि (इत्यहम्) जाने, तथापि ममैव कर्म मयि तव प्रसादप्रतिघः माभूत् इति (हेतोः) त्वम् विज्ञप्यसे ।

अर्थ—प्रभो ! मुझ दीन के दुःख का नाश करने में आप शिथिलता को कदापि नहीं प्राप्त होंगे, इस बात को मैं अच्छी तरह जानता हूँ, तथापि मेरा ही अशुभ (पाप) कर्म मेरे विषय में आप के अनुग्रह को रोकनेवाला अर्गल न बन जाय ? (अर्थात् मेरा पाप

आपकी कृपा को रोक न दे) इसलिए मैं आपसे यह निवेदन करता हूँ।

पथ्यं च तथ्यं च भरक्षमं च स्निग्धं च मुग्धं च मनोहरं च।
सलीलमुन्मीलय वचः प्रसन्नं प्रपन्नमाश्वासय चन्द्रमौले ॥ ७ ॥

अन्वय—अयि चन्द्रमौले! पथ्यम् तथ्यम् च, भरक्षमम् च स्निग्धम् च, मुग्धम् च, मनोहरम् च, सलीलम् प्रसन्नम् वच उन्मीलय, माम् प्रपन्नम् आश्वासय।

अर्थ—अयि चन्द्रमौले! पथ्य (इस संसार रूपी व्याधि को नष्ट करनेवाला), सत्य, समस्त जगत् के उद्धार के भार को सहन करने में समर्थ, अति कोमल (अर्थात् भक्तों पर पक्षपात करनेवाला), जगत् के चित्त को हरनेवाला और लालायुक्त, अति प्रसन्न (अभय) वचन बोलकर मुझ शरणागत को आश्वासन दीजिए।

मधुद्रवार्द्रं विषमाहरामः पिण्डीनिगूढं बडिशं गिलामः।
अन्तर्निविष्टोत्कटकण्टकौघं ग्रसामहे पौण्ड्रक[1] पिण्डखण्डम् ॥८॥
यदा मुखे कामधुरानजस्रं विपाकरूक्षान् विषयान् भजामः।
विभो विदन्तोऽपि किमत्र कुर्मो जहाति सक्तिं न मतिर्वराकी ॥९॥

(युग्मम्)

अन्वय—प्रभो! (वयम्) यत् आमुखे कामधुरान् विपाकरूक्षान् विषयान् अजस्रम् भजाम, (तदेतत्) मधुद्रवार्द्रम् विषम् आहराम, पिण्डीनिगूढम् बडिशम् गिलाम, अन्तर्निविष्टोत्कटकण्टकौघम् पौण्ड्रकपिण्डखण्डम् ग्रसामहे। हे विभो! (एवम्) विदन्त अपि अत्र (विषये) वयम् किम् कुर्म? (इयम् वराकी मति सक्तिम् (विषयेष्वासक्तिम्) न जहाति।

अर्थ—प्रभो! हम लोग जो इन आरम्भ में मधुर और परिणाम में विष के समान अत्यन्त रूखे (शब्दादि) विषयों का सेवन

(१) पुण्ड्रकपिण्डखण्डम् भी पाठ है।

करते हैं, सो यह हाय ! हम लोग मधुद्रव (शहद) से आर्द्र विष का भक्षण करते हैं। और (मछली के समान) अन्न के पिण्ड में छिपाये बडिश (बन्सी[1]) को निगलते हैं तथा अन्दर अत्यन्त कठोर काँटों से भरे इक्षुखण्ड (ईख के टुकड़े) का ग्रास करते हैं ! हे विभो ! इस प्रकार यह सब जानते हुए भी हम लोग इस विषय में क्या करें ? क्योंकि यह हमारी मन्द बुद्धि विषयों की आसक्ति को छोड़ती ही नहीं।

मुक्तामया दीर्घगुणाः सुवृत्ता नैर्मल्यभाजो दधतः फलर्द्धिम् ।
कथं न हारा इव भक्तिमन्तः पदं हृदीशस्य भजन्ति सन्तः ॥१०॥

अन्वय—भक्तिमन्त, सन्तः, मुक्तामया, दीर्घगुणाः सुवृत्ता नैर्मल्यभाजः फलर्द्धिम् दधतः भक्तिमन्त (विच्छित्तियुक्ता) हारा, इव, ईशस्य हृदि पदम् (स्थानम्) कथम् न भजन्ति ।

अर्थ—जैसे मुक्तामय (मौक्तिकमय), दीर्घ गुणों (बड़े-बड़े तन्तुओं) वाले, सुवृत्त (वर्तुलाकार अर्थात् गोल), अतीव सुनिर्मल मुक्ताफलों की वृद्धि (को धारण) करनेवाले और भक्तिमान् (रङ्ग विरङ्गे) हार प्रभुओं के हृदय में स्थान प्राप्त कर लेते हैं वैसे ही, मुक्तामय (जन्म, जरा, मरण रूप रोग से रहित), दीर्घगुण अर्थात् दया, दाक्षिण्य, विद्वत्ता आदि उत्तम गुणों से युक्त, सुवृत्त—सदाचार में तत्पर, अत्यन्त निर्मल (अर्थात् निर्दोष) पुण्य-रूप फलों की वृद्धि करनेवाले, भक्तिमान् सन्त पुरुष भी ईश्वर के हृदय में स्थान क्यों नहीं प्राप्त कर सकते हैं ?

गुहाश्रितो धर्मरतिर्गिरीशप्रथां दधानो भवतः प्रसादात् ।
सत्याहितप्रीतिरहीनभक्तिर्भवानिवाहं भगवन् भवेयम् ॥ ११ ॥

अन्वय—हे भगवन् ! भवत, प्रसादात् अहम् भवान् इव, गुहाश्रित, धर्मरति, गिरीशप्रथाम् दधान, सत्याहितप्रीतिः अहीनभक्तिः (कदा) भवेयम् ?

---

(१) मछलियों को मारनेवाली बन्सी ।

अर्थ—हे भगवन्! मैं आपके प्रसादानुग्रह से, जैसे आप गुहाश्रित (गुह—स्वामी कार्तिकेय से सेवित), धर्मरति (वृषभ पर प्रीति रखनेवाले), गिरीश इस प्रथा (नाम) को धारण करनेवाले, सती (पार्वती) पर प्रेम करनेवाले और अहीनभक्ति वासुकि आदि श्रेष्ठ सर्पों से सुशोभित हैं, वैसे ही आपके ही समान गुहाश्रित (तपस्या के लिए केवल गुहा का आश्रय लेनेवाला), धर्मरति (अपने धर्म में तत्पर), गिरीश (पर्वत-निवासी) इस प्रथा को धारण करनेवाला, सत्य वचन में प्रेम रखनेवाला, और आपमें अहीन भक्ति रखनेवाला कब होऊँगा?

यमेकमाराध्य महारिसङ्गमादसंशयं भक्तजनः प्रमुच्यते ।
उपस्थितस्तस्य भवत्प्रसादतः कथं हरेरुग्र महारिसङ्गमः ॥ १२ ॥

अन्वय—हे उग्र! यम् एकम् (हरिम्) आराध्य, भक्तजनः महारिसङ्गमात् असंशयम् प्रमुच्यते, तस्य हरेः भवत्प्रसादतः महारिसङ्गमः (सुदर्शनचक्रसंगमः) कथम् उपस्थितः?

अर्थ—हे उग्ररूप धारण करनेवाले सदाशिव! जिस एक (हरि) के आराधन करने से भक्त लोग महारिसङ्गम (महान् शत्रुओं के सङ्गम) से अवश्य निःसंशय मुक्त हो जाते हैं, उसी हरि को आपकी कृपा से महारिसङ्गम—प्रबल शत्रुओं का सङ्गम (सुदर्शन चक्र की प्राप्ति) कैसे उपस्थित (प्राप्त) हुआ?

सुदुर्लभोऽयं भवति ग्रहः पुनर्मुखेऽप्यसौ सन्निहिता सरस्वती ।
इदं कुरुक्षेत्रमतीवपावनं किमर्थमर्थिन्युचिते विलम्बसे ॥१३॥

अन्वय—हे विभो! भवति (त्वयि विषये) अयम् ग्रहः (मम भक्तिसक्तिः) सुदुर्लभः (अस्ति) पुनः मम मुखे असौ सरस्वती अपि सन्निहिता (अस्ति) अतः हे भगवन्! इदम् क्षेत्रम् (माम्) अतीवपावनम् कुरु। उचिते अर्थिनि किमर्थम् विलम्बसे?

अर्थ—हे प्रभो ! आपके विषय में मेरा यह अतीव सुदुर्लभ ग्रह (अर्थात् अनुराग) है और मेरे मुख में यह सरस्वती (वाणी) भी सन्निहित है। अतः हे भगवन् ! (अपने दर्शन देकर) अब इस क्षेत्र को (अर्थात् मुझको) अतीव पवित्र कर दीजिए। प्रभो ! सब प्रकार से योग्य मुझ कृपा-पात्र पर (कृपा करने में) क्यों विलम्ब कर रहे हो ?*

न कस्य सौभाग्यवती चमत्कृतिं
दिशत्यसौ भाग्यवती सरस्वती ।
विभुं जितक्लेशमपि स्थिराजिनं
करोति यत्सम्मुखमस्थिराजिनम् ॥ १४ ॥

अन्वय—सौभाग्यवती, भाग्यवती असौ सरस्वती (स्तुति) कस्य न चमत्कृतिम् दिशति ? यत् (इयम्) जितक्लेशम् स्थिराजिनम् अस्थिराजिन विभुम् अपि सम्मुखम् करोति ।

अर्थ—यह मेरी सौभाग्य युक्त और भाग्यवती सरस्वती (स्तुति) किसके मन में चमत्कार नहीं पैदा करती है ? अर्थात् सभी के मन में आश्चर्य पैदा कर देती है, क्योंकि जो यह अविद्या आदि पाँच क्लेशों को जीतनेवाले (केवल) मृगचर्म पर बैठे, एवं अस्थियों की मालाओं से शोभायमान प्रभु (श्री सदाशिव) को भी अपने सम्मुख कर लेती है।

---

* कवि ने यहाँ भी शब्द-श्लेषालङ्कार से अपूर्व चमत्कार भर दिया है। वह कहता है कि हे प्रभो ! यह अति दुर्लभ ग्रह (अर्थात् सूर्य-ग्रहण) है तथा पास में ही यह सरस्वती नदी भी सन्निहित है और यह अत्यन्त-पवित्र कुरुक्षेत्र (तीर्थ) है। यह अतीव सुयोग्य दान पात्र भी आपके पास ही खड़ा है (दान की यह सभी सामग्री तैयार है)। अतः भगवन् ! अब आप क्यों देरी कर रहे हैं ?

अनुज्झितानुत्तमदानसंपदः सदाखिलज्ञानविहीनचेतसः।
अकालभीतिग्लपितान्करोति यः प्रभुः प्रसन्नः कुपितश्च देहिनः॥१५॥
पुरा चिरं यो विदधे वनान्तरे विधुः पदं रूढकुरङ्गसौहृदः।
सदा परस्वापहरोऽपि यो रविस्तयोः समत्वं दृशि यस्य भासते॥१६॥
कथं विभो तस्य तव प्रवर्ततां सतामसेव्ये पथि पातितात्मसु।
दयाविधेयस्य सदाऽस्मदादिषु प्रसादपात्रेषु मनागनादरः॥१७॥

(तिलकम्)

अन्वय—यः प्रभुः प्रसन्नः सन्, देहिनः अनुज्झितानुत्तमदानसम्पदः, सदा अखिलज्ञान्, अविहीनचेतस., अकालभीतिग्लपितान् करोति, तथा कुपित. च सन्, देहिन· अनुज्झितानुत्तमदान्, असपद·, सदा अखिलज्ञान-विहीनचेतस , अकालभीतिग्लपितान् करोति। रूढकुरङ्गसौहृदः यः विधु (चन्द्रः) पुरा चिरम् वनान्तरे (जलान्तरे) पदम् (स्थितिम्) विदधे, य· रविः सदा परस्वापहरः अपि, तयो. (चन्द्रसूर्ययो·) समत्वम् यस्य दृशि भासते। हे विभो ! सदा दयाविधेयस्य तस्य (पूर्वोक्तस्य समदृष्टे.) तव सताम् असेव्ये पथि पातितात्मसु अस्मदादिषु प्रसादपात्रेषु कथम् मनाक् अनादर. प्रवर्तताम् ?

अर्थ—जो परमेश्वर प्रसन्न होते हुए तो लोगों को सदा अत्युत्तम दान-सम्पत्तियों से युक्त, सत्यचेता, अखण्डित चित्तवाले और काल-भीति की बाधा से रहित कर देता है; और कुपित होता हुआ, लोगों को मद रूपी व्यसन युक्त, संपत्ति से विहीन तथा ज्ञानविहीन चित्तवाले और विना ही काल से प्राप्त हुए भय से ग्लानि को प्राप्त, कर देता है; और कुरङ्ग (शश) के साथ प्रीतिभाव को प्राप्त हुआ जो चन्द्रमा पहले चिरकाल तक वन (जल) में स्थित रहा, और जो सूर्य सदा दूसरे के स्वाप (निद्रा) को हरण किया करता है, उन दोनों (चन्द्रमा और सूर्य) की समानता जिसकी दृष्टि में भासित होती है. अर्थात् जिसकी दृष्टि में ये दोनों समान भाव से रहते हैं।

अथवा—"पहले (त्रेतायुग में) कुरङ्गों (वनमृगों) के साथ प्रीतिभाव को प्राप्त हुए जो भगवान् रामभद्र चिरकाल (चौदह वर्ष) तक वन में स्थित रहे और जो पुरुष सदा परस्व (दूसरों के धन) का अपहरण किया करता है, उन दोनों (अर्थात् भगवान् रामभद्र और परद्रव्यापहारी पुरुष) के लिए जिसकी दृष्टि समान है यानी दोनों को जो एक समान दृष्टि से देखते हो, सो हे विभो ! इस प्रकार सदैव दया के वशीभूत होनेवाले वह पूर्वोक्त समदृष्टिवाले आप सज्जनों के असेवनीय अर्थात् अत्यन्त कुत्सित (पाप) मार्ग में अज्ञान द्वारा अपनी आत्मा का पतन करनेवाले हम दयापात्र जनों पर थोड़ा सा भी अनादर (उपेक्षा) कैसे कर सकते हैं ?

विभो भवद्भालविलोचनाज्वलप्रसूतधूमैरिव साश्रुलोचनः ।
सघर्मलेशस्तव दक्षिणेक्षणप्ररूढचण्डद्युतिभाभरैरिव ॥ १८ ॥
घनप्ररोहत्पुलकाङ्कुरो भवच्छिखण्डखण्डेन्दुकरोत्करैरिव ।
सदन्तवीणस्तुहिनौघशीतलत्वदुत्तमाङ्गद्युनदीजलैरिव ॥ १९ ॥
तरङ्गिताङ्गो भवदङ्गदस्फुरत्फणीन्द्रफूत्कारसमीरणैरिव ।
भवेयमानन्दसुधापरिप्लुतः प्रसन्नमालोक्य भवन्तमग्रतः ॥ २० ॥

(तिलकम्)

अन्वय—हे विभो ! अग्रतः प्रसन्नम् भवन्तम् आलोक्य, आनन्दसुधा-परिप्लुतः सन् (अहम्) भवद्भालविलोचनानलप्रसृतधूमैः इव साश्रुलोचनः, तव दक्षिणेक्षणप्ररूढचण्डद्युतिभाभरैः इव सघर्मलेशः, भवच्छिखण्डखण्डेन्दुकरोत्करैः इव घनप्ररोहत्पुलकाङ्कुरः, तुहिनौघशीतलत्वदुत्तमाङ्गद्युनदीजलैः इव सदन्तवीणः, भवदङ्गदस्फुरत्फणीन्द्रफूत्कारसमीरणैः इव तरङ्गिताङ्गः (कम्पिताङ्गः) भवेयम् ।

अर्थ—हे प्रभो ! मैं आपको अपने सम्मुख खड़े प्रसन्न हुए देखकर आनन्द-सुधा में निमग्न होता हुआ, आपके भाल-नेत्र की अग्नि से

उत्पन्न हुए धूम से जैसा—अश्रुपूर्ण नेत्र, आपके दक्षिण नेत्र में रहनेवाले सूर्य के तेजपुञ्ज से जैसा—स्वेदयुक्त, आपके शिरःस्थ बालेन्दु की किरणों से जैसा—सान्द्र रोमाञ्चोंवाला, हिमालय के समान शीतल आपके मस्तक की मन्दाकिनी के जलों से जैसा—दाँतों की टणत्कारयुक्त और आपके केयूरों पर लिपटे हुए वासुकि आदि सर्पों के फूत्कार वायु से जैसा कम्पित अङ्गोंवाला हो जाऊँ !

[अब कवि भगवान् श्री सदाशिव की सेवा में अपना सर्वस्व समर्पण कर देनवाले चन्दन, पुष्प, गन्ध आदि पदार्थों के अहोभाग्य का वर्णन करते हैं—]

यदेष सेहे परशुक्षतव्यथां प्रभोः प्रियः स्यामिति चन्दनद्रुमः ।
भुजङ्गमालिङ्गितकन्धरो ध्रुवं बिभर्ति साम्यं गिरिजापतेरतः॥२१॥

अन्वय—यत् एष चन्दनद्रुम (अहम्) प्रभो. प्रिय. स्याम् इति (हेतो) परशुव्यथाम् सेहे, अत (एव) भुजङ्गमालिङ्गितकन्धर (सन्) गिरिजापते साम्यम् ध्रुवम् बिभर्ति।

अर्थ—अहा ! जो इस चन्दन के वृक्ष ने (मैं) प्रभु का प्रियतम बन जाऊँ, ऐसा समझकर अत्यन्त तीक्ष्ण कुठार-प्रहार (कुल्हाड़े की चोट) की व्यथा को सहन किया, इसी लिए यह चन्दन वृक्ष अब बड़े बड़े सर्पों से आलिङ्गित (वेष्टित) होता हुआ भगवान् गिरिजापति (श्री सदाशिव) के ही समान बन गया है।

यच्चक्रिरे धृतनखान्तनिपातपीडाः
प्रीतिं प्रभोः सुमनसां सुमनस्त्वमेतत् ।
यस्त्वामिना न दहनेऽपि निपत्य सेवा-
हेवाकमोज्झदगुरोरपि गौरवं तत् ॥ २२ ॥

अन्वय—(पूजार्थम् पुष्पावचयसमये) धृतनखान्तनिपातपीडा सुमनसः यत् प्रभो प्रीतिम् चक्रिरे, एतत् (एव) सुमनसाम् सुमनस्त्वम्।

[अगुरु च] यत् दहने अपि निपत्य, स्वामिन सेवाहेवाकम् न औज्झत्, तत् अगुरो अपि गौरवम्।

अर्थ—अहा ! सुमनसा (पुष्पो) ने प्रभु की सेवा के निमित्त लोगों की ताद्दश नखधाराओं की दु सह पीडा के सहन करते हुए जो प्रभु के साथ परम प्रेम किया, वही उन सुमनसा (पुष्पों) का सुमनस्त्व अर्थात् सहृदयता—परम उदारता—है। और अगरु धूप ने अग्नि में गिर कर भी जो प्रभु की पूजा के व्यसन को नहीं छोड़ा, यह उस अगरु का भी महान् गौरव है।

आदौ प्रदर्श्य परमामृजुतामथान्त-
राविश्य मर्मणि न यन्निशितास्तुदन्ति ।
स्वामिन् शरा इव खलाः कृतिनो वनेषु
स त्वत्पदाम्बुजरजःकणजः प्रसादः ॥ २३ ॥

अन्वय—हे स्वामिन् ! आदौ परमाम् ऋजुताम् प्रदर्श्य, अथ अन्तः आविश्य, निशिता शरा इव, खला यत् वनेषु (स्थितान्) कृतिन न तुदन्ति, स त्वत्पदाम्बुजरज कणज प्रसाद (अस्ति)।

अर्थ—अहा, हे नाथ ! पहले अत्यन्त सरलता दिखलाकर फिर अन्दर प्रवेश करके, जो खल लोग एकान्त वन में रहनेवाले विद्वज्जनों (विरक्तजनो) को अत्यन्त तीखे बाणों के समान पीडा नहीं पहुँचाते हैं, यह आपके चरणकमलों के रजकणों का ही प्रसाद (अनुग्रह) है।

त्वन्नाम पामरजनैरपि गीयमान-
मानन्दमर्पयति य हृदि भक्तिभाजाम् ।
स्वामिन्नमानवयवेष्वखिलेषु नून-
मुद्भिद्यते बहिरसौ पुलकच्छलेन ॥ २४ ॥

अर्थ—ये सुमेरु, मन्दराचल आदि पर्वत अत्यन्त ऊँचे शिरों—शिखरों—को धारण करके महान् अहङ्कार क्यों किया करते हैं ? क्योंकि इनके शिखरों की उन्नति किस काम की है ? अहा ! भगवान् श्रीचन्द्रशेखर के प्रणाम करने से अतीव नम्र हुआ यह मेरा शिर ही इस संसार में सर्वश्रेष्ठ (कृतार्थ) है।

गात्रान्तरातिशयशंसि यदेतदुच्चै-
र्नामोत्तमाङ्गमिति नाथ शिरो बिभर्ति ।
तद्युज्यते भव भवचरणारविन्द-
पीठप्रणामपरमस्य नमस्यमस्य ॥ ३० ॥

अन्वय—हे नाथ ! हे भव ! यत् एतत् शिरः गात्रान्तरातिशयशंसि उत्तमाङ्गम् इति उच्चैः नाम बिभर्ति, तत् भवचरणारविन्दपीठप्रणामपरमस्य अस्य नमस्यम् युज्यते (एव)।

अर्थ—हे नाथ ! हे सदाशिव ! यह मस्तक जो अन्य अङ्गों से अपनी श्रेष्ठता बतलानेवाले 'उत्तमाङ्ग' (उत्तम अङ्ग) इस ऊँचे नाम को धारण करता है, सो वास्तव में यह इसका श्रेष्ठ नाम (उत्तमाङ्ग नाम) योग्य ही है ; क्योंकि यह शिर सदा आपके चरणारविन्दों (के सिंहासन) के प्रणाम करने में तत्पर रहता है अर्थात् प्रभु को नमन करने के कारण ही इस मस्तक का नाम 'उत्तमाङ्ग' है न कि और अङ्गों की अपेक्षा श्रेष्ठ होने से।

किं श्रीघनोऽप्यसुगतः किमुमाधवोऽपि
न त्वं कदाचन जनार्दनतां बिभर्षि ।
स्वामिन् गजारिरपि किं नगजा-प्रियस्त्व'
स्वातन्त्र्यमस्ति यदि वा भवतः किमन्यत् ॥ ३१ ॥

अन्वय—हे स्वामिन् ! श्रीघनः अपि त्वम् असुगतः किम्, उमाधवः अपि त्वम् जनार्दनताम् कदाचन न बिभर्षि किम् ? गजारिः अपि त्वम्

नगजाप्रिय किम् (भवसि) यदि वा भवतः स्वातन्त्र्यम् अस्ति, किम् अन्यत् ब्रूमहे ।

अर्थ—हे स्वामिन् ! क्या आप श्रीघन (परम ऐश्वर्य—कैवल्य-रूपा श्री से परिपूर्ण) होकर भी त्रैलोक्य भर के जीवों के प्राणों में व्याप्त हो रहे हो ? और क्या उमाधव (पार्वती के प्राणप्रिय) होकर भी आप कभी जनार्दनता को नहीं धारण करते (प्राणियों को पीडा नहीं देते) ? हे नाथ ! क्या आप गजारि (गजासुर के अरि) होकर भी नगजाप्रिय—गिरिजा के वल्लभ—हैं ? हे भगवन् ! आप सर्वथा स्वतन्त्र, कर्त्तु, अकर्त्तुम्, अन्यथाकर्तुं समर्थ हैं, अतः आपकी महिमा का क्या वर्णन करें ?*

अरुणद्युतिग्लपितशीतदीधितिप्रकटीकृतालिकमलं विलोक्य मे ।
भवतः प्रभातमिव भालशोचनं भजते कदा नु विषमं शमं तमः॥३२॥

अन्वय—(इव = यथा, तथा) यथा—अरुणद्युतिग्लपितशीतदीधिति-प्रकटीकृतालिकमलम् प्रभातम् विलोक्य, विषमम् तमः शमम् भजते, तथा—अलम् (अत्यर्थम्) अरुणद्युतिग्लपितशीतदीधितिप्रकटीकृतालिकम् भवतः भाललोचनम् विलोक्य, मे विषमम् तमः शमम् कदा नु भजते ?

अर्थ—जैसे अरुण की दीप्ति से चन्द्रमा जहाँ ग्लान हो जाता है और (कमलों के विकसित हो जाने से) भ्रमरगण प्रकट हो जाते हैं ऐसे प्रातःकाल को देखकर (रात्रि का) घोर अन्धकार शान्त

---

* कवि ने यहाँ शब्दश्लेष को विरोधाभास से खूब चमत्कृत किया है। वह कहता है कि—प्रभो ! क्या आप श्रीघन (बुद्ध) होकर भी असुगत (सुगत—बुद्ध नहीं) हैं ? क्या माधव (हरि) होकर भी जनार्दनता (विष्णुता) को कभी नहीं धारण करते ? और गजारि (गज के शत्रु) होकर भी क्या नगजाप्रिय (गज के प्रिय) हो ? हाँ, आप स्वतन्त्र हैं, जो चाहे सो कर सकते हैं, आपको क्या कहा जाय ? वाह !

(नष्ट) हो जाता है, वैसे ही हे नाथ ! जिसमे अत्यन्त अरुण दीप्ति से चन्द्रमा ग्लान हो रहा है और जिससे आपका ललाट सुप्रकाशित हो रहा है ऐसे आपके भाल-नेत्र को देखकर यह मेरा घोर अन्धकार (अज्ञान) कब शान्त (दूर) होगा ?

इति श्रीप्रेममकरन्दनाम्नीटीकोपेत काश्मीरकमहाकवि-
श्रीमज्जगद्धरभट्टविरचिते भगवतो महेश्वरस्य
स्तुतिकुसुमाञ्जलौ तम शमन नाम
द्वादश स्तोत्रम्

त्रयोदशं स्तोत्रम्

अब यहाँ से (प्रभु को प्रसन्न करनेवाले) "प्रभुप्रसादन" नामक तेरहवे स्तोत्र को आरम्भ करते हैं —

अथ नुतिभिरमन्थराक्षराभिः सुजनमनोमृगवागुराभिराभिः ।
विभुमभयदमादरादरातिक्षपणपणप्रवणं प्रसादयामः ॥ १ ॥

अन्वय--अथ अमन्थराक्षराभि सुजनमनोमृगवागुराभि आभि नुतिभि , अभयदम् अरातिक्षपणपणप्रवणम् विभुम आदरात् प्रसादयाम ।

अर्थ—अब हम अतीव प्रौढ पदोंवाली और सहृदयजनों के मनरूपी मृगो के बन्धन करने मे पाश के समान, इन स्तुतियों से, समस्त जगत् को अभय देनेवाले, आन्तरिक (काम-क्रोधादि) और बाहर के समस्त शत्रुओं का विध्वंस करने म तत्पर प्रभु (ईश्वर) को अति आदर पूर्वक प्रसन्न करना चाहते हैं ।

सुरमुकुटविटङ्करत्नरोचिःखचितनखाङ्कुरकेसराभिरामम् ।
पुरहरचरणारविन्दयुग्मं शिरसि विधत्त किरीटवाञ्छया किम् ॥ २ ॥

अन्वय—अयि भावुका सुरमुकुटविटङ्करत्नरोचि रञ्चितनखाङ्कुर केसराभिरामम् पुरहरचरणारविन्दयुग्मम् शिरसि विधत्त, किरीटवाञ्छया किम् (भवति) ?

अर्थ—अयि भगवत्प्रेमी जनो ! देवताओं के मुकुटरूपी विटङ्कों (बाह्य अग्रभागों) पर जड़े रत्नों की कान्तियों से सम्मिश्रित नखाङ्कुरों के केसरों से मनोहर भगवान् श्री सदाशिव के चरणारविन्दों को मस्तक पर धारण कीजिए। (क्षणभङ्गुर) मुकुट धारण करने की अभिलाषा से क्या लाभ है ? अर्थात् कुछ भी नहीं।

कलयतु भवतामभग्नवृत्तिर्हरहरशङ्करशङ्करेति सूक्तिः ।
अविरलगलमण्डनप्रतिष्ठां किममलमौक्तिकदामकामनाभिः ॥३॥

अन्वय-(अयि रसिका भावुका) अभग्नवृत्ति हरहरशङ्करशङ्करेति सूक्ति भवताम् अविरलगलमण्डनप्रतिष्ठाम् कलयतु, अमलमौक्तिकदामकामनाभि किम् भवति ?

अर्थ—अये रसिक जनो ! क्षण भर भी भग्न न होनेवाली अर्थात सदैव कण्ठ में रहनेवाली हर ! हर ! शङ्कर ! शङ्कर ! इस प्रकार की अति हर्ष द्वारा होनेवाली सूक्ति को ही आप लोग अपने कण्ठ का श्रेष्ठ आभूषण बनाइए। अत्यन्त स्वच्छ मुक्ताहार (नवमाल) को धारण करने की इच्छा से कौन सा लाभ होता है ?

कलयत मणिकुण्डलेऽवलेपं श्लथयत निर्म्मलमल्लिकाभिलापम् ।
हरचरितनुतिक्रमैरजस्रं कुरुत नवश्रवणावतंसलीलाम् ॥ ४ ॥

अन्वय—अयि भक्तजना ! यूयम् मणिकुण्डले अवलेप कलयत, निर्मलमल्लिकाभिलापम् श्लथयत, अजस्रम् हरचरितनुतिक्रमै नवश्रवणावतंसलीलाम् कुरुत।

अर्थ—अयि भक्त जनो ! आप लोग (इन क्षणभङ्गुर) मणियों के कुण्डलों में अत्यन्त घृणा किया करो ! और स्वच्छ जाति पुष्पों के

धारण करने की इच्छा को भी शिथिल करो ! सदैव उस अविनाशी प्रभु के दिव्य-चरित्रों और स्तुति-रचनाओं से ही अपने कर्णों का दिव्य-आभूषण बनाया करो।

इह विहतभवोपतापमापत्प्रशमसमर्थमनर्थनाशहेतुम् ।
नमति न मतिमानमानवीयप्रमदविधानपरं परं हरं कः ॥ ५ ॥

अन्वय—इह विहतभवोपतापम् आपत्प्रशमसमर्थम् अनर्थनाशहेतुम् अमानवीयप्रमदविधानपरम् परम् हरम् कः मतिमान् न नमति ? अपि तु सर्व एवेत्यर्थः ।

अर्थ—अहा ! इस भवसागर में, सांसारिक समस्त पाप तापों को शांत कर देनेवाले, जन्म-मरण-रूपी आपत्तियों को समूल नष्ट करने में समर्थ, अनर्थकारक अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश स्वरूप क्लेशों को नष्ट करनेवाले, शरणागतों को लोकोत्तर अलौकिक आनन्द देने में अतीव तत्पर उस परात्पर (माया से परे) भगवान् शङ्कर को कौन बुद्धिमान् पुरुष प्रणाम नहीं करता ? अर्थात् सभी प्रणाम करते हैं।

त्रिजगति भजति स्थितिं बुधानां धुरि दुरितक्षतिशिक्षितः स एकः ।
शशिशकलशिखामणिप्रणामप्रणयि बिभर्त्ति शिरश्चिरस्थिरं यः॥६॥

अन्वय—यः (भाग्यवान्) शशिशकलशिखामणिप्रणामप्रणयि शिरः चिरस्थिरम् बिभर्ति, सः एकः दुरितक्षतिशिक्षितः, त्रिजगति (अपि) बुधानाम् धुरि स्थितिम् भजति ।

अर्थ—अहा, जो कोई भाग्यवान् चिरकाल तक भगवान् श्री चन्द्रशेखर को प्रेम से प्रणाम करनेवाले मस्तक को धारण करता है, वह समस्त दुष्कृतों को समूलोन्मूलन करने में चतुर पुरुष ही तीनों लोकों में सभी बुधजनों के आगे सम्मान पाता है। अर्थात् इस लोक में तो बुधजनों—विद्वज्जनों—के आगे और पीछे फिर बुधजनों (देव-समाज) के आगे सम्मान पाता है।

स जयति जगदीशशक्तिपातस्तव कवितुर्यदमक्तमुक्तिदेवी ।
रसमसमचमत्कृतिप्रसूतिं वितरति काञ्चनसिद्धिमेति येन ॥७॥

अन्वय—हे जगदीश ! सः तव शक्तिपातः जयति, (यस्मात्) उक्तिदेवी कवितुः असक्तम् असमचमत्कृतिप्रसूतिम् तम् रसम् वितरति, येन काम् च न सिद्धिम् एति (अपि तु सर्वामपि अणिमादिसिद्धिं एति) ।

अर्थ—हे जगदीश ! वह आपका शक्तिपात (आपकी अनुग्रहपूर्ण दृष्टि) सर्वोत्कृष्ट है, जिसकी कृपा से वाग्देवी (सरस्वती देवी) कवि को लोकोत्तर चमत्कारों के प्रवाह को झरनेवाले उस रस को प्रदान कर देती है, कि जिस अद्भुत रस से वह काञ्चन सिद्धिम्—कौन कौन सी सिद्धि को नहीं प्राप्त कर लेता ? अर्थात् वह अणिमा आदि सभी सिद्धियों को प्राप्त हो जाता है । *

इह विदधतु नाम पामराणां प्रणतिकृतामपरे प्रभुप्रतीतिम् ।
प्रभवति न तु मृत्युभीतिभङ्गे जगति भवन्तमृतेऽमृतेश कश्चित् ॥८॥

अन्वय—अपरे (अन्ये लोकाः) प्रणतिकृताम् पामराणाम् प्रभुप्रतीतिम् (अयं नः स्वामीतिप्रतीतिम्) विदधतु नाम । इह तु (सकलेऽपि) जगति हे अमृतेश ! भवन्तम् (प्रभुम्) ऋते मृत्युभीतिभङ्गे कश्चित् न प्रभवति ।

---

* कवि ने यहाँ शब्दश्लेष द्वारा बड़ा ही विलक्षण भाव वर्णन किया है । वह कहता है—अयि जगदीश ! आपके उस शक्तिपात की बलिहारी है, जिसकी कृपा से रसवेत्ता पुरुष—चतुर वैद्य—अकिंचन को लोकोत्तर चमत्कारी वह 'रस'—पारद—प्रदान कर देता है, जिससे कि वह काञ्चन-सिद्धि (सुवर्ण-सिद्धि) को प्राप्त हो जाता है, अर्थात् यथेच्छ सुवर्ण सिद्ध कर लेता है । आयुर्वेद में कहा भी है—

कृष्णाभ्रं मारितं येन पारदं च वशीकृतम् ।
द्वारमुद्घाटितं तेन कुबेरस्य यमस्य च ॥

अर्थ—अन्य लोग केवल एक अपने से श्रेष्ठ पुरुष को (ही) प्रणाम करनेवाले (अर्थात् थोड़ी सी शक्ति को पाकर अपने को बहुत बड़ा समझनेवाले) पामर जनों (नीच लोगों) को अपना प्रभु भले ही समझा करें, परन्तु हे मृत्युञ्जय !-इस सारे संसार भर में केवल एक आपके सिवा और कोई भी प्रभु प्राणी के मृत्युभय का नाश नहीं कर सकता, अर्थात् प्रभु के सिवाय और कोई भी प्राणी को मृत्यु के भय से नहीं बचा सकता। क्योंकि—

वियदियति महस्विमण्डले कः श्रितवति कर्तुमनष्टचेष्टमीष्टे ।
विषमतमतमः प्रबन्धमन्धं जगदगदं घृणिमन्तमन्तरेण ॥ ९ ॥

अन्वय—इयति (महति अपि) महस्विमण्डले वियत् (आकाशम्) श्रितवति (सति) विषमतम तम. प्रबन्धम् अन्धम् जगत् अनष्टचेष्टम् अगदम् कर्तुम् (केवलम्) घृणिमन्तम् अन्तरेण कः ईष्टे ?

अर्थ—आकाश मे इतने बड़े (चन्द्रमा, तारागण आदि) तेजोमंडल के होते हुए भी, गाढ़ अन्धकार से अन्धे हुए जगत् को सम्पूर्ण चेष्टाओं से परिपूर्ण और नीरोग (आरोग्य) करने के लिए केवल एक भगवान् सूर्यदेव के सिवाय दूसरा कौन समर्थ हो सकता है—कोई भी नहीं।

शकलितकलितर्ष समकर्ष प्रकटितहर्ष महर्षभाधिरूढ ।
दिश विशदमदभ्रमभ्रसिन्धुद्रवधवलं भवलङ्घनं प्रसादम् ॥ १० ॥
प्रभवति भवति प्रसादरम्यां दिशति दृशं न विभा विभावरीणाम् ।
सवितरि वितरिष्यति प्रकाशं नहि महिमप्रभवो विभावरीणाम् ॥ ११ ॥

(युग्मम्)

अन्वय—अयि शकलितकलितर्ष ! अयि समकर्ष ! हे प्रकटितहर्ष ! अयि महर्षभाधिरूढ ! अदभ्रम् अभ्रसिन्धुद्रवधवलम् भवलङ्घनम् विशदम् प्रसादम् दिश, भवति विभौ प्रसादरम्याम् दृशम् दिशति (सति) अरीणाम्

(कामादीनां, शत्रूणां च) विभा न प्रभवति, हि—सवितरि प्रकाशम् वित रिष्यति (सति) विभावरीणाम् महिमप्रभव न (भवति)।

अर्थ—अयि कलियुग के तप (लाभ) को खण्डित करनेवाले अयि सर्वश्रेष्ठ, अयि परम हर्ष को प्रकट करनेवाले, हे महान् वृषभाधिरूढ सदाशिव! गङ्गा प्रवाह के समान अत्यन्त स्वच्छ और इस भीषण भवसागर को उल्लङ्घन करनेवाला प्रसादानुग्रह वितरण कीजिए। हे प्रभो! आपके प्रसन्नता से रमणीय दृष्टि प्रदान करने पर (आपकी सुदृष्टि होने पर) फिर इन आन्तरिक काम क्रोधादि शत्रु अथवा बाह्य शत्रुओं का प्रभाव कुछ भी नहीं हो सकता, क्योंकि सूर्य के प्रकाश वितरण कर देने पर फिर रात्रियों का कोई भी प्रभाव नहीं हो सकता।

समुचितसदसद्विचारचर्याचतुरतरः कतरः कलौ मदन्यः।
इह परमशिव भवं विजेतुं परमशिवं भवमेव सेवते यः॥ १२॥

अन्वय—कलौ समुचितसदसद्विचारचर्याचतुरतरः मदन्यः कतरः (अस्ति) यः इह परम् अशिवम् भवम् (संसारम्) विजेतुम् परमशिवम् भवम् एव सेवते।

अर्थ—इस कलि काल में सत् और असत् वस्तुओं के सम्यक् विचार करने में मेरे समान अत्यन्त चतुर दूसरा और कौन होगा जो कि इस परम अशिव (अर्थात् अत्यन्त अमङ्गल) भव (संसार) को विजय करने के लिए परमशिव (अर्थात् सच्चित आनन्दघनस्वरूप) भव—भगवान् शङ्कर की सेवा करता है? अर्थात् मैं महा चतुर हूँ जो परम अशिव भव प्रवाह को शान्त करने के लिए मैंने परम शिव-स्वरूप भव का समाश्रयण लिया है, क्योंकि—

शमयितुमलमग्निमग्निरिव
गलपपति हन्त हिमं हिमं विरुद्धम्।

जरयति च पयः पयः किमन्य-

द्धरति भवं भव एव भक्तिभाजाम् ॥१३॥

अन्वय—हन्त ! विवृद्धम् अग्निम् शमयितुम् अग्निः एव अलम् (भवति) विवृद्धम् हिमम् हिमम् (एव) रलपयति, पयः (अग्निना तप्तम् पय एव) पयः जरयति । अन्यत् किम् ? भक्तिभाजाम् भवम् (संसारम्) भव एव (शम्भुरेव) हरति ।

अर्थ—महान् अग्नि को शान्त करने के लिए अग्नि ही समर्थ हो सकता है, महान हिम को हिम ही शान्त करता है, तथा (अत्यन्त अधिक पिये) जल को (गरम) जल ही पचाता है, इसी प्रकार भक्तजनों के भव (संसार) को भव (भोलदा शिव) ही हर सकता है।

वरमजिनजटाभृतः कपालप्रणयिकरस्य नरस्य भैक्ष्यवृत्तिः ।
स्मरहरचरणारविन्दसेवाविरहवती न तु चक्रवर्तिमूर्तिः ॥१४॥

अन्वय—अजिनजटाभृतः कपालप्रणयिकरस्य नरस्य भैक्ष्यवृत्तिः वरम्, न तु स्मरहरचरणारविन्दसेवाविरहवती चक्रवर्तिमूर्तिः (वरम् भवति)।

अर्थ—मृगचर्म और जटाओं को धारण किये तथा हाथ में कपाल (खप्पर) धारण किये मनुष्य की वह भिक्षावृत्ति श्रेष्ठ है। परन्तु भगवान् शङ्कर की सेवा से विमुख चक्रवर्ती (सम्राट्) की मूर्ति श्रेष्ठ नहीं है।

मरुभुवि वरमुष्णरश्मिरश्मि-प्रकरकदर्थितमूर्तिरेकभेकः ।
न तु भवदनुरागभागधेयग्लपनविपद्विकलीकृतो मनुष्यः ॥१५॥

अन्वय—मरुभुवि उष्णरश्मिरश्मिप्रकरकदर्थितमूर्तिः एकभेकः वरम् (अस्ति) किन्तु हे विभो ! भवदनुरागभागधेयग्लपनविपद्विकलीकृतः मनुष्यः न वरम्।

अर्थ—मरुस्थल में सूर्य की (अति उष्ण) किरणों से सन्तप्त हुआ वह एक मेंढक श्रेष्ठ है, परन्तु हे भगवन् ! आपके अनुराग-रूप

अहो भाग्य की हीनता रूप विपत्ति से विकल (जड़ीभूत) हुआ मनुष्य श्रेष्ठ नहीं है।

कलिमलपटली मलीमसत्वं नयति मतिं हतदर्प दर्पणाभाम् ।
इति शितिगल शीतरश्मि-प्रसरसितं रसितं तवार्थयामः ॥१६॥

अन्वय—हे हतदर्प ! (इयम्) कलिमलपटली दर्पणाभाम् मतिम् मलीमसत्वम् नयति, इति (हेतोः) हे शितिकण्ठ ! शीतरश्मिरश्मिप्रसरसितम् तव रसितम् अर्थयामः।

अर्थ—अहङ्कार रूपी व्यसन का नाश करनेवाले हे सदाशिव ! यह कलि-मल-पटली (कलिकाल के पापों की राशि) दर्पण के समान स्वच्छ हमारी मति को मलिन करती है, इसलिए हे नीलकण्ठ ! हम इसे स्वच्छ करने के लिए चन्द्रमा की किरणों के सञ्चार से अति उज्ज्वल-आपके अभय शब्द को चाहते हैं।

नुतिमुखरमुखः प्रसादपात्रं भवति ममेति यदेष ते कृतान्तः ।
अपि कवलितसप्तलोकलोकः प्रभवति नैव तदेष मे कृतान्तः ॥१७॥

अन्वय—प्रभो ! नुतिमुखरमुखः (पुरुषः) मम प्रसादपात्रम् भवति, इति एषः (यदि) ते कृतान्तः (सिद्धान्तः अस्ति), तदा कवलितसप्तलोकलोकः अपि एषः कृतान्तः (यमः) मे न प्रभवति (माम् ग्रसितुं समर्थो न भवतीत्यर्थः)।

अर्थ—हे प्रभो ! स्तुति से वाचाल हुए मुखवाला पुरुष मेरी प्रसन्नता का पात्र होता है, अर्थात् स्तुति में तत्पर हुए पुरुष पर मैं अवश्य ही अनुग्रह करता हूँ, ऐसा यदि आपका कृतान्त—सिद्धान्त—(निश्चय) है, तब तो फिर सातों लोकों का ग्रास करनेवाला भी यह कृतान्त (काल) मुझे भयभीत करने को कदापि समर्थ नहीं हो सकता।

तव रविजपुरान्धकप्रमाथे दृशि विशिखे त्रिशिखे च यः कृतास्थः ।
परिचरणपरः पुराविरासीत् स जयति दैवतमुत्तमं कृशानुः ॥१८॥

अन्वय—हे प्रभो ! रविजपुरान्धकप्रमाथे (क्रमेण) दृशि, विशिखे, त्रिशिखे च, कृतास्थः (सन्) तव परिचरणपरः यः (कृशानुः) पुरा आविरासीत्, सः उत्तमम् दैवतम् कृशानुः जयति ।

अर्थ—हे प्रभो ! यमराज त्रिपुरासुर एवं अन्धकासुर के संहार करने के यथाक्रम से आपके (तृतीय) नेत्र मे, (विष्णुरूपी) बाण मे एवं त्रिशूल मे स्थित होकर जो (अग्नि) पहले आपकी सेवा में प्रकट हुआ था, वह उत्तम दैवत अग्निदेव सर्वोत्कृष्ट है। अर्थात् आपकी आठों मूर्तियों मे सबसे उत्तम है।

समजनि जनितस्पृहः स एकस्त्रिजगति चन्द्रकिरीट कृष्णसारः ।
उपकरणपदं जगाम कृत्तिस्तव चरणास्तरणक्रमेण यस्य ॥१९॥

अन्वय—अयि चन्द्रकिरीट ! (स्वद्भक्त्यासक्तजनस्य) जनितस्पृहः सः (एव) एकः कृष्णसार त्रिजगति समजनि, यस्य कृत्तिः तव चरणास्तरणक्रमेण उपकरणपदम् जगाम ।

अर्थ—अहा ! अयि चन्द्रमुकुट ! तीनों लोकों मे केवल एक वह कृष्णसार मृग ही अति स्पृहणीय उत्पन्न हुआ, जिसका चर्म आपके चरणारविन्दों के बैठने का आसन बनकर, इस क्रम से आपकी सुखशय्या का साधन बन गया है।

जनिरपि जयति विनीतरीतिर्जगति भुजङ्गमपुंगवस्य तस्य ।
मणिकटकमुदस्य यस्य शस्यं भव भवदङ्गदभङ्गिमेति भोगः ॥२०॥

अन्वय—हे भव ! जगति तस्य भुजङ्गमपुंगवस्य विनीतरीतिः जनिः अपि, जयति यस्य भोगः शस्यम् मणिकटकम् उदस्य भवदङ्गदभङ्गिम् एति ।

अर्थ—अयि समस्त ब्रह्माण्डों के आदिकारण, श्री सदाशिव ! उस सर्पराज का उत्तम सौभाग्यशाली जन्म भी तीनों लोकों में सर्वोत्कृष्ट है, जो कि आप रत्न के कङ्कण को छोड़कर उसके शरीर को अपनी भुजा में धारण करते हो।

अलभत भगवन्नवन्ध्यमेकस्त्रिभुवनसीमनि जन्म पुङ्गवेन्द्रः ।
तव भव शवभस्मरूषितोऽङ्घ्रिः शिरसि धृतो विनयानतेन येन ॥२१॥

अन्वय—हे भगवन् ! भव ! त्रिभुवनसीमनि (सः) एकः पुङ्गवेन्द्रः अवन्ध्यम् जन्म अलभत, विनयानतेन येन तव शवभस्मरूषितः अङ्घ्रिः शिरसि धृतः ।

अर्थ—हे भगवन् ! इस त्रैलोक्य-मार्ग में एक उस महावृषभ (नन्दी) का ही जन्म सफल हुआ, जिसने कि (विनय से) अत्यन्त नम्र होकर प्रेतों की भस्म से व्याप्त हुए आपके चरण को अपने मस्तक पर धारण किया है।

जनयति जगति स्पृहां न केषां जनिरपि कुञ्जरशेखरस्य तस्य ।
त्रिभुवनमहितस्य यस्य कृत्तिर्भव भवदम्बरडम्बरं बिभर्ति ॥२२॥

अन्वय—हे भव ! त्रिभुवनपूजितस्य तस्य कुञ्जरशेखरस्य जनिः अपि, जगति केषाम् (भक्तजनानाम्) स्पृहाम् न जनयति ? यस्य कृत्तिः भवदम्बरडम्बरम् बिभर्ति ।

अर्थ—अयि सदाशिव ! जिसका चर्म आपके वस्त्र का काम देता है, उस त्रैलोक्य-पूजित गजराज (हाथी) का जन्म भी संसार में किन भक्त लोगों को अभिलाषा नहीं उत्पन्न कराता ? अर्थात् सभी के मन में रुचि सम्पादन कर देता है।

स जयति जितकाल कालकूटः स्वजनिपवित्रितमुग्धदुग्धसिन्धुः ।
तव कवलभुवं जवादवाप्तः कलयति यःशितिकण्ठ कण्ठपीठम् ॥२३॥

अन्वय—हे जितकाल ! शितिकण्ठ ! स्वजनिपवित्रितमुग्धदुग्धसिन्धुः स कालकूट जयति, य तव कवलभुवम् जवात् अवाप्तः (सन्) कण्ठपीठम् कलयति ।

अर्थ—अयि काल को जीतनेवाले, हे नीलकण्ठ ! अपने जन्म से क्षीर-सागर को पवित्र कर देनेवाला वह कालकूट (हालाहल विष)

सर्वोत्कृष्ट (धन्य धन्य) है, जो कि वह शीघ्र आपकी प्राप्त पदवी को प्राप्त हुआ आपके कण्ठ-पीठ को विभूषित करता है।

परिणतशारदिन्दुसुन्दराभं वदनमनभ्रनभोनिभश्च कण्ठः ।
इति शुभमुभयं विभोरभिन्नत्रिदशधुनीयमुनाविडम्बि वन्दे॥२४॥

अन्वय—विभोः परिणतशारदिन्दुसुन्दराभम् वदनम्, अनभ्रनभोनिभः कण्ठः च, इति शुभम् उभयम् अभिन्न त्रिदशधुनीयमुनाविडम्बि वन्दे।

अर्थ—अहा, शरत्काल के पूर्ण चन्द्रमा के समान अत्यन्त सुन्दर स्वच्छ मुख और मेघरहित आकाश के समान नीलकण्ठ, इन दोनों—आपस में मिले हुए गङ्गा और यमुना का अनुकरण करनेवाले—प्रभु के मङ्गलमय अङ्गों को मैं प्रणाम करता हूँ।

हिमहिमकरहारि वारि गाङ्गं कुवलयकान्तिकलिन्दकन्यकाम्भः ।
इति शुभमुभयं प्रभुप्रसादाद्वपुरिव हारिहरं वर प्रपद्ये ॥ २५॥

अन्वय—हिमहिमकरहारि गाङ्गम् वारि, कुवलयकान्तिकलिन्दकन्यकाम्भः (च) इति शुभम् उभयम् वरम्, प्रभुप्रसादात् हारिहरम् वपुः इव (कदा) प्रपद्ये।

अर्थ—अहा! हिम और हिमकर (चन्द्रमा) के समान स्वच्छ गङ्गाजल, एवं नीलकमल की कान्ति के समान यमुना-जल इन दोनों मङ्गलदायी वस्तुओं की शरण को प्रभु के अनुग्रह से मैं प्रभु की हरिहर-रूप मूर्ति के समान, कब प्राप्त करूँगा ?

धृतकुटिलकलः किलान्धकारी रुचितमलीमसभोगिभोगयोगः ।
त्वयि सपदि पराङ्मुखे यथाऽहं त्वमिव महाकलिकालभग्नशक्तिः२६
कवलितविषमक्रमं दधानः सततसमाश्रिततारकारिरूपम् ।
द्विजपतिमुकुटस्तथैव जातु त्वमिव शिव त्वयि सम्मुखे भवेयम् ॥२७॥

(युग्मम्)

अन्वय—हे शिव! सपदि (इदानीम्) त्वयि पराङ्मुखे (सति) यथा अहम् त्वम् इव, धृतकुटिलकलः, अन्धकारी रुचितमलीमसभोगिभोगयोगः महाकलि-

कालभग्नशक्तिः (अस्मि), तथैव त्वयि सम्मुखे सति, त्वम् इव, कवलितविषमक्लमम् सततसमाश्रिततारकारिरूपम् दधानः, द्विजपतिमुकुटः च आतु (कदा) भवेयम्।

अर्थ—अयि सदाशिव ! जैसे मैं इस समय आपके विमुख होने पर आपके ही समान[1] धृतकुटिलकल—अर्थात् तुच्छ शिल्प-कलाओं को धारण करनेवाला, अन्धकारी (अज्ञानरूप अन्धकार से युक्त), अत्यन्त मलिन भागी (विषयी) लोगों के भोगों, विषयों) से प्रेम रखनेवाला एवं महाकलिकालभग्नशक्ति—महान् कलह करनेवाले कलिकाल के द्वारा नष्टशक्ति हूँ; वैसे ही आपके सम्मुख (प्रसन्न) हो जाने पर भी ठीक आप ही के समान[2] कवलितविषमक्लम (अर्थात् अति-विषम क्लेश से रहित) सतत-समाश्रित-तार-कारि, अर्थात् सदा अपने शरणागतों को विपत्ति से पार करनेवाला स्वरूप धारण करने-वाला, और द्विजपति-मुकुट (ब्राह्मणों में श्रेष्ठ) कब होऊँगा ?

जय जयद वचो विमुञ्च मुञ्चन्मधु मधुरं जनरञ्जनप्रगल्भम्।
हर हर दुरितं ममाद्य माद्यद्भव भीमदभीमदर्शनस्त्वम्॥२८॥

अन्वय—हे जयद ! त्वम् मधुरम् जनरञ्जनप्रगल्भम् मधु मुञ्चत् वचः विमुञ्च, हे हर ! अद्य माद्यत् मम दुरितं हर, हे भव ! भीमदभीम-दर्शनः भव।

अर्थ—अयि भक्तों को विजय प्रदान करनेवाले सदाशिव ! आप अतिमधुर, भक्तजनों का मनोरञ्जन करने में समर्थ एवं अमृतरस को

---

(१) भगवान् शिव भी धृतकुटिलकल (चन्द्रकलाधारी), अन्धकारी (अन्धकासुर के अरि), मलिन—कृष्ण वर्णवाले भोगियों (सर्पगणों) के भोगों (फणों) से प्रेम रखनेवाले और महा कलहकारी काल की शक्ति को क्षीण करनेवाले हैं।

(२) आप भी कवलितविष—विष भक्षण करनेवाले, अक्लम (क्लेशों के सम्पर्क से रहित), सतत समाश्रिततारकारि—चन्द्रदेव को नित्य मस्तक पर धारण करनेवाले हैं।

टपकानेवाला अपना अभय वचन दीजिए। हे भवसागर के दुःख को हरनेवाले प्रभो ! अब आप अत्यन्त प्रसन्न होते हुए मेरे सम्पूर्ण पाप को हर लीजिए ! हे भव ! इस संसार से भयभीत लोगों पर अति-प्रसन्न-दृष्टि हो जाइए।

निजदुरितविजृम्भितं ममैतत्त्रिजगदनुग्रहनित्यदीक्षितस्त्वम् ।
क्वचिदपि भगवन्नदृष्टपूर्वं प्रथयसि यन्मयि विह्वलेऽवलेपम् ॥२९॥

अन्वय—हे भगवन् ! त्रिजगदनुग्रहनित्यदीक्षितः त्वम् क्वचित् अपि अदृष्टपूर्वम् अवलेपम् (शरणागताऽवगणनाम्) यत् मयि विह्वले प्रथयसि, तत् एतत् मम (एव) निजदुरितविजृम्भितम् (अस्ति)।

अर्थ—हे भगवन् ! सदा तीनों लोकों पर अनुग्रह करने में दीक्षित हुए भी आप, कदापि अभूत-पूर्व (पहले कभी भी न किये) अपमान (शरणागत का तिरस्कार) को जो आज (पहले पहल) केवल मुझ दीन विह्वल पर ही सार्थक करते हो, सो यह सब मेरे ही पापों का फल है।

प्रणमति विधुरे पुरोऽवलग्ने दधति मयि प्रसभं गदाभियोगम् ।
किमिति परिजने दयामृतार्द्रां दृशमपकारवतीव नो दधासि ॥३०॥

अन्वय—अयि प्रभो ! प्रणमति विधुरे पुरः अवलग्ने प्रसभम् गदा-ऽभियोगम् दधति प्रणमति मयि परिजने, अपकारवति इव, दयामृतार्द्रां दृशम् किमिति नो ददासि ?

अर्थ—हे प्रभो ! अत्यन्त दीन, अपने सामने ही स्थित, रोगों से ग्रस्त और अतीव विनीत मुझ सेवक पर, (अपना) अपकार करनेवाले शत्रु पर जैसा, दयारूपी अमृत से आर्द्र दृष्टि (कृपादृष्टि) को क्यों नहीं समर्पित करते ?

स्फुटविकटविकस्वरप्रदीप्तज्वलनप्रहीनमहीन्द्रहार चक्षुः ।
चलवदलवदर्पकालकामक्षयकरमाकरमाशु मुञ्च सिद्धेः ॥३१॥

अन्वय—हे अहीन्द्रहार ! (दीनजन प्रति) स्फुटविकटविकस्वरप्रदीप्त-ज्वलनम् वलवदलवदर्पकाल-कामक्षयक्रम् सिद्धेः आकरम् अहीनम् चक्षुः मुञ्च ।

अर्थ—अयि नागेन्द्रहार ! मुझ दीन के प्रति अपने अतीव उज्ज्वल और विशाल अग्नि से प्रदीप्त, बलवान् और महान अहङ्कारी यमराज तथा कामदेव का नाश करनेवाली एवं अणिमा आदि अष्ट-सिद्धियों से परिपूर्ण दृष्टि (तृतीय नेत्र) कीजिए ।

हिमकरमकरध्वजौ न रूपं कविधिषणौ धिषणोचितीं न तीव्राम् ।
रणमरुणमरुत्सखौ जिगीषोरनुहरतो हरतोषिणो न तेजः ॥३२॥

अन्वय—जिगीषोः हरतोषिणः रूपम् हिमकरमकरध्वजौ (अपि) न अनुहरतः (तस्य) तीव्राम् धिषणोचितीम् कविधिषणौ (अपि) न अनुहरतः तथा अरुणमरुत्सखौ (अपि शिवभक्तस्य) रणम् तेजः च न अनुहरतः ।

अर्थ—शंकर को प्रसन्न करनेवाले सर्वत्र विजयशील शिव-भक्त के रूप का अनुकरण चन्द्रमा और कामदेव (भी) नहीं कर सकते, उसकी तीव्र बुद्धि की समता कवि (शुक्राचार्य) और बृहस्पति भी नहीं कर सकते एवं सूर्य और अग्नि भी उसके संग्राम और तेज को नहीं हर सकते, अर्थात् भगवान् शिव के भक्त की तुलना कोई भी नहीं कर सकता !

रविकरविकसत्सिताब्जशुभ्रप्रसृमरचामरचारुहासिनी श्रीः ।
भव न भवनमुज्झति क्षणं यत्सुकृतवतां तव तां प्रणौमि शक्तिम्[1]॥३[illegible]

अन्वय—हे भव ! रविकरविकसत्सिताब्जशुभ्रप्रसृमरचामरचारुहासिन[illegible] श्रीः, यत् सुकृतवताम् भवनम् क्षणम् (अपि) न उज्झति, तत् तव ताम् शक्ति[illegible] प्रणौमि ।

अर्थ—अयि सदाशिव ! सूर्य की किरणों से विकसित श्वे[illegible] कमल के समान स्वच्छ (शुभ्र) चामर रूपी हास्य से युक्त लक्ष्[illegible]

---

(१) भक्तिम्, पाठ भी अच्छा है ।

जिसके प्रभाव से पुण्यवानों के भवन को एक क्षण भर भी नहीं छोड़ती, उस आपकी (अपार ऐश्वर्यरूपी) अनन्त शक्ति (भक्ति) को मैं बार-म्बार प्रणाम करता हूँ।

पदभयद भवत्यवस्थितेऽन्तः समहिम नो हि मनो विशोकमासीत् ।
विशदविशदकर्मकर्दमे तत्सपदि विषादि विपाद केन जातम् ॥३४॥

अन्वय—हे अभयद ! हे विषाद ! हि, भवति अन्तः अवस्थिते (सति) समहिम नः मनः यत् विशोकम् आसीत्, तत् (एव एतत् नो मनः) सपदि अविशदकर्मकर्दमे विशत् (सत्) विषादि केन जातम् (न जाने)।

अर्थ—हे अभयदान देनेवाले ! हे विष ग्रहण करनेवाले भगवन् ! जो हमारा मन आपसे अधिष्ठित होने पर महत्त्व-युक्त और शोक-रहित होता था, वही मन अब इस समय अति कलुषित कर्म (पाप) रूपी कीचड़ में गिरता हुआ अत्यन्त दुखी न मालूम कैसे हो गया है ?

नयविनयविशुद्धमन्तरुद्यद्दहनसमानसमाप्तरोषदोषम् ।
यमनियमनियन्त्रितं मनो मे कुरु सविलासविलासिनीविरक्तम् ॥३५॥

अन्वय—हे विभो ! मे मनः नयविनयविशुद्धं अन्तः उद्यद्दहनसमान-समाप्तरोषदोषम् यमनियमनियन्त्रितम् सविलासविलासिनीविरक्तम् कुरु ।

अर्थ—हे प्रभो ! मेरे (इस) मन को नीति (कार्याऽकार्य-विचार) और विनय (ज्ञान और वयोवृद्ध लोगों में नम्रता) से निर्मल, अन्तःकरण में अग्नि-ज्वाला के समान उदय होनेवाले क्रोध और दोषों से रहित, यम[1] और नियम[2] से नियन्त्रित (मर्यादित) एवं विलासवती स्त्री से अत्यन्त विरक्त बना दीजिए।

---

(१) 'आनृशंस्यं क्षमा सत्यमहिंसा च दया स्पृहा ।
ध्यानं प्रसादो माधुर्यमार्जवं च यमा दश ॥'

(२) 'शौचमिज्या तपो दानं स्वाध्यायोपस्थनिग्रहौ ।
व्रतोपवासौ मौनं च स्नानं च नियमा दश ॥'

अवसर-सरसालसालघुघ्नमधुर-वधूरवधूतचित्तचिन्तः ।
स सकलकलधौतधौतमूर्तिस्तव नतिमानतिमात्रचित्रचित्रः ॥३६॥

अन्वय—हे विभो ! अतिमात्रचित्रचित् यः (जनः) तव नतिमान् (भवति) सः अवसरसरसालसाऽलघुघ्नमधुरवधूरवधूत-चित्तचिन्तः सकल-कलधौतधौतमूर्तिः (भवति) ।

अर्थ—हे भगवन् ! जो अत्यन्त विस्मयकारक ज्ञान से सम्पन्न पुरुष आपकी स्तुति किया करता है, वह पुरुष उचित समय पर उत्तम उत्तम युवतियों के सरस, अलस, अति सुमधुर शब्दों द्वारा मनोव्यथा से रहित और सुन्दर सुवर्ण के समान गौर आकृतिवाला हो जाता है ।

मलमलमलघुं विहन्तुमाप्तुं मुदमुदयं समयं समर्थ्य चान्तः ।
महमहमहहेश्वरप्रशंसामयमयमाश्रयमाश्रयं सुखानाम्[1] ॥ ३७ ॥

अन्वय—अहह ! अन्तः (स्वमनसि) उदयम् समयम् समर्थ्य, अलघुम् मलम् अलम् विहन्तुम्, मुदम् आप्तुम्, सुखानाम् आश्रयम् ईश्वरप्रशंसा-मयम् महम् अयम् अहम् आश्रयम् (श्रितोऽस्मि) ।

अर्थ—आहा ! अब मैंने मन में, अपने भाग्योदय का समय आया समझकर, महान् पापरूपी मल को नष्ट करने और परम आनन्द-स्वरूप कल्याण को प्राप्त करने के लिए, सम्पूर्ण सुखों के आश्रय प्रभु-प्रशंसामय (शिवप्रशंसारूपी) महोत्सव की शरण ले ली है ।

गुणिभिर्विबुधैर्हरीन्द्रमुख्यैर्भव संसाररिपोर्द्विपः स्तुतस्य ।
हितमातनुते तव प्रसादादसुहृत्प्राणहरोऽपि पुण्यभाजाम् ॥३८॥

अन्वय—हे भव ! गुणिभिः हरीन्द्रमुख्यैः विबुधैः स्तुतस्य, संसाररिपोः द्विपः तव प्रसादात् प्राणहरः अपि असुहृत् (शत्रुः) पुण्यभाजाम् हितम् आतनुते ।

---

(१) गुणानाम् इत्यपि पाठः ।

अर्थ—हे प्रभो ! पाण्डित्य, दया, दाक्षिण्यादि गुणवाले सहृदय जन तथा हरि और इन्द्रादि देवों से वन्दनीय एवं संसाररूपी शत्रु को निवारण करनेवाले आपके प्रसादानुग्रह से प्राणहर (प्राणों को हरनेवाला) शत्रु भी पुण्यात्माजनों के लिए हितैषी (हितकारक) हो जाता है।

अपि नाथ जनार्दनस्य विष्णोरपि वैकुण्ठ इति प्रसिद्धिभाजः।
अधिकंसरुषोऽपि चेद्भवतो झगिति प्रागभवत्सुदर्शनाप्तिः ॥३९॥
अपि सर्वजनाऽविरुद्धबुद्धेरपि तीक्ष्णस्य परं जितक्रुधोऽपि।
न कथं मम साधुनाऽपि यद्वा जगदीशोऽसि विभुः किमुच्यते ते॥४०॥

(युग्मम्)

अन्वय—हे नाथ ! जनार्दनस्य अपि, वैकुण्ठ इति प्रसिद्धिभाजः अपि, अधिकंसरुषः अपि, विष्णोः सुदर्शनाप्तिः भवतः (सकाशात्) प्राक् झगिति अभवत्। तर्हि—सर्वजनाविरुद्धबुद्धेः अपि, तथा—तीक्ष्णस्य (कुण्ठाभिन्नस्य) अपि, जितक्रुधः अपि मम, अधुना अपि वा सुदर्शनाप्तिः कथम् न भवति ! यद्वा त्वं जगदीशः विभुः असि, मया ते किम् उच्यते !

अर्थ—हे नाथ ! जनार्दन—लोगों को पीड़ित करनेवाले भी—(धर्मनाशक खलों का नाश करनेवाले) वैकुण्ठ—वै कुण्ठ = निश्चय करके कुण्ठित गतिवाले प्रसिद्ध भी—(वैकुण्ठ नाम से प्रसिद्ध) और 'अधिकंसरुषः'—अत्यधिक क्रोधी को—(दुष्ट कंस पर क्रोध करनेवाले) भगवान् विष्णु को पहले आपने शीघ्र ही सुदर्शन चक्र प्रदान किया था, तो फिर हे नाथ ! समस्त जनों से अविरोधी (अर्थात् किसी को भी पीड़ा नहीं देनेवाले) भी कुण्ठ से भिन्न अर्थात् तीक्ष्णबुद्धि—अकुण्ठित गतिवाले और क्रोध भाव से रहित भी मुझ अनाथ को अभी तक आपके सुदर्शन (सुन्दर दर्शन) की प्राप्ति क्यों नहीं होती ? अथवा हाँ, आप सारे जगत् के ईश्वर और सर्व-स्वतन्त्र हैं। अतः मैं आपसे क्या कह सकता हूँ ?

अन्वय—नेत्रकरशेखरस्थया येन (चान्द्रतेजसा) ईश्वरः (भक्तजनस्य) अन्तः सन्तम् असम् (अज्ञानाख्यम्) हन्ति । हारि, दवथुहारि तद् ऐन्दवम् धाम वः अनघम् कामदम् अस्तु ।

अर्थ—बाँयें नेत्र, (बाँयें) हाथ और मुकुट में देदीप्यमान जिस चन्द्र-तेज से भगवान सदाशिव (अपने) भक्त लोगों के अन्तःकरण के अज्ञान को दूर करते हैं, वह सम्पूर्ण सन्तापों को हरनेवाली, अतिमनोहर चन्द्र-कान्ति आप लोगों की सम्पूर्ण कामनाओं को पूर्ण करे।

भक्तिनिर्भरगभीरभारतीवैभवो भव भवन्नवेषु यः ।
शुष्कशष्पमिव तस्य भासते वासवासनपरिग्रहग्रहः ॥ २ ॥

अन्वय—हे भव ! यः (पुरुषः) भवन्नवेषु भक्तिनिर्भरगभीरभारतीवैभवः (भवति) तस्य (धन्यस्य) वासवा-सनपरिग्रहग्रहः शुष्कशष्पम् इव भासते ।

अर्थ—हे भगवन् ! जो (कोई पुरुष) भक्ति से परिपूर्ण अति गम्भीर वाणियों द्वारा आपकी स्तुति किया करता है, उस धन्यात्मा को इन्द्रासन (स्वर्ग के राज्य) ग्रहण की अभिलाषा शुष्क पर्ण (सूखी पत्ती) के समान अर्थात् अत्यन्त ही तुच्छ मालूम पड़ती है।

उल्लसत्पुलकलाञ्छितं वपुर्बाष्पपूरितपुटे विलोचने ।
गद्गदा हरहरेति भारती संभवन्ति भवभक्तिशालिनाम् ॥ ३ ॥

अन्वय—भवभक्तिशालिनाम् उल्लसत्पुलकलाञ्छितम् वपुः, बाष्पपूरितपुटे विलोचने, हरहरेति गद्गदा भारती सम्भवन्ति ।

अर्थ—भगवान् श्रीशङ्कर के भक्तों का शरीर (अत्यन्त हर्ष से उत्पन्न हुए) रोमाञ्च से पुलकित हो जाता है, नेत्रपुट हर्षाश्रुओं से परिपूर्ण हो जाते हैं और हर, हर ! महादेव इत्यादि प्रकार की वाणी अत्यन्त गद्गद हो जाती है।

नीलकण्ठ तरुणेन्दुशेखर त्र्यम्बक त्रिनयनेति भक्तितः ।
गद्गदं निगदतस्तृणोपमं हेमपूर्णमखिलं महीतलम् ॥ ४ ॥

अन्वय—हे नीलकण्ठ ! हे तरुणेन्दुशेखर ! हे त्र्यम्बक ! हे त्रिनयन ! (मां पाहि) इति भक्तितः गद्गदम् निगदतः (कस्यापि धन्यस्य) *हेमपूर्णम् अपि अखिलम् महीतलम् तृणोपमम् (भवति)।*

अर्थ—हे नीलकण्ठ ! हे तरुणेन्दुशेखर ! हे त्र्यम्बक ! (तीनों लोकों के पिता[1]) हे त्रिनयन ! मेरी रक्षा कीजिए। इस प्रकार भक्ति से गद्गद होकर प्रार्थना करनेवाले (महा भाग्यशाली पुरुषों) के लिए (तमाम) सुवर्ण से भरा हुआ भी यह भूमण्डल (सूखे) तृण के समान (अत्यन्त तुच्छ) हो जाता है।

अन्तकभ्रुकुटिभीतिविह्वलश्वेतसान्त्वनविधौ बभूव यत्।
मां प्रति प्रतिपदं कदर्थितं तत्क संप्रति कृपामृतं तव ॥ ५ ॥

अन्वय—हे विभो ! *अन्तकभ्रुकुटिभीतिविह्वलश्वेतसान्त्वनविधौ यत्* (तव कृपामृतम्) बभूव, तत् तव कृपामृतम् (करुणामृतवाक्यम्) *प्रतिपदम् कदर्थितम् माम् प्रति, सम्प्रति क्व (गतम्) ?*

अर्थ—हे भगवन् ! भीषण यमराज के भय से विह्वल हुए राजा श्वेत को समाश्वासन देने के लिए जो (आपका वचनामृत) प्रकट हुआ था, वह आपका करुणामृत वचन, अत्यन्त विह्वलित मुझ दीन के प्रति अब कहाँ चला गया है ?

वह्निशीतकरघर्मरश्मयो लोचनत्रितयवर्तिनस्तव।
शीततापतिमिरार्दितस्य मे नाथ चित्रलिखिता इव स्थिताः ॥६॥

अन्वय—हे नाथ ! तव लोचनत्रितयवर्तिनः वह्निशीतकरघर्मरश्मयः, शीततापतिमिरार्दितस्य मे चित्रलिखिताः इव स्थिताः।

अर्थ—हे नाथ ! आपके लोचनत्रय में रहनेवाले अग्नि, चन्द्रमा और सूर्य ये तीनों मुझ शीत (जरा-मरण-भयरूपी महान् वायु), ताप (आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक रूपी तीनों सन्तापों)

---

(१) त्रयाणां लोकानाम् अम्बकः पिता, अतएव—"द्यौर्भूमिरापस्तिस्रोऽम्बा अस्य" इति महाभारते।

एवं (अज्ञानरूपी) अन्धकार से पीड़ित हुए अनाथ के (इन दुःखों को हरने के) लिए चित्र-लिखित (चेष्टा रहित) जैसे (स्थित) हो गये हैं।

सम्भ्रमभ्रमदमन्दमन्दर-क्षीरनीरधिगभीरया गिरा ।
त्रातुमर्हसि कृतान्तकिङ्करैरमिशर्मभिरभिद्रुतं द्रुतम् ॥ ७ ॥

अन्वय—अशर्मभिः कृतान्तकिङ्करैः अभिद्रुतम् माम् सम्भ्रमभ्रमदमन्द-मन्दरक्षीरनीरधिगभीरया गिरा द्रुतम् त्रातुम् अर्हसि ।

अर्थ—हे नाथ ! अत्यन्त अमङ्गलकारी यमदूतों से घिरे मुझ अनाथ को, बड़े वेग से घूमते महान् मन्दराचल के निनाद से मिश्रित क्षीर-सागर के समान गम्भीर वाणी द्वारा शीघ्र बचा लीजिए।

कालकिङ्करकरान्तरस्फुरद्भोगभोगिपरिणद्धकन्धरम् ।
अन्तरेण भवदीयहुंकृतिं नाथ मोचयितुमुत्सहेत कः ॥ ८ ॥

अन्वय—हे नाथ ! कालकिङ्करकरान्तरस्फुरद्भोगभोगिपरिणद्धकन्धरम् (पुरुषम्) मोचयितुम् (केवलम्) भवदीयहुङ्कृतिम् अन्तरेण कः उत्सहेत ? (न कोऽपीत्यर्थ)।

अर्थ—हे नाथ ! यमदूतों के हाथों में चमकते नाग पाश से जिसका गला बँधा है, ऐसे (महासङ्कट में पड़े हुए) पुरुष को बचाने के लिए केवल एक आपके हुंकार को छोड़ दूसरा कौन समर्थ हो सकता है ? अर्थात् कोई भी नहीं।*

उत्कटभ्रुकुटिभीमदर्शनद्वाःस्थहुङ्कृतिखलीकृतात्मभिः ।
द्वारि यः क्षितिभुजां पराभवः सह्यते द्रविणलेशतृष्णया ॥ ९ ॥

---

* इसी अभिप्राय से किसी भावुक ने कहा है :—

देवाः सन्तु सहस्रशः कमलभूकंसारिमुख्याः पुरो
विश्वाभीप्सितदानकल्पतरवो भक्त्यन्वितानां नृणाम् ।
क्रोधाग्रान्तललाटलक्ष्मविषमभ्रूभङ्गसंतर्जन-
त्रस्तानां परिपालनैकनिरतो मृत्युञ्जयान्नाऽपरः ॥

स त्वदायतनदेहलीतले पुष्पपात्रकरपत्रिकाकरम् ।
कंचिदेव भवदर्चनोत्सुकं चन्द्रशेखर करोति कातरम् ॥ १० ॥

(युग्मम्)

अन्वय—हे चन्द्रशेखर ! उत्कटभ्रुकुटिभीमदर्शनद्वा स्थहुङ्कृतिजडीकृतात्मभिः (जनैः) क्षितिभुजाम् द्वारि द्रविणलेशतृष्णया यः पराभवः सह्यते, स (पराभवः) त्वदायतनदेहलीतले भवदर्चनोत्सुकम् कंचिदेव पुष्पपात्रकरपत्रिकाकरम् कातरम् करोति ।

अर्थ—अयि सदाशिव ! अति-विकराल भ्रुकुटियों से भयानक बने द्वारपालों के हुङ्कारों से जडीभूत हुए लुब्ध पुरुष क्षुद्र धनिकों के दरवाजों पर धनलेश की तृष्णा के कारण, जिस तिरस्कार (अपमान) को सहन करते हैं, वह (अपमान) आपके मन्दिर के दरवाजे पर आपके पूजन के लिए उत्सुक हुए, हाथ में पुष्प पात्र और करपत्रिका (जल-कलश) को धारण किये धन्यात्मा पुरुष को आपके दर्शनों के लिए सुअवसर प्रदान कर देता है ।

अन्तरेण भवदंघ्रिसेवनं देव केवलमियं विडम्बना ।
यन्नृणां कमलिनीदलस्खलन्नीरशीकरचला विभूतयः ॥ ११ ॥

अन्वय—हे देव ! नृणाम् यत् कमलिनीदलस्खलन्नीरशीकरचलाः विभूतयः (भवन्ति), सा इयम् भवदंघ्रिसेवनम् अन्तरेण केवलम् विडम्बना (एव) ।

अर्थात्—भक्त लोगों को मनोऽभिलषित सम्पूर्ण वरदान देनेवाले ब्रह्मा, विष्णु आदि अनेक देवगण हैं । किन्तु क्रोध से आक्रान्त हुए भयङ्कर यमराज के उग्र ललाट और टेढ़ी भ्रुकुटियों से अत्यन्त भयभीत हुए लोगों की रक्षा करनेवाला एक भगवान् मृत्युञ्जय (सदाशिव) के सिवाय दूसरा और कोई भी नहीं है !

अर्थ—अयि परमेश्वर ! कमलपत्र में हिलते हुए जलकण के समान चलायमान यह जो लोगों की (क्षणभंगुर) सम्पत्तियाँ हैं, यह सब आपके चरणकमलों की सेवा की विना केवल एक विडम्बना (मात्र) ही हैं !

यत्तु निर्जरतरङ्गिणीतटे सौहृदं हरिणबालकैः समम् ।
भूभृतां च तृणवद्विलोकनं श्रीरियं भव भवत्प्रसादतः ॥ १२ ॥

अन्वय—यत् तु निर्जरतरङ्गिणीतटे हरिणबालकैः समम् सौहृदम् भूभृताम् च तृणवत् विलोकनम्, इयम् (अद्भुता) श्रीः हे भव ! भवत्प्रसादतः (भवति) ।

अर्थ—और जो श्री गङ्गाजी के पावन तट पर हरिणबालकों के साथ मित्रता और राजाओं को शुष्क तृण के समान देखना, यह अति अद्भुत सम्पत्ति अहोभाग्य विरक्तों को हे प्रभो ! आपही के प्रसाद से प्राप्त होती है ।

त्वामुपेत्य शरणं महेश्वरं देव निःशरण एव चेदहम् ।
दोष एष मम जाह्नवीजले तर्पुलो हि शफरः स्वदुष्कृतैः ॥ १३ ॥

अन्वय—हे देव ! त्वाम् महेश्वरम् शरणम् उपेत्य, चेत् अहम् निःशरण एव (विमुखो व्रजामि), स एष दोषः मम (एवास्ति) हि जाह्नवीजले शफरः स्वदुष्कृतैः (एव) तर्पुलः (भवति) ।

अर्थ—हे ईश्वर ! आप त्रिलोकीनाथ की शरण में आकर यदि मैं निःशरण ही (निराश होकर ही) चला जाऊँ, तो यह दोष मुझ अभागे का ही है, क्योंकि पतित पावनी जाह्नवी के जल में (रहकर) भी मत्स्य यदि प्यासा ही रह जाय, तो यह दोष उसके ही पापों का फल है ।

गद्गदोद्गतगिरश्चिरस्थिरप्रेमहेमनिकषोपलोपमम् ।
शंसतः शिव शिवेति शाम्भवं नाम कामपि दशां प्रशास्ति मे ॥ १४ ॥

विपत्तिसागर में पड़े, सम्पूर्ण शोकों के घर, अज्ञान से अन्ध बने, काम-क्रोधादि शत्रुओं से मारे, निरर्थक जन्म व्यतीत करनेवाले और पापों के प्रवाह में डूबे मुझ अनाथ को भव-सागर से पार कीजिए।

यं स्वयं स्वरसभैरवैं रवैरक्षर क्षपितराक्षसेक्षसे ।
मारमार भुवि भासते स ते भानु-भानु-भर-भासुरः सुरः ॥ १७ ॥

अन्वय—स्वरसभैरवैः रवैः क्षपितराक्षस ! हे अक्षर ! हे मारमार ! (त्वम्) यम् स्वयम् ईक्षसे, सः ते सुरः भानुभानुभरभासुरः भुवि भासते ।

अर्थ—अति भयङ्कर शब्दों से दुष्ट राक्षसों का क्षय करनेवाले, हे अक्षर अविनाशी देव ! काम के मारनेवाले हे सदाशिव ! आप स्वयं करुणादृष्टि से जिस पुरुष को देख लेते हो, वह देवता सूर्य किरणों के समान प्रदीप्त होकर इस धरा-मण्डल में परम शोभा को पाता है, अर्थात् जिस मनुष्य पर आपकी कृपा-दृष्टि हो जाती है, वह कोई मनुष्य नहीं ! किन्तु मनुष्यरूप में देवता है।

बाणबाणकृतपूजनैर्जनैरादरादघटि यैस्तव स्तवः ।
वास्तवास्तव त एव तावता वन्दिवन्दितयशोगणा गणाः ॥ १८ ॥

अन्वय—हे विभो ! बाणबाणकृतपूजनैः यैः जनैः आदरात् तव स्तवः अघटि, तावता एव ते वास्तवाः वन्दिवन्दित-यशोगणाः गणाः (तवाऽनुचराः, भवन्ति)।

अर्थ—हे भगवन् ! बाण-पुष्पों से बाण (जागेश्वर-प्रतिमा नामक सूक्ष्मलिङ्ग) का पूजन करनेवाले जो लोग आदरपूर्वक आपकी स्तुति किया करते हैं, बस उतने (पूजन) मात्र से वे लोग वन्दियों द्वारा वन्दित-यशोगण (जिनके यश का गायन किया जाता है ऐसे) होते हुए आपके गण (अनुचर) बन जाते हैं।

त्वां सतामरसवासवाऽऽसवाः ज्ञातदुर्गमपागमाऽऽगमाः ।
अर्चयन्ति सदिनं दिनदिनं गीर्भिरम्बरसदःसदः सदः ॥ १९ ॥

समेतः]

अन्वय—हे प्रभो ! सतामरसवासवाऽऽसवा. शातदुर्गमगमागमाऽऽ-गमा. अम्बरसद सदः सदः त्वाम् सदिनम् दिनदिनम् गीर्भि अर्चयन्ति ।

अर्थ—हे प्रभो ! वासव (इन्द्र) के पान करने योग्य कमलो सहित आसव (दिव्य ओषधि क रस) का पान करनेवाले और अत्यन्त दुर्गम (दुर्विज्ञेय) समस्त वेद-शास्त्रो के गूढ़ तत्त्व (गूढ़ रहस्य) को जाननेवाले देव सभा के सदस्य लोग अर्थात् (देवता लोग) प्रतिदिन अपनी वाणियो के द्वारा आप परम प्रभु की पूजा किया करते हैं ।

न मे तथा प्रीतिमनेकपाली करोति नो वा दयिताऽङ्कपाली ।
यथोक्तिदेवी स विभुः कपाली ययाऽर्च्यते सेवकलोकपाली ॥२०॥

अन्वय—सेवकलोकपाली कपाली स विभु यया अर्च्यते, (सा) उक्ति-देवी यथा मे प्रीतिम् करोति, (सा) अनेकपाली, दयिताऽङ्कपाली वा तथा मे प्रीतिम् नो करोति ।

अर्थ—सेवक लोगो का पालन और हाथ मे कपाल को धारण करनेवाले प्रभु (भगवान् सदाशिव) की स्तुति करनेवाली वाणी मुझे जितनी प्रिय लगती है, उतनी प्रिय मुझे हाथियों की वह आली (घटा) और प्रियतमा की अङ्कपाली (आलिङ्गन) भी नहीं लगती ।

भवन्तमाराध्य परार्घ्यवैभवं भवं विधाय द्विषतां पराभवम् ।
भवं च जित्वा जहतः पुनर्भवं भवन्ति मुक्ताः पदमाप्य शाम्भवम् ॥२१॥

अन्वय—भक्ता. परार्घ्यवैभवम् भवन्तम् भवम् आराध्य, द्विषताम् परा-भवम् विधाय, भव न जित्वा, पुनर्भवं जहत , शाम्भवम् पदम् आप्य मुक्ता. भवन्ति ।

अर्थ—भक्त लोग आप महान ऐश्वर्यशालो भगवान् भव (शिव) की आराधना करके शत्रुओ (कामक्रोधादि) का पराभव (तिरस्कार) करके, भव (ससार) को जीतकर, अपने पुनर्भव (पुनर्जन्म) का त्याग करते हुए, शाम्भव पद (शिवलोक) को प्राप्त करके मुक्त हो जाते हैं !

न वंशवृत्तेर्गणयामि तानवं न बन्धुरं कञ्चन नौमि मानवम् ।
नवं तवानन्दितदेवदानवं न वञ्चितोऽहं रचयन्सदा नवम् ॥२२॥

अन्वय—हे भगवन् ! अहम् वंशवृत्तेः तानवम् न गणयामि, कञ्चन बन्धुरम् मानवम् न नौमि। आनन्दितदेवदानवम् नवम् नवम् रचयन् अहम् (विधिना) न वञ्चितः।

अर्थ—हे भगवन् ! मैं कुल-मर्यादा के तानव (अल्पता) को कुछ नहीं गिनता और किसी रमणीय (श्रेष्ठ) मानव (मनुष्य) की प्रशंसा भी नहीं करता; (क्योंकि) मैं देव और दानवों को आनन्द देनेवाली आपकी नवीन नवीन नव-रचना (स्तुति-रचना) किया करता हूँ, अतः महान् भाग्यशाली हूँ।

धनञ्जयाक्षं सकलार्थसाधनं धनञ्जयाराधितमाधिबाधनम् ।
धनं विदित्वा विपदां विशोधनं धनन्ति धन्या विभुमृद्धिवर्धनम् ॥२३॥

अन्वय—विपदाम् विशोधनम् धनम् (श्रीशिवस्तुतिरूपम्) विदित्वा, धन्याः धनञ्जयाक्षम् सकलार्थसाधनम्, धनञ्जयाराधितम् आधिबाधनम् ऋद्धि-वर्धनम् विभुम् धनन्ति (याचन्ते)।

अर्थ—सम्पूर्ण (सांसारिक) विपत्तियों को दूर करनेवाले (श्री शिव-स्तुति रूपी) धन को जानकर धन्यात्मा लोग, (तृतीय) नेत्र में अग्नि को धारण करनेवाले, सकल पुरुषार्थों के साधनभूत, और धन-ञ्जय (अर्थात अर्जुन) से आराधित, सम्पूर्ण पीडाओं का नाश करने-वाले एवं सकल सम्पत्तियों की वृद्धि करनेवाले प्रभु (भगवान् शिव) की प्रार्थना किया करते हैं।

कलापिनः प्रावृषि यद्वदम्बुदध्वनिर्घनानन्दविशङ्कलापिनः ।
कलापिनद्धस्फुटजूटधारिणस्तथाऽमृतं वर्षतु गीः कलापि नः ॥२४॥

अन्वय—यद्वत् प्रावृषि अम्बुदध्वनि घनानन्दविशङ्कलापिनः कला-पिनः (मयूरस्य) अमृतम् (वर्षति), तथा कलाऽपि (मधुरापि) कलापिनद्ध-स्फुटजूटधारिणः गीः, नः अमृतम् वर्षतु।

अर्थ—जैसे वर्षाकाल में मेघों की ध्वनि, गाढ़ आनन्द से निःशङ्क गाते हुए कलापी (मयूर) के लिए अमृत बरसाती है; वैसे ही चन्द्र-कला से बँधे हुए जटाजूट को धारण करनेवाले भगवान् शङ्कर की कला (मधुर) वाणी भी हमारे लिए अमृत की वर्षा करे।

नृजन्म तस्यैव भवानवद्यं भवानवद्यन्दवमीक्षते यम् ।
त्यजत्यजातोपरमा समानं रमाऽसमानन्दकरी न चैनम् ॥ २५ ॥

अन्वय—हे भव ! दवम् अवद्यन् भवान् यम् ईक्षते, तस्यैव नृजन्म अनवद्यम् (भवति) अजातोपरमा असमानन्दकरी रमा (मोक्षलक्ष्मीः) च समानम् एनम् न त्यजति ।

अर्थ—हे भगवन् ! सन्ताप को नाश करते हुए आप जिस (धन्यात्मा) पुरुष को अपनी प्रसाद-दृष्टि से देख लेते हो, उसी पुरुष का मनुष्य-जन्म निर्दोष (सार्थक) है, और अनुपम (अनिर्वचनीय) परमानन्ददायिनी अक्षय मोक्षलक्ष्मी भी उस पुरुष को कभी नहीं छोड़ती।

[अब कवि तीन श्लोकों द्वारा इस स्तोत्र का उपसंहार करते हुए कहते हैं—]

अतः परं जगति किमस्ति नीरसं
यदुक्तमप्यसकृदुदीर्यते वचः ।
सहस्रशश्चिरमपि चर्विता पुन-
र्नवंनवं स्रवति रसं शिवस्तुतिः ॥ २६ ॥

अन्वय—असकृत् (पुनः पुनः) उक्तम् अपि वचः यत् (केनापि) उदीर्यते, जगति अतः परम् नीरसम् किम् अस्ति ? (न किंचित्, किन्तु) सहस्रशः चिरम् अपि चर्विता शिवस्तुतिः पुनः नवम् नवम् रसम् स्रवति !

अर्थ—अहा ! बार-बार कही हुई बात को जो फिर-फिर कहना है, इससे अधिक नीरस वस्तु संसार में और क्या होगी ? कुछ भी नहीं, अर्थात् जिस बात को कई बार कह दिया हो, उसी बात को फिर

फिर कहना यह अत्यन्त ही नीरस (फीका) मालूम पड़ता है। किन्तु (बड़े ही आश्चर्य की बात है कि) सहस्रों बार चिरकाल तक आस्वादित (वर्णित) की हुई भी परमेश्वर की स्तुति (बार बार वर्णन करने पर भी) नित्य प्रति नवीन नवीन रस को टपकाती रहती है !

मृत्युं मृत्युञ्जय जय जगद्घस्मरं भस्मभावं
कामं कामं नय नयनजोद्दामधामच्छटाभिः।
भव्याभ व्याकुलकुलवधूरुत्कयेत्याचरन्तं
सत्रासत्राणचण चरितान्यद्भुतानि स्तुमस्त्वाम्॥२७॥

अन्वय—हे भव्याभ ! (मत्सेवक !) मृत्युञ्जय ! (त्वम् मदनुग्रहेण) जगद्घस्मरम् मृत्युम् जय, नयनजोद्दामधामच्छटाभिः कामम् (निश्चयेन) कामम् भस्मभावम् नय। व्याकुलकुलवधूः उत्कय, इति (अनेकप्रकारेण) अद्भुतानि चरितानि आचरन्तम् त्वाम् हे सत्रासत्राणचण ! मृत्युञ्जय ! (वयम्) स्तुमः।

अर्थ—अयि सौम्य ! मेरा सेवक ! वत्स ! मेरे अनुग्रह से तू विश्व-भक्षक मृत्यु (काल) को जीत ले, अपने नेत्रों से उत्पन्न हुए तीव्र तेज की छटाओं से कामदेव का निश्चय भस्म कर डाल ! और तुम्हारे दर्शन की अभिलाषा से अत्यन्त व्याकुल हुई कुल-वधुओं (कुलाङ्गनाओं) को परम उत्कण्ठित कर ! इत्यादि इत्यादि प्रकार से (अपने सेवक को पुचकार कर ऐसा २ आशीर्वाद देते हुए) अनेकों अद्भुत चरित्र करनेवाले, भयभीत लोगों की रक्षा करने में परायण हे मृत्युञ्जय ! हम आपकी स्तुति करते हैं।

यत्तत्सर्ग-निसर्गनिर्मितिकरं यद्द्रावणद्रावण-
व्यापाराऽवसरावसक्तमथ यत्संवर्तसंवर्तकम्।
स्वाभासं भवसंभवस्थितिलयस्फारोचितं रोचितं
भामा कारणकारणं दिशतु तद्वामेहितं मे हितम्॥२८॥

अन्वय—यत् (धाम, ब्रह्मरूपेण) तत्सर्गनिसर्गनिर्मितिकरम्, यत् (विष्णुरूपेण) रावणद्रावणव्यापाराविसरावसक्तम्, अथ यत् (रुद्ररूपेण) सवर्तप्रवर्तकम् (भवति), तत् स्वाभासम् भवसम्भवस्थितिलयप्रसरोचितम्, भासा रोचितम् कारणकारणम् धाम ईहितम् हितम् मे दिशतु।

अर्थ—जो (परमधाम) ब्रह्मारूप से स्वभावतः जगत् की सृष्टि का निर्माण करता है, विष्णु—रामरूप से रावण के नाश करने का व्यापार किया करता है, और रुद्ररूप से प्रलय का प्रवर्तक होता है, वह जगत् की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय के लिए अनेकों अवतार धारण करनेवाला, केवल स्वानुभव द्वारा जानने योग्य, और स्वप्रकाश से दीप्त एवं (ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, शिव और सदाशिव इन छः) कारणों का भी कारण, परम शिव नामक स्वयप्रकाश परमज्योति मुझे अभीष्ट वर प्रदान करे।

इति श्री प्रेममकरन्दनाम्न्या टीकयोपेते काश्मीरकमहाकविश्रीमज्जगद्धर-
भट्टविरचिते भगवतो महेश्वरस्य स्तुति-कुसुमाञ्जलौ
'हित' नाम चतुर्दशं स्तोत्रम्।

पञ्चदशं स्तोत्रम्

अब यहाँ से भगवान् की करुणा का आराधन करने के लिए कवि 'करुणाराधन' नामक पन्द्रहवें स्तोत्र का आरम्भ करते हैं—

अधुना तपसेव देवतामपि योगेन सरस्वतीमिव।
सुहृदेव समीहितां श्रियं प्रगुणेनेव गुणेन संसदम् ॥ १ ॥
प्रतिभामिव काव्यकर्मणा वसुना कीर्तिमिवार्थिगामिना।
मनसीव शमेन निर्वृतिं सुकृतेनेव परत्र सद्गतिम् ॥ २ ॥

करुणां हरिणाङ्कलक्ष्मणः सकलार्थार्पणकल्पवल्लरीम् ।
विपदन्तकरीमुपासितुं स्तुति-लेशेन मनः प्रवर्तते ॥ ३ ॥

(तिलकम्)

अन्वय—सकलार्थार्पणकल्पवल्लरीम् विपदन्तकरीम् देवताम्, तपसा उपासितुम् इव, अभियोगेन सरस्वतीम् उपासितुम् इव, सुहृदा समीहिताम् श्रियम् उपासितुम् इव, प्रगुणेन गुणेन सदसम् उपासितुम् इव, काव्यकर्मणा प्रतिभाम् उपासितुम् इव, अर्थिगामिना वसुना कीर्तिम् उपासितुम् इव, शमेन मनसि निर्वृतिम् उपासितुम् इव, सुकृतेन परत्र सद्गतिम् उपासितुम् इव, अधुना स्तुति-लेशेन सकलार्थार्पणकल्पवल्लरीम् विपदन्तकरीम् हरिणाङ्कलक्ष्मणः करुणाम उपासितुम् (मे) मनः प्रवर्तते ।

अर्थ—जैसे कोई पुरुष तपस्या से, कल्पलता के समान सकल पुरुषार्थों को देनेवाले, और विपत्तियों का नाश करनेवाले देवता की उपासना (आराधना करने) में प्रवृत्त होता है, जैसे कोई अभ्यास के द्वारा सरस्वती की उपासना में प्रवृत्त होता है, जैसे कोई मित्रों के द्वारा स्वाभीष्ट लक्ष्मी की उपासना (उपार्जन) करने को प्रवृत्त होता है, जैसे कोई (दया, दान, दाक्षिण्य आदि) सद्गुणों से पूर्ण पांडित्य के द्वारा सभा की उपासना में प्रवृत्त होता है, जैसे कोई कविता-चातुरी से प्रतिभा को उपार्जित करता है, जैसे कोई सत्पात्र में दान किये धन से सुकीर्ति को उपार्जित करता है, जैसे कोई शम (इन्द्रियों के निग्रह) से अपने मन को शान्त करने के लिए प्रवृत्त होता है, जैसे कोई पुण्योपार्जन से परलोक में सद्गति को प्राप्त करने के लिए प्रवृत्त होता है; वैसे ही अब मेरा मन थोड़ी सी स्तुति के द्वारा, सकल पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पदार्थों) की कल्पवल्ली और सम्पूर्ण विपत्तियों का नाश करनेवाली, भगवान् शङ्कर की करुणा (कृपा) की उपासना (आराधन) करने में प्रवृत्त होता है ।

करुणां भवतो विकासिनीममलैरीश गुणैरलंकृताम् ।
नलिनीमलिनीव भारती भजतीयं मम वल्गुवादिनी ॥ ४ ॥

अन्वय—हे ईश ! वल्गुवादिनी अलिनी, विकासिनीम्, अमलैः गुणैः अलंकृताम् नलिनीम् इव, इयम् वल्गुवादिनी मम भारती, विकासिनीम् अमलैः गुणैः अलंकृताम् भवतः करुणाम् भजति ।

अर्थ—हे परमेश्वर ! जैसे मधुर बोलनेवाली भ्रमरी, विकसित और सुनिर्मल गुणों (तन्तुओं) से अलकृत कमलिनी को सेवित करती है, वैसे ही अतीव मधुर बोलनेवाली यह मेरी वाणी (मेरी स्तुति) आपकी अत्यन्त विशाल (अपार) और निष्कपट[1] गुणों से अलकृत करुणा की सेवा करती है ।

उपलक्ष्य तवान्धकारितां मयि धत्ते पदमन्धकारिता ।
विषमामवलोक्य ते दृशं मम दृष्टिर्विषमत्वमश्नुते ॥ ५ ॥

अन्वय—हे ईश ! तव अन्धकारिताम् उपलक्ष्य, मयि अन्धकारिता (अज्ञानरूपता) पदम् धत्ते, ते विषमाम् दृशम् अवलोक्य, मम (अपि) दृष्टिः विषमत्वम् (उग्रत्वम्) अश्नुते ।

अर्थ—हे ईश ! आपकी 'अन्धकाऽरिता' (अन्धकासुर से शत्रुता) को देखकर मुझमें भी 'अन्धकारिता' (अज्ञानता) आ गई है, और आपकी 'विषम दृष्टि' (तीन नेत्र) देखकर मेरी भी दृष्टि 'विषमता' (उग्रता) को प्राप्त होती है ।

तव वीक्ष्य वृपाधरीकृतिं घटते मेऽपि वृपाधरीकृतिः ।
धृतवक्रकलत्वमीक्ष्य ते प्रथते वक्रकलत्वमेव मे ॥ ६ ॥

अन्वय—हे शिव ! तव वृषाधरीकृतिम् वीक्ष्य, मे अपि वृषाऽधरीकृतिः घटते, ते धृतवक्रकलत्वम् ईक्ष्य मे अपि वक्रकलत्वम् एव प्रथते ।

---

(१) बिना ही कारण अनाथ और दीन जनों पर उपकार आदि निष्कपट गुणों से भरी हुई ।

अर्थ—हे प्रभो ! आपकी 'वृषाधरी कृति' (वृषभवाहनता) को देखकर मेरी भी, वृषाऽधरीकृति, (धर्म की अधोगति) होती है और आपके 'धृतवक्रकलत्व' (चन्द्रमा की कुटिल कला के धारण) को देखकर मुझमें भी 'धृत वक्र कलत्व'—कुटिल शिल्प कला अर्थात् कपटमयी जीविका का भाव आ गया है।

तव वीक्ष्य च भग्नकामतामुदितेयं मम भग्नकामता ।
करुणामपि ते समीक्ष्य मे करुणा गीर्न कथं प्रवर्तताम् ॥ ७ ॥

अन्वय—हे प्रभो ! तव भग्नकामताम् वीक्ष्य मयि च इयम् भग्नकामता उदिता, ते करुणाम् अपि समीक्ष्य मे (अपि) करुणा गीः कथं न प्रवर्तताम् ?

अर्थ—हे नाथ ! आपकी भग्न-कामता (कामदेव का नाश कर देना) देखकर मुझमें भी यह भग्नकामता (क्षीण मनोरथता) उदय हो गई है, तो फिर आपकी करुणा को भी देखकर मेरी भी वाणी करुणा (दीन) क्यों न बन जाय ?

ससुरासुरमानुषं जगद्यदधीनं स भवानपीश्वरः ।
वशवर्तिपदे ययाऽर्पितो जयतीयं करुणैव तावकी ॥ ८ ॥

अन्वय—ससुरासुरमानुषम् जगत् यदधीनम्(अस्ति)सः भवान् ईश्वरः (अपि) यया (करुणया) वशवर्तिपदे अर्पितः (सा) इयम् तावकी करुणा एव जयति ।

अर्थ—अहा, हे प्रभो ! देव, दानव और मनुष्यों सहित यह समस्त जगत् जिस (आप) के अधीन है, उस आप (ईश्वर) को भी जिस (कृपा) ने अपने अधीन कर रक्खा है, वह आपकी करुणा ही सर्वोत्कृष्ट (सर्वसमर्थ) है।

करुणा तव जीवितेश्वरीमतिशेते भगवन्नुमामपि ।
उमया हृतमर्धमेव यत्सकलस्त्वं पुनरेतया हृतः ॥ ९ ॥

अन्वय—हे भगवन्! तव (निमेषमात्रेणैव त्रिजगदुद्धारकारिणी) करुणा, तव जीवितेश्वरीम् उमाम् अपि अतिशेते, यत् उमया (अपर्णया—तादृशाऽनन्यसाधारणतपोविशेषक्लिष्टयाऽपि) तव वपुषः अर्धमेव (अर्धनारीश्वररूपत्वेन) हृतम्, एतया पुनः करुणया तु त्वम् सकलः हृतः (सकलवपुस्त्व नीत इत्यर्थः)।

अर्थ—हे भगवन्! हे षडैश्वर्यशालिन्! (एक निमेषमात्र ही में तीनों लोकों का उद्धार कर सकनेवाली) आपकी करुणा आपकी प्राणेश्वरी उमा से भी अधिक बलवती है, क्योंकि उमा (अपर्णा) वैसे अनन्यसाधारण कठोर तपोविशेष से कृषितशरीर होकर भी (अर्धनारीश्वर रूप से) आपके शरीर का आधा ही भाग हर सकीं, परन्तु इस करुणा ने तो आपको सम्पूर्ण ही हर लिया है! अर्थात् समय-समय पर अनाथों के रक्षण करने के लिए अनेकों रूपधारी (सभी रूपोंवाला) बना डाला है।

करुणा तव शस्यते यया जितकामोऽपि भवान् वशीकृतः।
इदमन्यदियं यदम्बिकामपि देवीमनयद्विधेयताम् ॥ १० ॥

अन्वय—(अस्माभि.) सा तव करुणा शस्यते, यया जितकामः अपि भवान् वशीकृतः। इदम् (न) अन्यत् (अद्भुतम्?) यत् इयम् (तव करुणा) देवीम् अम्बिकाम् अपि विधेयताम् अनयत्।

अर्थ— हे प्रभो! हम तो आपकी उस करुणा की (ही) प्रशंसा करते हैं, जिसने कि आप जितकाम—जितेन्द्रिय—(कामदेव को विजय करनेवाले) को भी अपने वश में कर लिया है। और हे नाथ! एक बात यह और भी आश्चर्य की है कि इस (करुणा) ने (केवल एक आपको ही वश में कर रक्खा है यह बात नहीं, किन्तु) आपकी प्राणेश्वरी जगज्जननी उमा को भी अपने वश में कर रक्खा है।

जगदम्बुभुवा भुवाम्भसा सितभासा नभसा नभस्वता।
धृतमुष्णरुचात्मना च यत्करुणाया महिमा तवेश सः ॥ ११ ॥

अन्वय—हे ईश ! (जगद्रक्षणायाऽष्टमूर्तिधरेण त्वया) यत् अम्बुभुवा[1], भुवा, अम्भसा, सितभासा (चन्द्रमसा) नभसा, नभस्वता, उष्णरुचा, आत्मना[2] च, जगत् धृतम्, स. महिमा तव करुणायाः (एव) ।

अर्थ—हे ईश ! जो (स्वेच्छा से निर्मित किये जगत् की रक्षा के निमित्त अष्टमूर्ति धारण करनेवाले) आपने (१) अग्नि, (२) पृथिवी, (३) जल, (४) चन्द्रमा, (५) आकाश, (६) वायु, (७) सूर्य और (८) आत्मा (प्रकृति और विकृति से पृथक् स्थित हुए यजमान-रूप) इन अष्ट मूर्तियों से त्रैलोक्य को धारण किया है, यह सब महिमा भी तो आपकी करुणा की ही है !

अहतप्रसरां प्रसादिनीं सहसाऽपोहिततापसंपदम् ।
शरणं करुणातरङ्गिणीं प्रतिपद्ये तव देव पावनीम् ॥ १२ ॥

अन्वय—देव ! अहतप्रसराम्, प्रसादिनीम्, सहसा अपोहिततापसंपदम्, पावनीम्, तव करुणातरङ्गिणीम् (अहम्) शरणम् प्रतिपद्ये ।

अर्थ—हे देव ! अप्रतिहत शक्ति से सम्पन्न, अनुग्रह से परिपूर्ण और समस्त तापों को शीघ्र समूल नष्ट करनेवाली आपकी पतित-पावनी करुणा-तरङ्गिणी (कृपारूपिणी गङ्गा) की मैं शरण लेता हूँ ।

प्रणयेन चिरं प्रसादिता मदनाशाकुलितेन चेतसा ।
तरुणी करुणा करोति ते न कथं नाथ हृदि स्थिरं पदम् ॥ १३ ॥

अन्वय—हे नाथ ! मदनाशाकुलितेन चेतसा, चिरम् प्रणयेन प्रसादिता तरुणी करुणा, ते हृदि स्थिरम् पदम् कथं न करोति (अपि तु करोत्येव) ।

अर्थ—हे नाथ ! मद के नाश से आकुलित चित्त द्वारा चिरकाल तक प्रणयपूर्वक—बड़े प्रेम से—की हुई प्रार्थनावश प्रसन्न की हुई वह

---

(१) अग्निना, अद्भ्योऽग्निर्जात इति श्रुतेः ।

(२) प्रकृतिविकृतिपृथक् स्थितेन यजमानरूपेण ।

तरुणी (अतीव उदार) करुणा क्या आपके हृदय में अपना चिरस्थायी स्थान नहीं बना लेती है ? अर्थात् अवश्य बना लेती है।*

भुजगा इव चन्दनद्रुमं ग्लपयन्तो विषमा नयन्ति माम् ।
परिहार्यदशामरातयो मदमानप्रमुखा धृतिच्छिदः ॥ १४ ॥

अन्वय—धृतिच्छिदः विषम् ग्लपयन्तः (वमन्तः) भुजगाः चन्दन-द्रुमम् इव, धृतिच्छिदः विषमा, मदमानप्रमुखाः अरातयः (माम्) ग्लपयन्तः (हन्यमानाः) माम् परिहार्यदशाम् नयन्ति ।

अर्थ—प्रभो ! जैसे देखते ही मनुष्य के धैर्य का नाश कर देनेवाले, विष को उगलते, अति भीषण सर्प चन्दन वृक्ष को त्याज्यावस्था को प्राप्त कर देते हैं (अर्थात् सेवा करने के अयोग्य बना देते हैं), वैसे ही धैर्य और सुख का विच्छेद करनेवाले ये उग्र मद, मान, आदि शत्रु लोग मुझे मारते हुए (मुझे) त्याज्य अवस्था (सब लोगों से त्याग देने योग्य दशा) को पहुँचा रहे हैं ।

करुणापरुणाऽनुजन्मनस्तनुमुच्चैरिव पक्षपातिनीम् ।
समुपैमि धृताच्युतश्रियं शरणं भूधरपुत्रिकापतेः ॥ १५ ॥

अन्वय—उच्चैः पक्षपातिनीम् धृताऽच्युतश्रियम् अरुणानुजन्मनः (गरुडस्य) तनुम् इव, (भक्तजनेषु) पक्षपातिनीम् धृताच्युतश्रियम् भूधर-पुत्रिकापतेः करुणाम् शरणम् समुपैमि ।

अर्थ—मैं अत्यन्त ऊँचे पक्षों (पङ्खों) से चलनेवाली, तथा (पाठ पर) अच्युत और श्री (श्री विष्णु और लक्ष्मी) को धारण करने-

---

* कवि ने यहाँ श्लेषोक्ति से प्रभु का खूब उपहास कर चमत्कार दिखाया है। वह कहता है—प्रभो ! मदन (कामदेव) की आज्ञा से विह्वलित हुए चित्त द्वारा चिरकाल तक बड़े प्रयत्नपूर्वक प्रसन्न की हुई वह तरुणी युवती अर्थात् षोडशवर्षीया (करुणा) आप नायक-शिरोमणि के मन में अपना चिरस्थायी स्थान क्या नहीं बनाती ? नहीं, नहीं ! अवश्य बनाती है ।

वाली अरुणानुज (गरुड़) की पांख के समान भक्तजनों पर उच्च पक्षपात (अधिक स्नेह) रखनेवाली, और अच्युत श्री (अक्षय लक्ष्मी) के धारण करनेवाली गिरिजा-पति भगवान शिव की करुणा की शरण लेता हूँ।

स्फुरितारुणचारुचक्षुषा वपुषा निर्भरघर्मविप्रुषा ।
परुषाशयतामुपेयुषा सरुषा यत्प्रहरन्ति योषितः ॥ १६ ॥
भगवन् दृढबद्धमूलयोर्द्विपतोरेष सहस्रशाखयोः ।
अविषह्यनिपातपीडयोरनुभावः कुसुमेषु-रोषयोः ॥ १७ ॥
अनयोः करुणैव तावकी नियतं मूलनिकृन्तनक्षमा ।
यमलार्ऽजुनयोरिवोर्जिता शिशुलीला नरकान्तकारिणः ॥ १८ ॥

(तिलकम्)

अन्वय—स्फुरितारुणचारुचक्षुषा निर्भरघर्मविप्रुषा परुषाशयताम् उपेयुषा, सरुषा वपुषा, योषितः यत् पुरुषान् प्रहरन्ति, हे भगवन् ! एषः दृढबद्धमूलयोः सहस्रशाखयोः अविषह्यनिपातपीडयोः द्विपतोः कुसुमेषुरोषयोः (कामक्रोधयोः एव) अनुभावः (अस्ति) अनयोः (पुनः) नरकान्तकारिणः ऊर्जिता शिशुलीला यमलार्जुनयोः इव, तावकी करुणा एव नियतम् मूलनिकृन्तनक्षमा (भवति)।

अर्थ—अति मनोहर अरुण नेत्रवाले, सघन स्वेद-बिन्दुओं से युक्त और कठोर चित्तता को प्राप्त हुए, क्रोध-युक्त शरीर द्वारा स्त्रियाँ जो पुरुषों पर प्रहार किया करती हैं, हे भगवन् ! यह उन अत्यन्त दृढ़ मूलोंवाले, अनेक शाखाओंवाले और परिणाम में असह्य पीडा के देनेवाले काम और क्रोध रूपी शत्रुओं का ही प्रभाव है। सो हे प्रभो ! जैसे उन दोनों यमलार्जुनों का मूलोच्छेदन करने में श्रीकृष्णजी की बाललीला समर्थ हुई थी, वैसे ही इन दोनों काम और क्रोध के मूल को कतरने के लिए केवल एक आपकी करुणा ही समर्थ हो सकती है।

न विधिर्निधिलाभसंभृतो न विनोदो मृगनाभिसम्भवः ।
न च शारदचन्द्रचन्द्रिका न कल कोकिलकण्ठकूजितम् ॥१९॥
न शिशोरसमञ्जसं वचो न मृगाक्षीपरिरम्भविभ्रमः ।
मधुरा न कवीन्द्रभारती न च साम्राज्यविभूतिजृम्भितम् ॥२०॥
न रसायनपानकौतुकं न च शक्रासनवासवासना ।
परिपूरयितुं क्षमेत ते करुणाया हर षोडशीं कलाम् ॥ २१ ॥

(तिलकम्)

अन्वय—हे हर ! निधिलाभसंभृत. विधिः ते करुणाया षोडशीम् कलाम् परिपूरयितुम् न क्षमेत, मृगनाभिसम्भव. विनोद. (अपि) ते करुणायाः षोडशीम् कलाम् परिपूरयितुम् न क्षमेत, शारदचन्द्रचन्द्रिका च ते० न क्षमेत, कलम् कोकिलकण्ठकूजितम् (अपि) ते० न क्षमेत, शिशो· असमञ्जसम् वचः (च) ते० न क्षमेत, मृगाक्षीपरिरम्भविभ्रम. (च) ते० न क्षमेत, मधुरा कवीन्द्रभारती (च) ते० न क्षमेत, साम्राज्यविभूतिजृम्भितम् च ते० न क्षमेत, रसायनपानकौतुकम् (अपि) ते० न क्षमेत, शक्रासनवासवासना च ते करुणाया षोडशीम् कलाम् (अपि) पूरयितुम् न क्षमेत ।

अर्थ—अयि महाशिव ! महानिधि का लाभ (भी) आपकी करुणा की सोलहवीं कला की पूर्ति (बराबरी) नहीं कर सकता, और मृगनाभि की सुगन्ध से उत्पन्न हुआ (परम) आनन्द भी आपकी करुणा की सोलहवीं कला की तुलना नहीं कर सकता, शरत्कालीन पूर्ण चन्द्रमा की ज्योत्स्ना भी उसकी सोलहवीं कला को नहीं तुलित कर सकती, कोकिल के कण्ठ की मधुर ध्वनि, बालकों का असमञ्जस (अस्पष्ट) वचन, मृगनयनी युवती का गाढ आलिङ्गन, महाकवि की सुमधुर वाणी और चक्रवर्ती का राज्य वैभव, (जरा मरण के हरनेवाले) रसायन के पान का कौतूहल और इन्द्र के सिंहासन पर बैठने की अभिलाषा

ये सभी वस्तुएँ आपकी करुणा की सोलहवीं कला की समानता (कदापि) नहीं कर सकतीं।

सुरभिर्न मम स्पृहास्पदं सुरभिर्दक्षिणमारुतोऽपि वा।
सुरभिक्षुवितीर्णवाञ्छिता सुरभिर्नो करुणा यथा तव ॥२२॥

अन्वय—हे विभो! यथा तव करुणा मम स्पृहास्पदम् (भवति), तथा सुरभिः (वसन्तः) न, सुरभिः दक्षिणमारुतः अपि वा, सुरभिक्षुवितीर्णवाञ्छिता सुरभिः (कामधेनुः च) तथा मम स्पृहास्पदम् नो भवति।

अर्थ—हे नाथ! आपकी करुणा मुझे जैसी प्रिय लगती है, उतने प्रिय मुझे वह सुरभि (वसन्त), सुरभि (अत्यन्त सुगन्धित) मलय मारुत और देवताओं के मनोभीष्ट वर देनेवाली सुरभि (कामधेनु) ये पदार्थ नहीं लगते।

समुदेति यदश्रु शोकजं रुचिरानन्दमयं विभाति तत्।
पुलकः प्रथते भयेन यः स चमत्कारकृतः प्रवर्तते ॥ २३ ॥
क्रमजं दृशि यन्निमीलनं परमार्थानुभवादुदेति तत्।
शरणं करुणामुपेयुषां कृतिनां चन्द्रकिरीट तावकीम् ॥ २४ ॥
(युग्मम्)

अन्वय—हे चन्द्रकिरीट! शोकजम् यत् अश्रु समुदेति, तत् तावकीम् करुणाम् शरणम् उपेयुषाम् कृतिनाम् रुचिरानन्दमयम् विभाति, भयेन (जन्ममरणभीत्या) यः पुलकः प्रथते, सः चमत्कारकृतः प्रवर्तते, दृशि यत् क्रमजम् निमीलनम्, तत् परमार्थानुभवात् उदेति।

अर्थ—अयि चन्द्रमुकुट! सांसारिक शोक से जो अश्रुपात होता है, वही अश्रुपात आपकी करुणा के शरण में आये हुए पुण्यात्माओं को परम आनन्दमय प्रतीत होता है, जन्म-मरण के भय से जो रोमाञ्च होता है, वही उनको भक्ति-रस के अद्भुत चमत्कार से प्रवृत्त होता है और संसार-रूपी मरुस्थल में भ्रमण के श्रम से नेत्रों में जो निमीलन होता

है, वही (नेत्र-निमीलन) उनको तत्त्वज्ञान के साक्षात्कार से उदित होता है, अर्थात् अश्रुपात, रोमाञ्च आदि अवस्थाएँ शोक और आनन्द उभय-जन्य होती है।

भजतः सरलेव भारती नरकङ्कालकृतग्रहस्य मे ।
करुणा प्रथतामुमापते कलिकालाञ्छितविग्रहस्य ते ॥२५॥

अन्वय—हे उमापते ! कालकृतग्रहस्य कलिकालाऽञ्छितविग्रहस्य, नरकम् भजतः मे भारती सरला इव (साध्वी स्त्रीव) प्रथताम्। (माम् दृष्ट्वा) नरकङ्कालकृतग्रहस्य, कलिका-लाञ्छित-विग्रहस्य ते करुणा (अपि) प्रथताम्।

अर्थ—हे उमानाथ ! मृत्यु से पकड़े हुए, कलिकाल के द्वारा वृद्धि को प्राप्त हुए वैर-भाववाले और नरक को प्राप्त हुए मुझ दीन की यह वाणी (मेरी स्तुति) साध्वी स्त्री के समान विकास को प्राप्त हो और मुझ दीन को देखकर मुण्डमाला को धारण करनेवाले और चन्द्रकला से सुशोभित शरीरवाले आपकी करुणा भी विकसित (वृद्धि को प्राप्त) हो।

भगवन् मदिरामदोन्मदप्रमदापाङ्गतरङ्गभङ्गुरम् ।
जरसा तरसावसादितं वपुरायाति न यावदापदम् ॥ २६ ॥
कुपितान्तककिङ्करेरितः कुटिलां तद्भ्रूकुटिं विडम्बयन् ।
न घनाञ्जनपुञ्जसन्निभो भुजगो यावदुपैति कन्धराम् ॥ २७ ॥
न कुकर्मविपाककल्पिता नरके यावदुदेति वेदना ।
गदिता शमनानुगामिभिः परुषा गीरिव मर्मभेदिनी ॥ २८ ॥
यदि तावदियं न गाहते हृदयं ते करुणातरङ्गिणी ।
वत दुःसहताप-संपदामितरा का शरणार्थिनां गतिः ॥ २९ ॥
(कलापम्)

अन्वय—हे भगवन् ! मदिरामदोन्मदप्रमदापाङ्गतरङ्गभङ्गुरम्, जरसा तरसा अवसादितम् (मम) वपुः यावत् आपदम् न आयाति; कुपितान्तककिङ्क-

रेरितः कुटिलाम् तद्भ्रुकुटिम् विडम्बयन्, घनाञ्जन-पुञ्जनिभः भुजगः च यावत् कन्धराम् न उपैति; कुकर्मविपाककलिता वेदना नरके यमनानुगामिभिः गदिता, परुषा मर्मभेदिनी गीः इव, यावत् न उदेति; हे दयालो ! तावत् यदि इयम् ते करुणातरङ्गिणी ते हृदयम् न गाहते, तर्हि बत ! दुःसहतापसम्पदाम् शरणार्थिनाम् इतरा का गतिः ? (न काचिदित्यर्थः)।

अर्थ—हे भगवन् ! मदिरा के मद में उन्मत्त हुई वराङ्गना के कुटिल कटाक्षों के समान चञ्चल और वृद्धावस्था द्वारा बलात्कारपूर्वक जीर्ण किया हुआ यह मेरा शरीर जब तक विनाश को न प्राप्त हो जाय; और अत्यन्त क्षुपित यमदूतों से प्रेरित, उनकी ही कुटिल भ्रुकुटि के समान भयानक और गाढ़ कज्जल के पुञ्ज के समान (काला) नागफाँस जब तक गले में न आ जाय और कुकर्मों के परिपाक में प्राप्त हुई वेदना नरक में यमदूतों की कही हुई अतीव कठोर और मर्म को भेदन करनेवाली वाणी के समान, जब तक प्राप्त न हो जाय, तब तक (उसके पहले ही) यदि आपके हृदय-सागर में—यह करुणा नदी, न अवगाहन करे (न उमड पड़े), तब हाय ! अत्यन्त असहनीय सन्तापों से तप्त हुए हम दीन शरणागतों की क्या दशा होगी ?

न समानसमागमा तथा प्रमदाय प्रमदा यतात्मनाम् ।
शिवदा शिवदास्यकृद्यथा स्वदमान-स्वदमाऽनघा मतिः ॥ ३० ॥

अन्वय—यथा स्वदमान-स्वदमा शिवदा शिवदास्यकृत् अनघा मतिः यतात्मनाम् प्रमदाय (भवति) तथा समान-समागमा प्रमदा न (भवति)।

अर्थ—परमशान्ति को प्राप्त हुई, शिवदा (कैवल्यदायिनी) और शिव की सेवा में परायण हुई निर्मल मति, जितेन्द्रिय (तपस्वी) लोगों को जैसा परमानन्द प्रदान करती है, वैसा आनन्द वह मानवती (प्रणयकुपिता) युवती कदापि नहीं दे सकती ।

एकः पुरन्दरपुरं दरवेल्लितभ्रूः
किंस्विज्जनङ्गमजनं गमयेन्महर्षिः ।

किं तामसं पदमसम्पद्मिन्द्रमन्यो
धन्योदया भव दया भवतो न चेत्स्यात् ॥ २१ ॥

अन्वय—हे भव ! भवतः धन्योदया दया चेत् न स्यात्, तर्हि दर-वेल्लितभ्रूः एकः महर्षिः (विश्वामित्र.)जनङ्गमजनम्(वशिष्ठशापेन चाण्डा-लीभूत त्रिशङ्कुम्) पुरन्दरपुरम् किमिति गमयेत् ? तथा अन्यः महर्षिः (गौतमः) इन्द्रम् असम्पदम्(सहस्रभगरूपम्)तामसम् पदम् किं गमयेत्, कथं गमयेदित्यर्थः ।

अर्थ—हे भगवन् ! यदि आपकी धन्योदया (धन्य उदयवाली) दया न होती, तो फिर किञ्चित् भ्रूभङ्गमात्र से ही एक महर्षि अर्थात् विश्वामित्रजी (वशिष्ठजी के शाप से) चाण्डाल बने हुए त्रिशंकु को स्वर्ग में कैसे पहुँचाते ?* और दूसरे महर्षि (अर्थात् गौतमजी) इन्द्र को शोभाविहीन (सहस्रभग रूप) अन्धमय पद को कैसे पहुँचा

---

* भाव यह है कि—पहले राजा त्रिशंकु ने एक यज्ञ आरम्भ किया, किन्तु मदान्ध होकर अपने पुरोहित महर्षि वशिष्ठजी को निमन्त्रण नहीं दिया, इस कारण वशिष्ठजी ने कुपित होकर उस त्रिशंकु को ऐसा शाप दिया कि 'जनङ्गमोऽभूयाः, तू चाण्डाल बन जा।' तब फिर महर्षि विश्वामित्रजी ने भगवत्कृपा के बल से उस चाण्डाल बने त्रिशंकु को स्वर्ग में पहुँचा दिया। और पहले इन्द्र ने महर्षि गौतम की पत्नी के साथ गमन किया, इतने में गौतमजी आ पहुँचे, तब इन्द्र उनके भय से मुनि पत्नी (अहल्या) की योनि में जाकर छिप गया। फिर जब महर्षि (गौतम) ने स्नान करके अग्निहोत्र के समय 'इन्द्राय स्वाहा' कहकर इन्द्र को आहुति दी, तब वह इन्द्र अपना हाथ लम्बा करता हुआ भग (योनि) से निकला, तब गौतमजी ने भी अत्यन्त कुपित होकर उसे 'त्वं सहस्रभगो भूयाः' तू हजार भगोंवाला हो जा, ऐसा शाप दिया। उस दिन से इन्द्र सहस्रभग हो गया। यह आख्यायिका पुराणों में प्रसिद्ध है।

सकते ? अर्थात् महर्षि विश्वामित्र और गौतम को वह शापाऽनुग्रह करने की शक्ति आपकी ही कृपा से तो प्राप्त हुई।

आर्द्रे मनस्युदितमार्तजनोपताप-
संपर्कतोऽथ दृशि कन्दलितं शुभायाम् ।
वाचि क्षणात्कुसुमितं फलितं च कृत्ये
कारुण्यबीजमजरं जयतीन्दुमौलेः ॥ ३२ ॥

अन्वय—(विभोः) आर्द्रे मनसि आर्तजनोपतापसंपर्कतः उदितम्, अथ शुभायाम् दृशि कन्दलितम्, वाचि क्षणात् कुसुमितम् (पुनः) कृत्ये (रक्षा-कर्मणि) फलितम्, इन्दुमौलेः अजरम् कारुण्यबीजम् जयति।

अर्थ—(प्रभु के) कोमल अन्तःकरण में, आर्तजनों के सन्ताप के सम्पर्क से उत्पन्न हुआ, और फिर (उनकी) करुणाभरी शोभन दृष्टि में वृद्धि को प्राप्त हुआ, फिर क्षणमात्र में ही वाणी में ('मत डरो ! मत डरो !' इस प्रकार के अभय शब्दों में) विकसित हुआ और फिर दीनों की रक्षा करने में फलित (प्रफुल्लित) हुआ भगवान् शङ्कर का अजर करुणाबीज सर्व समर्थ है। अर्थात् उसकी बलिहारी है।

[अब यहाँ से कवि, चार श्लोकों द्वारा प्राणियों की अन्तिम अवस्था का वर्णन करते हुए प्रभु के चित्त में करुणा उत्पादन करनेवाला दीन आक्रन्दन करते हैं—]

रोगैरुग्रैरखिलविगलत्सौष्ठवो नष्टचेष्टः
पर्यस्ताङ्गोऽशुचिनि शयने भग्नसर्वाभ्युपायः ।
यावज्जीवं विहितमहितं कर्म कर्तव्यमूढः
स्मृत्वा स्मृत्वा दलितहृदयः कातरः कान्दिशीकः ॥३३॥

अन्वय—उग्रैः रोगैः अखिलविगलत्सौष्ठवः नष्टचेष्टः (अत एव) अशुचिनि शयने पर्यस्ताङ्गः, भग्नसर्वाभ्युपायः कर्तव्यमूढः सन्, याव-

जीवम् विहितम् अहितम् कर्म स्मृत्वा स्मृत्वा दलितहृदयः कातरः कान्दिशीकः[1]—

अर्थ—अत्यन्त कठिन असाध्य रोगों से जिसकी समस्त रमणीयता नष्ट हो गई है ऐसा, अतएव अपवित्र शय्या में (हाथ पाँव आदि) अङ्गों को फैलाकर निश्चेष्ट सोया हुआ, किंकर्तव्यमूढ़ होकर जन्म भर के किये हुए पाप कर्मों को बार-बार स्मरण करने से (अर्थात हाय ! मुझ मूर्ख ने क्यों इतना पाप इकट्ठा किया, ऐसे ऐसे पश्चात्ताप से) जिसका हृदय एकदम विदीर्ण हो रहा है ऐसा, अति कातर और भयाकुल हुआ—

तर्षोत्कर्षात्कलुषपरुषैः कर्मभिः शर्महृद्भि-
र्यत्सम्प्राप्तं कथमपि[2] भृशं क्लेशयित्वा शरीरम् ।
रिक्थग्राहैर्द्रविणमखिलं लुण्ठ्यमानं तदग्रे
पश्यन्नश्यत्सकलकरणो दह्यमानः शुचान्तः[3] ॥ ३४ ॥

अन्वय—तर्षोत्कर्षात् कलुषपरुषैः शर्महृद्भिः कर्मभिः भृशम् शरीरम् क्लेशयित्वा कथमपि यत् सम्प्राप्तम्, तत् अखिलम् द्रविणम् रिक्थग्राहैः अग्रे लुण्ठ्यमानम् पश्यन्, नश्यत्सकलकरणः अन्तः शुचा दह्यमानः सन्—

अर्थ—अतीव लालच के कारण महा कठोर, क्रूर और कल्याणनाशक कर्मों के द्वारा शरीर को अत्यन्त कष्ट देकर बड़े प्रयत्न से सञ्चित की हुई सम्पत्ति (धन) को अपने सामने ही भाई-बन्धुओं द्वारा लूटे जाते (ले जाते) हुए देखकर, अत्यन्त तीव्र व्यथा के द्वारा इन्द्रियों की शक्ति का एकदम ह्रास हो जाने के कारण मन में (अन्दर ही अन्दर) शोकरूपी अग्नि से जलता हुआ—

---

(१) कां दिशम् यामीति भयेन ग्रस्तः (२) कृशमपि इत्यपि पाठः । (३) शुचार्तः ।

शोकोद्रेकादविरलगलद्बाष्पपूर्णेक्षणाभिः
सत्पत्नीभिश्चकितचकितं[1] लोचनैरीक्ष्यमाणः ।
पुत्रैर्मित्रैः सहजसचिवैर्बन्धुभिर्भृत्यवर्गै-
राक्रन्दद्भिः करुणकरुणैः पीड्यमानः प्रलापैः॥३५॥

अन्वय—शोकोद्रेकात् अविरलगलद्बाष्पपूर्णेक्षणाभिः सत्पत्नीभिः चकित-चकितम् लोचनैः ईक्ष्यमाणः सन्, पुत्रैः मित्रैः सहजसचिवैः बन्धुभिः भृत्यवर्गैः आक्रन्दद्भिः करुणकरुणैः प्रलापैः पीड्यमानः सन्—

अर्थ—(अतएव उसे ऐसी हालत में देखकर) शोकोद्रेक के कारण निरन्तर गिरते हुए बाष्पों से पूर्ण नेत्रोंवाली धर्मपत्नियों के द्वारा अत्यन्त कातर नेत्रों से देखा जाता हुआ, और अति दीनों की तरह चिल्लाते हुए पुत्र, मित्र, भाई, बन्धु आदि कुटुम्बियों के अत्यन्त करुण-जनक विलापों को सुनकर और भी दुःखी होता हुआ; तथा—

स्वस्यावस्थैर्भृशमशुचिताशङ्किभिर्वेश्मगर्भा-
दन्तर्लीनस्मृतिरपि हठान्निष्ठुरैः कृष्यमाणः ।
यस्मिन्काले कवलितवपुर्मृत्युनाऽभ्येति भीतिं
तत्र त्राता क इह करुणापेश्वरीमन्तरेण ॥ ३६ ॥

करनेवाले, महा-निठुर हृष्ट-पुष्ट बान्धवों के द्वारा हठात् होश-हवास के रहते हुए भी हाथ-पाँव पकड़-पकड़ कर दाह के निमित्त (श्मशान को) ले जाया जाता हुआ, यह प्राणी जब अन्तकाल में मृत्यु-ग्रस्त होकर महान् संकट को प्राप्त होता है, तब उस समय केवल परमेश्वर की करुणा को छोड़ कर दूसरा कौन उसकी रक्षा कर सकता है ? अर्थात् उस समय केवल ईश्वर की कृपा ही प्राणी को आश्रय देती है।

वपुःखण्डे खण्डः प्रतिवसति शैलेन्द्रदुहितुः
　　शिखण्डे खण्डेन्दुः स्वयमपि विभुः खण्डपरशुः ।
तथापि प्रत्यग्रं शरणमुपयातं प्रति विभो-
　　रखण्डो व्यापारो जगति करुणाया विजयते ॥ ३७ ॥

अन्वय—(प्रभोः) वपुःखण्डे (शरीरार्धे) शैलेन्द्रदुहितुः खण्डः प्रतिवसति, शिखण्डे (किरीटे) खण्डेन्दुः प्रतिवसति, स्वयम् अपि विभुः खण्ड-परशुः, तथापि (सर्वथैव खण्डत्वेऽपि सति) प्रत्यग्रम् शरणम् उपयातम् प्रति विभोः करुणायाः अखण्डः व्यापारः जगति विजयते ।

अर्थ—प्रभु के शरीर के खण्ड में (अर्थात् वाम भाग में) श्री गिरिजा का खण्ड (अर्धभाग) रहता है, मुकुट में खण्डेन्दु (चन्द्रमा का खण्ड अर्थात् अर्धचन्द्र) निवास करता है और स्वयं भी प्रभु खण्डपरशु (आधे परशु को धारण करनेवाले) हैं, तथापि (इस प्रकार सब तरह खण्डता होने पर भी) नवीन शरणागत के प्रति प्रभु की करुणा का अखण्ड व्यापार होता है।

जय जितामय जय सुधामय जय धृतामृतदीधिते
　　जय हृतान्धक जय पुरान्तक जय कृतान्तकसंहृते ।
जय परापर जय दयापर जय नतार्पितसद्गते
　　जय जितस्मर जय महेश्वर जय जय त्रिजगत्पते ॥ ३८ ॥

षोडशं स्तोत्रम्

अब यहाँ से कवि उपदेशन नामक सोलहवें स्तोत्र का आरम्भ करते हैं—

वृषलक्ष्मणः प्रणतलोकबन्धवः कलितालिकस्खलितसिद्धसिन्धवः ।
द्युतिभिर्जयन्ति तुलितोदितेन्दवश्चरणारविन्दमकरन्दबिन्दवः ॥१॥

अन्वय—प्रणतलोकबन्धवः कलितालिकस्खलितसिद्धसिन्धवः द्युतिभिः तुलितेन्दवः वृषलक्ष्मणः चरणारविन्दमकरन्दबिन्दवः जयन्ति ।

अर्थ—विनीत (भक्त) जनों को आश्वासन देनेवाले, ललाट से जिनमें गङ्गा की दिव्य धारा गिर रही है ऐसे और कान्ति से पूर्ण चन्द्र की तुलना रखनेवाले वे प्रभु-चरणारविन्द के 'मकरन्दबिन्दु' सर्वोत्कृष्ट हैं, अर्थात् मैं उन्हें प्रणाम करता हूँ ।

अमलैः फलैरविरलैरलङ्कृता हरिताऽरुणप्रणतशालिशालिनी ।
प्रतिभाति जीर्णतृणवत्तव स्तवं वसुधा सुधाद्युतिवतंस शंसतः ॥२॥

अन्वय—हे सुधाद्युतिवतंस ! तव स्तवम् शंसतः अविरलैः अमलैः फलैः अलङ्कृता, हरिताऽरुणप्रणतशालिशालिनी (अपि) वसुधा जीर्णतृणवत्

अन्वय—हे अनन्त ! अवलोकनार्थिनः मे, सन्ततग्लपितावलोकम् चिरन्तनम् तिमिरम्, (त्वम्) दशसु दिक्षु अमृतम् सृजता, कलिकालकल्मष-मुषा चक्षुषा (प्रसन्नदृष्ट्या) मुषाण ।

अर्थ—हे अनन्त, परमेश्वर ! आपका दर्शन चाहनेवाले मुझ सेवक के निरन्तर प्रकाश (ज्ञान) को म्लान कर देनेवाले अनेक-जन्मो-पार्जित (अज्ञानरूपी) अन्धकार को (आप) दशों दिशाओं में कल्याण को वितरण करनेवाले और कलिकाल के पातक को हरनेवाले नेत्र (प्रसन्नदृष्टि) से हर लीजिए।

वहता हतान्धतमसामसादितां
　　द्युतिभिः कलामविकलां कलावतः ।
दिशता प्रकाशविशदाशमाशयं
　　वपुषा शिवं शिवपुषा पुषाण मे ॥ ४ ॥

अन्वय—हे प्रभो ! हतान्धतमसाम्, असादिताम्, द्युतिभिः अविकलाम् कलावतः कलाम् वहता, प्रकाशविशदाशम् आशयम् दिशता शिवपुषा वपुषा मे शिवम् पुषाण ।

अर्थ—हे नाथ ! गाढ़ अन्धकार का नाश करनेवाली और कान्ति से परिपूर्ण, अविनाशी चन्द्रकला को धारण करनेवाले और दिव्य प्रकाश के द्वारा अतीव सुनिर्मल आशावाला अन्तःकरण देनेवाले कल्याण-कारी शरीर से मेरे कल्याण की वृद्धि कीजिए।

घनघर्मलाञ्छितकपोलभित्तयः श्वसितानुबन्धविधुरीकृताधराः ।
धनिनां पुरः प्रकटयन्ति दुर्गतिं द्युतिहीनदीनवदना धनार्थिनः ॥५॥
तदनन्तरं तरलिताक्षरां गिरं चिरसम्भृतप्रमदसादगद्गदाम् ।
विहितावहेलजगतीपतीक्षितास्त्रपयापयापितमुखाः प्रयुञ्जते ॥६॥
अवधीर्यमाणमथ दीर्घमत्सरैरवबोधवन्ध्यहृदयैरनादृतम् ।
गुणकौशलं शलभजृम्भितोपमं प्रथयन्ति यान्ति च परं पराभवम् ॥७॥

के आडम्बर को धारण करनेवाले और धन-संग्रह की उत्कट इच्छारूपी भूतबाधा से व्याकुल बने हुए असन्तोषी पुरुष (लालची लोग) एकान्त वन में निवास करनेवाले तपस्वियों (मुनिजनों) के द्वारा उपहास को प्राप्त होते हुए बड़ी भारी विडम्बना को प्राप्त होते हैं।

कृतिनः पुनर्मृदुमृदङ्गमङ्गल-
स्वनसन्निभध्वनितनिर्झरोर्मिषु ।
कृतवृत्तयः सुलभशाद्वलावली-
वलितस्थलेषु[1] तुहिनाद्रिसानुषु ॥ ९ ॥

सुरसिन्धुरोधसि गृहीतकेतकी-
चलिता[2]ङ्गुलीकिसलयेन पाणिना ।
विविधां विधाय विधिना पिनाकिनः
करुणार्णवस्य चरणाब्जसत्क्रियाम् ॥ १० ॥

हरिणैः कुशाग्रकवलाभिलाषिभि-
र्भरणार्थिभिश्च कलविङ्कशावकैः ।
अतिथीभवद्भिरहताह्निकक्रियाः
फलमूलकल्पितशरीरवृत्तयः ॥ ११ ॥

दिवसावसानसमये सरन्मरु-
त्परिकीर्णजीर्णतृणपर्णमर्मराः ।
तनुजाह्नवीसलिलशीकरोत्करैः
शिशिराः शिवाय[3] चरिता वनस्थलीः ॥ १२ ॥

(१) ललितस्थलीषु, इति च पाठः। (२) दलित इति च पाठः।
(३) चिरायेत्यपि पाठः।

धवलीकृतास्वमलभानुभानुभि-
र्ज्वलितौषधीषु रजनीष्वनन्तरम् ।
कलकण्ठ-कण्ठकुहरोद्गतस्वर-
स्वरसार्पितश्रुतिसुखासु शेरते ॥ १३ ॥

इति बिभ्रतः परिकरं प्रियङ्करं
हरपादपङ्कजरजःप्रसादजम् ।
विहसन्ति मूढमनसां महीभुजां
गजकर्णतालतरलाश्रयाः श्रियः ॥ १४ ॥

(षड्भिः कुलकम्)

अन्वय—पुन. (पूर्वोक्तधनलवलुब्धाऽसन्तुष्टजनेभ्यो व्यतिरिक्ताः) कृतिनः, मृदुमृदङ्गमङ्गलस्वनसन्निभध्वनितनिर्झरोर्मिषु, सुलभशाद्वलीवलितस्थलेषु तुहिनाद्रिसानुषु कृतवृत्तयः (सन्तः) सुरसिन्धुरोधसि गृहीतकेतकीवलिताङ्गुलीकिसलयेन पाणिना करुणार्णवस्य पिनाकिनः त्रिविधाम् चरणाब्जसन्नियाम् विधिना विधाय, कुशाग्रकवलाभिलाषिभि हरिणै, भरणार्थिभि कलविङ्कशावकैः च अतिथीभवद्भिः अहताऽह्निकक्रिया, फलमूलकल्पितशरीरवृत्तय, दिवसावसानसमये सरन्मरुत्परिकीर्णजीर्णतृणपर्णमर्मरा, तनुजाह्नवीसलिलशीकरोत्करै शिशिराः वनस्थली शिवाय चरिता (सन्तः), अनन्तरम् अमलभानुभानुभि अमलासु ज्वलितौषधीषु कलकण्ठकण्ठकुहरोद्गतस्वरस्वरसार्पितश्रुतिसुखासु रजनीषु शेरते, इति हरपादपङ्कजरज प्रसादजम् प्रियङ्करम् परिकरम् बिभ्रत (कृतिन) मूढमनसाम् महीभुजाम् गजकर्णतालतरलाश्रयाः श्रिय विहसन्ति ।

अर्थ—और उन (पूर्वोक्त) असन्तोषी लोगों से व्यतिरिक्त धन्यात्मा (सदैव सन्तुष्ट) पुरुष कोमल मृदङ्ग की मङ्गलमयी ध्वनि के समान मनोहर कल-कल शब्द करनेवाले जलप्रवाहों से युक्त और हरित-तृणावली (हरी-हरी घासें) से सुमनोहर स्थलों वाले कैलास पर्वत के शिखरों

में निवास करते हुए, पतित पावनी देवगङ्गा के तट पर, पूजा के लिए चुने हुए केतकी पुष्पों से चलित अङ्गुलि रूप पल्लवोंवाले हाथों में करुणा-सागर भगवान् महाशिव का नाना प्रकार पञ्चोपचार पूर्वक पूजन करके, कुशाओं के अभिलाषी हरिण और पोषण के अभिलाषी चटकपोत रूप अतिथियों के सत्कार से आह्निक कृत्य को पूर्ण करते हुए (केवल) जङ्गली फल और मूल से जीवन-यात्रा (शरीर-निर्वाह) करते हुए एवं सायकाल के समय मन्द मन्द बहनेवाले मारुत (पवन) के द्वारा इकट्ठे किये हुए जीर्ण तृणों के पर्णों से शब्दायमान और गङ्गाजी के सूक्ष्म जल-कणों से सुशीतल बना वन-स्थलों में केवल्य-प्राप्ति के निमित्त विचरण करते हुए (वे धन्यात्मा मुनि लोग) चन्द्र-किरणों द्वारा अतएव स्वच्छ, अमूल्य महौषधियों से उज्ज्वलित और कोकिलों के कण्ठ-विवर से निकले मनोमोहक (कुहू-कुहू शब्द) स्वरों से स्वाभाविक श्रोत्र-सुख को देनेवाली रात्रियों में (सुखपूर्वक) सोया करते हैं। इस प्रकार श्रीशिव-चरणारविन्द के रज कण की कृपा से प्राप्त हुए प्रियतर परिकर (मनोमोहक सामग्री) को धारण करनेवाले विरक्त जन, मूर्ख राजाओं की, हाथी के कानों के समान चञ्चल (अर्थात अत्यन्त क्षणभङ्गुर), लक्ष्मी (सम्पत्ति) का अत्यन्त उपहास (खूब हँसी) किया करते हैं।

[अब कवि ५ श्लोकों (कुलक) द्वारा अन्तःकरण में प्रहार करनेवाले काम-क्रोधादि शत्रुओं (की महिमा) का वर्णन करते हैं—]

दधदुद्धतं हर पुरः पुर त्रिभिः प्रचलं चल गलदपाङ्गभङ्गिभिः ।
हृदयं भिनत्ति मम घस्मरः स्मरः शरपातकातरदृशो भृशं कृशम् ॥१५॥
जनयन्नयं नयनयोरधीरतां भ्रमयन्ध्रुवं भृशमदभ्रसंभ्रमाम् ।
श्लथयन्प्रयत्नकृतसंगमं शमं हसनीयतां नयति रोष ईश माम् ॥१६॥
घनलाभसंभ्रतविलासवामनाव्ययमानमानसमसत्यसङ्गरम् ।
न विशोभिलोभविवशं स्पृशन्ति मां सुहृदोऽपि कोपितकदर्यितार्थिनम् १७

प्रतिष्ठ, मलिन क्षोभ से विह्वलित एवं अतिथियों को कुपित और विमुख करनेवाले मुझ दुष्ट को खास मेरे मित्र लोग भी नहीं स्पर्श करते। और *लोगों का तो कहना ही क्या है? हे भगवन्! त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ,* काम) से रहित, सज्जनों से तिरस्कृत, गाढ़ अज्ञान से आच्छादित और सत्, असत् (कार्याऽकार्य) के विवेक से रहित मुझ दुष्ट कलङ्की का विद्वत्सभा में सभ्य पुरुष अत्यन्त उपहास किया करते हैं। हे ईश! इस प्रकार ये अतीव सुदुर्जय (बलवान्) काम, क्रोध, लोभ, मोह रूप शत्रु मुझे अत्यन्त पीड़ित करते हैं और विशुद्ध बुद्धिवाले विद्वान् लोग अपमानित किया करते हैं। हे नाथ! अब जिस प्रकार फिर ये शत्रु लोग मुझे कदापि न जीत सकें, वैसा मुझे बना दीजिए, और (आप) शीघ्र आइए, हमें अपनी करुणामयी दृष्टि से देखिए।

क्व महेश्वरस्मरणसम्भवं भव-
भ्रमभीमघर्मशमसंमुखं सुखम्।
विपदो पदं मृदुमृणालिनीदल-
स्खलदम्बुबिन्दुतरलाः क्व सम्पदः ॥ २० ॥

क्व शिवेश्वरेति कृतगण्डमण्डली
पुलकोद्गमप्रमदमन्थरा गिरः।
क्व यथार्थपार्थिवनिरर्थकाऽनृत-
स्तुतिविस्तरैरपथपातपातकम् ॥ २१ ॥

क्व समाधिबाधितदुराधिसाधिमा
भव-सम्भवश्रमदयक्षमः शमः।
क्व मदः प्रदर्शितसमग्रविग्रहः
महसन्मनस्विजनगर्हित-स्थितिः ॥ २२ ॥

इति मामनर्गलममार्गमार्गण-
प्रवणाविवेकविकलीकृताशयम् ।
करुणानिधान परिबोधय क्षणं
क्षणदाविशेषकशिखाशिखामणे ॥ २२ ॥

(चक्कलकम्)

अन्वय—भवभ्रमभीमघर्मशमसनुसम् महेश्वरस्मरणसम्भवम् सुखम् (अत्युत्कृष्टम्) क्व, मृदुमृणालिनीदलस्खलदम्बुबिन्दुतरलाः, विपदाम् पदम् सपद. (अत्यन्त गर्ह्या:) क्व? कृतगण्डमण्डलीपुलकोद्गमप्रमद-मन्थराः हे शिव! हे ईश्वर! (मा पाहीति, सकलविद्वज्जनमनोहराः) गिरः क्व, यथार्थपार्थिवनिरर्थकानतस्तुतिनिष्ठरैः अपथपातपातकम् क्व? (अत्यन्त गर्हणीयमित्यर्थः) तथा समाधिनाधितदुराधिसाधिमा भरसम्भवभ्रमदमत्तमः, शमः (जितेन्द्रियत्वम्) क्व (अतिप्रशस्यमित्यर्थः), प्रदर्शितसमप्रविग्रहः प्रहसन्मनस्विजनगर्हितस्थितिः (नितान्तगर्ह्यः) मदः क्व? हे क्षणदा-विशेषकशिखाशिखामणे! हे करुणानिधान! इति (प्रकारेण) अनर्गलम् अमार्गमार्गणप्रवणाऽविवेकविकलीकृताशयम् माम् क्षणम् परिबोधय।

अर्थ—इस असार ससार रूप मरुस्थल मे (वृथा ही) भ्रमण करने के कारण उत्पन्न हुए घोर सन्ताप की शान्ति करने में समर्थ, वह भगवत्स्मरण से प्राप्त होनेवाला परम आनन्दरूप अत्युत्तम सुख कहाँ? और कोमल कमलिनी के पत्र में इधर-उधर हिलते हुए जल-बिन्दुओं के समान चञ्चल (अर्थात् अतीव क्षणभङ्गुर) और सम्पूर्ण आपत्तियों के घर वह सम्पत्तियाँ कहाँ? तथा कपोलमण्डली में रोमाञ्च का प्रादुर्भाव कर देनेवाले परम आनन्द से मन्थर (आलसी) 'हे शिव! हे ईश्वर! (मेरी रक्षा करो)' इस प्रकार की सकल विद्वज्जनमनोमोहक वाणी कहाँ? और यथार्थ नामवाले पार्थिवों (अर्थात मिट्टी के बने पुतले) अथवा उचित प्रकार से

प्रजापालन इत्यादि गुणों से हीन होने के कारण वृथार्थ राजाओं की निरर्थक मिथ्या स्तुति के आडम्बरों से कुमार्ग-पतनरूपी पाप कहाँ ? एवं समाधि द्वारा सकल दुराधियों (दुर्भावनाओं— दुराशाओं) की साधिमा (साधुता) को बाधित करनेवाला और सांसारिक श्रम का नाश करने में समर्थ वह (अति प्रशंसनीय) जितेन्द्रियत्व कहाँ ? और अत्यन्त वैरभाव को प्रकट करनेवाला, बुद्धिमानों से निन्दनीय मद [अहङ्कार] कहाँ ? इस प्रकार हे करुणानिधान ! हे सदाशिव ! पाप कर्म करने में भी स्वतन्त्र और कुमार्ग की खोज करने में तत्पर हुए अविवेक द्वारा विह्वलित किये अन्तःकरणवाले मुझ अज्ञानी को अब आप किञ्चित् सचेत कर दीजिए।

प्रमदा मदारुणदृशः कृशोदरास्तनया नयानतसमस्तमस्तकाः ।
सुहृदो हृदन्तरगतेङ्गितस्पृशः प्रणयार्द्रनिर्भरगिरश्च बन्धवः ॥२४॥
दधतः प्रसादमधुरां धुरामपि प्रभवोऽमृतद्रवसमानमानसाः ।
मुखवीक्षणप्रणयिनः प्रतिक्षणं परिचारकाश्च जयजीववादिनः॥२५॥
न भयं भयङ्करकृतान्तकिङ्करभ्रुकुटीभवं झटिति हन्तुमीशते ।
भजतामतः क्षपयदापदं पदं हृदये दयामृतनिधे निधेहि नः॥२६॥
(तिलकम्)

अन्वय—हे प्रभो ! मदारुणदृशः कृशोदराः प्रमदाः, नयानतसमस्तमस्तकाः तनयाः, हृदन्तरगतेङ्गितस्पृशः सुहृदः, प्रणयार्द्रनिर्भरगिरः बन्धवः च, प्रसादमधुराम् धुराम् अपि दधतः अमृतद्रवसमानमानसाः प्रभवः, प्रतिक्षणम् मुखवीक्षणप्रणयिनः जयजीववादिनः परिचारकाः च, भयङ्करकृतान्तकिङ्करभ्रुकुटीभवम् भयम् झटिति हन्तुम् न ईशते। अतः हे दयामृतनिधे ! आपदम् क्षपयत् भजताम् नः हृदये पदम् निधेहि।

अर्थ—हे नाथ ! मद से अरुण नेत्रोंवाली कृशोदरी स्त्रियाँ, विनय के द्वारा विनम्र मस्तकवाले पुत्र, हृदय के अभिप्राय को जान लेने-

वाले मित्र, स्नेहभरे वचन बोलनेवाले बान्धव, अनुग्रह से झुके और अमृत के प्रवाह के समान (अति कोमल) चित्तवाले स्वामी एवं प्रतिक्षण मुख दर्शन की अभिलाषा रखनेवाले और आपकी जय हो, आप चिरञ्जीव रहें! ऐसे-ऐसे शुभ वचन बोलनेवाले सेवक लोग अति भयङ्कर यम-दूतों की कुपित भ्रुकुटियों से उत्पन्न होनेवाले महा-भय को दूर करने में कदापि समर्थ नहीं हो सकते, अर्थात् प्राणी को मृत्यु की महाभीति से नहीं बचा सकते* इसलिए हे दयासागर! अब आप हमारी जन्म-मरण रूप विपत्ति का नाश करते हुए हमारे हृदय में स्थित हो जाइए!

हन्ताऽहन्ता प्रथयति मतिह्रासमासञ्जयन्ती
मायामायासित-सितशमा यामिनी यामिनीव।
तस्मादस्मान्रविशशिशिखिमेहितोद्दामयाम
क्षिप्त्वा चक्षुर्मुदितमुदिताऽन्ध्यबोधान्निधेहि ॥२७॥

अन्वय--हन्त! आयासितसितशमा, मायाम् आसञ्जयन्ती, यामिनी (विस्तारवती) यामिनी इव, (इयम्) अहन्ता (न.) मतिह्रासम् प्रथयति।

---

* इसी अभिप्राय से किसी भावुक ने कहा है---

तातस्त्राता नहि न सहजाश्वासनं यत्र चाम्बा-
स्नेहारम्भो भवति विफलो बान्धवो यत्र वन्ध्याः।
घोराहर्ये पथविरहितं खिद्यता देहभाजा-
मेकं तस्मिन्पथि सुमधुरं शम्बलं शम्भुनाम ॥

अर्थात्—जिस अति दुर्गम मार्ग में अतीव खिन्न हुए प्राणी को पिता नहीं बचा सकता, जहाँ सहोदर भ्राताओं का कोई आश्वासन नहीं मिलता, जहाँ पुत्र-वत्सला जननी का भी स्नेह निष्फल हो जाता है और बान्धव जन जहाँ कोई सहायता नहीं कर सकते, उस अति सङ्कटमय परलोक-मार्ग में केवल एक यह अचय सुमधुर 'शिवनाम' ही प्राणी की रक्षा करता है।

तस्मात् हे विभो ! रविशशि-शिखि-प्रेङ्खितोद्दामधाम, मुदितम् चक्षुः क्षिप्त्वा, अस्मान् मुदिताऽखण्डबोधान् विधेहि ।

अर्थ—हाय ! अतीव स्वच्छ शम (जितेन्द्रियता) को दुर्बल बना देनेवाली और अज्ञान-रूप अन्धकार को पैदा करनेवाली, अहंता अत्यन्त विस्तारवती महारात्रि के समान हमारी सद्बुद्धि का ह्रास करती जा रही है, इसलिए हे दयासागर ! सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि इन तीनों तेजोमय पिण्डों से प्रदीप्त हुई अपनी प्रसाद-भरी दृष्टि (प्रसन्न दृष्टि) डालकर हमें उस अखण्ड तत्त्वज्ञान से पूर्ण बना दीजिए !

इति श्रीप्रेममकरन्दव्याख्यासमेते काश्मीरकमहाकविश्रीमज्जगद्धरभट्ट-
विरचिते भगवतो महेश्वरस्य स्तुति कुसुमाञ्जलौ
उपदेशन नाम षोडश स्तोत्रम् ।

सप्तदशं स्तोत्रम्

अब हमारे कवि प्रेमरसिकों के हृदय-मन्दिर में ज्ञानमय दीपक प्रकाशित करने के लिए 'शिवभक्ति'-रूपी कल्पलता की महिमा वर्णन करते हुए 'भक्ति' नामक सत्रहवें स्तोत्र का प्रारम्भ करते हैं—

मन्दस्पन्दे मनसि रसिकीभावमासाद्य सद्यो
　　हृद्योद्योगा विहर वरदे भारति स्वारतिस्ते ।
मातर्जातस्पृहमिह महामोहनिद्रावसाने
　　जानीहीम जनमनलसं शंसितुं शम्भुभक्तिम् ॥१॥

अन्वय—अयि वरदे ! भारति ! मन्दस्पन्दे (मे) मनसि सद्यः रसिकीभावम् आसाद्य हृद्योद्योगा विहर, ते स्वारतिः (भारति) हे मातः !

इह महामोहनिद्रावसाने इमम् जनम् शम्भुभक्तिम् शंसितुम् अनलसम् जातस्पृहम् जानीहि ।

अर्थ—अयि वरदायिनि सरस्वति ! (अब तू) मेरे स्पन्दन से हीन (निश्चल) मन में तत्काल रसिकभाव (प्रीतिभाव) को प्राप्त होकर यथेच्छ विहरण किया कर । अयि मा ! (अब) इस महामोह-रूपी निद्रा के अन्त में मुझे तू भगवान् शङ्कर की भक्ति का वर्णन करने में आलस्य रहित और साभिलाष समझ ।

द्राक्षा साक्षादमृतलहरी कर्कशात्काष्ठकोपा-
द्भूरिच्छिद्रात्प्रकृतिमधुरा मूर्च्छना वंशगर्भात् ।
सूक्तिव्याजान्मम च वदनात्कर्णपेया सुधेयं
निर्गच्छन्ती जनयति न कं विस्मयस्मेरवक्त्रम् ॥ २ ॥

अन्वय—कर्कशात् काष्ठकोपात् निर्गच्छन्ती, साक्षात् अमृतलहरी द्राक्षा, भूरिच्छिद्रात् वंशगर्भात् निर्गच्छन्ती प्रकृतिमधुरा मूर्च्छना, (एवमेव) मम च वदनात् सूक्तिव्याजात् निर्गच्छन्ती इयम् कर्णपेया सुधा कम् (सचेतनम्) विस्मयस्मेरवक्त्रम् न जनयति ?

अर्थ—अहा, अत्यन्त कठोर काष्ठ (लता) के अन्दर से निकली हुई साक्षात् अमृत लहरी के समान 'द्राक्षा' (द्राति रसमिति द्राक्षा—सुमधुर रस को झरनेवाली द्राक्षा) और बहुत छिद्रवाले वेणु (बाँस) के अन्दर से निकलती हुई स्वभावमधुरा मूर्छना एवं मेरे मुख के द्वारा सूक्ति के व्याज से निकलती हुई यह कर्णपेया (कानों से पीने योग्य) श्रीशिव भक्ति रूपी सुधा, किस सचेतन पुरुष को आश्चर्यमय हास्य से युक्त मुखवाला नहीं बना देती है ? अर्थात् जैसे उक्त प्रकार की द्राक्षा और मूर्छना सभी लोगों को आश्चर्य विस्मित कर देती हैं, वैसे ही यह मेरे मुख से निकला हुई भगवत्स्तुति रूप सुधा भी सहृदय जनों को अतीव सुविस्मित कर देती है ।

ध्यात्वा देव प्रमयसमयत्रासमासन्नकल्पं
स्वल्पं ज्ञात्वा सुलभशलभच्छायसच्छायमायुः ।
मत्वा च त्वा सदयहृदयं भक्तिवाल्लभ्यलभ्यं
सभ्यंमन्यास्तव नवविधौ धौतचित्ता यतन्ते ॥ ३ ॥

अन्वय—हे देव ! प्रमयसमयत्रासम् आसन्नकल्पम् ध्यात्वा, सुलभशलभच्छायसच्छायम् आयुः स्वल्पम् ज्ञात्वा, त्वा (त्वाम्) च सदयहृदयम् भक्तिवाल्लभ्यलभ्यम् मत्वा, धौतचित्ताः सभ्यमन्याः तव नवविधौ यतन्ते ।

अर्थ—अयि परम पद में विहार करनेवाले स्वयप्रकाश परमेश्वर ! मृत्युकाल के भय को निकट जानकर, आयु को शलभों (पतङ्गों) की छाया के समान स्वल्प समझकर और आपको अत्यन्त दयालु-हृदय और केवल एक भक्ति के स्नेह से प्राप्त होनेवाला जानकर, पवित्र अन्तःकरणवाले सभ्य पुरुष आपकी स्तुति (आराधना) मे प्रयत्न करते हैं ।

कण्ठे कण्ठीरवरवसदृग्दृक्समुद्गोद्गताश्रो-
र्हेलोन्मीलद्विपुलपुलकोद्भृतभूतेशभक्तेः ।
यस्योदेति ध्वनिरनिभृतः शर्वशर्वेत्यखर्वं
गर्वं बिभ्रद्धसति वसतिं वासवीयां स एकः ॥ ४ ॥

अन्वय—दृक्समुद्गोद्गताश्रोः हेलोन्मीलद्विपुलपुलकोद्भृतभूतेशभक्तेः यस्य कण्ठे कण्ठीरव-रवसदृक् अनिभृतः हे शर्व ! हे शर्व ! (मा पाहि) इति ध्वनिः उदेति, स एकः अखर्वम् गर्वम् बिभ्रत् वासवीयाम् वसतिम् हसति ।

अर्थ—प्रेमाश्रुओं से पूर्ण नेत्रोंवाले, और अतिशय रोमाञ्च के प्रादुर्भाव से प्रकटित आन्तरिक शिवभक्तिवाले जिस भाग्यशाली के कण्ठ में सिंह-नाद के समान अति स्फुट "हे शर्व ! हे शर्व !" (मेरी रक्षा करो) ऐसी गम्भीर ध्वनि निकलती है, वही एक धन्यात्मा पुरुष अखर्व गर्व को धारण करता हुआ, वासव (इन्द्र) की पदवी का उपहास किया करता है । अर्थात शिवभक्ति-भावित अन्तःकरणवाले

सहृदयों को शिवनाम के आगे इन्द्र का अनुपम वैभव भी अत्यन्त तुच्छ प्रतीत होता है।

तन्मानुष्यं प्रभवति सतामुत्तमा यत्र जातिः
सैका जातिः प्रसरति यशो यत्र पाण्डित्यहेतु ।
तत्पाण्डित्यं सरसमधुरा जृम्भते यत्र वाणी
वाणी सापि प्रथयति रतिं शाङ्करी यत्र भक्तिः ॥ ५ ॥

अन्वय—मानुष्य तत् (एव) सताम् यत्र उत्तमा जातिः प्रभवति, सा (एव) एका जातिः (प्रशस्या) यत्र पाण्डित्यहेतु यशः प्रसरति; पाण्डित्यम् (अपि) तत् (एव धन्यम्) यत्र सरसमधुरा वाणी जृम्भते; साऽपि वाणी (धन्यतमा) यत्र शाङ्करी भक्तिः रतिम् प्रथयति।

अर्थ—मनुष्यजन्म वही श्रेष्ठ है जहाँ कि उत्तम (ब्राह्मण) कुल में जन्म हो (अर्थात् ब्राह्मण कुल में जन्म मिलना अति श्रेष्ठ है) और ब्राह्मण जाति भी वही श्रेष्ठ है जिसमें कि पाण्डित्य के कारण अपना सुयश प्रख्यात हो। पाण्डित्य (विद्वत्ता) भी वही श्रेष्ठ है, जिसमें अतीव सरस (शान्त आदि रसों से युक्त) मधुर वाणी प्राप्त हो और वाणी भी एक वही धन्य है जिसमें भगवान् सदाशिव की भक्ति उस अखण्ड आनन्द का विस्तार करे।

येषां वक्त्रे समदमुदितत्वच्चरित्राः पवित्रा
द्वित्रा चित्रासितरविसुतभ्रूविभङ्गप्रसङ्गाः ।
नोज्जृम्भन्ते मधुकणमुचः सूक्तयो भक्तिसिक्ता
धिक्तान्रिक्तान्भुवि भव भवत्पादसेवारसेन ॥ ६ ॥

अन्वय—हे भव ! चित्रासितरविसुतभ्रूविभङ्गप्रसङ्गाः मधुकणमुचः भक्तिसिक्ताः पवित्राः समदमुदितत्वच्चरित्राः द्वित्राः सूक्तयः येषाम् वक्त्रे न उज्जृम्भन्ते, भुवि भवत्पादसेवारसेन रिक्तान् तान् धिक् (अस्तु)।

अर्थ—हे भगवन् ! यमराज की टेढ़ी भ्रुकुटि को भयभीत कर देनेवाली, अमृत के कणों को टपकानेवाली, भक्तिरसाऽमृत से आर्द्र और गाढ़ अनुरागपूर्वक आपके दिव्यातिदिव्य चरित्रों का वर्णन करनेवाली दो-तीन (भी) पवित्र प्रौढ उक्तियाँ जिन (अभागियों) के मुख में नहीं हैं (अर्थात् जिन अधमों के मुख से आपकी थोड़ी सी भी स्तुति नहीं निकलती है) ऐसे उन आपके चरणारविन्द की सेवा के सुख से विहीन नराधमों को ससार मे (बार-बार) धिक्कार है ।

नाथ ज्योत्स्ना बहुलरजनौ कार्तिकीयेव कान्ता
कान्तारान्तर्मथितपथिकप्रौढतापा प्रपेव ।
मा मा भैषीरिति यमभये तावकीनेव वाणी
भावत्की मे सततममृतस्यन्दिनी भाति भक्तिः ॥७॥

अन्वय—हे नाथ ! बहुलरजनौ कार्तिकीया कान्ता ज्योत्स्ना इव, कान्तारान्तः मथितपथिकप्रौढतापा प्रपा इव, यमभये 'मा मा भैषीः' इति तावकीना वाणी इव, भावत्की भक्तिः मे सततम् अमृतस्यन्दिनी भाति ।

अर्थ—हे नाथ ! कृष्ण-पक्ष की अँधियारी रात्रि में कार्तिक मास की मनोहर चन्द्र-कान्ति के समान (मरुस्थल के) निर्जन मार्ग में श्रान्त हुए पथिकों (बटोहियों) के महान् संताप को शान्त करनेवाली प्रपा (जल-शाला) के समान और अत्यन्त कुपित यमराज के भय में आपकी 'मा भैषीः'—अरे वत्स तू इस यमराज से मत डरना, कदापि मत डरना—इस प्रकार की अभय वाणी के समान (सांसारिक पाप-तापों से सन्तप्त हृदय में) निरन्तर अमृत की सी वृष्टि करनेवाली आपकी भक्ति मुझे अतीव प्रिय लगती है ।

येषामन्तः सुकृतसरणिः स्थाणवीया न भक्ति-
र्व्यक्तिं धत्ते रसकृदसकृन्नास्मि तेषु स्मितेषु ।

लोकः शोकं त्यजति सहसा यत्र तद्भक्तियुक्तं

युक्तं मन्ये रुदितमुदितश्लाघमुल्लाघहेतुम् ॥ ८ ॥

अन्वय—येषाम् (प्रमोदोद्भूतहसितानाम्) अन्तः सुकृतसरणिः स्थाणवीया भक्तिः व्यक्तिम् न धत्ते, तेषु स्मितेषु असकृत् रसकृत् न अस्मि (तानह नाऽऽशासे, इत्यर्थः), यत्र (श्री शम्भुभक्तियुक्ते) रुदिते (अपि) लोकः (सामान्यलोकोऽपि) सहसा शोकम् त्यजति, तत् उदितश्लाघम् उल्लाघहेतुम् भक्तियुक्तम् रुदितम् (अपि, अहम्) युक्तम् मन्ये।

अर्थ—जिन (अत्यन्त हर्ष द्वारा उत्पन्न होनेवाले हास्यों) के अन्दर, पुण्य का सरणि (अर्थात् पुण्य-प्राप्ति का मार्ग) शिव-भक्ति व्यक्त न हो, उन (आनन्दजन्य) इयद् हास्यों पर मैं बहुत प्रीति नहीं करता, अर्थात् भगवद्भक्ति-विहीन हास्यों को मैं अच्छा नहीं समझता। और जिस (श्रीशिवभक्तियुक्त) रोदन में प्राकृत मनुष्य भी अपने शोक (चिन्ताजाल) को तत्काल त्याग देता है, उस अति प्रशंसनीय और मनुष्य को नीरोग बनानेवाले शिवभक्ति युक्त रोदन को भी मैं श्रेष्ठ समझता हूँ, अर्थात् भगवद्भक्ति विहीन हास्य की अपेक्षा, मैं भगवद्भक्ति-युक्त रोदन को (भी) अत्युत्तम समझता हूँ।

ध्वान्तं शान्तप्रशममहरद्यन्न सद्यः समुद्य-

न्नुद्योतश्रीकलितकमलोल्लासभानुः स भानुः।

तद्विध्वस्तप्रमदमदमोहीपितोद्दामदीप-

प्लोषं नेतुं प्रभवति भवे शांभवी भक्तिरेव ॥ ९ ॥

अन्वय—उद्योतश्रीकलितकमलोल्लासभानुः सः भानुः समुद्यन्, शान्तप्रशमम् यत् ध्वान्तम् न अहरत्। भवे विध्वस्तप्रमदम् अदमोहीपितोद्दामदीपम् तत् ध्वान्तम् (अज्ञानरूपम्) प्लोषम् नेतुम् शाम्भवी भक्तिः एव प्रभवति।

अर्थ—प्रकाशमयी दीप्ति के द्वारा कमलों को प्रफुल्लित करनेवाली किरणोंवाला वह भानु तत्काल उदय होता हुआ, शम (जितेन्द्रियता)

का नाश करनेवाले जिस (अज्ञान रूप) अन्धकार को नहीं दूर कर सकता, उस महान् हर्ष का नाश करनेवाले और इन्द्रियों के अनिरोध द्वारा महान् दोषों को पैदा करनेवाले अज्ञान-रूप अन्धकार को भस्म करने के लिए ससार में केवल एक भगवान् शङ्कर की भक्ति ही समर्थ हो सकती है।

ये सन्तोषप्रशमपिशुने क्लेशराशौ निमग्ना
भग्नाशाभिर्विषमविषयोपासनावासनाभिः ।
तेषामेषा भवभयभिदारम्भसंभावनाभू-
र्भूत्यै भूयस्त्रिजगति गतिः शाम्भवी भक्तिरेव ॥१०॥

अन्वय—ये भग्नाशाभिः विषमविषयोपासनावासनाभिः सन्तोषप्रशमपिशुने क्लेशराशौ निमग्नाः, तेषाम् एषा त्रिजगति (अगतीनाम्) गतिः, भूयः भवभयभिदारम्भसंभावनाभूः शाम्भवी भक्तिः एव भूत्यै (भवति)।

अर्थ—जो लोग भग्न हुई आशाओं से अत्यन्त विषम विषय-भोग की वासनाओं के द्वारा सन्तोष को नष्ट करनेवाली क्लेश-राशि में डूबे हुए हैं, उन लोगों को यह अगतिकों की परमगति और ससार के महाभय को समूल ही दूर कर देनेवाली शिव-भक्ति ही परम आनन्द प्रदान कर सकती है।

दम्भस्तम्भस्थगितगतयः भावहेला-महेला-
हेलालापभ्रमितमतयः सन्त्यसंख्याः पुमांसः ।
भार्गीं भक्तिं दधति हृदये निस्तरङ्गामभङ्गां
गङ्गातीरे विहितरतयो दुर्लभाः पूरुषास्ते ॥ ११ ॥

अन्वय—दम्भस्तम्भस्थगितगतयः भावहेलामहेलाहेलालापभ्रमितमतयः पुमांसः (भुवि) असंख्याः सन्ति, ये (पुनः) गङ्गातीरे विहितरतयः (सन्तः) हृदये निस्तरङ्गाम् अभङ्गाम् भार्गीम् भक्तिम् दधति ते पूरुषाः दुर्लभाः सन्ति ।

अर्थ—दम्भ रूपी स्तम्भ से जिनकी (पारमार्थिक) गति रुक गई है और रूप, लावण्य के मद से गर्वित हुई महिलाओं के हावभावों से जिनकी मति (अज्ञान रूपी भँवर में) चक्कर खा रहा है, ऐसे निर्विवेकी पुरुष इस संसार में असंख्य (भरे पड़े) हैं, परन्तु जो लोग (पतित-पावनी) गङ्गा के पवित्र तट पर निवास करते हुए भगवान् सदाशिव की निश्चल भक्ति को हृदय में धारण करते हैं, वे सहृदय पुरुष बहुत ही दुर्लभ हैं।

शम्भो दम्भो दहति कुहकारम्भसंभावनाभिः
साभिद्रोहस्त्विषमपकृषत्येष रोषप्रदोषः ।
सावष्टम्भं भ्रमयति बृहन्मामहङ्कारभारः
पारं नेतुं प्रभवति भवद्भक्तिरेका भवाब्धेः ॥ १२ ॥

अन्वय—अयि शम्भो ! कुहकारम्भसंभावनाभिः दम्भः माम् दहति, साऽभिद्रोहः एषः रोषप्रदोषः (मम) त्विषम् अपकर्षति, बृहत् अहङ्कारभारः सावष्टम्भम् माम् (कुपथेषु) भ्रमयति, (अतः) माम् भवाब्धेः पारम् नेतुम् एका भवद्भक्तिः (एव) प्रभवति ।

अर्थ—हे नाथ ! यह दम्भ अत्यन्त द्रोह उत्पन्न करके मुझे जला रहा है, द्वेष से युक्त यह क्रोधरूपी रात्रि मेरे तेज को हर रहा है, और महान् अहङ्कार का भार मुझे गर्वित करके कुमार्गों में घुमा रहा है, इसलिए प्रभो ! अब मुझ शरणहीन को इस अपार भवसागर से पार करने के लिए केवल एक आपकी भक्ति ही समर्थ है।

द्राघसधत्ते युधमधिधनुर्वद्धबाणाभिरामैः
सभ्रूभङ्गैर्लटभललनापाङ्गभङ्गैरनङ्गः ।
दोषप्लोषक्षमशमपथापातमातन्वती मे
भीमे भक्तिर्भगवति गतिश्चक्षुषश्चन्द्रिकेव ॥ १३ ॥

अन्वय—अधिधनुः वद्धयाणाभिरामैः सभ्रूभङ्गैः तरुणललनापाङ्गभङ्गैः अनङ्गः युधम् प्राक् उपक्ते, अतः चक्षुषः चन्द्रिका इव, दोषप्लोषप्रशमपथपातम् आतन्वती भगवति भीमे भक्तिः एव एका मे गतिः (अस्ति)।

अर्थ—धनुष पर चढ़ाये हुए बाणों के समान मनोहर कटाक्षों से युक्त प्रौढ़ा-युवतियों के नेत्र-तरङ्गों के द्वारा यह काम-देव मेरे साथ युद्ध करने को तैयार है। इसलिए सन्तप्त हुए नेत्रों को चन्द्रिका के समान, काम क्रोधादि रूप दोषों को शान्ति करने में समर्थ शम-दम रूपी मार्ग पर चलने(गिरने)वाली शिव-भक्ति के सिवाय अब मेरी दूसरी कोई गति ही नहीं है।

> कामः कामं धनुरनुनिशं कौसुमं संवृणोतु
> 　　व्यालं कालः स्वकरकुहरे भग्नभोगं विधत्ताम्।
> भार्गी भक्तिः सपदि सकलप्रार्थनाकल्पवल्ली
> 　　लब्धा दग्धा जगति कति न क्लेशपाशा हताशाः॥१४॥

अन्वय—कामः अनुनिशम् कौसुमम् धनुः कामम् संवृणोतु, (क्वापि सगोप्य रक्षतु)। कालः व्यालम् स्वकरकुहरे भग्नभोगम् विधत्ताम्। (मया प्राचीनपुण्यपरिपाकेन) सपदि सकलप्रार्थनाकल्पवल्ली भार्गी भक्तिः लब्धा, अतः जगति हताशाः क्लेशपाशाः (मया) कति न दग्धा ।

अर्थ—अब यह कामदेव (हताश होकर) अपने पुष्प धनुष को कहीं छिपा के रक्खे ! और काल—यमराज भी अपने नागपाश को हाथों में ही गुप्त रक्खे ! क्योंकि अब मुझे समस्त अभिलाषों की कल्पलता—श्री शिवभक्ति प्राप्त हो गई है; इसलिए अब मैंने संसार में अविद्या आदि समस्त क्लेश पाशों को हताश करके उन्हें बाँध डाला है। अर्थात् मुझे बन्धन में डालनेवाले रागद्वेषादि समस्त दोषों को मैंने श्री शिव भक्ति के बल से, मन्त्र-मथित सर्प के समान, निर्वीर्य करके हताश कर दिया है।

राज्ञामाज्ञाविहतिविहितानीकिनीनीरसश्री-
स श्रीलेशस्तनुरनुचितप्रार्थनस्तावदास्ताम् ।
ऐन्द्रं यत्र त्रिभुवनजयप्राज्यसाम्राज्यलक्ष्मी-
लक्ष्मावज्ञास्पदमपि पदं तां स्तुमः शम्भुभक्तिम् ॥१५॥

अन्वय—राज्ञाम् आज्ञाविहतिविहितानीकिनीनीरसश्रीः (अतएव) अनुचितप्रार्थनः सः तनुः श्रीलेशः तावत् आस्ताम्, यत्र त्रिभुवनजयप्राज्य-साम्राज्यलक्ष्मलक्ष्म ऐन्द्रम् पदम् अपि (लब्धम्) अवज्ञास्पदम् (भवति) ताम् शम्भुभक्तिम् स्तुमः ।

अर्थ—आज्ञा के भङ्ग से अतीव नीरस प्रतीत होनेवाली अतएव जिसकी प्राप्ति के लिए प्रार्थना करना ही व्यर्थ है ऐसी क्षुद्र राजाओं की स्वल्प सम्पत्ति की हमें कोई भी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि अब तो हम उस शिव भक्ति की (ही) आराधना करते हैं जिस (शिवभक्तिरसाऽमृत) की प्राप्ति होने पर त्रैलोक्यविजयी उत्कृष्ट साम्राज्य-लक्ष्मी की शोभा को धारण करनेवाला ऐन्द्र पद भी अत्यन्त घृणास्पद मालूम पड़ता है ।

कान्तैकान्तव्यसनमनसां वल्कलालङ्कृतानां
ज्ञानाम्भोभिः क्षपितरजसां जाह्नवीतीरभाजाम् ।
गाढोत्सेकप्रकटितजटामण्डलीमण्डनानां
नानाकारा भवति कृतिनां मुक्तये भर्गभक्तिः ॥१६॥

अन्वय—कान्तैकान्तव्यसनमनसाम् वल्कलालङ्कृतानाम् ज्ञानाम्भोभिः क्षपितरजसाम् जाह्नवीतीरभाजाम् गाढोत्सेकप्रकटितजटामण्डलीमण्डनानाम् कृतिनाम् नानाकारा भर्गभक्तिः मुक्तये भवति ।

अर्थ—अतीव मनोहर एकान्त के प्रेमी, वल्कल वस्त्रों से अलङ्कृत, ज्ञान-जल से पाप-रूप रज का प्रक्षालन करनेवाले, जाह्नवी के पावन तट का सेवन करनेवाले, और गाढ भक्ति रस के उत्सेक से

प्रकटित जटा-मण्डलों में मण्डित पुण्यात्माओं को यह अनेकों प्रकार की शिव-भक्ति कैवल्य पदवी को प्रदान करती है।

मूर्तिर्धूतिं प्रथयति यथा मञ्जरी जीर्णपर्णा
कर्णाभ्यर्णं प्रसरति जरा सत्यतो मृत्युदूती।
भोगा भोगा इव विदधतश्चेष्टितं वेष्टयन्ते
हन्तेदानीं शरणमपरं नास्ति नः शम्भुभक्तेः ॥१७॥

अन्वय—नः मूर्तिः जीर्णपर्णा मञ्जरी यथा, धूतिम् प्रथयति, सत्यतः मृत्युदूती जरा (नः) कर्णाभ्यर्णम् प्रसरति; भोगाः भोगाः इव विदधतः चेष्टितम् वेष्टयन्ते, हन्त ! इदानीम् शम्भुभक्तेः अपरम् नः शरणम् नास्ति।

अर्थ—हमारी मूर्ति (हमारा शरीर) जीर्ण पत्तोंवाली लता के समान कम्प को प्राप्त होती है, ठीक यमदूती की तरह यह जरा हमारे श्रोत्रों के नजदीक आ रही है और ये भोग (शब्दादि विषय) साक्षात् भोग (सर्प फणों) के समान हमारी चेष्टाओं (गतियों) को ढाँक रहे हैं। हाय ! अब इस समय केवल एक उस 'शिव-भक्ति' के सिवाय हमारी दूसरी कोई भी शरण नहीं है।

यत्र ध्वान्तक्षपणनिपुणं दुर्बलं धाम चान्द्रं
सान्द्रं यत्र ग्लपयति तमस्तापनो यन्न तापः।
यत्र प्रेङ्खन्न कचति शिखी तेजसाऽन्येन सत्रा
तत्रालोकं दिशति विषमे शांभवी भक्तिरेका ॥१८॥

अन्वय—ध्वान्तक्षपणनिपुणम् चान्द्रम् धाम यत्र (मोहान्धतमसे निराकर्तव्ये) दुर्बलम् (भाति) यत्र तापनः तापः सान्द्रम् तमः न ग्लपयति; यत्र (च) अन्येन तेजसा सत्रा (सह) प्रेङ्खन् शिखी न कचति, तत्र विषमे (मोहाऽन्धतमसे) एका शाम्भवी भक्तिः (एव) आलोकम् दिशति।

अर्थ—अत्यन्त गाढ़ अन्धकार का नाश करने में समर्थ चन्द्रमा का तेज भी जिस (मोह-रूपी अन्धकार) को दूर करने में असमर्थ हो जाता है, अत्यन्त तेजस्वी सूर्यतेज भी जिसका नाश नहीं कर सकता और

(ग्रह, तारागण, मणि आदि) सभी तेजों के साथ लेकर प्रज्ज्वलित होता हुआ अग्नि भी जहाँ प्रकाश नहीं कर सकता, ऐसे अति गाढ़ मोह रूपी अन्धकार में केवल एक शाम्भवी भक्ति ही प्रकाश प्रदान करती है। अर्थात् मोह-रूपी गाढ़ अन्धकार के केवल भगवान् की भक्ति के सिवाय दूसरा कोई भी नहीं दूर कर सकता।

मा भूद्भूयोऽभ्यसनसुलभान्वीक्षिकी नाम विद्या
हृद्या दूरे विहरतु विपत्खण्डिनी दण्डनीतिः।
क्वापि स्थेम्ना लसतु कलितोल्लाघवार्तापि वार्ता
नार्तार्हं किमपि शरणं शम्भुभक्तिं विनाऽन्यत्॥१९॥

अन्वय—भूयोऽभ्यसनसुलभा आन्वीक्षिकी[1] विद्या मा भूत् नाम, विपत्खण्डिनी हृद्या दण्डनीतिः (अपि) दूरे विहरतु (सापि भवभयहारी नास्तीत्यर्थः), कलितोल्लाघवार्ता (कृषिपाशुपाल्यवाणिज्यादिरूपा) वार्ता अपि क्वापि स्थेम्ना लसतु, आर्तौ शम्भुभक्तिम् विना अन्यत् शरणम् अर्हम् न (भवति)।

अर्थ—अत्यन्त अधिक अभ्यास से प्राप्त होनेवाला आन्वीक्षिकी विद्या (तर्क-विद्या) मत मिले! अर्थात् वह जीव के पाप-तापों के नहीं मिटा सकती और (बाह्य) विपत्तियों का नाश करनेवाली, मनोहर दण्डनीति (राजनीति) भी दूर चली जाय! (अर्थात् हमें उस दण्ड-नीति (अर्थ-शास्त्र) की भी कोई आवश्यकता नहीं (क्योंकि वह भी प्राणी का आत्यन्तिक दुःख दूर नहीं कर सकती) एवं आरोग्य की वार्ता करनेवाली वार्ता (कृषि, पशुपालन, वाणिज्य आदि आजीविका) भी कहीं स्थिर होकर बैठ जाय! (अर्थात् लौकिक धन-सम्पत्ति की भी हमें कोई परवाह नहीं) क्योंकि प्राणियों के जन्म मरण के सङ्कट में केवल एक शम्भु-भक्ति के सिवाय दूसरा कोई सहायक ही नहीं हो सकता।

---

(१) प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्य, पश्चादीक्षणम् अन्वीक्षा, सा प्रयोजनं यस्याः सा आन्वीक्षिकी (तर्कविद्या)

संसाराब्धेः प्रथमलहरी पातकापातकामा
राभा नाम स्थगयति गतिं मज्जतां सज्जनानाम् ।
मोहावर्त्तभ्रमसमुदयत्खेदविच्छेदहेतुः
सेतुर्दूरीभवति च भृशं शेमुषी शेमुषीयम् ॥ २० ॥
तस्मादस्माज्जननमरणक्लेशवेशन्तपङ्का-
च्छङ्कातङ्काकुलितमतयो ये तितीर्षन्ति तेषाम् ।
आशापाशग्रथितवपुषां क्रन्दतामातुराणां
प्राणापाते वितरति करालम्बनं शम्भुभक्तिः ॥२१॥

(युगलम्)

अन्वय—संसाराब्धेः प्रथमलहरी पातकाऽऽपातकामा राभा, (भवाब्धौ) मज्जताम् सज्जनानाम् गतिम् स्थगयति नाम, मोहावर्त्तभ्रमसमुदयत्खेद-विच्छेदहेतुः सेतुः (सेतुरूपा) शेमुषी इयम् शेमुषी च दूरीभवति। तस्मात् अस्मात् जननमरणक्लेशवेशन्तपङ्कात् शङ्कातङ्काकुलितमतयः ये पारम् तितीर्षन्ति, तेषाम् आशापाशग्रथितवपुषाम् क्रन्दताम् आतुराणाम् प्राणापाते (केवलम्) शम्भुभक्तिः (एव) करालम्बनम् वितरति ।

अर्थ—(इस) अपार संसार-रूप महासागर की पहली तरङ्ग और मनुष्य को महान् पातकों (दुष्कर्मों) में गिरानेवाली राभा (युवती) भवसागर में डूबे सज्जनों की सद्गति को (एकदम) रोक देती है; और मोहरूपी आवर्त्त के भ्रमण से उत्पन्न हुए खेद को समूल नष्ट करनेवाली और (संसार-सागर से पार करने में) साक्षात् सेतुरूप वह शान्तिमयी (सत्त्वगुणप्रधाना) बुद्धि दूर चली जाती है। इसलिए इस जन्म-मरण रूप दुःख-पल्वल के (दुष्कृत-रूप) पङ्क से उत्पन्न हुई बाधाओं से विकलित मतिवाले जो सहृदय जन इस महान् विपत्ति से पार होना चाहते हैं, उन आशारूपी पाशों से बँधे

और दीन विलाप करनेवाले आतुरों को अन्तकाल में केवल एक शम्भु-भक्ति ही आश्रय (सहायता) देती है।

[अब यहाँ से मुख्य-विषयासक्ति दोष का वर्णन करते हुए कवि कहते हैं—]

एणाक्षीणां स्मरशरशिखाकोटिशौटीर्यभीमाः
प्रेमाकृष्टा झगिति कुटिला ये कटाक्षाः पतन्ति ।
कालेनैते कुलिशनिशितास्तुण्डदण्डा जडानां
भिन्दन्त्यन्तर्हृदयमदयं पत्त्रिणां नारकाणाम् ॥२२॥

अन्वय—स्मरशरशिखाकोटिशौटीर्यभीमाः प्रेमाकृष्टाः झगिति एणाक्षीणाम् ये कुटिलाः कटाक्षाः (तदासक्तकामिजनं प्रति) पतन्ति, एते (एव) कटाक्षाः कालेन कुलिशनिशिताः (सन्तः) नारकाणाम् पत्त्रिणाम् तुण्डदण्डाः अदयम् (कृत्वा) तेषाम् जडानाम् अन्तःहृदयम् भिन्दन्ति ।

अर्थ—कामदेव के बाणों के सिरों की तीक्ष्णता के समान भयङ्कर, जो युवतियों के प्रेम-कटाक्ष (उन पर आसक्त हुए) कामी लोगों पर गिरते हैं, वही कटाक्ष अन्त समय पर वज्र के समान तीक्ष्ण होते हुए नरकों के पक्षियों की चोंचें बनकर अत्यन्त निर्दयतापूर्वक उन मूर्खों (अर्थात् उन्हीं कामियों) के हृदय को (खूब) भेदन करते हैं, और—

बाहुद्वन्द्वं तुलित-विचलद्बालमार्णालनालं
सालङ्कारं रणितवलयं वेष्टितं कण्ठपीठे ।
मोहान्धानां महति पततां यातनातङ्कपङ्के
शङ्के पङ्केरुहदलदृशः पाशतामेतदेति ॥ २३ ॥

अन्वय—तुलितविचलद्बालमार्णालनालम् सालङ्कारम् रणितवलयम् पङ्केरुहदलदृशः (यत्) बाहुद्वन्द्वम् मोहान्धानाम् कण्ठपीठे वेष्टितम् (तदेव) कालेन महति यातनातङ्कपङ्के पतताम् (तेषाम्) पाशताम् एति, एतत् (अहम्) शङ्के।

अर्थ—जो कोमल बाल मृणाल (नवीन कमल) की नाल के समान सुमनोहर, केयूर-कङ्कण आदि आभूषणों से अलंकृत, वलयों से शब्दायमान कामिनी की भुजाएँ (पहले) मोहान्ध (कामी) लोगों के कण्ठ में लिपटती हैं, (मैं सोचता हूँ कि) वही भुजाएँ (फिर) अन्त काल में अत्यन्त घोर नरक-यातना रूपी कीचड़ में पड़ते हुए उन्हीं (कामी) लोगों के लिए महान् लोहमय पाश बन जाती हैं। और—

यत्साकूतं मुकुलितदृशः केतकामोदहृद्य
सद्यः स्विद्यद्वदनममृतस्यन्दि पीतं नताङ्ग्याः ।
रागान्धानां निरयनिलये तद्दुरापावसाने
जाने भूयः पतनशपथाक्रोशकोपत्वमेति ॥ २४ ॥

अन्वय—साकूतम् केतकामोदहृद्यम् सद्यः स्विद्यत् अमृतस्यन्दि मुकुलितदृशः नताङ्ग्याः यत् वदनम् (रागान्धैः) पीतम्, तदेव, भूयः (तेषाम्) रागान्धानाम् दुरापावसाने नरकनिलये पतनशपथाक्रोशकोपत्वम् एति (इति अहम्) जाने ।

अर्थ—विलास-युक्त, केतकी-पुष्प की सुगन्धि के समान मनोहर, तत्काल स्वेद (सात्त्विक भाव) को प्राप्त होता हुआ और अमृत को टपकानेवाला जो कामिनी का मुख (पहले) कामान्ध लोगों ने चुम्बन-पूर्वक (प्रेम से) आस्वादित किया, वही मुख फिर उन्हें अथाह नरकालय में डुबोने के लिए जोर से शाप देता हुआ आक्रोश का कोप बन जाता है।

रागोद्रेकात्कनककलशाकारमालम्ब्य हारं
सारङ्गाक्ष्याः पृथुकुचयुगं गाढमालिङ्गितं यत् ।
तन्मूढानां नरककलिले मज्जतामन्तकाले
नाले लग्नस्थिरतरगुरुग्रावभावं बिभर्ति ॥ २५ ॥

अन्वय—कनककलशाकारम् आलम्बि हारम् यत् सारङ्गाक्ष्याः पृथुकुच-युगम् (मूढैः) रागोद्रेकात् गाढम् आलिङ्गितम्, (तदेव) अन्तकाले नरक-कलिले मज्जताम् (तेषाम्) नाले लग्नस्थिरतरगुरुग्रावभावम् बिभर्ति ।

अर्थ—जो सुवर्ण-कलश के समान, मुक्ता-हार से सुशोभित कामिनी का पीन स्तन कामान्ध लोगों ने राग से अन्ध होकर गाढ आलिङ्गित किया, वही स्तन फिर अन्त-काल में उन मूर्खों के नरक-रूपी पङ्क में डुबोने के लिए कण्ठ में लगा हुआ बड़ा भारी अचल पाषाण बन जाता है ।

किं भूयोभिर्वचनरचनाडम्बरैर्दीर्घशोका
लोका युक्तं शृणुत सुतरां पश्चिमं वाक्यमेतत् ।
दुःखोदर्कं प्रमुखसुखदं सङ्गमुत्सृज्य साङ्गं
गाङ्गं लब्ध्वा सलिलममलं शम्भुभक्तिं भजध्वम् ॥ २६ ॥
(पञ्चभिः कुलकम्)

अन्वय—भूयोभिः वचनरचनाडम्बरैः (विवेकोत्पादकवैराग्यवचना-रम्भाडम्बरैः) किम् (भवति) हे दीर्घशोका. लोका (एतत्पूर्वोक्त मदीय सूक्त-मवधार्य) सुतराम् युक्तम् (मम) एतत् पश्चिमम् वाक्यम् (सावधानाः) शृणुत ! दुःखोदर्कम् प्रमुखसुखदम् साङ्गम् सङ्गम् उत्सृज्य, अमलम् गाङ्गम् सलिलम् लब्ध्वा, शम्भुभक्तिम् (एव) भजध्वम् ।

अर्थ—अधिक अब क्या कहें ? विवेक उत्पन्न करनेवाले बहुत से वैराग्यमय वचनों के आडम्बरों की क्या आवश्यकता है ? (अत.) अरे महान् शोकग्रस्त लोगों ! (मेरे पहले कहे वचनों को खूब विचार कर) अब इस अत्यन्त युक्त (यथार्थ) अन्तिम वाक्य को सावधान होकर सुनो—'केवल आरम्भ में सुख देनेवाली और परि-णाम में अत्यन्त दुःख देनेवाली विषयासक्ति को शीघ्र त्याग करके निर्मल गङ्गा-जल को प्राप्त कर केवल एक भगवान् शिव की भक्ति की ही शरण लो !'

त्रैलोक्यं लम्भयन्तस्तृणगणगणनां रोहिणीकान्तलेखा-
रेखालङ्कारभक्तिप्रमुदितमनसो निर्मलं धाम लब्धुम् ।
धन्याः संन्यासिनोऽन्तः कलिमलपटलं भूरि भिन्दन्त्यमन्दा
मन्दाकिन्याः पयोभिः शशिमुकुटजटावैजयन्तीदुकूलैः ॥२७॥

अन्वय—त्रैलोक्यम् तृणगणगणनाम् लम्भयन्तः, रोहिणीकान्तलेखा-रेखालङ्कारभक्तिप्रमुदितमनसः धन्याः अमन्दाः संन्यासिनः निर्मलम् धाम लब्धुम् शशिमुकुटजटावैजयन्तीदुकूलैः मन्दाकिन्याः पयोभिः अन्तः भूरि कलिमलपटलम् भिन्दन्ति ।

अर्थ—तीनों लोकों को शुष्क तृण के समान समझते हुए अर्थात् अतीव निःस्पृह, तथा श्री भगवान् शङ्कर की भक्ति से जिनका मन अलौकिक आनन्द में मग्न हुआ है, ऐसे भव्यात्मा सन्यासी लोग समस्त कर्मों को श्रीभगवच्चरणों में समर्पण करके उस अत्यन्त पवित्र परम पद (कैवल्यधाम) को प्राप्त करने के लिए शङ्कर की जटाध्वजा के दिव्य वस्त्र बने हुए मन्दाकिनी के स्वच्छ जलों से कलिकाल के समस्त मलों को धोते हैं।

एवं देव प्रभेव स्मरहर सकलद्वीपदीपस्य भर्त्तु-
र्भासामासादयन्ती विषमतमतमःखण्डने चण्डिमानम् ।
कारागारानुकारे परिभवति भवे बद्धमोहान्धकारे
भावत्की भक्तिरेका शरणमशरणत्राणविश्राणिनी नः ॥२८॥

अन्वय—हे देव, स्मरहर ! एवं (उक्तप्रकारेण वर्णिता) विषमतम-तमःखण्डने भासाम् चण्डिमानम् आसादयन्ती, बद्धमोहान्धकारे कारागारा-नुकारे भवे परिभवति (सति) सकलद्वीपदीपस्य भर्तुः (दिनमणेः) प्रभा इव, अशरणत्राणविश्राणिनी एका भावत्की भक्तिः एव नः शरणम् !

अर्थ—अयि भगवन् ! इस प्रकार गाढ़ अज्ञानरूप अन्धकार को नष्ट करने के लिए अति प्रचण्ड दीप्ति को धारण करनेवाली, मोह-

अन्वय—जितविकारः क्लृप्तलोकोपकारः कृतविपदपकारः शान्तमोहान्धकारः अतुलपुरुषकारः प्राप्तविश्वाधिकारः स्मरचितनिकारः पार्वतीचाटुकारः जयति।

अर्थ—शीत, उष्ण आदि छहों विकारों को जीतनेवाले, समस्त विश्व का उद्धार करनेवाले, जन्म-जरा-मरण-जन्य विपत्तियों का नाश करनेवाले, मोहरूपी गाढ़ अन्धकार की शान्ति करनेवाले, अतुलनीय पुरुषार्थ से सम्पन्न और काम को भस्म करनेवाले समस्त भुवनों के अधिपति श्री पार्वती के प्राणनाथ (श्री सदाशिव) सर्वोत्कृष्ट हैं।

अतनुमतनुतामुं प्राणिनां पूर्णशक्ति-
स्तनुभुवनगणं यः शर्मदः कर्मभुक्त्यै।
दिशमदिशदशङ्कां शास्त्ररूपां च मुक्त्यै
स भवतु भवदोपप्लोपकृद्वो महेशः ॥ २ ॥

अन्वय—पूर्णशक्तिः शर्मदः यः (विभुः) प्राणिनाम् कर्मभुक्त्यै अतनुम् अमुम् तनुभुवनगणम् (स्वतनुरूपनिखिलभुवनानां गणम्) अतनुत, प्राणिनाम् मुक्त्यै अशङ्काम् शास्त्ररूपाम् दिशम् च अदिशत्, सः महेशः वः भवदोपप्लोपकृत् भवतु।

अर्थ—पूर्ण स्वतन्त्र अर्थात् महान् ऐश्वर्य-शक्ति से सम्पन्न और कैवल्य देनेवाले जिस प्रभु ने प्राणियों के शुभाऽशुभ कर्मों के भोग के लिए इस अनन्त भुवन-रूप शरीर का विस्तार किया और प्राणियों की मुक्ति के लिए शास्त्र-रूप निःशङ्क सन्मार्ग (उपाय) का निर्देश किया, वह परमेश्वर आप लोगों के सम्पूर्ण सांसारिक दोषों को भस्म करे।

अनलसहितवृत्तौ सत्कलाभासशुद्धे
बुधवरमुखपद्मे भारती निर्मलोर्मिः।
वरद परमतापक्लेशजित्त्वत्प्रसादात्
प्रभवति भवदीये मूर्धनि स्वर्धुनीव ॥ ३ ॥

अन्वय—हे वरद ! अनल-सहित-वृत्तौ सत्कलाभासशुद्धे भवदीये मूर्धनि निर्मलोर्मिः परमतापक्लेशजित् स्वधु्नी इव, त्वत्प्रसादात् अनलस-हित-वृत्तौ, सत्कलाभासशुद्धे बुधवरमुखपद्मे निर्मलोर्मिः परमतापक्लेशजित् भारती प्रभवति।

अर्थ—अयि भक्ताऽभीष्टप्रद, परमेश्वर ! (तृतीय नेत्र की) अग्नि के सहवास से युक्त और मनोहर चन्द्रकला की दीप्ति से विशुद्ध आपके मस्तक में निर्मल तरङ्गोवाली, और तीव्र संतापो द्वारा उत्पन्न हुए क्लेश को दूर करनेवाली मन्दाकिनी की तरह, आपके कृपा-प्रसाद से (आपकी स्तुति करने में) आलस्य-रहित और हित-कारक शब्द-व्यापारवाले तथा सुन्दर (चतुःषष्टि) कलाओं की शोभा से विशुद्ध बने हुए विद्वद्वर के मुख-कमल में, निर्मल उल्लास रूपी तरङ्गोंवाली और उत्कट सन्ताप एवं (अविद्यादि पञ्च) क्लेशों की निवृत्ति करनेवाली सरस्वती विहरण करती है।

भव भवमरुचारश्रान्तसन्तापतान्ति-
प्रशमनघनवर्षावारिवाहं तवाहम्।
नमदमरकिरीटप्रोतरत्नांशुपूर-
स्फुरदुरुसुरचापं पादपीठं प्रपद्ये ॥ ४ ॥

अन्वय—हे भव ! अहम् भवमरुचारश्रान्तसन्तापतान्तिप्रशमन-घनवर्षावारिवाहम् नमदमरकिरीटप्रोतरत्नांशुपूरस्फुरदुरुसुरचापम् तव पाद-पीठम् प्रपद्ये।

अर्थ—हे प्रभो ! मैं संसार-रूपी मरुस्थल में भ्रमण करने से श्रान्त (परेशान) हुए प्राणियों के सन्तापों को शान्त करने में वर्षाकाल के मेघ के समान और नमन करनेवाले (ब्रह्मेन्द्रादि) देवताओं के मुकुटों पर गुँथे हुए रत्नों की किरण-रूपी विशाल इन्द्रधनुष से शोभायमान आपकी चरण-पीठिका का आश्रय लेता हूँ।

करकलितकपोला बालशैवालशय्या-
तललुलितमृणालीपेलवम्लानमूर्तिः ।
चिरविरहविनिद्रा मृडदयापातपात्रं
दिशि दिशि निशि पश्यत्यङ्गनानङ्गभीता ॥ ५ ॥

अन्वय—करकलितकपोला बालशैवालशय्यातललुलितमृणालीपेलव-म्लानमूर्तिः चिरविरहविनिद्रा अनङ्गभीता अङ्गना मृडदयापातपात्रम् (पुरुषम्) निशि दिशि दिशि पश्यति ।

अर्थ—(चिर-वियोग से व्याकुल होने के कारण) कपोल को अपने (बायें) हाथ में रक्खी हुई, नवीन शैवाल के समान सुकोमल शय्या पर कमल की डांड़ी के समान लेटी हुई जिसकी कोमल मूर्ति म्लान हो रही है ऐसी, चिरकालीन विरह-व्यथा से व्याकुल एवं कामबाण से पीड़ित हुई कामिनी भगवान् शङ्कर के कृपा पात्र पुरुष (शिवभक्त) को रात्रि में बड़ी उत्कण्ठापूर्वक सभी दिशाओं में देखती रहती है । अर्थात् शम्भु चरणानुरत भक्त को सांसारिक उत्तम उत्तम सुख-सम्पत्तियाँ अपने आप ही वर लेती हैं ।

हरचरणसरोजद्वन्द्वभक्तिप्रसादा-
दुपरि करिवराणां संचरन्तः सहेलम् ।
घनमदभरनिर्यन्निर्भरामोदलोभ-
स्खलदलिकुलगीतं स्फीतमाकर्णयन्ति ॥ ६ ॥

अन्वय—हरचरणसरोजद्वन्द्वभक्तिप्रसादात् करिवराणाम् उपरि सहेलम् सञ्चरन्तः (शिवभक्ताः) स्फीतम् घनमदभरनिर्यन्निर्भरामोदलोभस्खलदलिकुल-गीतम् आकर्णयन्ति ।

अर्थ—अहा, श्रीसदाशिव के चरणारविन्दों की भक्ति के प्रसाद से भक्त लोग श्रेष्ठ हाथियों के ऊपर बड़े आनन्द से चलते हुए, अतीव गाढ़ मन्द-जल से झरनेवाले उत्कट आमोद के लोभ में मग्न हुए भ्रमरों का सुन्दर गान सुना करते हैं ।

चरणकमलयुग्मं देव निर्दम्भभक्ति-
प्रह्वपुलकितदेहस्तावकं यो ननाम ।
अधिवसति स सेवानम्रसामन्तमौलि-
स्खलितबकुलमालालालितं पादपीठम् ॥ ७ ॥

अन्वय—हे देव ! निर्दम्भभक्तिप्रह्वपुलकितदेहः यः तावकम् चरण-कमलयुग्मम् ननाम, सः (सुकृतिः) सेवानम्रसामन्तमौलिस्खलितबकुल-मालालालितम् पादपीठम् अधिवसति ।

अर्थ—हे भगवन् ! जो निष्कपट भक्ति के अनुराग से पुलकित शरीरवाला पुरुष आपके चरण-कमलों को प्रणाम करता है, वह पुण्यात्मा सेवा में नम्र हुए राजाओं के मस्तकों से गिरे हुए बकुल-पुष्पों की माला से लालित दिव्य सिंहासन पर विराजित होता है ।

शशिशकलशिखण्ड त्वत्प्रसादेन धन्याः
सितकरधवलाभ्यां चामराभ्यां विभान्ति ।
उभयत इव वक्त्रं भाविरुद्रत्वलाभ-
प्रकटनपिशुनाभ्यां स्वर्णदीनिर्झराभ्याम् ॥ ८ ॥

अन्वय—हे शशिशकलशिखण्ड ! त्वत्प्रसादेन धन्याः (स्वकीयम्) वक्त्रम् उभयतः [पार्श्वद्वयेऽपि] सितकरधवलाभ्याम् चामराभ्याम् भाविरुद्र-त्वलाभप्रकटनपिशुनाभ्याम् स्वर्णदीनिर्झराभ्याम् इव विभान्ति ।

अर्थ—अयि चन्द्रार्धशेखर ! आपके कृपा-प्रसाद से धन्यात्मा लोग अपने मुखकमल के दोनों ओर चन्द्रकिरणों के समान स्वच्छ चँवरों से, भविष्य में प्राप्त होनेवाले शिव-स्वरूप (सायुज्य मुक्ति) के लाभ की प्रकटता को सूचित करनेवाली मन्दाकिनी की स्वच्छ (दो) धाराओं की भाँति सुशोभित करते हैं ।

क्षितिधरपतिपुत्रीवल्लभ त्वत्प्रसादा-
द्दधति जगति धन्या मूर्ध्नि पीतातपत्रम् ।

घटयितुमधिकत्वं स्वात्मनोऽपि त्वयैत-
त्सकलमिव वितीर्णं मण्डलं शीतरश्मेः ॥ ९ ॥

अन्वय—हे क्षितिधरपतिपुत्रीवल्लभ ! त्वत्प्रसादात् धन्या जगति मूर्ध्नि (यत्) धौतातपत्रम् दधति, (तत्) एतत् स्वात्मनः (अर्धेन्दुधारिणः) अपि अधिकत्वम् घटयितुम् तेषाम् त्वया सकलम् शीतरश्मेः मण्डलम् वितीर्णम् इव ! (इत्युत्प्रेक्षा) ।

अर्थ—हे उमानाथ ! पुण्यात्मा लोग इस भूमण्डल में आपकी कृपा के अनुग्रह से अपने मस्तक पर जो स्वच्छ छत्र को धारण करते हैं, सो वह मालूम होता है कि आपने स्वयं अर्धचन्द्रधारी होकर भी अपने भक्तों को अपने से भी अधिक उत्कृष्ट बनाने के लिए मानों उन्हें सारा ही चन्द्रमण्डल दे डाला है !

अयि हृदय दयार्द्रे स्वर्धुनीनीरधारी
त्वयि विहरति हस्तन्यस्तपीयूषकुम्भः ।
यदि हिमकरलेखाशेखरः कोऽपरस्ते
भवदवविनिवृत्त्यै शंस शीतोपचारः ॥ १० ॥

अन्वय—अयि हृदय ! दयार्द्रे स्वर्धुनीनीरधारी हस्तन्यस्तपीयूषकुम्भः हिमकरलेखाशेखरः (श्रीशिवः) यदि त्वयि विहरति, तर्हि (त्वम्) शंस ते भवदवविनिवृत्त्यै कः अपरः शीतोपचारः (अस्ति) ?

अर्थ—अयि प्यारे हृदय ! कृपा से आर्द्र, (शिर पर) स्वर्धुनी-गङ्गा के नीर को धारण करनेवाला, हाथ में (शीतल) अमृत पूर्ण कलश को धारण करनेवाला, और मस्तक पर शीतल किरणों वाली चन्द्रकला को धारण किया हुआ भगवान् स्वामी शङ्कर यदि तेरे अन्दर विहार किया करता है, तो फिर तू ही बतला, कि तेरे इस संसार-रूप दावानल को शान्त करने के लिए (इससे) दूसरा और कौन सा शीतोपचार हो सकता है ?

सुरवरनुतधैर्या वैरिदुर्वारवीर्या
　　जगति विविधशास्त्रप्रस्तुताचार्यचर्याः ।
दधति भुवनतन्त्रं कोटिशो रुद्रवर्याः
　　कृतसततसपर्या ये पुरा शङ्करस्य ॥ ११ ॥

अन्वय—पुरा ये शङ्करस्य कृतसततसपर्याः (भवन्ति) ते (सुकृतिनः) सुरवरनुतधैर्याः, वैरिदुर्वारवीर्याः जगति विविधशास्त्रप्रस्तुताचार्यचर्याः रुद्रवर्याः (रुद्रवत् वरणीयाः) कोटिशः भुवनतन्त्रम् दधति ।

अर्थ—जिन लोगों ने पहले भगवान् श्री शङ्कर की आराधना की है, उन पुण्यात्माओं का धैर्य ब्रह्मादि देवों से भी प्रशंसनीय होता है, बड़े-बड़े पराक्रमशाली शत्रु भी उनके बल का सामना नहीं कर सकते । वे लोग सकल शास्त्रों के पारङ्गत हो सारे संसार के आचार्य-स्वरूप होकर लोक में पूजित होते हैं और साक्षात् भगवान् शङ्कर के ही समान होकर समस्त विश्व में अपना शासन करते हैं ।

गिरि गिरिवरकन्याकान्त शान्तप्रयायां
　　करचरणगणेऽपि क्षामतामश्नुवाने ।
गलगलदवकाशे चापि कीनाशपाशे
　　भव भवति विना त्वां प्राणिनां त्राणकृत्कः ॥१२॥

अन्वय—अयि गिरिवरकन्याकान्त ! (वृद्धावस्थायाम्) गिरि शान्तप्रयायाम् (सत्याम्) करचरणगणे अपि क्षामताम् अश्नुवाने (प्राप्ते) कीनाशपाशे गलगलदवकाशे वा सति, हे भव ! प्राणिनाम् त्वाम् विना कः त्राणकृत् (भवति) ।

अर्थ—अयि नाथ, पार्वतीपते ! वृद्धावस्था में वाणी के शिथिल हो जाने पर, हाथ-पाँव आदि समस्त इन्द्रियों के अत्यन्त दुर्बल हो जाने पर और गले में काल-पाश से आकृष्ट हो जाने पर, ऐसे महान्

सङ्कटमय समय में प्राणियों की रक्षा हे प्रभो ! केवल एक आपके सिवाय दूसरा कौन कर सकता है ?

शयशयननिविष्टं वक्त्रमापाण्डुगण्डं
मतिमतिविरहेण ग्लानिभाजं वहन्ती ।
तनुतनुलतिकार्तिं मानिनी व्याहरन्ती
हर हरति न धैर्यं त्वत्समाधौ बुधानाम् ॥ १३ ॥

अन्वय—हे हर ! शयशयननिविष्टम् आपाण्डुगण्डम् वक्त्रम् वहन्ती, अतिविरहेण ग्लानिभाजम् मतिम् वहन्ती, तनुतनुलतिका आर्तिम् व्याहरन्ती मानिनी (अपि) त्वत्समाधौ बुधानाम् धैर्यम् न हरति ।

अर्थ—प्रभो ! कर-शय्या पर अत्यन्त धूसर गण्डस्थलोंवाले मुख को रखती हुई, प्रियतम के विरह से अतीव म्लानता को प्राप्त हुई मतिवाली, कृशित अङ्गोंवाली और सप्रोजन से अपनी मानसिक व्यथा को वर्णन करनेवाली मानिनी (भी) आपके ध्यान में परायण हुए सत्पुरुष के धैर्य को नहीं हर सकती !

दलदलघुविवेकं व्यक्तशोकातिरेकं
विश विशदमनन्त स्वान्तमन्तः प्रशान्तम् ।
भव भव भवदाहध्वंसवर्षाम्बुवाहः
कलिकलितरुजानां सप्रजानां प्रजानाम् ॥१४॥

अन्वय—हे अनन्त ! दलदलघुविवेकम् व्यक्तशोकातिरेकम् विशदम् अन्तः प्रशान्तम् स्वान्तम् विश, हे भव ! कलिकलितरुजानाम् सप्रजानाम् प्रजानाम् भवदाहध्वंसवर्षाम्बुवाहः भव ।

अर्थ—हे अनन्तपार, परमेश्वर ! मन का महान् विवेक खण्डित होता जाता है और शोक की मात्रा निरन्तर बढ़ती जा रही है। इसलिए हे नाथ ! आप अब हमारे इस अतीव सुनिर्मल, शान्त अन्तःकरण में प्रविष्ट हो जाइए और घोर कलि-काल के द्वारा पीड़ित हुई समस्त प्रजा

को संसार-रूप वनाग्नि से जो तीव्र सन्ताप हो रहा है उसे शान्त करने के लिए वर्षाकाल के मेघ के समान तत्पर हो जाइए।

दहदहतममोघं पाप्मनां दीर्घमोघं
रुचिरुचिरममन्दं सुन्दरानन्दकन्दम्।
दिश दिशदुपदेशं नाशितक्लेशलेशं
मधुमधुरमुदारं वाक्यपीयूषसारम् ॥ १५ ॥

अन्वय—हे नाथ ! (त्वम्) अहतम् पाप्मनाम् दीर्घम् ओघम् दहत् रुचिरुचिरम् अमन्दम् सुन्दरानन्दकन्दम् नाशितक्लेशलेशम् उपदेशम् दिशत्, मधुमधुरम् उदारम् वाक्यपीयूषसारम् दिश।

अर्थ—हे नाथ ! आप निरोध-रहित, समस्त पापों के समूह को भस्म करनेवाले, अतीव मनोहर, परम आनन्दकन्द और क्लेश-नाशक उपदेश करते हुए मधु के समान सुमधुर और परम उदार वाक्य-सुधा [मत डरो २ ऐसे वाक्यामृत] को हमें सुनाइए।

सरति सरतिरन्तर्घस्मरो मारवीर-
श्चलति च लतिकेव स्फीतभीतिर्मनीषा।
तमहित-महिमानं नाथ निक्षिप्य चक्षुः
शमय शमयमेति प्रीतिमान्येन लोकः ॥ १६ ॥

अन्वय—हे नाथ ! घस्मरः सरतिः मारवीरः अन्तःसरति, स्फीतभीतिः मनीषा लतिका इव चलति, प्रभो ! चक्षुः निक्षिप्य अहित-महिमानम् तम् वामम् शमय, येन (हेतुना) प्रीतिमान् अयम् लोकः शम् एति।

अर्थ—हे नाथ ! सारे जगत् का भक्षण करनेवाला, रति (अपनी स्त्री) सहित घोर कामदेव हमारे अन्तःकरण में घूमता है और बुद्धि अत्यन्त भयभीत होकर लता के समान कम्पित हो रही है। इसलिए हे नाथ ! आप एक बार अपनी दृष्टि डालकर इस अनिष्टकारी काम

को शान्त कर दीजिए, जिससे कि मैं अत्यन्त प्रसन्न होकर कल्याण को प्राप्त हो जाऊँ।

जघनजघनशोभा स्पर्धमाना सभृङ्गं
कमलकमलकान्तक्रान्तभासा मुखेन।
मुदितमुदितरागा सेवते देव रामा
मदनमदनवीनैस्त्वत्प्रपन्नं विलासैः ॥ १७ ॥

अन्वय—हे देव! जघनज-घनशोभा, अलकाऽन्तक्रान्तभासा मुखेन सभृङ्गम् कमलकम् स्पर्धमाना उदितरागा रामा मदन-मदनवीनैः विलासैः मुदितम् त्वत्प्रपन्नम् (जनम्) सेवते।

अर्थ—हे प्रभो! जघन की शोभा से रमणीय और कुटिल केशों से सुशोभित मुख द्वारा भ्रमरों से युक्त कमल को भी लज्जित करदेनेवाली परम अनुरागवती कामिनी मदन (काम) और मद के द्वारा उत्पन्न हुए नवीन हाव भावों से आपके परम उदार शरणागत की सेवा करती है।

जनित-जनितरङ्गं जृम्भयन्ती भवाब्धि
कलित-कलितमिस्रा नाथ कादम्बिनीव।
हरति हर तिमिस्रोन्माथिनी मोहमूर्च्छां
महितमहितहृद्धिः शुद्धबोधप्रकाशम् ॥ १८ ॥

अकलितमहिमानं ध्वस्तमिथ्याभिमानं
दददमृतसमानं बोधमाभासमानम् ।
प्रकटितलघिमानं दुर्वहं वर्धमानं
भरभरमवमानं भिन्द्धि मे बाधमानम् ॥ २१ ॥

अन्वय—अयि विभो ! (त्वम्) अकलितमहिमानम् ध्वस्तमिथ्याभिमानम् अमृतसमानम् आभासमानम् बोधम् (भक्तजनाय) ददत्, प्रकटितलघिमानम् वर्धमानम् बाधमानम् भरभरम् मे दुर्वहम् अवमानम् भिन्द्धि ।

अर्थ—हे नाथ ! जिसकी महिमा कोई भी नहीं जान सकता और जो मिथ्या अभिमान को समूल ही नाश कर देता है ऐसे, अमृत के समान प्रकाशमय तत्त्वज्ञान को प्रदान करते हुए आप, लघुता को प्रकट करनेवाले, निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होनेवाले, और हृदय में अत्यन्त बाधा पहुँचानेवाले सांसारिक अपार अपमान का नाश कर दीजिए ।

किमिव मणिभिः किं वा मन्त्रैः किमौषधिसंग्रहै-
रिह बहुविधैः किं वा कार्यं परैरपि भेषजैः ।
अमृतमपि न प्रायः पापोपतापशमक्षम
व्रजत शरणं तस्मादेकं हरं करुणापरम् ॥ २२ ॥

अन्वय—इह मणिभिः किं इव (भवति), मन्त्रैः वा किम् (भवति), औषधिसङ्ग्रहैः च किम् ? बहुविधैः परैः अपि भेषजैः वा किम् कार्यम् ? अमृतम् अपि प्रायः पापोपतापशमक्षमम् न (भवति), तस्मात् (अयि भावुकाः) करुणापरम् एकम् हरम् शरणम् व्रजत ।

अर्थ—इस क्षणभङ्गुर संसार में बड़ी बड़ी सुन्दर हीरक, पद्मराग, मरकत आदि मणियों की प्राप्ति से क्या लाभ हो सकता है ? अत्युत्तम मन्त्रों से भी कौन लाभ हो सकता है ? सुन्दर औषधियों के समूह से अथवा अनेकों उत्तम-उत्तम रसायनों से भी क्या लाभ हो सकता

है ? और अमृत भी पापों द्वारा उत्पन्न हुए सन्ताप को शान्त करने में प्रायः नहीं समर्थ हो सकता। इसलिए, अयि सहृदय भावुको ! आप लोग अतिशय करुणालु भगवान् शङ्कर की ही शरण में जाओ। (उसी की शरण लेने से आपके आत्यन्तिक दुःखों की निवृत्ति हो सकेगी।)

इह हि गिरिषु प्रालेयाद्रिर्महःसु विभावसु-
गुरुषु जननी मन्त्रेष्वेकाक्षरं परमं पदम्।
सरिषु सुकृतं वैरिष्वंहो नदीषु नभोनदी
प्रभुषु च परः स्वामी देवः शशाङ्कशिखामणिः ॥२३॥

अन्वय—हि इह गिरिषु प्रालेयाद्रिः परः (श्रेष्ठः अस्ति) महःसु विभावसुः परः, गुरुषु जननी परा, मन्त्रेषु एकाक्षरम् परम पदम्। सखिषु सुकृतम्, वैरिषु अंहः परः, नदीषु नभोनदी परा, प्रभुषु च देवः शशाङ्कशिखामणिः स्वामी परः (अत्युत्कृष्टः अस्ति)।

अर्थ—इस संसार में समस्त पर्वतों में से हिमालय श्रेष्ठ है, तेजस्वियों में सूर्य श्रेष्ठ है, गुरु लोगों में माता[1] सबसे श्रेष्ठ है, मन्त्रों

---

(१) गुरु लोगों की अपेक्षा माता श्रेष्ठ है। श्रीभगवान् मनुजी कहते हैं कि 'सहस्रं हि गुरून्माता, गौरवेणातिरिच्यते' अर्थात् गुरु लोगों की अपेक्षा माता का गौरव कहीं हजार गुणा अधिक होता है। इसी लिए कहा है—पतिता गुरवस्त्याज्याः, न तु माता कदाचन।

गर्भधारणपोषाभ्यां तेन माता गरीयसी ॥

अर्थात्—पतित गुरुजनों को त्याग देना चाहिए, किन्तु माता यदि पतित भी हो जाय तो भी उसका परित्याग करना उचित नहीं है; क्योंकि गर्भ में धारण करने और पालन-पोषण करने के कारण माता की महिमा सबसे अधिक श्रेष्ठ है।

में एकाक्षरी मन्त्र 'ॐकार' सबसे श्रेष्ठ है। मित्रों में पुण्य सबसे श्रेष्ठ मित्र है, शत्रुओं में सबसे महान् शत्रु पाप है एवं नदियों में सबसे श्रेष्ठ आकाशगङ्गा--मन्दाकिनी है, ऐसे ही सम्पूर्ण देवों में सबसे बड़े देव महादेव हैं।

न यावदवहीयते धृतिधुरा जराविप्लवै-
र्न जीर्यति सरस्वती न च विशीर्यते शेमुषी।
न चामयभुजङ्गमैरवशमङ्गमालिङ्ग्यते
भजध्वमजरं विभुं भवजयाय तावद्बुधाः ॥ २४ ॥

अन्वय—हे बुधाः! (सचेतसः!) यावत् जराविप्लवैः धृतिधुरा न अवहीयते, यावत् सरस्वती न जीर्यति, यावच्च शेमुषी न विशीर्यते, यावत् आमयभुजङ्गमैः अवशम् अङ्गम् न आलिङ्ग्यते, तावत् भवजयाय अजरम् विभुम् भजध्वम्।

अर्थ—अये बुद्धिमान पुरुषो! सभी अङ्गों को शिथिल कर देनेवाली जरा जब तक धैर्य को नष्ट नहीं कर डालती और जब तक वाणी जीर्ण न हो जाय, जब तक बुद्धि भी मन्द न हो जाय, एवं जब तक महान् रोग रूप भुजङ्ग शरीर में न लिपट जायँ, उसके पहले ही आप इस संसार के जन्म-मरण आदि बन्धनों से विजय पाने के लिए सर्व-समर्थ अजर अमर भगवान् शङ्कर को भज लीजिए।

[पूर्वोक्त नवीन नवीन स्तुति रूप कुसुमों को भगवदर्पण कर अपने को कृतकृत्य समझते हुए कवि अब इस स्तोत्र का उपसंहार करते हैं—]

अराणि करुण मुहुर्मुहुरकारि चाटु प्रभो-
रभावि भवभावनामुदितचेतसान्तर्मुहुः।
अलोठि मुकुटं मुहुश्चरणपीठिकाविष्टरे
किमन्यदखिलं जितं करतले कृताः सिद्धयः ॥ २५ ॥

अन्वय—(मया) प्रभोः पुरः मुहुर्मुहुः करुणम् अरावि (अकथि) मुहुर्मुहुः प्रभोः चाटु अकारि, अन्तः भवभावनामुदितचेतसा अभावि, चरण-पीठिकाविष्टरे मुकुटम् अलोठि, अन्यत् किम् (आशासे) ? मया अखिलम् (विश्वम्) जितम्, समस्ताः सिद्धयः करतले कृताः ।

अर्थ—मैंने प्रभु के आगे बार-बार करुण-विलाप किया, और प्रभु को बारम्बार चाटु-वचन भी सुनाया, निरन्तर श्री शङ्कर के ही ध्यान में परायण होकर चित्त को खूब हर्षित किया। प्रभु की चरण-पीठिका (चरणारविन्द रखने की चौकी) पर अपने मुकुट को खूब लोट पोट किया। आहा! अब इससे अधिक क्या लाभ हो सकता है ? हमने सारा ही ब्रह्माण्ड जीत लिया और सम्पूर्ण सिद्धियों को मुट्ठी में रख लिया है।

इति श्रीप्रेममकरन्दव्याख्यासमेते काश्मीरकमहाकविश्रीमज्जगद्धरभट्ट-विरचिते भगवतो महेश्वरस्य स्तुति-कुसुमाञ्जलौ 'सिद्धि'स्तोत्रमष्टादशम् ।

एकोनविंशं स्तोत्रम्

अब यहाँ से श्री भगवान् का वर्णन करने के लिए 'भगवद्वर्णन' नामक उन्नीसवाँ स्तोत्र प्रारम्भ करते हैं—

यत्ते परं वरद रूपमतीतमेव
मार्गं गिरां तदिह कः क्षमते गृणातुम् ।
अग्राहि यत्तु नतलोकमनुग्रहीतुं
बालेन्दुलक्ष्म भवता तदिदं गृणामि ॥ १ ॥

अन्वय—हे वरद ! यत् ते परम् अतीतम् रूपम्, तत् इह गिराम् मार्गम् गृणातुम् कः क्षमते ? (अदृष्टपारत्वात् ब्रह्मादयोऽपि तन्महिमानं वर्णयितुं न क्षमन्त इत्यर्थः) किन्तु, हे दयालो ! यत् तु भवता नतलोकम् अनुगृहीतुम् बालेन्दुलक्ष्म (रूपम्) अग्राहि, तत् (एव) इदम् गृणामि ।

अर्थ—हे नाथ ! अव्यक्त-(माया)-तत्त्व से भी परे जो आपका निर्विशेष निराकार मनोवचनातीत स्वरूप है, उसकी स्तुति करने के लिए संसार में कौन पुरुष समर्थ हो सकता है ? अर्थात् कोई भी नहीं। क्योंकि ब्रह्मादि देव भी उसका पार न पा सकने के कारण उसकी महिमा को वर्णन करने में असमर्थ हैं। किन्तु, अयि कृपा-सागर ! आपने भक्तजनों के प्रति अनुग्रह करने के लिए जो चन्द्रकला-विभूषित, जटामुकुटमण्डित और त्रिनेत्रधारी सुमनोहर साकार स्वरूप धारण किया है, उसी का थोड़ा सा वर्णन करता हूँ।

आस्तां परं यदपरं तदपि स्वकीयं
दिव्यं वपुर्नहि महेश विमर्शयोग्यम् ।
यत्किञ्चिदेव तु विकल्पविकल्प्यमान-
मानन्दधाम तदपीह भवार्तिभाजाम्[1] ॥ २ ॥

अन्वय—हे महेश ! त्वदीयम् परम् (रूपम्) आस्ताम् ! यत् अपरम्, तत् अपि स्वकीयम् दिव्यम् वपुः (दिव्यचक्षुषामपि) विमर्शयोग्यम् नहि (भवति, अस्मादृशां तु चर्मचक्षुषा नैव वार्तेत्यर्थः) तु, यत् किंचित् विकल्पविकल्प्यमानम्[2] तदपि इह (जगति) भवार्तिभाजाम् आनन्दधाम (भवति)।

अर्थ—अयि भगवन् ! आपके उस लोकोत्तर, मनोवचनातीत निर्विशेष स्वरूप की महिमा तो कौन कहे ? जो आपका दिव्य सगुण

(१) भवाद्दितानाम्, इत्यपि पाठः ।
(२) बुद्धिविकल्पैर्विचार्यमाणम् ।

(साकार) स्वरूप है, उसकी ही महिमा बड़े बड़े दिव्य दृष्टिवाले भी नहीं जान सकते, हमारे सरीखे चर्मचक्षुओं के लिए तो कहना ही क्या है ? परन्तु हाँ, लोगों ने अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार जटामुकुट से मण्डित, तीनों नेत्रोंवाला और चन्द्रकला से विभूषित इत्यादि इत्यादि जैसा वर्णित किया है उससे ही सांसारिक पापतापों से सन्तप्त प्राणियों को परम आनन्द प्राप्त हो जाता है।

मूर्त्तिर्ध्रुवं तव शिवामृतवर्तिरेना-
मासाद्य यत्कतिचिदश्रुलवाः पतन्ति।
नश्यत्यघौघपटलं तिमिरं व्यपैति
रागः प्रशाम्यति दृशः प्रथते प्रसादः ॥ ३ ॥

अन्वय—हे शिव ! ध्रुवम्, तव मूर्ति अमृतवर्ति. (सुधागुलिकास्ति), यत् एनाम् आसाद्य कतिचित् अश्रुलवाः पतन्ति, अघौघपटलम् नश्यति, तिमिर व्यपैति, राग प्रशाम्यति, दृशः प्रसाद प्रथते।

अर्थ—हे सदाशिव ! आपकी मूर्ति साक्षात् अमृत की वर्तिका[1] (रसायन की बत्ती) है, जो कि ध्यान द्वारा इसका साक्षात्कार करने वाले भावुकों की आँखों से कुछ आनन्द के आँसू गिरते हैं, पापों का पटल (समूह) नष्ट हो जाता है, तिमिर (मोह-रूपी अन्धकार) दूर भग जाता है, राग (विषयों की आसक्ति) एकदम शान्त हो जाता है और नेत्रों में प्रसाद (ज्ञान का अनुग्रह) प्रकट होने लगता है।

---

(१) रसायन की वर्तिका के सेवन से भी नेत्रों से कुछ दूषित अश्रु गिरते हैं, पटल (आयुर्वेद में प्रसिद्ध—नेत्ररोग) नष्ट हो जाता है, तिमिर—नेत्र रोग दूर हो जाता है, राग [नेत्रों की रक्तता] शान्त हो जाता है और नेत्रों में प्रसाद निर्मलता प्रकट हो जाती है। यहाँ शब्दशक्ति-मूलक उत्प्रेक्षा है।

सत्यं महार्घगुणरत्ननिधानमेत-
दालम्बनं तव वपुर्विपदर्दितानाम् ।
नो चेन्नखांशुभरकेसरितं किमत्र
पादाभिधं युगपदुद्गतमब्जयुग्मम् ॥ ४ ॥

अन्वय—हे विभो ! सत्यम् एतत् विपदर्दितानाम् आलम्बनम् तव वपु: महार्घगुणरत्ननिधानम् (अस्ति-एव ,) नो चेत् , तर्हि नखांशुभरकेसरितम् पादाभिधम् अब्जयुग्मम् अत्र किम् उद्गतम् ?

अर्थ—हे नाथ ! सांसारिक विपदाओं से पीड़ित हुए आर्त्तजनों को अवलम्बन देनेवाला यह आपका शरीर (सार्वज्ञ, पारमैश्वर्य, स्वातन्त्र्य, असुरविजयत्वादि) बहुमूल्य रत्नों का निधि है, यह बात अत्यन्त सत्य है। क्योंकि यदि ऐसा न होता तो फिर इसमें नखों की किरण-रूपी केसर से पूरित चरण* रूपी कमल-युग्म क्यों उत्पन्न होता ? जहाँ कमल-युग्म होता है वहाँ निधि अवश्य होती है।

पादद्वयं तव भव प्रणतिप्रकर्ष-
हर्षाश्रुबिन्दुभरदन्तुरिताङ्गुलीकम् ।
नीहार-शीकर-परिष्कृत-पत्रपङ्क्ति-
पङ्केरुहद्वितयकान्ति भजन्ति धन्याः ॥ ५ ॥

अन्वय—हे भव ! धन्याः प्रणतिप्रकर्षहर्षाश्रुबिन्दुभरदन्तुरिताङ्गुलीकम् (अतएव) नीहारशीकरपरिष्कृतपत्रपङ्क्तिपङ्केरुहद्वितयकान्ति तव पादद्वयम् भजन्ति ।

---

* 'देवताः पादतो वर्ण्या मनुष्या मुखतस्तथा' अर्थात् देवताओं का वर्णन पादों से आरम्भ करना चाहिए और मनुष्यों का वर्णन मुख से आरम्भ करना चाहिए। इस नियम के अनुसार कवि ने यहां से प्रथम पाद कमल का वर्णन करना आरम्भ किया।

अर्थ—प्रभो ! धन्यात्मा पुरुष प्रणामोद्रेक से होनेवाले गाढ़ हर्ष के अश्रु-बिन्दुओं से सुशोभित अँगुलियोंवाले, अतएव नीहार-कणों (ओस के बिन्दुओं) से विभूषित पत्रोंवाले कमल-युगल की छवि के समान आपके चरण-युगल का सेवन करते हैं।

भस्मोज्ज्वलं त्रिदशशेखरपद्मराग-
दीप्रप्रभारुणितमङ्घ्रिसरोजयुग्मम् ।
वन्दामहे घुसृणरेणुपरागगर्भ-
कर्पूरपांसुभिरिव च्छुरितं स्मरारेः ॥ ६ ॥

अन्वय—घुसृणरेणुपरागगर्भकर्पूरपांसुभिः छुरितम् इव भस्मोज्ज्वलम् त्रिदशशेखरपद्मरागदीप्रप्रभारुणितम् स्मरारेः अङ्घ्रिसरोजयुग्मम् वन्दामहे ।

अर्थ—भस्म से उज्ज्वल और देवताओं के मुकुटों पर जड़ी पद्मरागादि मणियों की अरुणिमा के योग से कुछ लालिमा को धारण किये, अतएव कुंकुम-रेणुओं से गर्भित कर्पूर के पराग से व्याप्त हुए जैसे भगवच्चरणारविन्द-युगल को हमारा प्रणाम है।

जङ्घालतायुगलमाश्रितगुल्फमूल-
भोगीन्द्रभोगसुभगाभिनवालवालम् ।
शंभोरभीष्टफलदं भवतापतान्ति-
शान्तिक्षमं शमयितुं विपदं श्रयामि ॥ ७ ॥

अन्वय—आश्रितगुल्फमूलभोगीन्द्रभोगसुभगाभिनवालवालम् अभीष्टफलदम् भवतापतान्तिशान्तिक्षमम् शम्भोः जङ्घालतायुगलम्, (अहम्) विपदम् शमयितुम् श्रयामि ।

अर्थ—गुल्फों (घुटनों) पर लिपटे हुए भुजङ्गेन्द्रों के फण-रूपी मनोहर आलवाल से सुशोभित, मनोभीष्ट फल को देनेवाली एवं सांसारिक सन्तापों द्वारा उत्पन्न हुए खेद को शान्त कर देनेवाली भगवान्

शङ्कर की जङ्घा रूपी कल्प-लताओं को मैं सकल विपदाओं की शान्ति के लिए सेवित करता हूँ।

वन्दे युगान्तसमयोषितसप्तलोकं
लोकोत्तरं जठरमीश्वरभैरवस्य[1]
यत्रैति नाभिकुहरं जगदादिसर्ग-
निर्यज्जनौघनव-निर्गम-मार्ग-भङ्गिम् ॥ ८ ॥

अन्वय—युगान्तसमयोषितसप्तलोकम् लोकोत्तरम् ईश्वरभैरवस्य जठरम् वन्दे, यत्र नाभिकुहरम् जगदादिसर्गनिर्यज्जनौघनव-निर्गम-मार्गभङ्गिम् एति।

अर्थ—कल्पान्त समय में सातों लोक जिसके अन्दर स्थित हो जाते हैं ऐसे, भगवान् शिव के लोकोत्तर दिव्य उदर को मैं प्रणाम करता हूँ जिसमें कि वह नाभि-छिद्र जगत की आदि-सृष्टि के समय प्राणि-समुदाय के निकलने के लिए नवीन मार्ग सा बन जाता है।

सिन्दूरिताऽमरमतङ्गजकुम्भशोभि
सन्ध्याभिताम्रशरदम्बुधरानुकारि।
वन्दे फणीन्द्रफणरत्नरुचारुणाभं
भस्मौघभास्वरमुरः पुरशासनस्य[2] ॥ ९ ॥

अन्वय—सिन्दूरिताऽमरमतङ्गजकुम्भशोभि, सन्ध्याभिताम्रशरदम्बुधरानुकारि, फणीन्द्रफणरत्नरुचारुणाभम् भस्मौघभास्वरम् पुरशासनस्य उरः (अहम्) वन्दे।

अर्थ—सिन्दूर-विलिम्पित स्वच्छ ऐरावत हस्ती के गण्डस्थल के समान सुशोभित, सायंकाल के समय अरुणिमा को प्राप्त हुए शरत्काल के मेघ का अनुकरण करनेवाले, वासुकि आदि सर्पों के फणों पर जड़ी मणियों की कान्ति से अरुणिमा को प्राप्त हुए और भस्म-पटल से समुज्ज्वलित भगवान् सदाशिव के वक्षःस्थल को मैं प्रणाम करता हूँ।

---

(१) 'स्मरशासनस्य' भी पाठ है।

स्वामिन्नमी तव भुजा भुजगाधिराज-
भोगोपगूढवपुषो हृदयं मदीयम् ।
आनन्दयन्ति बत भीमभवोपताप-
निर्वापणेन विटपा इव चन्दनस्य ॥ १० ॥

अन्वय—हे स्वामिन् ! बत, भुजगाधिराजभोगोपगूढवपुषः तव अमी भुजाः भीमभवोपताप-निर्वापणेन मदीयम् हृदयम्, भुजगाधिराजभोगोपगूढ-वपुषः चन्दनस्य विटपा इव आनन्दयन्ति ।

अर्थ—आहा ! हे नाथ ! वासुकि प्रभृति सर्पों के फणों से परि-वेष्ठित हुई आपकी यह भुजाएँ भयङ्कर ससार के पापतापो को शान्त करके मेरे हृदय को महान् सर्पों से आलिङ्गित हुई चन्दन वृक्ष की शाखाओं के समान अतीव आनन्दित कर देती हैं ।

मध्यस्थितेरुभयपार्श्वगता चकास्ति
हस्तस्य मेरुपरिमर्शविनाकृतेयम् ।
अव्याहतग्रहवशाहितयोगसिद्धि-
र्नक्षत्रपंक्तिरिव देव तवाऽक्षमाला ॥ ११ ॥

अन्वय—हे देव ! मध्यस्थितेः (मालायाः मध्यस्थस्य) हस्तस्य उभय-पार्श्वगता मेरुपरिमर्शविनाकृता, अव्याहतग्रहवशाहित-योगसिद्धिः इयम् तव अक्षमाला मध्यस्थितेः (नक्षत्रमध्यस्थस्य) हस्तस्य उभयपार्श्वगता, मेरुपरि-मर्शविनाकृता, अव्याहतग्रहवशाहितयोगसिद्धि. नक्षत्रपंक्तिः इव चकास्ति ।

अर्थ—हे देव ! माला के मध्यस्थ(बीचोंबीच मे स्थित हुए)हस्त (कर-कमल) की दोनो ओर लटकी हुई, मेरु (बीच के मणि) के स्पर्श[१] से रहित और तीव्र आसक्ति के द्वारा (निरन्तर जपने से) अष्टाङ्ग-

---

(१) उल्लघन—'मेरु' नैव तु लंघयेत्'—माला के मेरु को उल्लघित नहीं करना चाहिए ।

योग को सिद्ध करनेवाली यह आपकी अक्ष-माला* नक्षत्रों के मध्यस्थ (बीचोबीच में स्थित) हस्त (नक्षत्र) के दोनों ओर स्थित हुई, मेरु (सुमेरु पर्वत) के स्पर्श से रहित[1] और सूर्य, चन्द्रमा आदि तेजस्वी ग्रहों के द्वारा विष्कम्भ अथवा आनन्दादि योगों को सिद्ध करनेवाली नक्षत्र-माला के समान सुशोभित होती है।

त्वं कालभैरववपुर्ज्वलिताऽनलाश्रि
 लोलाङ्गुलीवलनमण्डलितं दधानः।
संहाररात्रिषु निनर्तिषुरीश शूलं
 बालार्कचुम्बित-नवाम्बुदभङ्गिमेषि॥ १२॥

अन्वय—हे ईश! ज्वलितानलाश्रि, लोलाङ्गुलीवलनमण्डलितम् शूलं दधानः संहाररात्रिषु निनर्तिषुः त्वम् कालभैरववपुः, बालार्कचुम्बितनवाम्बुदभङ्गिम् एषि।

अर्थ—हे ईश! जलती हुई अग्नि के समान धारावाले तथा चञ्चल अँगुलियों के घुमाने से गोल (मण्डलाकार) बने त्रिशूल को धारण करते हुए आप प्रलयकाल की (संहार) रात्रियों में नृत्य करते हुए काल-भैरव रूप (काले और भयानक कालाग्निरुद्र स्वरूप) को धारण करके प्रातःकाल के सूर्य से मिले हुए नवीन काले मेघ के समान सुशोभित होते हैं।

शाणोपलोरुकषणशुद्धनवेन्द्रनील-
 नीलद्युतिर्जयति ते शितिकण्ठ कण्ठः।
यस्मिन्धनाञ्जनरुचिर्भुजगः कलिन्द-
 कन्याह्रदान्तरितकालियभङ्गिमेति॥ १३॥

(१) क्योंकि सुमेरु के समीप में आकाश में ही उन (नक्षत्रों) की गति है।

* अकारादिक्षकारान्तवर्णाः पञ्चाशति प्रिये।
शिवशक्तिस्वरूपेण द्विगुणाः साष्टमूर्तिका॥
अष्टोत्तरशतं तेषामक्षमाला प्रकीर्तिता। (तन्त्रराज)

अन्वय—अयि शितिकण्ठ ! शाणोपलोल्कषणशुद्धनवेन्द्रनीलनील-द्युतिः ते कण्ठः जयति, यस्मिन् (कण्ठे) घनाञ्जनरुचिः भुजगः कलिन्द-कन्याह्रदान्तरितकालियमङ्गिमू एति ।

अर्थ—हे नीलकण्ठ ! शाण-पत्थर से घिसी नवीन इन्द्रनील मणि के समान नीली कान्तिवाले आपके सर्वोत्कृष्ट कण्ठ की बलिहारी है, जिसमें कि गाढ़ कज्जल के समान (काला) वासुकि श्री यमुनाजी के गहरे जल में स्थित हुए कालिय नाग के समान सुशोभित होता है ।

> कण्ठो वहन्नपि विषं विषमं तवैष:
> सद्यः श्रियं सृजति यद्वचसाश्रितेषु ।
> स्वामिन्नतस्त्रिभुवनप्रथितप्रतिष्ठं
> श्रीकण्ठ इत्युचितमेव तवाभिधानम् ॥ १४ ॥

अन्वय—हे स्वामिन् ! विषमम् विषम् वहन् अपि एषः तव कण्ठः, यत् वचसा आश्रितेषु सद्यः श्रियम् सृजति, अतः त्रिभुवनप्रथितप्रतिष्ठम् श्रीकण्ठः इति तव अभिधानम् उचितम् एव ।

अर्थ—हे नाथ ! उत्कट विष को धारण करता हुआ भी यह आपका कण्ठ कृपा-रूप अमृत से सींचे हुए वचनों द्वारा जो अपने शरणागतों को तत्काल श्रेय प्रदान किया करता है, इस कारण आपका तीनों भुवनों में प्रख्यात 'श्रीकण्ठ' (लक्ष्मी से संयुक्त कंठवाला) यह नाम युक्त ही है ।

> अन्तर्विमृश्य गरलेन गले सलील-
> मालिङ्गितं विमलमाननमिन्दुमौलेः ।
> हृष्यामि हन्त मुहुरम्बुरुहभ्रमात्त-
> रोलम्बडम्बरविडम्बनपण्डितेन ॥ १५ ॥

अन्वय—हन्त ! अम्बुरुहभ्रमासरोलम्बडम्बरविडम्बनपण्डितेन गरलेन इन्दुमौलेः विमलम् आननम् यत् सलीलम् आलिङ्गितम्, तत् अन्तः विमृश्य (अहम्) मुहुः हृष्यामि।

अर्थ—अहा! कमल की भ्रान्ति से आये हुए भ्रमरों की स्पर्धा करने में अत्यन्त चतुर (अर्थात् भ्रमरों के समान काले) कालकूट (विष) ने जो भगवान् शङ्कर के स्वच्छ मुख को बड़े प्रेम से आलिङ्गित किया, उसे देखकर मैं अपने मन में बार बार हर्ष को प्राप्त होता हूँ।

> यद्वद्विष सदमृतं शिरसि प्रसिद्ध-
> मम्भस्तवेश विशदं सुमनःस्रवन्त्याः ।
> मन्ये तथैव भगवन् भवतो गलस्थं
> संपद्यतेऽमृतमिदं नतसान्त्वनेषु ॥ १६ ॥

अन्वय—हे ईश! यद्वत् सुमनःस्रवन्त्याः अम्भः विष सत् तव शिरसि विशदम् अमृतम् (इति) प्रसिद्धम्, तथैव हे भगवन्! (अहम्) मन्ये, भवतः गलस्थम् इदम् विषम् नतसान्त्वनेषु अमृतम् सपद्यते।

अर्थ—हे नाथ! जैसे गङ्गा का जल[1] विष (नाम से प्रसिद्ध) होता हुआ भी आपके मस्तक में (आकर) अमृत[2] नाम से प्रख्यात हो गया, मैं समझता हूँ कि वैसे ही आपके कण्ठ में स्थित हुआ यह विष भी, शरणागतों को सान्त्वना (धैर्य) देने के लिए अमृत बन जाता है।

> तद्युक्तमीश वदनाद्भवतः सुधाच्छ-
> कान्तेर्यदग्निरपतद्वपुषि स्मरस्य ।
> यो लङ्घनं त्रिभुवनैकगुरोर्विधित्सु-
> रुल्का न किं पतति चन्द्रमसोऽपि तस्य ॥ १७ ॥

---

(१) जल को विष भी कहते हैं—'विषं तु गरले तोये' (विश्वकोश)

(२) जल को 'अमृत' भी कहते हैं—अप्सु घृतामृते (अ० को०)

अन्वय—हे ईश ! सुधाच्छकान्तेः भवतः वदनात् यत् स्मरस्य वपुषि अग्निः अपतत्, तत् युक्तम् (उचितमेव); यः त्रिभुवनैकगुरोः लङ्घनम् विभित्सुः तस्य, चन्द्रमसः अपि उल्का किम् न पतति ?

अर्थ—हे जगदीश ! आपके अमृत के समान स्वच्छ कान्तिवाले मुखारविन्द मे जो कामदेव के देह में अग्नि की ज्वालाएँ गिरी, वह ठीक ही है; क्योंकि जो तीनों लोकों के पूज्य गुरु का उल्लङ्घन करना चाहता है *क्या उसके ऊपर शीतल अमृतमय चन्द्रमण्डल से भी उल्का नही गिरती ?*

दिष्ट्या विरुद्धजनता दमयन्त्यपीयं
दृष्टिस्तवेश्वर बिभर्त्यनलाश्रितत्वम् ।
दिष्ट्या वनैकरतिरप्यवनैकसक्ति-
रेकस्त्वमद्भुतनिधे भगवन्नमस्ते ॥ १८ ॥

अन्वय—हे ईश्वर ! दिष्ट्या (आनन्दे) विरुद्धजनताः दमयन्ती अपि इयम् तव दृष्टिः अनलाश्रितत्वम् बिभर्ति, दिष्ट्या वनैकरति, अपि एकः त्वम् अवनैकसक्तिः (असि) अयि अद्भुतनिधे, भगवन् ! ते नमः (अस्तु) ।

अर्थ—अहा ! हे ईश्वर ! समस्त विरोधियों (नास्तिकों) का दमन करती हुई भी यह आपकी दृष्टि अनल (अग्नि) को धारण करती है । और एकमात्र एकान्त वन मे प्रेम रखनेवाले भी अर्थात् अत्यन्त ही विरक्त होकर भी आप अवनैकसक्ति—समस्त लोकों के पालन करने मे ही आसक्ति रखते हो । इसलिए हे आश्चर्य-निधान परमेश्वर ! आपके लिए नमस्कार है । *

---

* इस तरह प्रभु के स्वरूप का वर्णन करते हुए कवि ने इस बात को काव्य के सर्वस्व श्लेष-मूलक ध्वनि में विरोधाभास की पुट देकर कैसा चमत्कृत कर दिया है । *वह कहता है कि आपकी दृष्टि दमयन्ती होती हुई भी अनल (राजा नल से अन्य) का आश्रय लेती है* और आप एकमात्र वन के प्रेमी होकर भी अवनैकसक्ति—नगर में आसक्ति रखते हो, इसलिए हे आश्चर्य-निधान ! बस, हम आपको नमस्कार करते हैं ।

धन्यस्य यस्य वपुषि ग्लपिते तपोभिः
स्वामिन् पतन्ति विषमाणि तवेक्षणानि ।
मुष्णन्ति मुग्धमृगशावदृशां न धैर्य-
सर्वस्वमस्य विषमाणि विलोचनानि ॥ १९ ॥

अन्वय—हे स्वामिन् ! तपोभिः ग्लपिते यस्य धन्यस्य वपुषि, तव विषमाणि (त्रीणि) ईक्षणानि पतन्ति, अस्य धैर्यसर्वस्वम् मुग्धमृगशावदृशाम् (अपि) विषमाणि विलोचनानि न मुष्णन्ति ।

अर्थ—हे नाथ ! तपस्या से कृशित बने हुए जिस पुण्यात्मा के शरीर पर आपके विषम नेत्र-कटाक्ष गिरते हैं, उस पुरुष के महान् धैर्य को मुग्ध हरिण-बालकों के समान नेत्रोंवाली कामिनियों के विषम (तीक्ष्ण) कटाक्ष भी नहीं हर सकते ।

सत्येव दृग्विलसिते करुणामृतौघ-
शीते जरामरणहारिणि तावकीने ।
नाथ व्यधायि विबुधैरबुधैर्मुधैव
दुग्धोदधिप्रमथनेऽनवधिः प्रयासः ॥ २० ॥

अन्वय—हे नाथ ! करुणामृतौघशीते जरामरणहारिणि तावकीने दृग्विलसिते सत्येव, अबुधैः विबुधैः दुग्धोदधिप्रमथने अनवधिः प्रयासः मुधा एव व्यधायि ।

अर्थ—हे नाथ ! कृपारूपी अमृत के प्रवाह से सुशीतल और जरा-मरण को हरनेवाले, आपके नेत्र कटाक्ष के विद्यमान रहते हुए ही उन मूढ देवताओं ने क्षीर-सागर के मन्थन के लिए महान् प्रयत्न वृथा ही किया !

एतेऽमृतं मदनदृग्दविजे च वह्नि-
मेकैव दृक्तव तयोः स निजः प्रभावः ।

इक्षौ सुधा विषमुषाणफले च सार्धं
यद्वर्धते किमपराध्यति तत्र वृष्टिः ॥ २१ ॥

अन्वय—हे प्रभो ! एका एव तव दृक्, श्वेते अमृतम्, रविजे च वह्निम् यत् असृजत्, सः तयोः निजः (एव) स्वभावः । (दृष्टं चैतत्)— इक्षौ सुधा, उषाणफले च विषम् यत् सार्धम् (सममेव) वर्धते, तत्र वृष्टिः किम् अपराध्यति ?

अर्थ—हे प्रभो ! आप करुणासागर की जो एक ही दृष्टि राजा श्वेत के लिए अमृत और यमराज के लिए अग्नि के रूप में प्रकट हुई, वह उनके अपने-अपने स्वभाव का ही फल है। क्योंकि यदि एक ही रस इक्षु में अमृत के समान अत्यन्त मधुर और उषाण के फल में विष हो जाय, तो इसमें वृष्टि का क्या दोष है ?

नूनं पयोधिमथनावसरे परेश
पीतं त्वया तदमृतं न तु कालकूटम् ।
अद्यापि यद्वसति ते वचनक्रमे च
दृग्विभ्रमे च तरुणे करुणारसे च ॥ २२ ॥

अन्वय—हे परेश ! नूनम्, त्वया पयोधिमथनावसरे तत् अमृतम् (एव) पीतम्, न तु तत् कालकूटम् पीतम्, यत् अद्यापि ते वचनक्रमे च, दृग्विभ्रमे च, तरुणे करुणारसे च, (तत्) वसति ?

अर्थ—हे परमेश्वर ! आपने समुद्र-मन्थन के समय अवश्य अमृत का ही पान किया, न कि उस विष का। क्योंकि अभी तक आपके अनाथों को अभयदान देनेवाले वचनों में भी, प्रसन्नतापूर्ण दृष्टि में भी और नवीन करुणा-रस में भी अमृत ही भरा रहता है !

सत्यं प्रसादसमये चपलत्वमेति
धत्तेऽधिकं च कुटिलत्वमियं तव भ्रूः ।
एतां विना पुनरनर्गलकालपाश-
पाते परास्ति न गतिर्भयविह्वलानाम् ॥ २३ ॥

अन्वय—हे विभो ! सत्यम्, इयम् तव भ्रूः प्रसादसमये चपलत्वम् एति, अधिकम् कुटिलत्वम् च धत्ते, एताम् विना अनर्गलकालपाशपाते भय-विह्वलानाम् पुनः परा गतिः न अस्ति ।

अर्थ—हे प्रभो ! अवश्य यह आपकी भ्रुकुटि भक्तजनों के प्रति अनुग्रह करते समय (उनको मनोभीष्ट वर देने के लिए) चञ्चलता को प्राप्त होती है और अत्यन्त कुटिलता को भी धारण करती है। हे नाथ ! इस (आपकी भ्रुकुटि) के सिवाय अत्युच्छृङ्खल काल-पाश से विह्वलित हुए दीनों की दूसरी कोई शरण ही नहीं है ।

आपूरितः सुरसरित्पयसाऽमृताय
जूटः प्रतप्ततपनीयपिशङ्गकान्तिः ।
स्वामिन्नसौ तव नवातपताम्रवेला-
शैलोपगूढ इव दुग्धनिधिर्न कस्य ॥ २४ ॥

अन्वय—हे स्वामिन् ! सुरसरित्पयसा आपूरितः, प्रतप्ततपनीय-पिशङ्गकान्तिः असौ तव जूटः, नवातपताम्रवेलाशैलोपगूढः दुग्धनिधिः इव, कस्य अमृताय न (भवति ? अपि तु सर्वस्यापीत्यर्थः) ।

अर्थ—हे नाथ ! मन्दाकिनी के स्वच्छ नीर से पूरित और अग्नि से तपाये सुवर्ण के समान पिंगल वर्णवाला यह आपका जटाजूट प्रातःकाल की सूर्यकिरणों के द्वारा लालिमा को धारण किये हुए मन्दराचल से आलिङ्गित क्षीरसागर के समान किस किसको नहीं अमृत प्रदान करता ?

स्वामिन्सुधाधवदवदातरुचिस्तवेय-
माभाति हन्त मुकुटे नृकपालमाला ।
जूटान्तरालविलसत्सुरसिन्धुतीर-
... मरालमाला ॥ २५

अन्वय—हन्त ! हे स्वामिन् ! सुधावदवदातरुचिः इयम् नृकपालमाला तव मुकुटे जूटान्तरालविलसत्सुरसिन्धुतीरलीलाविहाररसिका मरालमाला इव, आभाति ।

अर्थ—अहा ! हे नाथ ! सुधा के समान स्वच्छ यह नरकपालो की माला आपके मुकुट में ऐसी सुशोभित होती है, जैसे कि आपके जटाजूट के मध्य में विराजती हुई देवगङ्गा के तीर पर विहार करनेवाली हँसो की माला शोभित होती है ।

ब्रह्मादिभिस्तव जगद्गुरुभिः शिरांसि
यान्यर्पितानि परमेश्वर पादपीठे ।
तान्येव मूर्धनि यदाभरणीकरोषि
स प्रौढिमा जयति कोऽपि कृतज्ञतायाः ॥ २६ ॥

अन्वय—अयि परमेश्वर ! जगद्गुरुभिः ब्रह्मादिभिः तव पादपीठे यानि (निजानि) शिरांसि अर्पितानि, तानि एव शिरांसि (स्वम्) यत् मूर्धनि आभरणीकरोषि, सः कोऽपि तव कृतज्ञतायाः प्रौढिमा जयति ।

अर्थ—हे परमेश्वर ! जगद्गुरु ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वरादिक ने आपके चरण-कमलों में जिन अपने मस्तकों को अर्पित किया है, उन्हीं मस्तकों को जो आप अपना शिरोभूषण बना लेते हो, अर्थात् उन्हें अपने मस्तक में धारण कर लेते हो, यह आपकी कृतज्ञता[1] की कोई अनिर्वचनीय सर्वोत्कृष्ट महिमा है ।

निर्वाणमेति न जलैरपि यत्र वह्नि-
र्यन्नैष नो पचति तानि महाशिखोऽपि ।
मान्द्यं न विन्दति तमीरमणः कृशोऽपि
ताभ्यामसौ विजयते शितिकण्ठ जूटः ॥ २७ ॥

---

(१) 'परोपकारतत्त्वज्ञो यः कृतज्ञः स उच्यते', कृतज्ञस्य भावः कृतज्ञता ।

अन्वय—हे शितिकण्ठ ! यत्र (तव जूटे) जलैः अपि वह्निः निर्वाणम् न एति, यत्र एषः (वह्निः) महाशिखः अपि तानि (गङ्गाजलानि) पचति, ताभ्याम् (जलवह्निभ्याम्) कृशः अपि तमीरमणः मान्द्यम् न विन्दति, असौ (तव) जूटः विजयते ।

अर्थ—हे सदाशिव ! जिसमें गङ्गा के जल-प्रवाह में भी अग्नि (आपका नेत्राग्नि) शान्त नहीं होता, जहाँ अग्नि अत्यन्त प्रदीप्त होकर भी उस गङ्गाजल को सुखा नहीं सकता और जहाँ गङ्गाजल, तथा अग्नि के तेज के सामने कृश चन्द्रमा की भी शोभा मन्द नहीं पड़ती, उस आपके जटाजूट की बलिहारी है ।

भालस्थले हुतवहं वहतो जलं च
चन्द्रं च मूर्ध्नि विकटं च कपालखण्डम् ।
एकत्र मुण्डमपरत्र सुधाघटं च
हस्ते चकास्ति भवतोऽद्भुत एष वेषः ॥ २८ ॥

अन्वय—हे विभो ! भालस्थले हुतवहम् (गङ्गायाः) जलम् च वहतः, मूर्ध्नि चन्द्रम् विकटम् कपालखण्डम् च वहतः, एकत्र हस्ते मुण्डम् अपरत्र सुधाघटम् च वहतः, भवतः एषः वेषः अद्भुतः चकास्ति ।

अर्थ—हे विभो ! ललाट में अग्नि और गङ्गाजल को धारण किये हुए, तथा मस्तक पर चन्द्रमा और अति विकट कपालखण्ड (खप्पर) को धारण किये एवं एक हाथ में मुण्डमाला और दूसरे में अमृत-कलश को धारण किये हुए आपका यह वेष एक अत्यन्त ही अद्भुत (आश्चर्यजनक) शोभा को धारण करता है ।

दाने नदीनमुपकल्पयतः सहर्ष-
माक्रम्य गामनुपमां गतिमाश्रितस्य ।
नागेन्द्र-संभृतमहाकटकस्य कस्य
शस्यं विना त्वदिह राजशिरोमणित्वम् ॥ २९ ॥

अन्वय—हे विभो ! दाने नदीनम् (क्षीरोदधिम्) सहर्षम् उपकल्पयतः, गाम् आक्रम्य अनुपमाम् गतिम् आस्थितस्य, नागेन्द्रभृतमहाकटकस्य त्वत् विना इह कस्य राजशिरोमणित्वम् शस्यम् ? (न कस्यापीत्यर्थः ।)

अर्थ—हे प्रभो ! बालक उपमन्यु को आनन्दपूर्वक क्षीरसागर का दान करनेवाले के लिए आनन्दपूर्वक संकल्प लेनेवाले, वृषभ पर बैठकर अनुपम गति को प्राप्त हुए एवं वासुकि आदि महान् सर्पों का कङ्कण धारण करनेवाले एक आपके सिवाय तीनों लोकों में और किसका राजशिरोमणित्व (सिर पर चन्द्र को धारण करना) प्रशंसनीय हो सकता है ? अर्थात् किसी का भी नहीं ।

अर्थान्तर—हे नाथ ! यथेच्छ दान देकर दीन जनों को हर्षित करनेवाले, समस्त सप्तद्वीपवती पृथ्वी पर आक्रमण करके अनुपम शक्ति को प्राप्त हुए और उत्तम-उत्तम हाथियों से युक्त महासेना से विराजमान हुए आपके सिवाय तीनों लोकों में और किसका राजशिरोमणित्व (चक्रवर्ती पद) प्रशंसनीय है ?

कण्ठे विषं विषभृतोऽपि विभूषणानि
गात्रेषु मूर्धनि विषं विबुधस्रवन्त्याः ।
इत्थं विषैकवसतेरपि ते चकास्ति
कर्णामृतं सुकृतिनाममृतेशनाम ॥ ३० ॥

अन्वय—हे विभो ! (तव) कण्ठे विषम् चकास्ति, गात्रेषु (अपि) विभूषणानि विषभृतः चकासति, मूर्धनि च विबुधस्रवन्त्या विषम् चकास्ति । तत् इत्थम् विषैकवसतेः अपि ते 'अमृतेशः' नाम, सुकृतिनाम् कर्णामृतम् (भवति) ।

अर्थ—हे प्रभो ! आपके कण्ठ में विष (कालकूट) सुशोभित हो रहा है, समस्त अङ्गों के आभूषण भी विषधर (सर्प) ही हैं, और मस्तक में भी गङ्गा का विष—जल—है । सो इस प्रकार हे नाथ ! यद्यपि

आप विष के एकमात्र निवासस्थान हो, तथापि आपका 'अमृतेश' (कैवल्य और सुधा के स्वामी) यह नाम पुण्यात्मा लोगों के कर्णों में अमृत प्रदान करता है।

[अब एक श्लोक द्वारा इस स्तोत्र का उपसंहार करते हुए कहते हैं–]

क्षतविभवविशेषाः प्राणमात्रावशेषा
विपदमनुभवाम कर्मपाको हि वामः ।
तदिह भुजगहारः क्लृप्तमोहापहारः
स भवति गतिरेकः कृत्तशोकातिरेकः ॥ ३१ ॥

अन्वय—क्षतविभवविशेषाः प्राणमात्रावशेषा (वयम्) विपदम् अनुभवाम. । हि (अस्माकम्) कर्मपाकः वाम. (अस्ति) तत् इह क्लृप्त-मोहापहार कृतशोकातिरेक. स एकः भुजगहारः (एव, मादृशाम्) गतिः भवति ।

अर्थ—उत्तम ऐश्वर्य से हीन होने के कारण केवल प्राणमात्र को ही धारण करनेवाले अर्थात् केवल उदर-पूर्ति में ही अपना जन्म व्यर्थ कर देनेवाले हम लोग जो इन सांसारिक जन्म-मरण रूप विपत्तियों का अनुभव (भोग) कर रहे हैं, यह हमारे प्राचीन दुष्कर्मों का ही दुष्परिणाम है। इसलिए इस भवसागर के मोह (अनात्म वस्तु में आत्म-भ्रम-रूप अज्ञान) को समूल नष्ट करनेवाला और समस्त दुःखों का छेदन करनेवाला एक वह सदाशिव ही अब हमारा आधार है!

इति श्रीप्रेममकरन्दव्याख्यासमेत काश्मीरकमहाकविश्रीमज्जगद्धरभट्ट-विरचिते भगवतो महेश्वरस्य स्तुति कुसुमाञ्जलौ 'भगवद्रूपवर्णन' नामैकोनत्रिंश स्तोत्रम् ।

—

विंशं स्तोत्रम्

अब इसके अनन्तर कवि अतिशय करुणालु भगवान् शिव के मनोहर हास्य का वर्णन करते हुए हसित-वर्णन नामक बीसवें स्तोत्र को प्रारम्भ करते हुए पञ्चविंशति श्लोकों के कुलक द्वारा प्रभु के 'विलास-हास्य' का वर्णन करते हैं—

यत्सौभगेन घनमोघममोघमेघ-
संघातसंभवमवन्ध्यमधः करोति ।
तच्छाम्भवं भवमरुभ्रम-खेद-भेद-
दक्षं 'विलास-हसितं' नुतिभिर्भजामः ॥ १ ॥

अन्वय—यत् सौभगेन अवन्ध्यम् (सत्) अमोघमेघसंघातसंभवम् घनम् ओघम् अधः करोति, तत् (देहिनाम्) भवमरुभ्रमखेदभेददक्षम् शाम्भवम् 'विलासहसितम्' वयम् नुतिभिः भजामः ।

अर्थ—जो (हास्य) अपनी सफल मनोहरता के द्वारा अत्यन्त अमोघ मेघराशि से उत्पन्न हुए अमृतमय प्रवाह को विलज्जित कर देता है और प्राणियों को संसार-रूपी मरुस्थल के भ्रमण से प्राप्त हुए खेद को शान्त कर देता है, उस भगवान् शङ्कर के 'क्रीडा-हास्य' को हम स्तुतियों से सेवित करते हैं।

[यह हास्य, क्यों होता है, इस पर कहते हैं—]

यद्वाङ्मयं सकलवाङ्मनसातिवृत्त-
सीमानमीश महिमानममानमेयम् ।
अस्मादृशं कृशदृशं भृशमाभृशन्त-
मन्तर्विमृष्य भवतो भगवन्नुदेति ॥ २ ॥

अन्वय—हे ईश ! हे भगवन् ! सकलवाङ्मनसातिवृत्तसीमानम् अमानमेयम् (तव) महिमानम् भृशम् आमृशन्तम्, अस्मादृशम् कुशदृशम् अन्तः विमृष्य भवतः यत् वाङ्मयम् (विलासहसितं) उदेति (तद्वयन्तुतिभिः भजामः इति पूर्वेणान्वयः) ।

अर्थ—हे भगवन् ! मन और वाणी के अत्यन्त अगोचर और प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अनुमानित न होनेवाली आपकी अवर्ण्य महिमा के विषय में अनेकों कुतर्कनाएँ करनेवाले हम सरीखे अल्पज्ञ दृष्टिवाले मूर्खों को देखकर आपके मन में जो हास्य-क्रीड़ा प्रकट होती है, उसकी हम स्तुति करते हैं।

येनोपमन्युमपमन्युमनन्यभाज-
माजन्मतृष्णजमजस्रमज श्रमार्तम् ।
आनन्दयः स्वयमदीननदीनदान-
भास्वन्महाफललसत्कुसुमोपमेन ॥ ३ ॥

अन्वय—हे अज ! अपमन्युम् अनन्यभाजम् आजन्मतृष्णजम् अजस्रम् श्रमार्तम् (बालम्) उपमन्युम् येन अदीननदीनदानभास्वन्महाफल-लसत्कुसुमोपमेन (विलासहसितेन) स्वयम् आनन्दयः, तत् स्तुतिभिर्भजामः इति पूर्ववत् ।

अर्थ—हे अनादि परमेश्वर ! परद्रोह आदि दोषों से रहित अर्थात् निर्दोष, अनन्यभक्त और आजन्म से पिपासु होने के कारण अतीव खिन्न बालक उपमन्यु को विशाल क्षीरसागर प्रदान कर उसके महान् फल में शोभायमान कुसुम के समान स्वच्छ जिस हास्य से आपने स्वयं उसे हर्षित किया, उस आपकी हास्यक्रीड़ा की हम स्तुति करते हैं।

येनापि तापविपदं प्रथमं जहर्थ
नाथ प्रसादसुभगेन भगीरथस्य ।

मूर्ध्ना धृतत्रिदशसिन्धुमहाप्रवाह-
निर्वापणेन पुनरस्य पितामहानाम् ॥ ४ ॥

अन्वय—हे नाथ ! प्रसादसुभगेन येन (विलासहसितेन) प्रथमम् भगीरथस्य तापविपदम् जहर्थ, पुनः मूर्ध्ना धृतत्रिदशसिन्धुमहाप्रवाहनिर्वापणेन अस्य पितामहानाम् तापविपदम् जहर्थ, तत् हसित स्तुतिभिः भजाम इति पूर्वेणाऽन्वयः ।

अर्थ—हे नाथ ! अनुग्रह से मनोहर (करुणा से पूर्ण) जिस हास्य-विलास से आपने पहले महाराजा भगीरथ के सन्ताप को (अर्थात् हाय ! मेरे पितामह लोग कपिल मुनि के शाप से दग्ध होकर नरक में पड़े हैं, इस प्रकार के पश्चात्ताप को) दूर किया और फिर (उसकी आराधना से सन्तुष्ट होकर) शिर पर धारण की हुई देवगङ्गा के महाप्रवाह की शीतलता से उसके पितरों के सन्ताप को दूर किया, उस आपके क्रीड़ाहास्य की हम स्तुति करते हैं । और—

उत्त्रासनाय शमनस्य मनस्यनल्प-
दर्पोद्गमप्रशम-विक्लव-विक्रमस्य ।
आश्वासनाय च समं समभावि येन
कीनाशपाशविवशस्य नरेश्वरस्य ॥ ५ ॥

अन्वय—अनल्पदर्पोद्गमप्रशमविक्लवविक्रमस्य शमनस्य उत्त्रासनाय, कीनाशपाशविवशस्य नरेश्वरस्य (श्वेतराजः) आश्वासनाय च येन समम् मनसि समभावि, तत् वयं स्तुतिभिः भजामः ।

अर्थ—महान् अहङ्कार के वेग के नष्ट हो जाने के कारण क्षीण पुरुषार्थवाले यमराज को और अधिक असह्यता उत्पादन करने के लिए तथा काल-पाश के भय से विह्वलित राजा श्वेतकेतु को 'तुम इस दुष्ट यमराज से मत डरो ! कदापि मत डरो !! इस प्रकार' आश्वासन देने के लिए एक ही साथ आपके मन में जो हास्य उत्पन्न हुआ, उस सुललित हास्य की हम स्तुति करते हैं ।

भावत्कभक्तिभरसंभृतभूरिभूति-

संभाररूढगुरुगर्वगलद्विवेकम् ।

मोहान्धमन्धकमुपाहित-साहसिक्य-

हेवाकमाकलयतो भवतो यदासीत् ॥ ६ ॥

अन्वय—भावत्कभक्तिभर-सभृतभूरिभूतिसभाररूढगुरुगर्वगलद्विवेकम् मोहान्धम् अन्धकम्, उपाहितसाहसिक्यहेवाकम् आकलयतः भवतः यत् (हसितम्) आसीत् तत् स्तुतिभिः भजाम. ।

अर्थ—आपकी ही भक्ति से प्राप्त हुए महान् वैभव (ऐश्वर्य) के मद से अतीव गर्वित हुए महा अविवेकी, अज्ञान से अन्ध, अन्धकासुर ने जब उलटा आपके ही प्रति युद्ध करने का दु.साहस किया, तब उस दुष्ट की इस कृतघ्नता को देखकर आपके मन मे जो हास्य उत्पन्न हुआ था, उस (आपके सुललित हास्य) की हम स्तुति करते हैं।

लंकेशकम्पितकुबेरगिरिप्ररूढ-

संरम्भभीरुगिरिजापरिरम्भभाजः ।

यत्ते रुषामवसरेऽप्युदितानवद्य-

हृद्यप्रसादसुमुखस्य समुज्जगाम ॥ ७ ॥

अन्वय—लङ्केशकम्पितकुबेरगिरिप्ररूढसरम्भभीरुगिरिजापरिरम्भभाजः ते रुषाम् अवसरे अपि उदितानवद्यहृद्यप्रसादसुमुखस्य यत् (हसितम्) समुज्जगाम, तत् वय स्तुतिभि भजाम इति पूर्वेणान्वय ।

अर्थ—हे विभो ! आपके ही अनुग्रह से लोकोत्तर बल पाकर जब वह दुष्ट रावण कैलास पर्वत को कम्पित करने लगा, तब अत्यन्त व्याकुलता के कारण भयभीत हुई प्रणय कुपिता पार्वती का आलिङ्गन करते हुए आपने उस कृतघ्न के प्रति क्रोध करने योग्य अवसर में भी अत्यन्त प्रसन्न मुख होकर जो हास्य प्रकट किया, उस (हास्य) की हम वन्दना करते हैं।

पूजार्थमम्बुजसहस्रमुपाहितं य-
देकं ततो हृतवतस्तव कैतवेन ।
विष्णुं विलोक्य निजलोचनमुत्खनन्त-
मन्तः प्रसन्नमनसो यदमन्दमासीत् ॥ ८ ॥

अन्वय—हे नाथ ! (विष्णुना) तव पूजार्थम् यत् अम्बुजसहस्रम् उपाहितम्, ततः एकम् कैतवेन (अनन्यासक्तिभक्तिपरीक्षणरूपेण छद्मना) हृतवतः, निजलोचनम् उत्खनन्तम् विष्णुम् विलोक्य अन्तः प्रसन्नमनसः तव अमन्दम् यत् (हसितम्) आसीत् तदित्यादि सर्वं प्राग्वत् ।

अर्थ—हे नाथ ! भगवान् विष्णु आपका पूजन करने के लिए एक सहस्र कमल लाये । आपने उनकी अनन्य भक्ति की परीक्षा करने के लिए उन (कमलों) में से एक कमल छिपा दिया । तब एक कमल कम देखकर उसकी पूर्ति करने के लिए उन्हें अपने एक नेत्र-कमल को उखाड़ते देख उनकी इस प्रकार की अनन्य भक्ति से प्रसन्नहृदय हुए आपके मन में जो 'हास्य' प्रकट हुआ था, उस (हास्य) की हम सदा वन्दना करते हैं ।

दृष्ट्वा वधूजनमनुत्तमरूपसंप-
त्संदर्शनोद्भवमनोभवभग्नवृत्तम् ।
आपाढपाणिषु रुषा मुनिषु प्रहर्तु-
मभ्युद्यतेषु तव यद्भृशमुद्बभूव ॥ ९ ॥

अन्वय—अनुत्तमरूपसम्पत्संदर्शनोद्भवमनोभवभग्नवृत्तम् (निजम्) वधूजनम् दृष्ट्वा, रुषा (त्वाम्) प्रहर्तुम् अभ्युद्यतेषु आपाढपाणिषु मुनिषु भृशम् यत् तव (हसितम्) उद्बभूव, तद्वय स्तुतिर्निर्मजामः ।

अर्थ—प्रभो ! आपकी अत्युत्तम रूप-सम्पत्ति पर मुग्ध होने के कारण अपनी पत्नियों को काम के वश पराधीन हुई देख कोपावेश में आकर आपके प्रति प्रहार करने को उद्यत हुए, पलाश के दण्ड को

हाथों में धारण किये मुनियों की उस मूर्खता पर आपके अन्तःकरण में जो हास्य प्रकट हुआ, उसकी हम स्तुति करते हैं।

अभ्यर्णवर्तिकरगोचरकालकूट-
कूटप्रभानिचयमेचकितेऽधरोष्ठे ।
यत्पूर्वपर्वतशिलाश्रितशीतरश्मि-
रश्मिच्छटाच्छविविडम्बि पुराविरासीत् ॥ १० ॥

अन्वय—पुरा अभ्यर्णवर्तिकरगोचरकालकूटकूटप्रभानिचयमेचकिते अधरोष्ठे पूर्वपर्वतशिलाश्रितशीतरश्मिरश्मिच्छटाच्छविविडम्बि यत् (हसितम्) आविरासीत्, तदिति पूर्ववत्।

अर्थ—प्रभो ! पहले समुद्र-मन्थन के समय हालाहल को हथेली में रखकर पान करने के लिए उद्यत हुए आपके मुख के समीपस्थ हाथों में लिये कालकूट की कान्ति से कालिमा को प्राप्त हुए अधरोष्ठ में, उदयाचल पर्वत पर विराजमान हुए चन्द्रमा की रश्मिच्छटा को विलज्जित कर देनेवाला, जो हास्य प्रकट हुआ था, उस (आपके हास्य) को हमारा प्रणाम है।

यत्कर्णतालचलनानिलधूत-कुम्भ-
सिन्दूर-रेणु-कण-कूणितलोचनस्य ।
बालस्य नागवदनस्य मनस्यभीष्टां
दृष्ट्वैव नाट्यघटनां तव संबभूव ॥ ११ ॥

अन्वय—हे प्रभो ! कर्णतालचलनानिलधूतकुम्भसिन्दूररेणुकणकूणितलोचनस्य बालस्य नागवदनस्य मनसि अभीष्टाम् नाट्यघटनाम् दृष्ट्वा एव तव यत् (हसितम्) संबभूव, तदित्यादि पूर्ववत्।

अर्थ—नाथ ! जब आपके पुत्र गजाननजी अपने कर्णतालों (कानों) को हिलाने लगते हैं, तब उनसे निकलते पवन के द्वारा उनकी सूँड में से सिन्दूर के कण उड़ उड़कर उनके नेत्रों में जाने लगते हैं।

इस कारण वे जब अपने नेत्रों को मूँदकर मन में हर्षित होते हुए नाच करने लगते हैं तब उस मनोमोहक नाट्य-घटना को देख आपके मन में जो हास्य प्रकट होता है, उस हास्य को हमारा प्रणाम है।

शैलादिवादितमृदङ्गलयानुयात-
नृत्तप्रवृत्तगुहवाहविलोकनेन।
स्वामिन् महाप्रलयभैरवरूपिणो य-
दाविर्बभूव तव ताण्डवडम्बरेषु ॥ १२ ॥

अन्वय—हे स्वामिन्! महाप्रलयभैरवरूपिणः तव ताण्डवडम्बरेषु शैलादि[1]वादितमृदङ्गलयानुयातनृत्तप्रवृत्तगुहवाहविलोकनेन यत् (हसितम्) आविर्बभूव, तदित्यादि पूर्ववत्।

अर्थ—अयि प्रभो! महाप्रलय के समय जब आप अति भयानक स्वरूप को धारण कर अपने ताण्डव नृत्य को तैयारी करते हो, तब नन्दी मृदङ्ग को बजाता है। उसकी ध्वनि सुनकर जब स्वामी कार्तिकेय का वाहन—मयूर (मेघध्वनि के भ्रम से) ठीक उस मृदङ्ग के ताल के अनुसार नाच करने लगता है तब उसे देखकर आपको जो हास्य उत्पन्न होता है, आपके उस हास्य की हम सेवा करते हैं।

व्योम प्रचण्डभुजदण्डविघट्यमान-
तारावली-विरह-बन्धुरितान्धकारम्।
स्वामिन् युगान्तसमयाभिनयेषु येन
संभाव्यते पुनरपि प्रचुरप्रकाशम् ॥ १३ ॥

अन्वय—हे स्वामिन्! युगान्तसमयाभिनयेषु प्रचण्डभुजदण्डविघट्यमानतारावलीविरहबन्धुरितान्धकारम् (अपि) व्योम येन (तव हसितेन) पुनरपि प्रचुरप्रकाशम् संभाव्यते, तदिति पूर्ववत्।

---

(१) शिलादस्य मुनेरपत्यं शैलादिः नन्दी प्रमथविशेषः।

अर्थ—हे नाथ ! जब आप महाप्रलय में नाट्य करते समय अपनी प्रचण्ड भुजाओं के द्वारा समस्त तारा-मण्डल को उखाड़ डालते हो, तब चन्द्र-सूर्यादि के प्रकाश के बिना गाढ़ अन्धकार से भरा हुआ भी आकाश आपके जिस हास्य से फिर भी परम प्रकाशमय हो जाता है, उस हास्य की हम स्तुति करते हैं।

दिक्चक्रवाल-मुखरीकरणप्रगल्भ-
प्रावृट्पयोधरगभीररवानुकारि ।
स्वामिन् कठोरहृदयस्य भयं विधातुं
भीरोश्च दातुमभयं युगपत्क्षमं यत् ॥ १४ ॥

अन्वय—हे स्वामिन् ! दिक्चक्रवालमुखरीकरणप्रगल्भप्रावृट्पयोधरगभीररवानुकारि यत् (तव हसितम्) कठोरहृदयस्य भयम् विधातुम् भीरोः च अभयम् विधातुम् युगपत् क्षमम् (भवति) तदित्यादि पूर्ववत् ।

अर्थ—हे प्रभो ! समस्त दिङ्मण्डल को वाचाल बना देनेवाले वर्षाकालीन मेघ की गम्भीर ध्वनि का अनुकरण करनेवाला अर्थात् वर्षाकाल की मेघध्वनि की भाँति समस्त दिङ्मण्डल में व्याप्त होनेवाला जो आपका हास्य एक ही साथ कठोर हृदयवाले खलों को भय, और सांसारिक दुःखों से भयभीत हुए अनाथों को अभय देने में समर्थ होता है, आपके उस मनोहर हास्य की हम स्तुति करते हैं।

यत्कालकूटकवलीकरणप्ररूढ-
नीलिम्नि कण्ठपुलिने विमलं निलीनम् ।
नीरन्ध्रनीरभरमेदुर-मेघ-खण्ड-
लग्नेन्दुमण्डलविडम्बनमातनोति ॥ १५ ॥

अन्वय—प्रभो ! कालकूटकवलीकरणप्ररूढनीलिम्नि कण्ठपुलिने निलीनम् विमलम् यत् (हसितम्) नीरन्ध्रनीरभरमेदुरमेघखण्डलग्नेन्दुमण्डलविडम्बनम् आतनोति, तदित्यादि पूर्ववत् ।

अर्थ—कालकूट को निगल जाने के कारण कालिमा को प्राप्त हुए आपके कण्ठतट पर प्रकाशमान होता हुआ जो स्वच्छ हास्य, काले मेघ के खण्ड पर मिले हुए चन्द्रमण्डल के समान शोभित होता है, आपके उस हास्य की हम आराधना करते हैं।

[अब यहाँ से भगवद्धास्य को वर्णन करनेवाले इस महाकुलक के मध्य में नौ श्लोकों के गर्भकुलक[1] द्वारा 'भगवती श्री पार्वतीजी' के स्वप्नवृत्तांत का वर्णन करते हुए कहते हैं—]

ध्यायन्त्यनन्यहृदया हृदयाधिनाथ-
मद्य क्षपामगमयं सखि कल्पकल्पाम् ।
प्राणेशसङ्गमनिमित्तमथ प्रभाते
निद्रा सखीव मम सम्मुखमाजगाम ॥ १६ ॥

अन्वय—(श्रीगिरिजा त्वद्वियोगेन भृशमुद्विग्ना सती स्वसखीं जयां प्रति स्वप्नोदितवृत्तान्तमकथयत्—) हे सखि जये ! अनन्यहृदया (अहम्) हृदयाधिनाथम् ध्यायन्ती अद्य कल्पकल्पाम् क्षपाम् अगमयम्, अथ प्रभाते प्राणेशसङ्गमनिमित्तम् सखी इव, निद्रा मम सम्मुखम् आजगाम।

अर्थ—(हे भगवन् ! जब श्री गिरिजाजी आपके विरह में अतीव व्याकुलचित्त होकर अपनी सखी जया से स्वप्न का वृत्तान्त कहने लगीं कि—) हे सखि जये ! अनन्य चित्त से अपने प्राणनाथ (भगवान् सदाशिव) का ध्यान करते हुए मैंने आज की रात्रि को एक कल्प के समान बड़ी कठिनता से बिताया, तब फिर प्रातःकाल में सखी की तरह प्राणप्रिय के साथ सङ्गम करा देनेवाली निद्रा देवी जब मेरे सम्मुख आई—

---

(१) कुलक के मध्य में जो कुलक होता है, उसे गर्भकुलक कहते हैं।

तस्मिन्क्षणे नयनवर्त्मनि जीवितेशः
शंसन् दृशा मधुरयैव मनःप्रसादम् ।
चक्रे पदं मम तमोमुकुलीकृतायाः
स्वैरं समेत्य सवितेव सरोरुहिण्याः ॥ १७ ॥

अन्वय—तस्मिन् एव क्षणे स्वैरम् समेत्य मधुरया दृशा मनःप्रसादम् शंसन् मम जीवितेशः तमोमुकुलीकृतायाः मम नयनवर्त्मनि, सरोरुहिण्याः सविता इव पदम् चक्रे ।

अर्थ—उसी समय स्वेच्छा से आकर अपनी मनोहर सौम्य दृष्टि से मन को प्रसन्न करते हुए प्राणनाथ ने मूर्च्छा से व्याकुल हुए मेरे नयनों में इस भाँति निवास किया, जैसे कि अन्धकार से संकुचित कमलिनी के नयनमार्ग में सूर्यदेव निवास करते हैं। तदनन्तर मुझे आश्वासन देते हुए कहने लगे कि—

अस्मत्कृते सितमयूखमुखि त्वयैत-
त्किं प्रस्तुतं मुनिभिरप्यतिदुष्करं यत् ।
उद्यानचङ्क्रमणकेलिषु खिद्यते या
सा ते कथं कथय कष्टसहाऽङ्गयष्टिः ॥ १८ ॥

अन्वय—अयि सितमयूखमुखि ! यत् मुनिभिः अपि अतिदुष्करम्, तत् एतत् (कर्म) त्वया अस्मत्कृते किम् प्रस्तुतम् ! हे कोमलाङ्गि ! या (तवाऽङ्गयष्टिः) उद्यानचङ्क्रमणकेलिषु खिद्यते, सा ते अङ्गयष्टिः कथम् कष्टसहा (भवति, त्वमेव) कथय ।

अर्थ—हे चन्द्रमुखि ! बड़े-बड़े तपस्वी मुनि जनों से भी अत्यन्त दुःसाध्य यह तीव्र तप तुमने हमारे लिए क्यों किया ? अयि कोमलाङ्गि ! कुसुमोद्यान में क्रीडा करने से ही जो म्लान हो जाता है वह तुम्हारा सुकोमल शरीर इस कठोर तप के कष्ट को कैसे सहन कर सकता है, यह तुम्हीं कहो ।

मूर्तिः क्व बालकदलीदलकोमलेयं
तीव्रं तपः क्व मनसोऽपि न गोचरं यत् ।
क्वेषद्विकासि कुसुमं सुमनोलतायाः
क्वोन्मत्तकुञ्जरकठोरकरोपमर्दः ॥ १९ ॥

अन्वय—हे शशिमुखि ! बालकदलीदलकोमला इयम् (तव) मूर्तिः क्व (भवति) तीव्रम् यत् मनस अपि अगोचरम् तत् तपः क्व (भवति) दृष्टं चैतत्—सुमनोलतायाः ईषद्विकासि कुसुमं क्व ? (तस्य) उन्मत्तकुञ्जर-कठोरकरोपमर्दः क्व ?

अर्थ—हे चन्द्रानने ! नवीन कदली दल के समान कोमल यह तुम्हारी मूर्ति कहाँ ? और कहाँ बड़े बड़े मुनियों से भी दुःसाध्य, मन का भी अगोचर यह तीव्र तप ? हन्त ! मालती लता का किञ्चित् विकसित हुआ कोमल पुष्प कहाँ ! और कहाँ हाथी के कठोर हस्त के द्वारा उस (जाती पुष्प) का मर्दन ? हा,

एतेन कर्कशकुशग्रहणं करेण
सोढं कथं प्रथमपल्लवकोमलेन ।
पादौ कथं कमलगर्भनिभौ शिलाग्नि-
श्रेणीषु तीर्थगमनक्रममन्वभूताम् ॥ २० ॥

अन्वय—हे सुमुखि ! एतेन प्रथमपल्लवकोमलेन (तव) करेण, कर्कशकुशग्रहणम् कथम् सोढम् ? कमलगर्भनिभौ पादौ शिलाग्निश्रेणीषु तीर्थगमनक्रमम् कथम् अन्वभूताम् ?

अर्थ—हे सुमुखि ! नवीन किसलय के समान सुकोमल इन तुम्हारे हाथों से अत्यन्त कठोर कुशाओं का ग्रहण कैसे सहन हुआ ? और कमल के कोष के समान तुम्हारे कोमल चरणों ने अत्यन्त तीक्ष्ण शिलाओं की धार पर चलकर तीर्थ गमन के कष्ट को कैसे सहन किया ? हन्त,—

हारोपि भार इव यत्र कुचद्वयं त-
त्सेहे कथं कुलिशकर्कशवल्कलोल्काम् ।
एतत्कथं मृदुमृणाललताभिजातं
पञ्चाग्नितापविपदः पदमङ्गमासीत् ॥ २१ ॥

अन्वय—यत्र (तव कुचयुगे) हारः अपि भारः इव (क्लेशावहो भवति) तत् (ते) कुचयुगम् कुलिशकर्कशवल्कलोल्काम् कथम् सेहे ! हे तन्वङ्गि ! मृदुमृणाललताभिजातम् एतत् (तव) अङ्गम् पञ्चाग्नितापविपदः पदम् कथम् आसीत् !

अर्थ—जिस (तुम्हारे स्तनमण्डल) में सुमनोहर मुक्ताहार भी महान् भार के समान असह्य हो जाता है, उस अपने सुकोमल स्तन-मण्डल में तुमने वज्र के समान कठोर वल्कलों (वृक्ष की त्वचाओं) को कैसे धारण किया ? और हे कोमलाङ्गि ! कोमल कमल की नाल के समान सुकुमार इस तुम्हारे अङ्ग ने पञ्चाग्नि क ताप को कैसे सहन किया ?

इत्यादिभिर्दशनचन्द्रिकयानुविद्धै-
रन्तर्बहिश्च तिमिरप्रसरं हरद्भिः ।
आश्वासयन्निव निवर्तिततीव्रखेदं
गर्भीकृतस्मितसुधामधुरैर्वचोभिः ॥ २२ ॥

अन्वय—इत्यादिभि दशनचन्द्रिकया अनुविद्धैः, बहिः अन्तः च तिमिरप्रसरम् हरद्भिः, गर्भीकृतस्मितसुधामधुरैः वचोभिः (माम्) निवर्तित-तीव्रखेदम् (यथा स्यात्तथा) आश्वासयन् इव—

अर्थ—इस प्रकार दन्तों की छटा से व्याप्त, तथा बाहर और अन्दर के अन्धकार को हरनेवाले, एवं मनोहर ईषद् हास्यरूपी सुधा से पूर्ण, रमणीय वचनों से मेरे तीव्र क्लेश को दूर करके मुझे आश्वासन देते हुए जैसे—

यावत्त्रपापरवशां क्षितिमीक्षमाणं
मुक्ताफलोपमसमुद्गतघर्मलेशम् ।
किञ्चित्करेण मुखमुन्नमयन्निवेष
पीयूषवर्षमिव वर्षितुमैष भूयः ॥ २३ ॥

अन्वय—त्रपापरवशाम् क्षितिम् ईक्षमाणम् मुक्ताफलोपमसमुद्गतघर्मलेशम् (मदीयम्) मुखम् करेण किञ्चित् उन्नमयन् एषः (प्रियतमः) भूयः (वचोभिः) पीयूषवर्षम् इव वर्षितुम् यावत् इयेष ।

अर्थ—जब, लज्जा के वश नीचे को देखते हुए और मुक्ताफलों के समान सात्त्विक स्वेद-बिन्दुओं से व्याप्त हुए मेरे मुख को अपने हाथ से कुछ ऊपर को उठाते हुए प्रियतम ने फिर भी (अपने वचनों से) अमृत की सी वर्षा करने की इच्छा की, अर्थात् कुछ कहना चाहा—

तावत्प्रबोधितवता कृकवाकुनादै-
र्दुर्वेधसा सखि तदाचरितं शठेन ।
यत्रैष एव शरणं मम जीवितेशो
यद्वाऽपरो हरति योऽखिलजन्तुवर्गम् ॥ २४ ॥

अन्वय—हे सखि ! तावत् (एव) कृकवाकुनादैः (माम्) प्रबोधितवता शठेन दुर्वेधसा तत् (कर्म) आचरितम्, यत्र एषः जीवितेशः एव (श्रीशम्भुरेव) मम शरणम् (भवति) यद्वा (तदलाभे) अपरः यः अखिलजन्तुवर्गम् हरति, सः एव जीवितेशः (यमः) मम शरणम् (अस्ति) ।

अर्थ—हे सखि ! तब इतने में ही दुष्ट दैव ने कुक्कुटों के निनाद द्वारा मुझे जगाकर वह काम कर दिया कि, जिसमें अब या तो केवल एक वह जीवितेश (मेरे जीवन के आधार—श्री शङ्कर) ही मेरी शरण हैं अथवा यदि वह न मिले तो, फिर जो समस्त जीवों का सहार किया करता है वह जीवितेश (यमराज) ही मेरा शरण होगा ! अर्थात् फिर मेरा जीना ही असंभव है ।

इत्यादि तीव्रविरहज्वरया जयायै
यत्स्वप्नवृत्तमुदितं गिरिराजपुत्र्या ।
तच्छृण्वतो वनलतान्तरितस्य यत्ते
जातं प्रमोदभरनिर्भरमानसस्य ॥ २५ ॥

(पञ्चविंशत्या कुलकम्)

अन्वय—इत्यादि यत् स्वप्नवृत्तम्, तीव्रविरहज्वरया गिरिराजपुत्र्या जयायै उदितम्, तत् शृण्वतः वनलतान्तरितस्य प्रमोदभर-निर्भरमानसस्य ते यत् (विलासहसितम्) जातम्, तत् वयम् स्तुतिभि. भजामः इति सम्बन्धः ।

अर्थ—इत्यादि इत्यादि, जो स्वप्न का वृत्तान्त तीव्र विरह में व्याकुल हुई गिरिजा ने अपनी सखी जया से कहा, उसे सुनकर वन-लताओं में छिपे हुए आपके अन्तःकरण मे अत्यन्त हर्ष के मारे जो हास्य पैदा हुआ उस (आपके हास्य) की हम स्तुति करते हैं ।

[जब श्री पार्वतीजी ने "भगवान् सदाशिव ही मेरे पति हों" इस इच्छा से उन्हें प्रसन्न करने के लिए अपने पिता हिमालय के एकान्त प्रदेशों मे महान तप किया, तब उनके अन्तःकरण के आशय को जानने के लिए भगवान सदाशिव ने कपट से तरुण-ब्रह्मचारी का वेष बनाकर भगवती श्री गिरिजा के साथ सवाद करते हुए जो हास्य किया था, उसी का वर्णन करते हुए तेरह श्लोकों द्वारा कवि द्वितीय कुलक को आरम्भ करते हैं :—]

सञ्जीवनौषधमिदं हरहुंकृताग्नि-
ज्वालावलीढवपुषः कुसुमायुधस्य ।
बाले सुधारसमये समये किमर्थ-
मायास्यते त्रिभुवनाभरणं शरीरम् ॥ २६ ॥

अन्वय—अयि बाले ! हरहुंकृताग्निज्वालावलीढवपुषः कुसुमायुधस्य सञ्जीवनौषधम् इदम् त्रिभुवनाभरणम् शरीरम् (त्वया अस्मिन्) सुधार-समये समये किमर्थम् आयास्यते ?

अर्थ—अयि बाले, गिरिराजसुते ! शङ्कर के हुङ्काररूपी अग्नि की ज्वालाओं से भस्म हुए कामदेव को उज्जीवित करने के लिए नवीन सञ्जीवनी (महौषधि) के समान, इस त्रैलोक्य के भूषण स्वरूप शरीर को तुम इस युवावस्था में तीव्र तपस्या के द्वारा इस प्रकार क्यों खिन्न कर रही हो ?

कल्पद्रुमैर्निधिभिरोषधिकामधेनु-

चिन्तामणिप्रभृतिभिश्च परिष्कृतस्य ।

किं दुर्लभं तव पितुर्भुवनातिशायि-

श्रीधाम्नि धामनि यदर्थयसे तपोभिः ॥ २७ ॥

अन्वय—अयि बाले ! कल्पद्रुमैः निधिभिः ओषधिकामधेनुचिन्तामणिप्रभृतिभिः च परिष्कृतस्य तव पितुः भुवनातिशायिश्रीधाम्नि धामनि(गृहे) किम् (वस्तु) दुर्लभम् (अस्ति) यत् (त्वम्) तपोभिः अर्थयसे ?

अर्थ—हे बाले ! कल्पवृक्ष, नौ निधि, सञ्जीवनी आदि महौषधि, कामधेनु, चिन्तामणि आदि अमूल्य रत्नों से सुसेवित तुम्हारे पिता पर्वतराज श्रीकैलाश के त्रैलोक्यभूषण, श्रीधाम धाम (लक्ष्मी के निवास-स्वरूप गृह) में तुम्हें कौन सी वस्तु दुर्लभ है कि जिसके लिए तुम ऐसा तीव्र तप कर रही हो ? तुम्हारे पिता ने तो तुम्हें अपमानित नहीं किया ? नहीं ! नहीं !!

त्वं जीवितादपि गुरोरधिका स ताव-

दुत्पादयेत्तव न मन्युमधीतनीतिः ।

संभाव्यते तव च नान्यकृतो निकारः

कुर्वीत केसरिसटाहठकर्षणं कः ॥ २८ ॥

अन्वय—हे बाले ! त्वम् गुरोः (पितुः) जीवितात् अपि अधिका (प्रिया असि) तावत् अधीतनीतिः सः (तव पिता) तव मन्युम् न उत्पादयेत्; अन्यकृतः निकारः तव न संभाव्यते (यतः) केसरिसटाहठकर्षणम् कः कुर्वीत ?

अर्थ—अयि बाले ! तुम तो अपने पिता को प्राणों से भी अधिक प्रिय हो, फिर वह तुम्हारा पिता—नीतिशास्त्र का एक ही ज्ञाता, तुम्हारे मन में क्रोध उत्पन्न ही कैसे कर सकता है ? और कोई तुम्हारा अपमान करे, इस बात की तो सम्भावना तक नहीं हो सकती; क्योंकि ऐसा मूर्ख कौन होगा, जो कि सिंह की जटा को बलात्कार से खींचे ?

श्रद्धानुबन्धविहितव्रतहोमदान-
स्वाध्यायतीर्थगमनादिनिबन्धनानि ।
धन्यस्य कस्य फलितानि तुषारहार-
गौराणि गौरि सुकृतानि पुराकृतानि ॥ २९ ॥

अन्वय—हे गौरि ! श्रद्धानुबन्धविहितव्रतहोमदानस्वाध्यायतीर्थगमनादिनिबन्धनानि तुषारहारगौराणि पुराकृतानि सुकृतानि कस्य धन्यस्य फलितानि, यम् त्वम् तपसा प्रसादम् आनयसीत्यग्रे कुलकान्ते 'सा त्व' इत्यनेन सम्बन्धः ।

अर्थ—हे गौरि ! परमश्रद्धापूर्वक शास्त्रोक्त विधि से किये हुए व्रत, होम, दान, स्वाध्याय, तीर्थ-यात्रा, मन्त्र-पाठ आदि सत्कर्मों के द्वारा प्राप्त हुए, हिम और मुक्ताहार के समान स्वच्छ, प्राक्कृत पुण्य किस धन्यात्मा के उदय हुए हैं, जिसको कि 'तू' तीव्र तपस्या से प्रसन्न करना चाहती है ?

[यहाँ से ६ श्लोकों में 'शब्द-श्लेषोक्ति' से अपने को भी उद्देश्य करके (तरुण ब्रह्मचारी-वपधारी) सदाशिव की पार्वतीजी के प्रति उक्ति है—]

दुर्वार-दुर्गति-निकार-कदर्थ्यमान-
मालोक्य लोकमखिलं विपुलाशयेन ।
सद्यःकृतं कनकवर्णमिन्दुकान्त-
वर्ष्मत्विषा परमकारुणिकेन केन ॥ ३० ॥

अन्वय—दुर्वारदुर्गतिनिकारकदर्थ्यमानम् अखिलं लोकम् आलोक्य इन्दुकान्तवर्ष्मविषा परमकारुणिकेन केन विपुलाशयेन सद्यः कनकवर्षणम् कृतम्, यम् त्वम् तपसा प्रसन्नम् संपादयसि ?

अर्थ—हे गौरि ! समस्त लोगों को अनिवार्य दुर्गतियों से पीड़ित होते देख, चन्द्रमा के समान मनोहर शरीर की कान्तिवाले किस परम कृपालु उदार चित्तवाले वीर ने तत्काल (उन दीन लोगों को देखते ही) सुवर्ण की अविच्छिन्न वृष्टि की है, कि जिस धन्यात्मा को तुम तीव्रतप से प्रसन्न कर रही हो ? अर्थात् समस्त ऐश्वर्य सम्पत्ति की महाधिष्ठात्री देवी साक्षात् भगवती महालक्ष्मी-स्वरूपा होकर भी आप जिसकी प्राप्ति के लिए इस प्रकार का दिव्याऽतिदिव्य तप कर रही हैं, वह लोकोत्तर महादानी अतिशय दयालु कौन है ?

अर्थान्तर—हे सुमुखि ! मरुत्त राजा के नगर-निवासी समस्त लोगों को दुःसह विपत्ति (अतिशय दरिद्रता) से पीड़ित होते देखकर, मनोहर चन्द्रकला से विभूषित शरीरवाले, अतिशय कृपालु, मुझ परम-उदार के सिवाय और किसने मरुत्त के नगर में सात अहोरात्रि-पर्यन्त सुवर्ण की अविच्छिन्न वृष्टि की है, अर्थात् मैंने ही की है। इसलिए मालूम पड़ता है कि तू इस तपस्या से मुझ (सदाशिव) को ही प्रसन्न करना चाहती है !

गायन्ति कस्य विपदं विषमोग्रकाल-
संरुद्धशक्तिशरणागतरक्षणोत्थम् ।
द्वन्द्वानि नन्दनसदामपदानमिन्दु-
धौतासु कौमुद-महोत्सवयामिनीषु ॥ ३१ ॥

अन्वय—विषमोग्रकालसंरुद्धशक्तिशरणागतरक्षणोत्थम् कस्य विपदम् अपदानम् (अद्भुत कर्म) इन्दुधौतासु कौमुद महोत्सवयामिनीषु, नन्दनसदाम् द्वन्द्वानि गायन्ति, यं त्वं तपसा प्रसन्नम् सम्पादयसि ?

अर्थ—अत्यन्त विषम उग्रकाल (कलिकाल, अथवा विपत्तिकाल) से रुकी हुई शक्तिवाले शरणागतों की रक्षा के निमित्त किये गये किस के निर्मल अद्भुत चरित्रों को, देवता लोग पूर्ण चन्द्रमा की छटा से स्वच्छ कार्तिक मास के महोत्सव की रात्रियों में गाया करते हैं, कि जिसको प्रसन्न करने के लिए तू ऐसा तीव्र तप कर रही है ?

अर्थान्तर—हे गिरिराजतनये ! अति भीषण काल (यमराज) से पकड़े हुए शरणागत श्री मार्कण्डेय, श्वेत मुनि आदि भक्तजनों की रक्षा के निमित्त किये गये मेरे ही निर्मल चरित्रों को देवता लोग कार्तिक मास की रात्रियों में गाया करते हैं, अतः मैं समझता हूँ कि तू इस तपस्या से मुझे ही प्रसन्न करना चाहती है !

येनेश्वरेण महता वहतात्रिनेत्र-
सञ्जातकान्ति वपुरद्भुतभूतिभूषम् ।
उद्दामकामशितमार्गणदौर्मनस्य-
वैरस्यमिद्धमहसा सहसा निरस्तम् ॥ ३२ ॥

अन्वय—अत्रिनेत्रसञ्जातकान्ति, अद्भुतभूतिभूषम् वपुः वहता, इद्ध-महसा येन महता ईश्वरेण उद्दामकामशितमार्गणदौर्मनस्यवैरस्यम् सहसा निरस्तम्, यं त्वं तपसा प्रसाद आनयसि ?

अर्थ—और चन्द्रमा के समान कान्तिवाले तथा अद्भुत सम्पत्ति से सुशोभित अति दिव्य शरीर को धारण करनेवाले किस महा तेजस्वी, सर्वशक्ति-सम्पन्न पुरुष ने उद्भट कामदेव के बाणों के विकारों का परित्याग किया है, कि जिसको प्रसन्न करने के लिए तू ऐसी तीव्र तपस्या कर रही है ?

अर्थान्तर—त्रिनेत्रों से सुशोभित और आश्चर्यकारिणी विभूति से विभूषित दिव्यशरीर को धारण करनेवाले परम तेजोमय मुझ महेश्वर के सिवाय अत्युद्भट कामदेव के तीक्ष्ण बाणों का विजय और

किसने किया? अर्थात् मैंने ही किया है। अतः मैं समझता हूँ कि तुम मुझे ही प्रसन्न करने के लिए यह तप कर रही हो।

धन्याः कमस्खलितपौरुषभग्नभूरि-
दर्पान्धकन्दलितलोकविषादमुच्चैः।
हेलावलीढविषमश्रमवीर्यवह्नि-
भस्मीकृताहितपुरं कवयः स्तुवन्ति॥ ३३॥

अन्वय--हे गौरि! कम् अस्खलितपौरुषभग्नभूरिदर्पान्धकन्दलितलोकविषादम् उच्चैः हेलावलीढविषमश्रमवीर्यवह्निभस्मीकृताहितपुरम् धन्याः कवयः स्तुवन्ति? यं त्वं तपसा प्रसादयसि?

अर्थ--हे गौरि! अपने अमोघ पुरुषार्थ के द्वारा महान् अहङ्कार से अन्ध बने हुए लोगों के विषाद को भग्न कर देनेवाले तथा बिना ही प्रयत्न से बड़े भारी खेद को शान्त कर देनेवाले पराक्रम-रूप अग्नि के द्वारा शत्रुओं के नगरों को भस्म करनेवाले किस धन्यात्मा पुरुष की सत्कवि लोग वन्दना करते हैं, जिसको कि तुम इस तपस्या के द्वारा प्रसन्न कर रही हो?

अर्थान्तर--हे गौरि! अपने अमोघ पराक्रम के द्वारा महा अहंकारी अन्धकासुर का संहार करनेवाले, समस्त लोकों के खेद को समूल नष्ट कर देनेवाले, *बिना ही प्रयास कालकूट को निगल जानेवाले* और पराक्रमरूपी अग्नि के द्वारा बिना ही परिश्रम से त्रिपुरासुर के नगरों को भस्म कर देनेवाले मुझ ईश्वर का ही सत्कवि लोग स्तवन करते हैं, जिसे प्रसन्न करने के लिए तुम यह तप कर रही हो।

कः स्वधुनीसवनवह्निनिषेवणादि-
धौतां दधत्तनुमनुज्झितभैक्षवृत्तिः।
कालं द्विजेन्द्रमुकुटः परिशुद्धधर्म-
चर्यारतः क्षपितवानजिनावृताङ्गः॥ ३४॥

अन्वय—स्वधुर्नीसवनवह्निनियेवणादिधौताम् तनुम् दधत्, अनुज्झितभैक्षवृत्तिः, परिशुद्धधर्मचर्यारतः अजिनावृताङ्गः कः द्विजेन्द्रमुकुटः कालम् क्षपितवान् ? य त्व तपसा प्रसन्न सम्पादयसि।

अर्थ—अयि देवि गिरिजे ! नित्य गङ्गास्नान और अग्नि शुश्रूषा आदि के द्वारा अति निर्मल शरीरवाला, निरन्तर भिक्षावृत्ति करनेवाला, शास्त्रोक्त विशुद्ध धर्माचरण में तत्पर और मृगचर्म को धारण किया हुआ, इस प्रकार अत्युत्तम रीति से कालक्षेप करनेवाला वह द्विजेन्द्र-मुकुट (ब्राह्मण शिरोमणि) कौन सा है, कि जिसको तुम इस तपस्या से प्रसन्न कर रही हो ?

अथवा शिवपक्ष में—अयि गिरितनये ! मन्दाकिनी, (तृतीय नेत्र की) अग्नि और सूर्य-चन्द्रमा के योग से प्रकाशमय, अतीव भव्य शरीरवले, भैक्षवृत्ति को धारण करनेवाले, अत्यन्त स्वच्छ वाहन (वृषभ) पर आरूढ़ होकर विचरण करनेवाले और व्याघ्रचर्म को धारण करनेवाले, द्विजेन्द्रमुकुट (चन्द्रमुकुट—श्री सदाशिव) मैंने ही कालक्षेप (यमराज का संहार) किया है, जिसे कि तुम इस तपस्या से प्रसन्न कर रही हो।

उद्धूलितश्चितिरजोभिरखण्डमुण्ड-
मालाकरालशिखरः सुचिरं चचार।
भीष्मश्मशानवसनव्यसनः कपाल-
खट्वाङ्गपाणिरतितीव्रमपि व्रतं कः ॥ ३५ ॥

अन्वय—चितिरजोभिः उद्धूलितः, अखण्डमुण्डमालाकराल-शिखरः भीष्मश्मशानवसनव्यसनः कपालखट्वाङ्गपाणिः कः अतितीव्रम् अपि व्रतम् सुचिरम् चचार ? य त्वं तपसा प्रसन्न सपादयसि।

अर्थ—बदन में चिता-भस्म रमाया हुआ, शिर मे अखण्ड मुण्डमाला धारण किया हुआ, अति भयानक श्मशान में निवास करने-

वाला और हाथ में कपाल तथा खट्वाङ्ग को धारण कर इस प्रकार चिर-काल तक अत्यन्त दुष्कर तप करनेवाला वह कौन सा तपस्वी है, कि जिसकी प्राप्ति के लिए तुम ऐसी कठिन तपस्या कर रही हो ?

अथवा—हे गौरि ! अङ्ग मे चिता-भस्म को रमाकर, मस्तक में मुण्ड-माला को धारण करके अति भयङ्कर श्मशान में निवास करते हुए, हाथ में कपाल और खट्वाङ्ग को धारण करके चिरकाल तक अति दुष्कर तप करने-वाला मेरे सिवाय दूसरा और कौन है ? अर्थात् मैं ही हूँ, अतः मालूम पड़ता है कि, तुम मुझे ही प्रसन्न करने के लिए यह तपस्या कर रही हो ?

मन्ये भवान्तर-शतोपचितस्य पुण्य-
　　पृथ्वीरुहः फलमलभ्यमभाग्यभाजाम् ।
यस्या दृगञ्चलविलोकनमात्रमेव
　　संभावनं तु वचसा वचसामभूमिः ॥ ३६ ॥

अन्वय—हे गौरि ! अह मन्ये यस्याः (तव) दृगञ्चलविलोकनमात्रम् एव अभाग्यभाजाम् अलभ्यम्, भवान्तरशतोपचितस्य पुण्यपृथ्वीरुहः फलम् (भवति) वचसा संभावनम् तु वचसाम् अभूमिः ।

अर्थ—हे गौरि ! मैं समझता हूँ कि जिसका केवल एक 'कटाक्ष-वीक्षण' ही भाग्यवानों के अनेकों जन्मों में उपार्जित किये पुण्य-पादप का परम दुर्लभ फल है, और फिर वचनामृत से संभावित करना तो वाणी का ही अगोचर अर्थात् अनिर्वाच्य है—

सा त्वं महार्घगुणरत्नसमुद्रवेला-
　　लावण्यसिन्धुरकलङ्ककुलप्रसूतिः ।
सौभाग्यभाग्यविभवादिभवाऽभिमान-
　　भूमानमानयसि यं तपसा प्रसादम् ॥ ३७ ॥

अन्वय—सा त्वम् महार्घगुणरत्नसमुद्रवेलालावण्यसिन्धु. अकलङ्ककुल-प्रसूतिः सौभाग्यभाग्यविभवादिभवाभिमानभूमानम् यम् (एवंविधेन) तपसा प्रसादम् आनयसि (सः कः ?) ।

अर्थ—वह तुम अमूल्य गुण-रूपी रत्नों की निधि, मनोहरता की समुद्र और निष्कलङ्क कुल (हिमालय के वश) में उत्पन्न होकर भी, जो इस तीव्र तपस्या से जिस सौभाग्य, भाग्य, महान् ऐश्वर्य आदि के महाभिमानी पुरुष को प्रसन्न कर रही हो, भला वह कौन है ?

इत्थं विदग्धरसदिग्धकथाक्रमेण
देव्या समं समभिभाषणलोलुभस्य ।
यद्व्याजवर्णि-तरुणस्य तवाऽवहित्थ-
संरुद्धमप्यतिभरेण समुद्बभूव ॥ ३८ ॥

अन्वय—हे विभो ! इत्थम् विदग्धरसदिग्धकथाक्रमेण देव्याः समम् समभिभाषणलोलुभस्य व्याजवर्णितरुणस्य तव अवहित्थसंरुद्धम् अपि यत् (विलासहसितम्) अतिभरेण समुद्बभूव, तेन मे तापम् विषमम् तमः च जहीत्यग्रे संबन्धः ।

अर्थ—हे विभो ! इस प्रकार बड़ी चतुरता के साथ मनोहर वार्तालापों से श्री पार्वतीजी के साथ सभाषण करने में लुब्ध हुए, युवा ब्रह्मचारी का वेष धारण किये आपको अपने असली स्वरूप के छिपाने पर भी जो अतिशय हास्य उत्पन्न हुआ था, उस अद्भुत अनुपम हास्य से आप मेरे पाप-तापों और अत्यन्त विषम अज्ञान-रूप अन्धकार को शीघ्र नष्ट कर दीजिए।

रूपं प्रदर्श्य विदधद्गिरि सानुकम्पं
दिव्यं धृतामृतरसं गिरिसानुकम्पम् ।
येन व्यधा मुखमखण्डसितांशुकान्तं
देव्या वपुश्च पुलकोच्छ्वसितांशुकान्तम् ॥ ३९ ॥

स्वामिन्नुदार-घनसार-तुषार-हार-
कह्लार-शारद-निशारमणोपमेन ।

तापं तमश्च विषमं जहि मे सहेल-
मुल्लासितेन हसितेन सितेन तेन ॥ ४० ॥

(युगलकम्)

अन्वय—हे स्वामिन् ! दिव्यम् धृतामृतरसम् गिरि सानुकम्पम् रूपम् प्रदर्श्य, गिरि-सानु-कम्पम् विदधत् (त्वम्) येन (हसितेन) देव्याः मुखम् *अखण्डहसितांशुकान्तम् व्यधाः, वपुः च पुलकोच्छ्वसितांशुकान्तम् व्यधाः,* हे स्वामिन् ! उदार-घनसार-तुषारहारकह्लारशारदनिशारमणोपमेन सहेलम् उल्लासितेन तेन सितेन हसितेन मे तापम् विषमम् तमः च जहि ।

अर्थ—हे नाथ ! दिव्य अर्थात् लोकोत्तर अमृत-रस को धारण करनेवाले और कृपापूर्ण वचनों से युक्त अपने यथार्थ स्वरूप का दर्शन कराकर, कैलास पर्वत के शिखरों को कम्पित करते हुए आपने जिस हास्य से श्री देवी पार्वती के मुख को हर्ष के मारे पूर्णचन्द्र के समान मनोहर बनाया और (उनके) शरीर को लोकोत्तर आनन्द से पुलकित किया था, हे प्रभो ! उदार कर्पूर, हिम, मुक्ताहार, श्वेत कमल और शरत्कालीन पूर्णचन्द्रमा के समान उस अपने स्वच्छ हास्य से मुझ दीन के तीनों तापों और अज्ञान-रूप महान्धकार को दूर कर दीजिए ।

[अब इस स्तोत्र का उपसंहार करते हैं—]

सहस्रचरणं रविं नयनपङ्कजान्तःस्थितं
सहस्रनयनं हरिं चरणपङ्कजान्तःस्थितम् ।
विमृश्य धृतविस्मयां भगवतीमवेक्ष्योद्गतं
प्रभोरभिमताप्तये हसितमस्तु शर्वस्य मे ॥ ४१ ॥

अन्वय—सहस्रचरणम् रविम् (प्रभोः) नयनपङ्कजान्तःस्थितम् विमृश्य, सहस्रनयनम् हरिम् (इन्द्रम्)प्रभोः चरणपङ्कजान्तःस्थितम् विमृश्य, धृत-विस्मयाम् भगवतीम् अवेक्ष्य, उद्गतम् प्रभोः शर्वस्य हसितम् मे अभि-मताप्तये अस्तु ।

अर्थ—वह तुम अमूल्य गुण-रूपी रत्नों की निधि, मनोहरता की समुद्र और निष्कलङ्क कुल (हिमालय के वंश) में उत्पन्न होकर भी, जो इस तीव्र तपस्या से जिस सौभाग्य, भाग्य, महान् ऐश्वर्य आदि के महाभिमानी पुरुष को प्रसन्न कर रही हो, भला वह कौन है ?

इत्य विदग्धरसदिग्धकथाक्रमेण
देव्या समं समभिभाषणलोलुभस्य ।
यद्व्याजवर्णि-तरुणस्य तवाऽवहित्थ-
संरुद्धमप्यतिभरेण समुद्बभूव ॥ ३८ ॥

अन्वय—हे विभो ! इत्यम् विदग्धरसदिग्धकथाक्रमेण देव्याः समम् समभिभाषणलोलुभस्य व्याजवर्णितरुणस्य तव अवहित्थसंरुद्धम् अपि यत् (विलासहसितम्) अतिभरेण समुद्बभूव, तेन मे तापम् विषमम् तम च जहीत्यग्रे सबन्ध. ।

अर्थ—हे विभो ! इस प्रकार बड़ी चतुरता के साथ मनोहर वार्तालापों से श्री पार्वतीजी के साथ संभाषण करने में लुब्ध हुए, युवा ब्रह्मचारी का वेष धारण किये आपको अपने असली स्वरूप के छिपाने पर भी जो अतिशय हास्य उत्पन्न हुआ था, उस अद्भुत अनुपम हास्य से आप मेरे पाप-तापों और अत्यन्त विषम अज्ञान-रूप अन्धकार को शीघ्र नष्ट कर दीजिए।

रूपं मदर्श्य विदधद्गिरि सानुकम्पं
दिव्यं धृतामृतरसं गिरिसानुकम्पम् ।
येन त्वया मुखमखण्डसितांशुकान्तं
देव्या वपुश्च पुलकोच्छ्वसितांशुकान्तम् ॥ ३९ ॥
स्वामिन्नुदार-घनसार-तुषार-हार-
कह्लार-शारद-निशारमणोपमेन ।

तापं तमश्च विषमं जहि मे सहेल-
मुल्लासितेन हसितेन सितेन तेन ॥ ४० ॥

(युगलकम्)

अन्वय—हे स्वामिन् ! दिव्यम् धृतामृतरसम् गिरि सानुकम्पम् रूपम् प्रदर्श्य, गिरि-सानु-कम्पम् विदधत् (त्वम्) येन (हसितेन) देव्याः मुखम् अखण्डसिताशुकान्तम् व्यधाः, वपुः च पुलकोच्छ्वसिताशुकान्ताम् व्यधाः, हे स्वामिन् ! उदार घनसार-तुषारहारकह्लारशारदनिशारमणोपमेन सहेलम् उल्लासितेन तेन सितेन हसितेन मे तापम् विषमम् तमः च जहि ।

अर्थ—हे नाथ ! दिव्य अर्थात् लोकोत्तर अमृत-रस को धारण करनेवाले और कृपापूर्ण वचनों से युक्त अपने यथार्थ स्वरूप का दर्शन कराकर, कैलास पर्वत के शिखरों को कम्पित करते हुए आपने जिस हास्य से श्री देवी पार्वती के मुख को हर्ष के मारे पूर्णचन्द्र के समान मनोहर बनाया और (उनके) शरीर को लोकोत्तर आनन्द से पुलकित किया था, हे प्रभो ! उदार कर्पूर, हिम, मुक्ताहार, श्वेत कमल और शरत्कालीन पूर्णचन्द्रमा के समान उस अपने स्वच्छ हास्य से मुझ दीन के तीनों तापों और अज्ञान-रूप महाअन्धकार को दूर कर दीजिए ।

[अब इस स्तोत्र का उपसंहार करते हैं—]

सहस्रचरणं रविं नयनपङ्कजान्तःस्थितं
सहस्रनयनं हरिं चरणपङ्कजान्तःस्थितम् ।
विमृश्य धृतविस्मयां भगवतीमवेक्ष्योद्गतं
प्रभोरभिमताप्तये हसितमस्तु शर्वस्य मे ॥ ४१ ॥

अन्वय—सहस्रचरणम् रविम् (प्रभोः) नयनपङ्कजान्तःस्थितम् विमृश्य, सहस्रनयनम् हरिम् (इन्द्रम्)प्रभोः चरणपङ्कजान्तःस्थितम् विमृश्य, धृतविस्मयाम् भगवतीम् अवेक्ष्य, उद्गतम् प्रभोः शर्वस्य हसितम् मे अभिमताप्तये अस्तु ।

अर्थ—सहस्र चरणों (हजार किरणों) वाले सूर्य को प्रभु के नेत्र-कमल में स्थित हुए देख, और सहस्र नेत्रोंवाले इन्द्र को प्रभु के चरण-कमल के समीप में स्थित हुए देख (इस विपरीत व्यवस्था[1] से) आश्चर्य में चकित हुई पार्वतीजी को देखकर भगवान् सदाशिव के मन में जो हास्य उत्पन्न हुआ, वह अद्भुत अनुपम हास्य हमारे मनोरथों को परिपूर्ण करे।

इति श्रीप्रेममकरन्दव्याख्यासमेत काश्मीरकमहाकविश्रीमज्जगद्धरभट्ट-
विरचिते भगवतो महेश्वरस्य स्तुति-कुसुमाञ्जलौ
हसितस्तोत्रं विंशम्

एकविंशं स्तोत्रम्

यहाँ से कवि भगवान् सदाशिव के 'अर्धनारीश्वर' स्वरूप का वर्णन करते हुए 'अर्धनारीश्वर' नामक इक्कीसवें स्तोत्र को आरम्भ करते हैं:—

वन्देमह्यमलमयूखमौलिरत्नं देवस्य प्रकटितसर्वमङ्गलाख्यम् ।
अन्योन्यं सदृशमहीनकङ्कणाङ्कं देहार्धद्वितयमुमार्धरुद्धमूर्तेः ॥ १ ॥

---

(१) क्योंकि प्रभु ने 'सहस्रचरण' वाले (सूर्य) को अपने चरणारविन्दों में स्थान देना चाहिए था, और 'सहस्र नेत्र' वाले (इन्द्र) को नेत्र-कमल में रखना चाहिए था, किन्तु आपने वैसा न करके सहस्र चरणवाले को नेत्र-कमल में और 'सहस्रनेत्र'वाले को चरण-कमल में स्थान दिया, इस कारण प्रभु की यह अद्भुत स्वतंत्रता देखकर पार्वतीजी को आश्चर्य हुआ।

अन्वय—अमलमयूखमौलिरत्नम् प्रकटितसर्वमङ्गलाख्यम् अहीनकङ्कणाङ्कम् अन्योन्यम् सदृशम् उमार्धरुद्धमूर्त्तेः देवस्य देहार्धद्वितयम् (वयम्) वन्देमहि ।

अर्थ—एक तरफ़ (दाहिने अर्धभाग में) चन्द्रमुकुट को धारण किये, सम्पूर्ण मङ्गलों को देनेवाले (शिव) नाम से विराजित और वासुकि आदि सर्पों का कङ्कण धारण किये, तथा दूसरी तरफ़ (बाँयें अर्धभाग में) अर्धचन्द्र का मुकुट धारण किये, 'सर्वमङ्गला' नाम को प्रकटित करनेवाले और हाथ में बड़े बड़े कङ्कणों को धारण किये हुए, इस प्रकार परस्पर एक समान, उमार्ध से अवरुद्ध मूर्तिवाले 'भगवान सदाशिव' के अर्धनारीश्वर स्वरूप के (दाहिने और बाँयें) दोनों अर्धभागों को हम प्रणाम करते हैं।

तद्वन्दे गिरिपतिपुत्रिकार्धमिश्रम्
　　श्रैकण्ठं वपुरपुनर्भवाय यत्र ।
वक्त्रेन्दोर्घटयति खण्डितस्य देव्या
　　साधर्म्यं मुकुटगतो मृगाङ्कखण्डः ॥ २ ॥

अन्वय—यत्र (अर्धनारीश्वररूपे) मुकुटगतः मृगाङ्कखण्डः, खण्डितस्य देव्या वक्त्रेन्दोः साधर्म्यम् घटयति, तत् गिरिपतिपुत्रिकार्धमिश्रम् श्रैकण्ठम् वपुः अपुनर्भवाय (अहम्) वन्दे ।

अर्थ—जिस (अर्धनारीश्वर स्वरूप) के दाहिने—शिवरूप अर्धभाग में मुकुट में विराजमान हुआ चन्द्रखण्ड बाँयें (देवीरूप) अर्धभाग में पार्वती के मुखचन्द्रार्ध की समानता को धारण करता है उस श्रीगिरिजारूप अर्धभाग से संमिश्रित श्रीशङ्करजी के शरीर (अर्धनारीश्वर स्वरूप) को मैं प्रणाम करता हूँ।

एकत्र स्फटिकशिलामलं यदर्धे प्रत्यग्रद्रुतकनकोज्ज्वलं परत्र ।
बालार्कद्युतिभरपिञ्जरैकभागप्रालेयक्षितिधरशृङ्गभङ्गिमेति ॥ ३ ॥

अन्वय—यत् (अर्धनारीश्वररूपम्) एकत्र अर्धे स्फटिकशिलामलम्, परत्र प्रत्यग्रद्रुतकनकोज्ज्वलम् सत् बालार्कद्युतिभरपिञ्जरैकभागप्रालेयक्षितिधर-शृङ्गभङ्गिम् एति।

अर्थ— जो अर्धनारीश्वर रूप एक ओर (शिवरूप अर्धभाग में) स्फटिक शिला के समान स्वच्छ, और दूसरी ओर (पार्वतीरूप वाम अर्धभाग में) नवीन सुवर्ण के समान गौर वर्णवाला होकर ऐसा सुशोभित होता है, कि जैसे प्रातःकाल के सूर्य के तेजःपुञ्ज से एक भाग में पीला बना हुआ हिमालय पर्वत का शिखर शोभित है ;

यत्रैकं चकितकुरङ्गभङ्गि चक्षुःप्रोन्मीलत्कुचकलशोपशोभि वक्षः।
मध्यं च कृशिमसमेतमुत्तमाङ्गं भृङ्गालीरुचिकचसंचयाञ्चितं च॥४॥
साभोगं घननिबिडं नितम्बबिंबं पादोपि स्फुटमणिनूपुराभिरामः।
आलोक्य क्षणमिति नन्दिनोऽप्यकस्मादाश्चर्यं परमुदभूदभूतपूर्वम्॥५

(युग्मम्)

अन्वय—यत्र (देवीरूपार्धभागे) एकम् चक्षुः चकितकुरङ्गभङ्गि (भवति) वक्षः प्रोन्मीलत्कुचकलशोपशोभि (भवति) मध्यम् च कृशिमसमेतम् (भवति) उत्तमाङ्ग च भृङ्गालीरुचिकचसञ्चयाञ्चितम (भवति) साभोगम् घननिबिडम् नितम्बबिम्बम् (अस्ति) पादः अपि स्फुटमणिनूपुराभिरामः (अस्ति) इति आलोक्य, नन्दिनः अपि क्षणम् अकस्मात् परम् अभूतपूर्वम् आश्चर्यम् उदभूत्।

अर्थ—जिस (अर्धनारीश्वर-स्वरूप) में एक ओर—देवी रूप अर्धभाग में, एक चक्षु चकित हुए मृग के समान शोभित होता है, वक्षःस्थल विशाल 'स्तन कलश' से शोभित है, मध्य (कटि) भाग अतिशय कृशतायुक्त और मस्तक काले भ्रमरों के समान कृष्ण केशों से सुशोभित हैं, जहाँ नितम्बमण्डल अतीव विशाल और (वाम) चरण शब्दायमान मणि-नूपुर से सुमनोहर है; इस प्रकार के अद्भुत रूप को देखकर नन्दी को भी क्षण भर अकस्मात् अभूतपूर्व परम आश्चर्य होने लगता है। और—

यत्रार्धं घटयति भूरिभूतिशुभ्रं चन्द्रांशुच्छुरितकुबेरशैलशोभाम् ।
अर्धं च प्रणिहितकुङ्कुमाङ्गरागं पर्यस्तारुणरुचिकाञ्चनाद्रिमुद्राम् ॥६॥

अन्वय—यत्र भूरिभूतिशुभ्रम् अर्धम् चन्द्रांशुच्छुरितकुबेरशैलशोभाम् घटयति, अर्धम् च प्रणिहितकुङ्कुमाङ्गरागम् (सत्) पर्यस्तारुणरुचिकाञ्चनाद्रि-मुद्राम् घटयति ।

अर्थ—जिस अद्भुत रूप में एक (दाहिना) अर्धभाग गाढ़ विभूति (भस्म) से स्वच्छ होकर चन्द्रमा की किरणों से व्याप्त हुए कैलास पर्वत की शोभा को धारण करता है और दूसरा (वाम) अर्ध-भाग कुङ्कुम से लिप्त होकर सूर्य की अरुण कान्ति से व्याप्त हुए सुवर्ण-पर्वत (सुमेरु) की शोभा को धारण करता है ;

यत्कान्तिं दधदपि काञ्चनाभिरामां प्रोन्मीलद्भुजगशुभाङ्गदोपगूढम् ।
बिभ्राणं मुकुटमुपोढचारुचन्द्रं सन्धत्ते सपदि परस्परोपमानम् ॥७॥

अन्वय—यत् काञ्चन अभिरामाम् कान्तिम् दधत् अपि, प्रोन्मीलद्भुजग-शुभाङ्गदोपगूढम् ; उपोढचारुचन्द्रम् मुकुटम् बिभ्राणम् (सत्) सपदि परस्परो-पमानम् सन्धत्ते ।

अर्थ—जिस अद्भुत स्वरूप में शिवरूप दक्षिण अर्धभाग किसी मनोहर (अनिर्वाच्य) शोभा को धारण करता हुआ भी, वासुकि आदि सर्प-रूपी सुन्दर केयूरों से परिवेष्टित और मनोहर चन्द्रमुकुट को धारण कर, एवं देवी-रूप अर्धभाग काञ्चन (सुवर्ण) के समान अभिराम कान्ति को धारण करता हुआ भी हाथों के सुन्दर केयूरों से परिवेष्टित और अतीव मनोहर कर्पूर से उज्ज्वलित मुकुट को धारण कर (इस प्रकार) परस्पर एक दूसरे की उपमा धारण करता है ;

आश्चर्यं तव दयिते हितं विधातुं
प्रागल्भ्यं किमपि भवोपतापभाजाम् ।
अन्योन्यं गतमिति वाक्यमेकवक्त्र-
मोद्भिन्नं घटयति यत्र सामरस्यम् ॥ ८ ॥

अन्वय—यत्(अर्धनारीश्वररूपम्)एकत्र अर्धे स्फटिकशिलामलम्, परत्र प्रत्यग्रद्रुतकनकोज्ज्वलम् सत् बालार्कद्युतिभरपिञ्जरैकभागप्रालेयक्षितिधर-शृङ्गभङ्गिम् एति।

अर्थ— जो अर्धनारीश्वर रूप एक ओर (शिवरूप अर्धभाग में) स्फटिक शिला के समान स्वच्छ, और दूसरी ओर (पार्वतीरूप वाम अर्धभाग में) नवीन सुवर्ण के समान गौर वर्णवाला होकर ऐसा सुशोभित होता है, कि जैसे प्रातःकाल के सूर्य के तेजःपुञ्ज से एक भाग में पीला बना हुआ हिमालय पर्वत का शिखर शोभित है;

यत्रैकं चकितकुरङ्गभङ्गि चक्षुःप्रोन्मीलत्कुचकलशोपशोभि वक्षः।
मध्यं च कृशिमसमेतमुत्तमाङ्गं भृङ्गालीरुचिकचसंचयाञ्चितं च॥४॥
साभोगं घननिविडं नितम्बबिंबं पादोपि स्फुटमणिनूपुराभिरामः।
आलोक्य क्षणमिति नन्दिनोप्यकस्मादाश्चर्यं परमुदभूदभूतपूर्वम्॥५
(युग्मम्)

अन्वय—यत्र (देवीरूपार्धभागे) एकम् चक्षुः चकितकुरङ्गभङ्गि (भवति) वक्षः प्रोन्मीलत्कुचकलशोपशोभि (भवति) मध्यम् च कृशिमसमेतम् (भवति) उत्तमाङ्गं च भृङ्गालीरुचिकचसञ्चयाञ्चितम् (भवति) साभोगम् घननिविडम् नितम्बबिम्बम् (अस्ति) पादः अपि स्फुटमणिनूपुराभिरामः (अस्ति) इति आलोक्य, नन्दिनः अपि क्षणम् अकस्मात् परम् अभूतपूर्वम् आश्चर्यम् उदभूत्।

अर्थ—जिस (अर्धनारीश्वर-स्वरूप) में एक ओर—देवी रूप अर्धभाग में, एक चक्षु चकित हुए मृग के समान शोभित होता है, वक्षःस्थल विशाल 'स्तन-कलश' से शोभित है; मध्य (कटि) भाग अतिशय कृशतायुक्त और मस्तक काले भ्रमरों के समान कृष्ण केशों से सुशोभित है, जहाँ नितम्बमण्डल अतीव विशाल और (वाम) चरण शब्दायमान मणि-नूपुर से सुमनोहर है; इस प्रकार के अद्भुत रूप को देखकर नन्दी को भी क्षण भर अकस्मात् अभूतपूर्व परम आश्चर्य होने लगता है। और—

यत्रार्धं घटयति भूरिभूतिशुभ्रं चन्द्रांशुच्छुरितकुबेरशैलशोभाम् ।
अर्धं च प्रणिहितकुङ्कुमाङ्गरागं पर्यस्तारुणरुचिकाञ्चनाद्रिमुद्राम् ॥६॥

अन्वय—यत्र भूरिभूतिशुभ्रम् अर्धम् चन्द्रांशुच्छुरितकुबेरशैलशोभाम् घटयति, अर्धम् च प्रणिहितकुङ्कुमाङ्गराम् (सत्) पर्यस्तारुणरुचिकाञ्चनाद्रिमुद्राम् घटयति ।

अर्थ—जिस अद्‌भुत रूप में एक (दाहिना) अर्धभाग गाढ़ विभूति (भस्म) से स्वच्छ होकर चन्द्रमा की किरणों से व्याप्त हुए कैलास पर्वत की शोभा को धारण करता है और दूसरा (वाम) अर्धभाग कुङ्कुम से लिप्त होकर सूर्य की अरुण कान्ति से व्याप्त हुए सुवर्ण-पर्वत (सुमेरु) की शोभा को धारण करता है ;

यत्कान्तिं दधदपि काञ्चनाभिरामां प्रोन्मीलद्भुजगशुभाङ्गदोपगूढम् ।
बिभ्राणं मुकुटमुपोढचारुचन्द्रं सन्धत्ते सपदि परस्परोपमानम् ॥७॥

अन्वय—यत् काञ्चन अभिरामाम् कान्तिम् दधत् अपि, प्रोन्मीलद्भुजग-शुभाङ्गदोपगूढम् ; उपोढचारुचन्द्रम् मुकुटम् बिभ्राणम् (सत्) सपदि परस्परोपमानम् सन्धत्ते ।

अर्थ—जिस अद्‌भुत स्वरूप में शिवरूप दक्षिण अर्धभाग किसी मनोहर (अनिर्वाच्य) शोभा को धारण करता हुआ भी, वासुकि आदि सर्प-रूपी सुन्दर केयूरों से परिवेष्टित और मनोहर चन्द्रमुकुट को धारण कर, एवं देवी-रूप अर्धभाग काञ्चन (सुवर्ण) के समान अभिराम कान्ति को धारण करता हुआ भी हाथों के सुन्दर केयूरों से परिवेष्टित और अतीव मनोहर कर्पूर से उज्ज्वलित मुकुट को धारण कर (इस प्रकार) परस्पर एक दूसरे की उपमा धारण करता है ;

आश्चर्यं तव दयिते हितं विधातुं
　　प्रागल्भ्यं किमपि भवोपतापभाजाम् ।
अन्योन्यं गतमिति वाक्यमेकवक्त्र-
　　प्रोद्भिन्नं घटयति यत्र सामरस्यम् ॥ ८ ॥

अन्वय—यत्र (भगवतः देवीं प्रति वाक्यम्—) 'हे दयिते ! भवोपतापभाजाम् हितम् विधातुम् तव किमपि (लोकोत्तरम्) आश्चर्यम् प्रागल्भ्यम् गतम्' तथा (देव्या शिवं प्रति वाक्यम्—) 'हे दयित ! इति आश्चर्यम्, यत् भवोपतापभाजाम् ईहितम् (अभिलषितम्) विधातुम् तव किमपि प्रागल्भ्यम् गतम्, इति (समवेतयोः शिवयोः) एकवक्त्रप्रोद्गतम् वाक्यम् अन्योन्यम् सामरस्यम् घटयति।

अर्थ—जिस अद्भुत रूप में (भगवान् का पार्वतीजी के प्रति—) 'हे प्रियतमे ! सांसारिक पापतापों से सन्तापित जीवों का कल्याण करने के लिए तुम किसी अद्भुत लोकोत्तर प्रगल्भता को धारण करती हो; एवं (श्री भवानीजी का शङ्कर के प्रति—) 'हे प्रियतम ! यह बड़ा ही आश्चर्य है कि, भव-भय पीडित आर्त जनों के अभिलषित मनोरथों को पूर्ण करने के लिए आप एक विलक्षण प्रगल्भता को धारण करते हो;' इस प्रकार परस्पर अभिन्न भाव से मिले हुए शिव और शिवा के एक ही मुख से निकला हुआ वाक्य परस्पर एक दूसरे की समानता को धारण करता है।

प्रत्यङ्गं घनपरिरम्भतः प्रकम्पं
वामार्धं भुजगभयादिवैति यत्र ।
यत्रापि स्फुटपुलकं चकास्ति शीत-
स्वःसिन्धुस्नपिततयेव दक्षिणार्धम् ॥ ९ ॥

अन्वय—यत्र वामार्धम् घनपरिरम्भतः भुजगभयात् इव, प्रत्यङ्गम् प्रकम्पम् एति, तथा यत्र दक्षिणार्धम् अपि घनपरिरम्भतः शीतस्वःसिन्धुस्नपिततया इव स्फुटपुलकम् चकास्ति ।

अर्थ—जिस अद्भुत शरीर में वामाङ्ग दक्षिणाङ्ग द्वारा किये गये गाढ़-आलिङ्गन से, सर्पों से भयभीत हुआ जैसा प्रत्यङ्ग में कम्प (सात्त्विक भाव) को प्राप्त होता है, और 'दक्षिण अङ्ग' वामाङ्ग द्वारा किये आलिङ्गन से, शीतल मन्दाकिनी के स्नान से जैसा रोमाञ्चित होता है;

एकत्र स्फुरति भुजङ्गभोगभङ्गि-
　　र्नीलेन्दीवरदलमालिका परत्र ।
एकत्र प्रथयति भस्मनोऽङ्गरागः
　　शुभ्रत्वं मलयजरञ्जनं परत्र ॥ १० ॥
एकत्राऽर्पयति विषं गलस्य कार्ष्ण्यं
　　कस्तूरीकृतमपि पुण्ड्रकं परत्र ।
एकत्र द्युतिरमलाऽस्थिमालिकाना-
　　मन्यत्र प्रसरति मौक्तिकावलीनाम् ॥ ११ ॥
एकत्र सुतरुधिरा करीन्द्रकृत्तिः
　　कौसुम्भं वसनमनश्वरं परत्र ।
इत्यादीन्यपि हि परस्परं विरुद्धा-
　　न्येकत्वं दधति विचित्रधाम्नि यत्र ॥ १२ ॥

(तिलकम्)

अन्वय—यत्र, एकत्र भुजङ्गभोगभङ्गिः स्फुरति, परत्र नीलेन्दीवरदल-मालिका स्फुरति, तथा एकत्र भस्मन अङ्गराग शुभ्रत्वम् प्रथयति, परत्र मलयज-रञ्जनम् शुभ्रत्वम् प्रथयति, एव एकत्र विषम् गलस्य कार्ष्ण्यं अर्पयति, परत्र अपि कस्तूरीकृतम् पुण्ड्रकम् गलस्य कार्ष्ण्यम् अर्पयति, एकत्र अस्थिमालिका-नाम् अमला द्युतिः प्रसरति, परत्र मौक्तिकावलीनाम् अमला द्युति. प्रसरति; एकत्र सुतरुधिरा करीन्द्रकृत्ति. वसनम् (भवति) परत्र अनश्वरम् कौसुम्भम् वसनम् (भवति), इत्यादीनि परस्परम् विरुद्धानि अपि (वस्तूनि) यत्र विचित्रधाम्नि एकत्वम् दधति ।

अर्थ—जिस शरीर मे एक ओर—दाहिने अर्धभाग में, वासुकि आदि भुजङ्गों के फणों की शोभा स्फुरित होती है, और दूसरी ओर वाम अङ्ग में नीलकमलों की माला स्फुरित होती है, तथा एक ओर

(शिवरूप अर्धभाग में) भस्म का अङ्गलेप शुभ्रता को बढ़ाता है, और दूसरी ओर अर्थात् पार्वतीरूप अर्धभाग में, मलयचन्दन का लेप शुभ्रता बढ़ाता है; और एक ओर (दक्षिण अङ्ग में) कालकूट विष कण्ठ में कालिमा अर्पित करता है, दूसरी ओर कस्तूरी का तिलक कण्ठ को कृष्ण करता है; एक तरफ़ अस्थि-मालाओं की स्वच्छ कान्ति फैलती है, और दूसरी तरफ़ मुक्तावलियों की स्वच्छ शोभा फैलती है, एवं एक ओर—शिवरूप अर्धभाग में रक्त को झरता हुआ गजचर्म धारण किय है; और दूसरी ओर—श्रीपार्वतीरूप अर्धभाग में कुसुम्भ (लाल रङ्ग) में रँगा हुआ वस्त्र धारण किया है; इत्यादि परस्पर एक दूसरे की अपेक्षा विरुद्ध भी वस्तुएँ जिस अद्भुत अर्धनारीश्वर रूप में एकत्र को धारण करती हैं, उसे मैं प्रणाम करता हूँ।

दन्तानां सितिमनि कज्जलप्रयुक्ते-
मालिन्येऽप्यलिकविलोचनस्य यत्र ।
रक्तत्वे करचरणाधरस्य चान्यो
नाऽन्योन्यं समजनि नूतनो विशेषः ॥ १३ ॥

अन्वय—यत्र, दन्तानाम् सितिमनि, अलिकविलोचनस्य कज्जलप्रयु मालिन्ये अपि, करचरणाधरस्य रक्तत्वे च अन्योन्यम् नूतनः अन्यः विशे न समजनि ।

अर्थ—जिस अद्भुत रूप में दाहिने और बांये दोनों अर्धभागों दन्तों की स्वच्छता में परस्पर कोई नवीन विशेषता (अन्तर) न हुई, दोनों भागों के ललाटस्थ नेत्र की कालिमा में भी कोई नवीन वि षता नहीं है, क्योंकि दाहिने भाग के भालनेत्र में अग्निजन्य धूम ब बांयें भाग के भालनेत्र में कज्जल की कालिमा विद्यमान है, अतः प स्पर कोई विशेषता नहीं है, एवं दोनों भागों के हस्त, चरण और अ की लालिमा में भी परस्पर कोई नूतन विलक्षणता नहीं प्रतीत हो

क्योंकि दोनों एक समान हैं, प्रभु के उस अर्धनारीश्वर रूप अद्भुत वेष को मैं प्रणाम करता हूँ।

[ऐसे अद्भुत 'अर्धनारीश्वर' रूप के प्रथम प्रथम दर्शन से नन्दी, महाकाल प्रभृतिगणों ने जो-जो वितर्क किया, उसको वर्णन करते हुए कवि कहते हैं—]

कण्ठस्य भ्रमरनिभा विभार्धभागं
मुक्त्वा किं स्थितिमकरोच्छिरोरुहार्धे।
अर्धं वा कनकसदृग्रुचिः कचानां
सन्त्यज्य न्यविशत किं गलैकदेशे ॥ १४ ॥
सौवर्णः करकमले यथैव वामे
सव्येऽपि ध्रुवमभवत्तथैव कुम्भः।
क्रीडैकप्रसृतमतिर्बिभर्बिभर्ति
स्वाच्छन्द्यादुरसि तमेव नूनमेनम् ॥ १५ ॥
यत्रासीज्जगदखिलं युगावसाने
पूर्णत्वं यदुचितमत्र मध्यभागे।
संरम्भाद्गलितमदस्तदेव नूनं
विश्रान्तं घनकठिने नितम्बबिम्बे ॥ १६ ॥
इत्यादीन्व्यविदधुरेव यत्र ताव-
त्संकल्पान्प्रथमसमागमे गणेन्द्राः।
यावत्स प्रणतिविधौ पदारविन्दं
भृङ्गीशः परिहरति स्म नाऽम्बिकायाः ॥ १७ ॥
(चक्कलकम्)

अन्वय—कण्ठस्य भ्रमरनिभा विभा, अर्धभागम् मुक्त्वा किम् (देव्याः) शिरोरुहार्धे स्थितिम् अकरोत्? तथा कचानाम् (कपर्दरूपाणाम्) कनकसदृग्रुचिः अर्धम् सन्त्यज्य कि गलैकदेशे न्यविशत? यथैव वामे करकमले सौवर्णः कुम्भः अभवत्, ध्रुवम् तथैव सव्ये अपि सौवर्णः कुम्भः अभवत्, नूनम्, तम्

एव एनम् (कुम्भम्) क्रीडैकप्रसृतमतिः विभुः स्वाच्छन्द्यात् उरसि विभर्ति ? युगावसाने यत्र अखिलम् जगत् आसीत्, अत्र मध्यमागे यत् पूर्णत्वम् उचितम्, तदेव अदः (पूर्णत्वम्) सरभसात् गलितम् सत् घनकठिने नितम्बविम्बे विश्रान्तम् ? यत्र, इत्यादीन् सङ्कल्पान् गणेन्द्राः प्रथमसमागमे एव तावत् प्रविदधुः, यावत् सः भृङ्गीशः प्रणतिविधौ अम्बिकायाः पदारविन्दम् न परिहरति स्म ।

अर्थ—जिसमें 'अहो! कण्ठ की भ्रमरों के समान शोभा क्या कण्ठ के अर्ध भाग को छोड़कर 'देवी' के शिरःकेशों में चली गई है? जटाओं की सुवर्ण सदृश कान्ति, क्या वाम अर्ध भाग को छोड़कर कण्ठ के एकदेश—वामार्धभाग में प्रविष्ट हो गई है? एवं जैसे बाँयें करकमल में सुवर्ण का कलश है, वैसे ही दक्षिण करकमल में भी सुवर्ण का कलश था, सो हाँ, मालूम होता है कि उसी सुवर्ण-कलश को क्रीड़ा में अति प्रेम रखनेवाले प्रभु ने स्वच्छन्दता से अपने वक्षःस्थल (हृदय) में धारण कर लिया है। आहा, कल्पान्त समय में भगवान् के जिस (मध्यभाग) में यह सारा ही जगत् लीन हुआ था, उस मध्यभाग में जो पूर्णता (स्थूलता) होनी चाहिए थी, वही पूर्णता भगवान् के नाट्य के वेग से मध्यभाग से गिरकर (वाम अङ्ग में) कठिन नितम्ब-विम्ब में स्थित हो गई है?' इत्यादि-इत्यादि वितर्कनाओं को नन्दी आदि गण प्रथम दर्शन में ही तब तक किया, जब तक कि उस भृङ्गीश ने प्रणाम करते समय श्री जगदम्बिका के पादारविन्द को नहीं प्रसन्न किया था।*

---

* भृङ्गिरिटि नामक प्रमथ ने भगवान् के वामाङ्ग में स्थित श्री गिरिजा को प्रणाम नहीं किया, किन्तु केवल एक भगवान् को ही प्रणाम किया, तब उस जगदम्बिका ने कुपित हो उसे शाप दिया—'मैं जगन्माता हूँ, अतः तुम मेरे सम्बन्धी रक्त, मांसादि त्याग दो' तब उसने शाप को सुनकर अपने शरीर के रक्त, मांस को त्याग दिया, फिर भगवान् शंकर ने अमृत का अभिषेक करके उसको 'तू केवल अस्थिशेष ही रहकर सदा अमर हो जा'। ऐसा वरदान देकर अनुगृहीत किया, यह पौराणिकी कथा प्रसङ्ग है।

किमयं शिवः किमु शिवाऽथ शिवा-
विति यत्र वन्दनविधौ भवति।
अविभाव्यमेव वचनं विदुषा-
मविभाव्यमेव वचनं विदुषाम् ॥ १८ ॥

अन्वय—यत्र वन्दनविधौ अयम् किम् शिवः ? किमु शिवा ? अथ किं शिवौ इति वचनं विदुषाम् अविभाव्यम् एव भवति; अतः अत्र वचनम् विदुषाम् अविभाव्यम् एव।

अर्थ—जिस अद्भुत अर्धनारीश्वर रूप के विषय में प्रणाम करते समय "क्या यह शिव हैं ? अथवा शिवा—पार्वती हैं ? या 'शिव और शिवा' दोनों हैं ?" इस प्रकार यह बड़े-बड़े तत्त्ववेत्ताओं का अविभाव्य वचन (एकत्व द्वित्व अथवा पुंस्त्व और स्त्रीत्व विषयक रहस्य) अविभाव्य—विद्वज्जनों से भी दुर्विज्ञेय, अथवा अविभाव्य अ = भगवान् श्री विष्णु के, वि = विशेष भावना द्वारा, भाव्य = जानने योग्य है,. अर्थात् भगवान् विष्णु ही इसका रहस्य जान सकते हैं;

एकः स्तनः समुचितोन्नतिरेकमक्षि
लक्ष्याञ्जनं तनुरपि क्रशिमान्वितेति ।
लिङ्गैस्त्रिभिर्व्यवसिते सविभक्तिकेऽपि
यत्राऽव्ययत्वमविखण्डितमेव भाति ॥ १९ ॥

अन्वय—यत्र एकः स्तनः समुचितोन्नतिः, एकम् अक्षि लक्ष्याञ्जनम्, तनुः अपि क्रशिमान्विता, इति त्रिभिः लिङ्गैः व्यवसिते अपि, सविभक्तिके अव्ययत्वम् अविखण्डितम् एव भाति ।

अर्थ—जिस अद्भुत रूप में एक स्तन परम उन्नति को प्राप्त है, एक नेत्र कज्जल-युक्त है, एवं शरीर के एक भाग ने कृशता धारण की है, इस प्रकार इन तीनों लिङ्गों (चिह्नों) से अद्भुत शोभा के

सुनिश्चित होने पर भी इसकी अव्ययता (अविनाशिता) सदैव अख-
ण्डित ही बनी रहती है।*

यत्र ध्रुवं हृदय एव यदैक्यमासी-
द्वाकाययोरपि पुनः पतितं तदेव ।
यस्मात्सतां हृदि यदेव तदेव वाचि
यच्चैव वाचि करणेऽप्युचितं तदेव ॥ २० ॥

कान्ते शिवे त्वयि विरूढमिदं मनश्च
मूर्तिश्च मे हृदयसंमददायिनीति ।
अन्योन्यमभ्यभिहितं वितनोति यत्र
साधारणस्मितमनोरमतां मुखस्य ॥ २१ ॥

उद्यन्निरुत्तरपरस्परसामरस्य-
संभावनव्यसनिनोरनवद्यहृद्यम् ।
अद्वैतमुत्तमचमत्कृतिसाधनं त-
द्युष्माकमस्तु शिवयोः 'शिवयोजनाय' ॥ २२ ॥
(तिलकम्)

---

* यहाँ कवि ने इस अद्भुत वेष की महिमा वर्णन करते हुए इस भाव को श्लेषमूलक ध्वनि में विरोधाभास की चमक लगाकर और भी अद्भुत कर दिया है। वह कहता है—जहाँ एक चरयुक्त स्तन (पुल्लिङ्ग) है, एक अञ्जनयुक्त अक्षि (नपुंसक) है और कृशतायुक्त तनु (स्त्रीलिङ्ग) है, इस प्रकार पुल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग और नपुंसक—इन तीनों लिङ्गों से सुनिश्चित प्रथमा आदि सात विभक्तियों सहित भी जहाँ सदैव अव्ययत्व बना ही रहता है। कितना हृदयग्राही भाव है।

अन्वय—ध्रुवम्, यत्र (द्वयोः शिवयोः) हृदये एव यत् ऐक्यम् आसीत्, पुनः तदेव (ऐक्यम्) वाक्काययोः अपि पतितम्; यस्मात्, सताम् यदेव हृदि (भवति) तदेव (तेषाम्) वाचि भवति, यच्चैव वाचि, तदेव करणे अपि उचितम्। यत्र 'हे कान्ते ! हे शिवे !! त्वयि विरूढम् इदम् मम मनः, त्वयि विरूढा इयम् मम मूर्तिः च मे हृदयसमददायिनी' इति, तथा— 'त्वयि शिवे कान्ते विरूढ मम मनः, मूर्तिः च मे हृदयसमददायिनी' इति च अन्योन्यम् अपि अभिहितम् मुखस्य साधारणस्मितगर्भोरमताम् वितनोति। तत् उत्तरोत्तरपरस्परसामरस्यसंभावनव्यसनिनोः 'शिवयोः' अनवद्यद्वयम् उत्तमचमत्कृतिसाधनम् अद्वैतम् (अर्धनारीश्वरत्व) युष्माकम् 'शिवयोजनाय' अस्तु।

अर्थ—जिस अद्भुत अर्धनारीश्वर रूप में दोनों शिवों (अर्थात् शिव और शिवा) के हृदय में जो ऐक्य था, वही ऐक्य फिर उनके वाक्य और शरीर में भी आ गया (अर्थात् जैसे उनके हृदय में अभिन्नता थी, वैसे ही वचन और शरीर में भी एकता हो गई) क्योंकि सज्जनों के हृदय में जो भाव होता है, वही भाव उनके वचनों में भी होता है और जो भाव वचन में होता है, वही उनके शरीर अथवा कार्य में भी उचित होता है, यानी सत्पुरुषों के हृदय, वचन और कार्य इन सब में एक सी बात रहती है;

जिस रूप में (भगवान् का देवी के प्रति—) 'हे कान्ते ! हे शिवे !! तुम्हारे में मिला हुआ यह मेरा मन और शरीर दोनों मेरे हृदय में अतिशय आनन्द चमत्कार करते हैं' और (देवी का श्री भगवान् के प्रति—) "हे सदाशिव ! आपमें लगा हुआ यह मेरा मन और शरीर मुझे परम आनन्द प्रदान करते हैं' इस प्रकार के ईषद्-हास्य-पूर्वक परस्पर एक दूसरे को कहे हुए वचन मुख की सुमनोहरता का विस्तार करते हैं—इस तरह परस्पर एक दूसरे की निरुसरता सम्पादन कर देने में अत्यन्त प्रेम रखनेवाले शिव और शिवा का वह निर्दोष, परम मनोहर उत्तमोत्तम

चमत्कारकारी अर्धनारीश्वर रूप अद्वैत आप लोगों के कैवल्य मोक्ष सम्पादन के लिए हो।

लक्ष्याण्यलक्ष्याण्यपरत्र यत्र विलक्षणान्येव हि लक्षणानि।
साहित्यमत्यद्भुतमीशयोस्तन्न कस्य रोमाञ्चमुदञ्चयेत ॥२३॥

अन्वय—हि यत्र अपरत्र (भगवत्पार्श्वे) अलक्ष्याणि लक्ष्याणि विलक्षणानि एव लक्ष्याणि, तत् शिवयोः अत्यद्भुतम् साहित्यम् कस्य रोमाञ्चम् न उदञ्चयेत ?

अर्थ—आहा, जिस अद्भुत स्वरूप में दक्षिण भाग में अलक्षित (अदृश्य) स्तन, केश आदि लक्षण वाम भाग में विलक्षण ही ढङ्ग के लक्षित होते हैं, वह 'शिव और पार्वती जी' का अति अद्भुत अद्वैत साहित्य (अर्धनारीश्वर रूप) किस सचेतन को रोमाञ्चित नहीं कर देता ?

जूटाहेर्मुकुटेन्द्रनीलरुचिभिः श्यामं दधत्यूर्ध्वगं
भागं वह्निशिखापिशङ्गमधरं मध्ये सुधाच्छच्छविः।
धत्ते शक्रधनुःश्रियं प्रतिमिता यत्रेन्दुलेखानृजु-
र्युष्माकं स पयोधरो भगवतोर्हर्षामृतं वर्षतु ॥२४॥

अन्वय—जूटाहे मुकुटेन्द्रनीलरुचिभिः ऊर्ध्वगम् भागम् श्यामम् दधती, अधरम् भागम् वह्निशिखापिशङ्गम् दधती, मध्ये सुधाच्छच्छविः अनृजुः इन्दुलेखा, यत्र प्रतिमिता सती शक्रधनुःश्रियम् धत्ते, सः भगवतोः पयोधरः युष्माकम् हर्षामृतम् वर्षतु ।

अर्थ—अपने ऊर्ध्व भाग को, जटाजूट पर विराजमान वासुकि के मस्तक की इन्द्रनील मणि की कान्तियों से श्यामल करती हुई, अधोभाग को भालनेत्र की वह्निज्वालाओं से पीला बनाती हुई और मध्य में स्वयं सुधा के समान स्वच्छ छविवाली कुटिल चन्द्रकला जिसमें प्रतिबिम्बित होकर इन्द्रधनुष की (चित्र विचित्र) शोभा को धारण करती है, वह पार्वती

और परमेश्वर का दिव्य पयोधर (स्तन रूप मेघ) आप लोगों के लिए परमानन्द रूप अमृत की वृष्टि करे।

इति श्रीप्रेममकरन्दव्याख्यासमेते काश्मीरकमहाकविश्रीमज्जगद्धरभट्ट-
विरचिते भगवतो महेश्वरस्य स्तुति कुसुमाञ्जलौ
'अर्धनारीश्वर'स्तोत्रमेकविंशम्

द्वाविंशं स्तोत्रम्

अब कवि 'कादिपदबन्ध' नामक चित्रकाव्य द्वारा बाईसवें स्तोत्र को आरम्भ करते हुए कहते हैं—

काव्यकौशलकलासु कोविदैः कीर्तितः कविकुलैः कुतूहलात् ।
कौमुदीकुमुदकान्तकीर्तिभिः कामितः कुशलकार्यकारिभिः ॥ १ ॥

केरलीकचकलिन्दकन्यकाकूलकालियकडारकन्धरः ।
किल्बिपक्षपणकारणक्रतुक्रान्तिकृत्करटिकृत्तिकर्पटः ॥ २ ॥

केकिकेतनकृशानुकौशिकैः किन्नरैः कविकुबेरकेशवैः ।
कालकूटकवलक्रियाक्रमे क्रन्दितः कलुषकर्पणक्षमः ॥ ३ ॥

कर्णकीलितकपालकुण्डलः कुण्ठितक्रकचकल्पकल्पषः ।
कालकामकदनः कुमुद्वतीकान्तकर्बुरकपर्दकन्दरः ॥ ४ ॥

कापिशायनकषायकामिनीकेलिकूजितकलेन कौतुकात् ।
क्रीडितः क्वणितकीचकक्वणत्कोकिलाकलकलेन कानने ॥ ५ ॥

कुन्दकुड्मलकदम्बकेतकीकाञ्चनारकलिकाकदम्बकैः ।
कर्णिकारकरवीरकोरकैः कैरवैः कुवलयैः कुशेशयैः ॥ ६ ॥

(गिरिजया) कलितकण्ठकन्दल , क्रीडया कृतकिरातकैतव सन्, कपटतः
:(अर्जुनम्) वेपयन् ; काककङ्कपुररे कलङ्किते कठिनकृत्यका
मले क्षतकलेवरे (शरणम्) काङ्क्षित , (तेषामेव) कटुम्
करुणया कर्षयन् , वेपकर्कशकृतान्तकिङ्करक्लेशकातरकृपाकृतौ
ईश्वर) कलिकलङ्ककन्दलीकन्दकर्त्तनकुठारकर्मणे कल्पताम् ।

ार्थ—काव्य-कौशल और कलाओं में प्रवीण सत्कवियो द्वारा
ल से वन्दित, कौमुदी (चन्द्र-कान्ति) और कुमुद (श्वेत कमल)
मनोहर कीर्तिवाले कुशल कार्यकारियो (पुण्यात्माओं) से अभि-
रलदेशीय अङ्गनाओं के केशपाश एव कालिन्दी (यमुना) के
रनेवाले कालियनाग के समान पिङ्गल ग्रीववाला, पावक, उप-
र महापातक रूप पापो को दूर करनेवाले यज्ञमृग का शिरश्छेदन
, गजचर्म रूप उत्तरीय वस्त्र को धारण करनेवाला, कालकूट को
स (ग्रास) करते समय स्वामिकार्तिकेय, अग्नि, इन्द्र, किन्नर-
ाचार्य, कुबेर और भगवान् विष्णु के द्वारा प्रार्थित किया हुआ,
ापों को दूर करने में अति प्रवीण, कर्णों में कपाल रूपी कुण्डल
रनेवाला, क्रकच (आरे) के सदृश भयङ्कर कल्मष को कुण्ठित
ाला, काल और कामदेव को दण्ड देनेवाला, चन्द्रमा की कान्ति
ट की कन्दरा को कर्बुर करनेवाला, आसव के पान से
कामिनी के केलिकूजित स्वरो और शब्दायमान वेणु-वृक्षो पर
ेाके कल-कल शब्दो से वन में कौतूहल से हर्षित हुआ, कुन्द-
म्ब, केतकी और कचनार कलिकाओं के कदम्बो और कर्णि
वीर के कोरको एव कैरव (श्वेत कमलो) कुवलय (नीलकमल)
त्पलो तथा कपियो के कपोलो के समान कान्तिवाले किंशुक,
श के समान सुकोमल बकुल एव कोविदार कुटज और कणेरक
पुष्पो से सुशोभित काल केशोवाला, काले सर्पो की कठोर
ी के कवच धारण करनेवाला, क्रोधवश हाथियो के गण्डस्थलो
र्ण करनेवाले अति क्रूर सिंहशावको का वध करनेवाला,

सुवर्ण की मालाओं पर गुँथी हुई किंकिणियों से सुशोभित हुई कान्ता— श्री गिरिजा—के हस्त कमलों से तटतट में आलिङ्गित, क्रीड़ा में (अर्जुन के प्रति अनुग्रह करने के लिए) किरात (भील) वेप धारण कर छल से अर्जुन को कुपित करते हुए, एवं लोहे के समान कठोर चञ्चुवाले काक, गृद्ध और कुरर पक्षियों से मलिन हुए और अगम्यागमन आदि महा-पातकों से उत्पन्न हुए अति सङ्कटमय नरक में वहाँ के क्रूर पक्षियों द्वारा घात किये जाते जीवों से शरणार्थ प्रार्थित किया जाता हुआ, और उन दीन जीवों की अति कठिन पीड़ा को दूर करता हुआ, एवं कोप से कठोर यमदूतों के भय से त्रस्त हुए प्राणियों पर निष्कारण दया करने में अतीव प्रवीण वह भगवान् सदाशिव इस कलिकाल में होनेवाला कलङ्क-लता का कुठार के समान मूलोच्छेदन करे।

कल्लोलिनीकुटिलकैरविणीकुटुम्ब-
कङ्कालकल्पितकरालकिरीटकोटिः।
कात्यायनीकरकरम्बितकीर्यमाण-
कर्पूरकुङ्कुमकणः करुणां करोतु ॥ १२ ॥

अन्वय— कल्लोलिनीकुटिलकैरविणीकुटुम्बकङ्कालकल्पितकरालकिरीटकोटिः, कात्यायनीकरकरम्बितकीर्यमाणकर्पूरकुङ्कुमकणः (स) विभुः करुणाम् करोतु।

अर्थ—मन्दाकिनी, कुटिल चन्द्रमा और (महाप्रलय में संहार किये ब्रह्मादिकों के) शिर कपालों का विकराल मुकुट धारण करनेवाला एवं कात्यायनी के कर-कमलों से विकीर्यमाण कर्पूर और कुंकुम के कणों से सुशोभित परमेश्वर हमारे प्रति करुणा करे।

इति श्रीप्रेममकरन्दाख्यया व्याख्यया समेत, काश्मीरकमहाकविश्रीमज्जगद्धर भट्ट विरचित भगवतो महेश्वरस्य स्तुतिकुसुमाञ्जलौ
'वादिमदगन्धहस्तित्र' सम्पूर्णम्

———

त्रयोविंशं स्तोत्रम्

अब 'शृङ्खलाबन्ध' नामक चित्र-काव्य द्वारा तेईसवें स्तोत्र को आरम्भ करते हैं—

जगति विबोधितविधुरं विधुरञ्जितचारुशेखरं गिरिशम् ।
गिरिं शंसामि ससाध्वससाध्वसमानन्ददानपरम् ॥ १ ॥

अन्वय—जगति विबोधितविधुरम् विधुरञ्जितचारुशेखरम् ससाध्वस-साध्वसमानन्ददानपरम् गिरिशम् (अहम्) गिरि शंसामि ।

अर्थ—संसार में भयभीत हुए अनाथजनों को परम आनन्द देकर हर्षित कर देनेवाले, चन्द्रकला से सुशोभित मस्तकवाले एवं जन्म-मरण के चक्र से त्रस्त हुए सज्जनों को अतिशय अलौकिक आनन्द प्रदान करने में परायण भगवान् श्री कैलाशनिवासी प्रभु की मैं वाणी से वन्दना करता हूँ ।

न परं शरणं प्रभवति भवति कृतावज्ञमानसे महताम् ।
महतां भजति हि सहसा सहसा तव भारती मधुरा ॥ २ ॥

अन्वय—भवति, कृतावज्ञमानसे महताम् परम् शरणम् न प्रभवति, हि—सहसा सहसा (बलेन) मधुरा तव भारती महताम् (महत्प्रभावः, ताम्) भजति ।

अर्थ—हे भगवन् ! आपके विमुख हो जाने पर सज्जन लोगों के लिए कोई अन्य शरण ही नहीं है; क्योंकि आपकी अभय और सुमधुर वाणी ही उनको महत्त्व प्रदान करती है ।

मधुरागारुणनयना नयनाशविधौ पटीयसी प्रमदा ।
प्रमदार्पणार्थमुदिते मुदिते त्वयि सा तृणं भजताम् ॥ ३ ॥

अन्वय—हे विभो ! प्रमदार्पणार्थम् उदिते त्वयि मुदिते सति, मधुरा-गारुणनयना, नयनाशविधौ पटीयसी (अपि) सा प्रमदा भजताम् तृणम् भवति ।

अर्थ—हे प्रभो ! कैवल्य मोक्ष-रूप परम आनन्द को देने के लिए उद्यत हुए आपके सन्तुष्ट होने पर, सुमधुर राग और अरुण नेत्रोंवाली एवं नीतिशास्त्र के नाश करने में अति चतुर भी वह कामिनी आपके भक्तजनों को शुष्क तृण के समान प्रतीत होती है।

भजतां सरसाममलां मम लाञ्छितशेखरेन्दुना करुणाम् ।
करुणां गिरं नवतया बत याऽर्पयति तव श्रयताम् ॥ ४ ॥

अन्वय—हे इन्दुना लाञ्छितशेखर ! त्वम् मम (हेतोः) ताम् सरसाम् अमलाम् करुणाम् भज, बत ! या (करुणा) श्रयताम् करुणाम् गिरम् नवतया अर्पयति ।

अर्थ—अयि चन्द्रमौले ! आप मेरे उद्धार के लिए अपनी उस सरस और निर्मल करुणा का समाश्रयण कीजिए, जो (आपकी) करुणा आपके सेवकों की करुण (अत्यन्त दीन अर्थात् कृश) वाणी में भी नवीन बना देती है।

श्रयतां नवनविधौ तव धौतवती गीरयं रतिं चतुरम् ।
चतुरन्तमहीपतिता पतिता हेयत्व एव यत्र सताम् ॥ ५ ॥

अन्वय—अयि विभो ! अयम् धौतवती (मम) गी. चतुरम् तव नवनविधौ रतिम् श्रयताम्, यत्र (गिरि) चतुरन्तमहीपतिता अपि सताम् हेयत्वे एव पतिता (तृणतुल्येत्यर्थः)

अर्थ—हे विभो ! यह मेरी मल-रहित, निष्पाप वाणी शीघ्र आपकी उस दिव्य स्तुति पर प्रेम करे, जिस स्तुति के सामने समस्त भूमण्डल का चक्रवर्ती राज्य भी सहृदयजनों को तुच्छ तृण के समान हेय प्रतीत होता है।

त्रसतां न कदा भवता भवतापहृता विभो शुभाकृतिना ।
कृतिनामुपकारचितं रचितं शुभमेव भाविहितम् ॥ ६ ॥

अन्वय—हे विभो ! भवतापहृता शुभाकृतिना भवता, त्रसताम् कृतिनाम् उपकारचितम् भाविहितम् शुभम् एव कदा न रचितम् ?

अर्थ—अयि विभो ! संसार-दावानल के पाप-तापों को हरने-वाले और अतीव सुमनोहर आकृतिवाले आपने जन्म-मरण के भय से त्रस्त हुए पुण्यात्माओं का अनेकानेक उपकारों से पूर्ण और भविष्य में हितकारक कल्याण कब कब नहीं किया ? अर्थात् सदा ही किया।

विहितं मयि चारु चिरं रुचिरं न गते विवेकलयम् ।
कलयन्नमलविभासितभासित रुचिमेहि मे विपाकमलम् ॥७॥

अन्वय—हे अमलविभासितभासित ! विवेकलयम् गते मयि, भवता चिरम् चारु रुचिरम्(प्रियम्)कथम् न विहितम् ? हे विभो ! मे अलम् विपाकम् कलयन् मे रुचिम् एहि।

अर्थ—अयि चन्द्रमौले ! मुझ विवेकहीन के प्रति आपने अभी तक अभीष्ट अनुग्रह क्यों नहीं किया ? हे नाथ ! मेरे अनुराग को उत्कट बनाते हुए मेरे रुचि पथ पर आइए, अर्थात् जिस प्रकार आपमें मेरा अनुराग हो, ऐसी कृपा कीजिए।

कमलं रविरपराजित राजितविकसद्वपुर्यथा कुरुते ।
कुरु तेन पथा मा भव मा भव विमुखो दृशं दिश मे ॥ ८ ॥

अन्वय—हे अपराजित ! यथा रविः कमलम् राजितविकसद्वपुः कुरुते, तेन पथा (तद्वत्) मा (माम्) कुरु, हे भव ! विमुखः मा भव, मे दृशम् दिश।

अर्थ—हे अपराजित शिव ! जैसे सूर्य कमल को शोभायमान और विकसित-वदन कर देता है, वैसे ही आप भी मुझे परम आनन्द से विकसित-वदन कर दीजिए। प्रभो ! विमुख मत होइए, मुझपर अनुग्रह-दृष्टि कीजिए।

दिशमेष विचारहितां रहितां विपयोरगैरहं न लभे ।
नलभेकवदतिविलपन् बिलपन्नगवद्वृतः सदा तमसा ॥ ९ ॥

अन्वय—हे विभो ! नलभेकवत् अतिविलपन्, बिल-पन्नगवत् सदा तमसा वृतः, एषः अहम् विपयोरगैः रहिताम्, विचारहिताम् दिशम् न लभे।

अर्थ—हे नाथ ! नट (तृण) में रहनेवाले मण्डूक के समान अत्यन्त विलाप करता हुआ और बिल में रहनेवाले सर्प के समान सदा तमोगुणजन्य अन्धकार (अज्ञान) से आच्छादित हुआ यह मैं, विषय-रूपी सर्पों से रहित एवं विवेक-मय मार्ग को नहीं प्राप्त हो रहा हूँ।

तमसाघुज्झितकलहं कलहंसगिरोमया सदा सहितम् ।
सहित गीरुदितरमा तरसा श्रयतां विभुं सदयम् ॥ १० ॥

अन्वय—उज्झितकलहम् कलहंसगिरा उमया सदा सहितम् स हितम् सदयम् तम् विभुम् तरसा उदितरमा असौ (मम) गी श्रयताम्।

अर्थ—माया के आवरण से रहित, सदैव कोकिल के समान मनोहर वाणीवाली श्री उमा से सहित एवं जीवों के प्रति हित और दया रखनेवाले सर्वव्यापी प्रभु का अतिशय अनुरागवाली यह मेरी वाणी सदा सेवित करे।

सदयं यदुदारमते रमते कुर्वंस्तदेव देव जनः ।
व्रज नः करुणापरतां परतां मा गा नमो भवते ॥ ११ ॥

अन्वय—अयि उदारमते ! देव !! यत् सत् (तत्त्ववस्तु) तदेव कुर्वन् अयम् जन रमते, हे विभो ! त्वम् नः करुणापरताम् व्रज, परता मा गा, भवते नमः (अस्तु) !

अर्थ—अयि लोकोत्तर उदार, देव ! जो सत्य—तात्त्विक वस्तु है, उसमें ही यह पुरुष (अर्थात् मैं) प्रीति करता है, अत हे प्रभो ! अब आप हम पर परम दयालु होइए और कठोरता को मत प्राप्त होइए। भगवन् ! आप जगदीश्वर के लिए प्रणाम है।

भव तेजःप्रसर-सितं रसितं श्रुत्वाऽमृतोपमं भवतः ।
भवतत्रासं सकल सकलङ्कमतिः कदा विमुञ्चामि ॥ १२ ॥

अन्वय—हे भव ! सकलङ्कमति (अहम्) भवत तेन प्रसरसितम् अमृतोपमम् रसितम् श्रुत्वा, सकलम् भवत (संसारात्) त्रासम् कदा विमुञ्चामि ?

अर्थ—हे सदाशिव ! कलिकाल के पापों के सम्पर्क से कलुषित मतिवाला मैं आपके दिव्य-तेजःपुञ्ज की प्रभा से स्वच्छ और अमृत के समान सुमधुर प्रसाद-वचन को सुनकर संसार के सम्पूर्ण भय का त्याग कब करूँगा ?

मुञ्चामितभास दृशं सदृशं शशिनः प्रदर्श्य वदनम् ।
वद नन्दयितुं जगतीं जगतीशः कोऽस्तु नामान्यः ॥ १३ ॥

अन्वय—हे अमितभास ! त्वम् शशिनः सदृशम् वदनम् प्रदर्श्य, मे (मह्यम्) दृशम् मुञ्च, हे विभो ! (त्वम्) वद, जगतीम् नन्दयितुम् जगति कः नाम अन्यः ईशः (शक्तः) अस्तु ?

अर्थ—अयि अनन्तप्रकाश परमेश्वर ! आप मुझे अपना चन्द्र-सदृश वदनारविन्द दिखाकर मुझ पर अनुग्रह दृष्टि कीजिए । प्रभो ! आप ही बतलाइए कि, संसार को आनन्दित करने के लिए जगत् में आपके सिवाय दूसरा कौन समर्थ हो सकता है ?

नामान्यः सुमतिरयं तिरयन्ति यशांसि तस्य वा विपदम् ।
विपदं न विलासमये समये वपुरस्य यात्ययातवयः ॥ १४ ॥
तव यः स्तुतिषु सदा हर दाहरजः क्लेशपाशमयम् ।
शमयन्तीष्वस्तमनास्तमनाहतभाग्यमेव देव नमे ॥ १५ ॥

(युग्मम्)

अन्वय—हे हर ! क्लेशपाशमयम् दाहरजः शमयन्तीषु तव स्तुतिषु सदा यः अस्तमनाः भवति, अयम् सुमतिः अमान्यः न भवति, तस्य च यशांसि विपदम् तिरयन्ति, अस्य अयातवयः वपुः विलासमये समये विपदम् न याति, हे देव ! अहम् तम् अनाहतभाग्यम् एव नमे ।

अर्थ—हे प्रभो ! अविद्यादि पञ्च क्लेश और (आणु, माया, कर्म-जन्य) पाश-मय दाह को शान्त करनेवाली आपकी स्तुतियों में जो सदैव अनुराग रखता है, वह सन्मति लोक में अमान्य कदापि नहीं होता और उस धन्यात्मा का सुयश समग्र गगन मण्डल में व्याप्त हो

जाता है एवं उसका तरुण शरीर विलास के समय में क्षीण नहीं होता। हे नाथ! उसी अखंड भाग्यशाली को मैं नमन करता हूँ।

वनमेव शरणमधुना मधुनाशिनुत प्रसादनाय तव।
यतवति हृदये शकलितकलितमसो मे नमेरुचितम् ॥ १६ ॥

अन्वय—हे मधुनाशिनुत! हृदये यतवति सति, शकलितकलितमसः मे अधुना तव प्रसादनाय नमेरुचितम् वनम् एव शरणम्।

अर्थ—हे भगवान् विष्णु के आराध्यदेव! मेरे हृदय के आपके भक्त्युद्रेक के लिए प्रयत्न-शील होने पर, कलिकाल के (अज्ञान रूप) अन्धकार का नाश किये मुझ सेवक का अब आपको प्रसन्न करने के लिए नमेरु वृक्षों से व्याप्त कैलास का वन ही शरण है।

रुचितं नोरगसदनं सदनन्तमहर्द्धि नन्दनं न वनम्।
नवनं धृतदीप्रगुणं प्रगुणं तव कर्तुमेव देव रमे ॥ १७ ॥

अन्वय--अयि देव! सदनन्तमहर्धि उरगसदनम् मे न रुचितम्, सदनन्तमहर्धि नन्दनम् वनम् अपि न रुचितम्, (अहम् तु)प्रगुणम् धृतदीप्रगुणम् तव नवनम् एव कर्तुम् रमे।

अर्थ—हे देव! शेषनाग की अनन्त विभूति से युक्त यह पाताल-लोक मुझे प्रिय नहीं लगता, और अनन्त ऋद्धि-सिद्धियों से भरा हुआ स्वर्ग का नन्दन वन भी अच्छा नहीं लगता; हे भगवन्! मैं तो अत्युत्तम अर्थात् समस्त पातकों को हरनेवाली और ओज-प्रसादादि गुणों-वाली आपकी स्तुतियों में ही अनुराग रखता हूँ।

वरमेनोहरममलं मम लंघितविघ्न देहि नाम हितम्।
महितं पदमपि मा नय मानय विधुरं दृशामलया ॥ १८ ॥

अन्वय—हे लंघितविघ्न! नाम, अमलम् हितम् एनोहरम् वरम् मे देहि; हे विभो! मा महितम् पदम् अपि नय, अमलया दृशा(माम्)विधुरम् मानय।

अर्थ—अयि शरणागतों के विघ्नों का विध्वंस कर देनेवाले शिव, प्रभो! मुझे निर्मल, शुभप्रद, पाप तापों को हरनेवाला वर दीजिए और मुझे परम पूज्य पद पर भी पहुँचाइए, नाथ! अपनी सुनिर्मल—प्रसन्नता पूर्ण दृष्टि से मुझ दीन को सम्मानित कीजिए।

मलयानिलमिव सुरभि सुरभि कुसुमैरिवावदातवनम्।
तव नन्दितहृदनामय नाम यमत्रासहृत्कलये ॥ १९ ॥

अन्वय—हे अनामय! सुरभिम् मलयानिलम् इव, कुसुमैः सुरभिम् अवदातवनम् इव, (अहम्) यमत्रासहृत् तव नाम नन्दितहृत् कलये।

अर्थ—हे अनामय! यम-भीति को हरनेवाला आपका मङ्गलमय नाम सुगन्धित मलयाचल की तरह और कुसुमों से सुरभित स्वच्छ उपवन की तरह तापत्रय-सन्तापित हृदय को अतीव आनन्दित कर देता है।

कलयेन्दोरभिभूषित भूषितमुकुटैः सुरैर्नतेश न कैः।
शनकैरघशमनाशय नाशय विपदं पदं नय मा ॥ २० ॥

अन्वय—हे इन्दो कलया अभिभूषित! भूषितमुकुटैः कैः सुरैः न नत! (अपि तु सर्वनत!) हे ईश! हे अघशमनाशय! शनकैः मे विपदम् नाशय, मा (माम्) स्व पदम् नय।

अर्थ—अयि चन्द्रमौले! हे दिव्य मुकुटवाले ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र आदि समस्त देवों से वन्दित जगदीश! प्राणियों के संसार रूप रोग को शान्त करनेवाले हे सदाशिव! अब आप शनै शनै मेरी विपत्ति का नाश कीजिए और मुझे अपने अखण्डधाम को ले जाइए।

न यमाहितभयशमने शमनेकविधं प्रसाददक्षमते।
क्षमते मुनिभिरुपासित पासितरां चेन्न मामदयम् ॥ २१ ॥

अन्वय—हे प्रसाददक्षमते! हे मुनिभिः उपासित! विभो! त्वम् चेत् अदयम् माम् न पासितराम्, तदा यमाहितभयशमने अनेकविधम् शम न क्षमते।

अन्वय—हे अप्रतिघ स्मर-घस्मर ! य भवतः स्तवः, सदैव सताम् रसकृत् (भवति) सः अयम् भयद्रुत् (भवतः स्तव.) दिवि वसताम् (अपि) हृदयम् घनोत्कलिकम् कुरुते ।

अर्थ—अयि जगद्विजयी कामदेव को भस्म करनेवाले देवाधिदेव ! जो आपका स्तव (स्तुति) सहृदयजनों को नित्य अलौकिक रसास्वाद प्रदान करता है, वह संसार के सम्पूर्ण भयों का नाश करनेवाला आपका स्तव स्वर्गवासी देवताओं के भी मन को अत्यन्त उत्कण्ठित कर देता है ।

कलिकम्पनमघशरणं शरणं चरणद्वयं भजेऽविकलम् ।
विकलङ्कमतिरहं तव हन्त वरद्विरदराजगतिम् ॥ २७ ॥

अन्वय—हन्त, कलिकम्पनम् अघशरणम् अविकलम् वरद्विरदराजगतिम् तव चरणद्वयम् अहम् विकलङ्कमतिः शरणम् भजे ।

अर्थ—अहा, हे विभो ! कलिकाल, अथवा ससारचक्र के कलह को मिटा देनेवाले, त्रिविध पाप को नाश करनेवाले, समग्र ऐश्वर्यों से परिपूर्ण एव श्रेष्ठ गजराज के समान गतिवाले उस आपके चरणारविन्द युगल की मैं निष्कपट शरण लेता हूँ ।

इति श्रीप्रेममकरन्दव्याख्ययोपेत काश्मीरकमहाकविश्रीमज्जगद्धरभट्ट-
कृते भगवतो महेश्वरस्य स्तुति कुसुमाञ्जलौ 'शृङ्खलाबन्ध'
स्तोत्र सम्पूर्णम् ।

चतुर्विंशं स्तोत्रम्

अब यहाँ से 'द्विपदयमक' नामक चित्र-काव्य द्वारा चौबीसवें स्तोत्र के प्रारम्भ करते हुए 'कवि' कहते हैं—

वचसि सरस्वति मे विभवं प्रकटय जातरसारम् ।
नुतिभिरुपस्तुहि देवि भवं सकलसुरान्तरसारम् ॥ १ ॥

अन्वय—अयि सरस्वति ! अरम् (अत्यर्थम्) जातरसा (त्वम्) मे वचसि विभवम् प्रकटय, हे देवि ! सकलसुरान्तरसारम् भवम् नुतिभिः उपस्तुहि ।

अर्थ—अयि मातः सरस्वति ! तू (श्री शङ्कर की भक्ति में) अत्यन्त अनुरागवती होकर मेरी रचनाओं में परम उल्लास को प्रकट कर। हे वाणी ! अब तू सब देवों के अधिदेव भगवान् श्री महादेव को अत्युत्तम स्तुतियों से प्रसन्न कर !

अविरलभस्मरजोधवलं विहितमहाशमलाभम् ।
भज भगवत्यगजाधवलं श्रमशमनं विमलाभम् ॥ २ ॥

अन्वय—हे भगवति ! (वाणि) त्वम् अविरलभस्मरजोधवलम् विहितमहाशमलाभम् श्रमशमनम् विमलाभम् अगजाधवलम् भज ।

अर्थ—हे भगवति वाणि ! तू अति गाढ़-भस्म की रज से स्वच्छ, भावुकों को महान् शम (शान्ति) प्रदान करनेवाले और जीवों के समस्त सांसारिक खेद को हरनेवाले, अतीव विमल शोभाशाली भगवान् गिरिजापति को प्रसन्न कर।

दातुमनुत्तमहावपुपं यः प्रबभूव नदीनम् ।
नाथमनुत्तमहावपुपं तं भज देवि न दीनम् ॥ ३ ॥

अन्वय—हे देवि ! यः (प्रभुः) अनुत्तम हावपुप नदीनम् (बालाय उपमन्यवे) दातुम् प्रबभूव, तम् अनुत्तमहावपुपम् न दीनम् नाथम् भज ।

अर्थ—हे देवि सरस्वति ! जिस प्रभु ने बालक उपमन्यु के लिए क्रीडा परिहास आदि अत्युत्तम भावों को पुष्ट करनेवाले क्षीर समुद्र का बिना किसी की प्रेरणा से ही दान किया, उस विशाल शरीर एवं अतिशय उदारचित्त वाले परमेश्वर का भजन कर।

भक्तिरसस्तव देव सतां जयति महामृतहृद्यः।
चरणतले भवतो वसतां कलिमलपल्वलहृद्यः ॥ ४ ॥

अन्वय—अयि देव ! य भवत चरणतले वसताम् सताम् कलिमल पल्वहृत् (भवति) स महामृतहृद्य तव भक्तिरस जयति।

अर्थ—हे प्रभो ! आपके चरणारविन्दों के तल निवास करनेवाले सहृदय भावुकों के कलिमलपङ्क का हरनेवाला, महा अमृत से भी सुमनोहर आपका 'भक्तिरस' सर्वोत्कृष्ट अर्थात् कर्तुं, अकर्तुं, अन्यथाकर्तुं समर्थ है।

नयनमुदीर्य तमो हर मे निहतमहाविषमेषु।
येन पुनर्हतमोह रमे वैरिषु नो विषमेषु ॥ ५ ॥

अन्वय—हे हतमोह ! (त्वम्) निहतमहाविषमेषु नयनम् (तृतीयम्) उदार्य, मे तम हर येन अहम् विषमेषु वैरिषु पुन न रमे।

अर्थ—मोह को दूर करनेवाले हे सदाशिव ! आप कामदेव को भस्म करनेवाले अपने तृतीय नेत्र को खोलकर मेरे अज्ञान रूप अन्धकार को दूर कर दीजिए जिससे कि फिर मैं इन विषम काम-क्रोधादि वैरियों के साथ रमण न करूँ।

त्वयि वरदे रुचिरप्रमदाः प्रचलितचामरहस्ताः।
सदसि भजन्ति जनं प्रमदा रमयति सोऽपि रहस्ताः ॥६॥

अन्वय—हे विभो ! त्वयि वरदे सति रुचिरप्रमदा. प्रचलितचामर-*हस्ता प्रमदा, सदसि जनम् भजन्ति, सोऽपि जन. रह ता रमयति।*

अर्थ—हे प्रभो ! आपके प्रसन्न हो जाने पर गाढ़ हर्ष की भरी और हाथों में चँवर डुलाती हुई अंगनाएँ सभा में आपके सेवक की सेवा करती हैं और वह भी रहःस्थल में उन (कामिनियों) को आनन्दित करता है।

हिमकरकिरणसमूहसितं सुरसरिदम्बुविडम्बि ।
वह भगवन् वदने हसितं मा भवताऽत्र विडम्बि ॥ ७ ॥

अन्वय—हे भगवन् ! हिमकरकिरणसमूहसितम् सुरसरिदम्बुविडम्बि हसितम् वदने वह, अत्र (विषये) भवता मा विडम्बि (विलम्बि)।

अर्थ—हे षडैश्वर्य-सम्पन्न परमेश्वर ! दीनों पर अनुग्रह करने-के लिए चन्द्रकिरणों के समान उज्ज्वल और गङ्गाजी के नीर के समान स्वच्छ ईषत्-हास्य को अपने मुखारविन्द में धारण कीजिए, प्रभो ! इसमें विलम्ब न कीजिए।

उपमितमन्मथचापलतां भ्रुवमवधूय सहेलम् ।
रविजदृशां घनचापलतां विघटय ता न सहेऽलम् ॥८॥

अन्वय—प्रभो ! उपमितमन्मथचापलताम् भ्रुवम् सहेलम् अवधूय, रविजदृशाम् घनचापलताम् विघटय, अहम् तां अलम् न सहे।

अर्थ—हे प्रभो ! कामदेव की चाप-लता (धनुष) के समान अपनी सुमनोहर भ्रुकुटि को थोड़ा सा कम्पित करके यमराज के नेत्रों की अत्यन्त चापलता (चञ्चलता) को दूर कर दीजिए, क्योंकि अब मैं उन्हें अधिक नहीं सहन कर सकता।

रविसुतवर्त्म मम स्मरतः श्रुतयमकिङ्कर-वाणि ।
दलति विभो हृदयं दरतः पुरहर किं करवाणि ॥ ९ ॥

अन्वय—अयि पुरहर ! श्रुतयमकिङ्करवाणि रविसुतवर्त्म[1] स्मरतः मम दरतः हृदयम् दलति, हे विभो ! अहम् किम् करवाणि ?

---

(१) अत्र वर्त्मन. स्मृतिमात्रार्थाद् ग्रु तदर्थेग्यात् 'स्मरामि वानीर-गृहेषु सुप्तम्' इतिवत्पष्ठ्यभावः।

अर्थ—अयि त्रिपुरासुरहर ! यम-किङ्करों के भयङ्कर वचनों से व्याकुलित यमनगर-मार्ग (नरक-मार्ग) का स्मरण करने से मेरा हृदय भय के मारे खण्डित हो रहा है, हे प्रभो ! मैं क्या करूँ ?

प्रथयति यस्तव हन्त महं नुतिवचसा रुचिरेण ।
शुभशतसिद्धिसहं तमहं शिरसि वहाम्यचिरेण ॥ १० ॥

अन्वय—हन्त ! प्रभो ! य. रुचिरेण नुतिवचसा तव महम् प्रथयति, तम् शुभशतसिद्धिसहम् अहम् अचिरेण शिरसि वहामि ।

अर्थ—अहा, हे प्रभो ! जो पुरुष सुमनोहर स्तुति-वाक्यों से आपकी महिमा का विस्तार करता है, उस अनेक माङ्गलिक सिद्धि के सहन करनेवाले धन्यात्मा को मैं शीघ्र अपने मस्तक पर वहन करता हूँ ।

भवभयभञ्जनभङ्गिविधौ भक्तिमतां प्रभवन्तम् ।
विहितहितं विधुरेऽपि विधौ भजत जगत्प्रभवं तम् ॥ ११ ॥

अन्वय—भक्तिमताम् (अतिशुभमार्गदर्शनेन) भवभयभञ्जनभङ्गिविधौ प्रभवन्तम्, विधुरे (वक्रे) अपि विधौ विहितहितम् तम् जगत्प्रभवम् भजत ।

अर्थ—अयि सहृदयजन ! अति मङ्गलमय मार्ग बतलाकर अपने भक्त जनों को ससार के बन्धन से छुडानेवाले, और जिन्हीं भावुकों के दैव (भाग्य) के प्रतिकूल होने पर भी (रेख में मेख मारकर) उनका मङ्गल करनेवाले उस आशुतोषी जगदीश्वर का भजन कीजिए ।

मदनमहीरुहदवदहनं शिरसि धृतामृतभासम् ।
भजत दुरन्तविषादहनं प्रणतसमर्पितभासम् ॥ १२ ॥

अन्वय—अयि धन्या ! मदनमहीरुहदवदहनम् शिरसि धृतामृतभासम् दुरन्तविषादहनम् प्रणतसमर्पितभासम् (तम् विभुम्) भजत ।

अर्थ—ओ धन्यात्माओ ! इस दुरन्त भवसागर की दुर्वासनाओं को छोडकर कामरूप वृक्ष को दहन करनेवाले, मस्तक पर अमृतमय चन्द्रकला को धारण करनेवाले, अपार संसाररूपी अरण्य

के भ्रमण से उत्पन्न हुए खेद को हरनेवाले एवं भक्त जनों के हृदय में ज्ञान-मय विशुद्ध प्रकाश समर्पण करनेवाले भगवान् सदाशिव का भजन करो।

वितर नदीरमणं शमनं शकलय खण्डय कामम्;
प्रथय धनञ्जयभयशमनं रचय पुरं हतकामम् ॥ १३ ॥
इति सदयेन यदाचरितं भुवनहिताय हरेण ।
भजत तदस्य महाचरितं नुतिवचसार्तिहरेण ॥ १४ ॥
(युग्मम्)

अन्वय—(बालायोपमन्युमुनये) नदीरमणम् वितर[1] (व्यतरत्) शमनम् शकलय (अशकलयत्) कामम् खण्डय (अखण्डयत्) धनञ्जयभय-शमनम् प्रथय, पुरम् हतकामम् रचय (अरचयत्) इति सदयेन हरेण भुवन-रहिताय यत् आचरितम्, तत् अस्य महाचरितम् आर्तिहरेण नुतिवचसा भजत।

अर्थ—जिस परम उदार ने बालक उपमन्यु मुनि के लिए क्षीर-सागर में दान किया, राजा श्वेत एवं मार्कण्डेयादिकों की रक्षा के लिए यम-राज को दण्ड दिया, कामदेव को भस्म किया, अर्जुन के भय को—अर्थात् "द्रोणाचार्य, कर्ण आदि वीर सेनापतियों से युक्त कौरवों की सेना को मैं कैसे जीतूँगा ?" इस प्रकार के भय को—दूर किया और त्रिपुरासुर के अहङ्कार का नाश किया, इस प्रकार शरणागतों के सन्ताप को हरने-वाले अतिशय कृपालु 'हर' ने संसार के हित के लिए जो-जो लीलाएँ रचीं, अयि सहृदय जन ! उन लीलाओं को पाप-ताप को मिटा देनेवाले स्तुति-वचनों द्वारा वर्णन किया करो।

गतिरशुभं हर का तरतां भवति विनाश भवन्तम् ।
इति चतुरं हर कातरतां रचय च मां शुभवन्तम् ॥१५॥

---

(१) 'क्रियासमभिहारे लोट् लोटो हिस्वौ वा च तध्वमोः' इति सूत्रेण लोट्, तस्य च हिस्वादेशो स्तः; अतो वितर, शकलय इत्यादि ज्ञेयम्।

अन्वय—हे हर ! (महासंसारे) अशुभम् आशु तरताम् भवन्तम् विना का गतिः (भवति) इति कातरताम् चतुरम् हर, माम् च शुभवन्तम् रचय ।

अर्थ—हे प्रभो ! इस महासंसार में पाप-रूपी महासागर से शीघ्र पार होने की इच्छावाले आर्त जनों की आपके बिना और कौन गति है, इसलिए प्रभो ! इस दीनता को शीघ्र दूर कीजिए और मुझे सदैव शुभ मार्ग पर ले जाइए।

वरद भवन्तमृते धरते भुवनमिदं सकलं कः ।

इति नतिमिन्दुकलाधर ते भजति न कः सकलङ्कः ॥ १६॥

अन्वय—हे वरद ! भवन्तम् ऋते इदम् सकलम् भुवनम् कः धरते ? इति, हे इन्दुकलाधर ! कः सकलङ्कः ते नतिम् न भजति ? (अपि तु सर्व एवेत्यर्थः ।)

अर्थ—हे वरद ! आपके बिना इस समस्त त्रिभुवन को दूसरा कौन धारण कर सकता है ? इसलिए हे चन्द्रकलाधर ! आपको कौन सकलङ्क (पापयुक्त) पुरुष नहीं भजेगा ?

इयमखिलेतरजातिमतां जयति जनिः प्रथमा नः ।

सेव्यभुवं विभुरेति मतां यत्र हृदि प्रथमानः ॥ १७ ॥

अन्वय—हन्त, अखिलेतरजातिमताम् मध्ये इयम् नः प्रथमा जनिः जयति, यत्र (अस्माकम्) हृदि प्रथमानः विभुः, मताम् सेव्यभुवम् एति ।

अर्थ—आहा, इतर सब जातियों में यह हमारी ब्राह्मण जाति सर्वोत्कृष्ट है, जहाँ कि नित्य हमारे हृदय में प्रकाशमान होता हुआ प्रभु यथेच्छ सेवित किया जाता है !

तुभ्यमयं शितिनाल सतां वरद करोमि नमोऽहम् ।

शमय महेश ममालसतां येन भजामि न मोहम् ॥ १८ ॥

अन्वय—हे शितिनाल ! हे सताम् वरद ! अयम् अहम् तुभ्यम् नमः करोमि, हे महेश ! मम आलसताम् शमय, येन (अहम्) मोहम् न भजामि ।

अर्थ—हे नीलकण्ठ ! हे सज्जनों को वर देनेवाले शिव ! यह मैं आपको प्रणाम करता हूँ। हे नाथ ! आपकी भक्ति के विषय में मेरे आलस्य को दूर कर दीजिए, जिससे कि मैं फिर मोह को न प्राप्त होऊँ।

भजसि यया किल कामदया नतजनमीश समस्तम्।
सा मम ते हतकाम दया गमयतु वैशसमस्तम् ॥ १९ ॥

अन्वय—हे ईश ! हे हतकाम !! किल यया कामदया (दयया) समस्तम् नतजनम् भजसि, सा ते दया मम वैशसम् (दुःखम्) अस्तम् गमयतु।

अर्थ—हे ईश ! हे हतकाम ! सम्पूर्ण मनोभिलाषों को पूर्ण करनेवाली जिस कृपा से आप भक्तजनों को अनुगृहीत करते हैं, वह आपकी दया मेरे दुःख को शीघ्र दूर करे।

येन शुचं हतलोभ जनस्त्यजति सुधामधुरेण।
तेन विभो वचसा भज नः प्रकटितधाममधुरेण ॥ २० ॥

अन्वय—हे हतलोभ ! येन सुधामधुरेण (तव वचसा) जनः शुचम् त्यजति, हे विभो ! तेन प्रकटितधाममधुरेण वचसा नः भज।

अर्थ—हे शरणागतों के लोभ को हरनेवाले प्रभो ! आपके जिस अमृत से भी मधुर अभय-वचन को सुनकर प्राणी शोक त्याग देता है, उस परम तेजोमय अभय-वाक्य से मुझे आनंदित कीजिए।

मदयसि येन जनं सकलं मधुरगिरा वदनेन।
मयि वचनं परिहासकलं प्रतिदिश तावदनेन ॥ २१ ॥

अन्वय—हे प्रभो ! मधुरगिरा येन वदनेन त्वम् सकलम् जनम् मदयसि, तावत् अनेन (एव) वदनेन मयि परिहासकलम् वचनम् प्रतिदिश।

अर्थ—हे प्रभो ! जिस अति सुमधुर वाणीवाले मुखारविन्द से आप ब्रह्मादि स्थावर पर्यन्त समस्त जीवों को आनन्दित करते हो, उसी मुखारविन्द से मधुर हास्ययुक्त अभय-वचन मुझे सुनाइए।

येन सतां विपदानयनं दुरितमदभ्रमहारि ।
दिश विशदं मयि तन्नयनं मदनमदभ्रमहारि ॥ २२ ॥

अन्वय—हे विभो ! येन (नयनेन) विपदानयनम् अदभ्रम् सताम् दुरितम् अहारि, तत् मदनमदभ्रमहारि विशदम् नयनम् मयि दिश ।

अर्थ—हे प्रभो ! जिस नेत्र से आप सज्जनों के, विपत्तियों को बढ़ानेवाले, अति विषम पाप को हरते हैं, उस काम और मद के भ्रम के हरनेवाले, सुमनोहर नेत्रकमल से एक बार मुझे भी देखिए ।

जगदखिलं यदि नन्दयसे तिमिरमुषा रसितेन ।
इममपि किं न जनं दयसे तेन तुषारसितेन ॥ २३ ॥

अन्वय—हे विभो ! तिमिरमुषा रसितेन यदि अखिलम् जगत् नन्दयसे, तर्हि तुषारसितेन तेन रसितेन इमम् अपि जनम् किं न दयसे ?

अर्थ—हे प्रभो ! यदि आप अज्ञान-रूप अन्धकार को हरनेवाले सुमधुर शब्द से समस्त जगत् को आनन्दित करते हो, तो फिर हिम के समान स्वच्छ उस अभय-शब्द से मुझ दीन को भी क्यों नहीं अनुकम्पित करते ?

दुरितहृतौ विपसाद करः क्वापि न ते रमणीयः ।
अपि स भयं विपसादकरः शमयतु घोरमणीयः ॥ २४ ॥

अन्वय—हे शिव ! यः रमणीयः ते करः दुरितहृतौ क्वापि न विपसाद, सः विपसादकरः ते करः घोरम् अणीयः भयम् अपि शमयतु ।

अर्थ—हे शिव ! जो आपका रमणीय कर-कमल शरणागतों के पाप पुञ्ज को हरने में कभी भी खिन्न नहीं हुआ, वह समस्त हालाहल का ग्रास करनेवाला आपका कर-कमल मेरे इस घोर अति-तुच्छ भय को भी दूर (शान्त) करे ।

भयहरणे महिताभ यतः प्रथयसि जातरसत्वम् ।
मामपि पाहि महाभयतः पुरहर कातरसत्त्वम्[१] ॥ २५ ॥

अन्वय—हे महिताभ ! यतः भयहरणे जातरसत्वम् प्रथयसि, अतः हे पुरहर ! कातरसत्त्वम् माम् अपि महाभयतः पाहि ।

अर्थ—हे पूर्णप्रकाश पुरुषोत्तम ! आप संसार भर के भय को हरने में परम उत्सुकता को धारण करते हैं, सो हे नाथ ! मुझ कातर-हृदय को भी इस महाभय से बचा दीजिए।

भजामि मायाशवरं वरं वरं दिशन्तमन्तं कुनयं नयन्नयम् ।
विजित्य कृत्यप्रभवं भवं भवं विखण्डितक्लेशपरम्परं परम् ॥२६॥

अन्वय—कुनयम् अन्तम् नयन्, कृत्यप्रभवम् भवम् विजित्य, अयम् अहम् मायाशवरम्, वरम् वरम् दिशन्तम् विखण्डितक्लेशपरम्परम् परम् भवम् भजामि ।

अर्थ—कुनीति का अन्त करता हुआ, शुभाशुभ कर्मों से होनेवाले संसार-चक्र को जीतकर, अब मैं अर्जुन के प्रति अनुग्रह करने के लिए कपट से किरात-वेष धारण करनेवाले, शरणागतों को मनोभिलषित श्रेष्ठ वर देनेवाले एवं अविद्या आदि पञ्च क्लेशों की परम्परा को खण्डित कर देनेवाले परम-उत्कृष्ट परमेश्वर की शरण लेता हूँ।

मलक्षयमलक्ष्यं भव भवत्प्रसादादहं
शिवस्तव शिव स्तवः प्रविहितस्ततोऽयं मया ।

---

(१) यहाँ 'कातरसत्त्वम्' पद में तकारद्वय (दो तकार) होने पर भी यमक आदि चित्र-काव्य में यह दोष नहीं है। कहा है—

यमकश्लेषचित्रेषु दन्त्यौष्ठ्यवबकारयोः ।
न भेदो णनयोश्चैव न नकारमकारयोः ॥
हलः परस्य चैकस्य व्यञ्जनस्य द्वयोरपि ।
न विशेषो विसर्गस्य भवेच्च सदसत्त्वयोः ॥

समुद्धर समुद्धर व्यसनसङ्कटादर्कजः
समक्षमसमक्षमः स्पृशति चेन्न जिह्रेषि किम् ॥ २७ ॥

अन्वय—हे भव ! अहम् भवत्प्रसादात् मलक्षयम् अलक्षयम्, हे शिव ! ततः एव मया अयम् शिवः तव स्तवः प्रविहितः, हे हर ! समुत् त्वम् (माम्) व्यसनसङ्कटात् समुद्धर; अयि दयालो ! असमक्षमः अर्कजः (यमः) तव समक्षम् माम् स्पृशति चेत्, तर्हि त्वम् किम् न जिह्रेषि ?

अर्थ—अयि सदाशिव ! आपके प्रसाद से मेरे सब मलों (अर्थात् अणु, माया और कर्मजन्य पापों) का क्षय हो गया है, इसी से मैंने यह परम कल्याणकारक आपका स्तव (स्तुति) किया है। हे परम आनन्द के सागर ! अब आप मुझे सहर्ष इस जन्म, मरण रूप महा सङ्कट से मुक्त कर दीजिए; भगवन् ! शुभाशुभ के विचार और क्षमा से हीन यमराज यदि मुझे आपके ही सामने बलात्कारपूर्वक ले जाने की चेष्टा करे, तो क्या आप दयासागर को इससे लज्जा नहीं आवेगी ?

सन्त्यन्याः कृतिनामनामयगिरः का नाम नामन्थरा
न ज्ञानां हृदि वास्तवास्तव मुदं के वा स्तवास्तन्वते ।
वागेषा त्वतिसाध्वसाध्वपतिता यत्साध्वसाध्वभ्यधा-
त्तन्मन्ये महिमानमानयति ते स्थेमानमानन्दकृत् ॥ २८ ॥

अन्वय—हे अनामय ! कृतिनाम् अमन्थराः गिरः अन्याः का नाम न सन्ति ? (अपितु सन्त्येव) के वा वास्तवाः तव स्तवाः ज्ञानाम् हृदि मुदम् न तन्वते ? (अपि तु तन्वत एव) अतिसाध्वसाऽध्वपतिता एषा (मदीया) वाक् तु (भगवत्स्तुतियोगे) यत् साध्वसाधु अभ्यधात्, अहम् मन्ये तत् आनन्दकृत् (अभिधानम्) ते महिमानम् स्थेमानम् आनयति ।

अर्थ—अयि अनामय ! आपको प्रसन्न करनेवाली बड़े-बड़े विद्वानों की सुमनोहर वाणी क्या और नहीं हैं ? अर्थात् बहुत हैं।

क्या आपके वास्तविक स्तोत्र सहृदयों के हृदय में परम आनन्द प्रदान नहीं करते ? अर्थात् अवश्य करते हैं। किन्तु हे प्रभो ! 'मैं प्रभु की स्तुति किस प्रकार से कर सकूँगी ?' ऐसे भय में पड़ी हुई इस मेरी वाणी ने आपकी स्तुति के विषय में यह जो कुछ भी साधु-असाधु (भला बुरा) कहा है, सो मैं समझता हूँ कि वह सहृदय-जनों को आनन्द देनेवाला मेरी वाणी का कथन, आपकी महिमा को संसार में दृढ़ करेगा।

इति श्रीप्रेममकरन्दसमेत काश्मीरकमहाकविश्रीमज्जगद्धरभट्टविरचिते भगवतो महेश्वरस्य स्तुति-कुसुमाञ्जलौ 'द्विपदयमक नाम' चतुर्विंश स्तोत्रम् ।

पञ्चविंशं स्तोत्रम्

अब यहाँ से चित्रकाव्य यमक द्वारा ही 'रुचिररञ्जन' नामक पचीसवें स्तोत्र को प्रारम्भ करते हुए 'कवि' कहते हैं—

किल यस्य कलितमहोदयया-
हृदयं समाश्रितमहो दयया ।
विभवं यतश्च परमाप दिवः
प्रभुरेष पातु परमापदि वः ॥ १ ॥

अन्वय—अहो ! किल, कलितमहोदयया दयया, यस्य हृदयम् समाश्रितम्, यतः च दिवः प्रभुः (इन्द्रः) परम् विभवम् आप, एषः (परमेश्वरः) वः परमापदि पातु ।

अर्थ—अहह ! महान् उदय अर्थात् भोग और मोक्ष लक्ष्मी को प्रदान करनेवाली उदार करुणा जिस (प्रभु) के विशाल हृदय में बैठी हुई है और जिस उदार-शिरोमणि ने इन्द्र को परम वैभव अर्थात् स्वर्गलोक का आधिपत्य प्रदान किया; वह परमेश्वर आपको इस (जन्म, मरण चक्र रूप) घोर आपत्ति से बचावे।

तव सेवकस्य परमेश मनः
कुरुते न हन्तुमपि मे शमनः।
भगवन्नतो वपुरनीरसदृ-
स्तव नौमि सिद्धधुनिनीरसदृक् ॥ २ ॥

अन्वय—हे परमेश ! शमनः तव सेवकस्य मे हन्तुम् अपि मनः न कुरुते, अतः हे भगवन् !! अनीरसदृक् अहम् सिद्धधुनिनीरसदृक् तव वपुः नौमि।

अर्थ—हे परमेश्वर ! यमराज मुझ आपके सेवक को मारने की इच्छा तक नहीं करता, इसलिए हे भगवन् ! शान्त रस से पूर्ण दृष्टि-वाला यह मैं आपके—सुरसरि के नीर के तुल्य—स्वच्छ शरीर को प्रणाम करता हूँ।

स्रगिवाऽर्प्यते कलितसारसना
त्वयि गीर्यया जयति सा रसना।
त्वयि यन्महेश वरदेऽवहितं
हृदयं तदेव वरदेव हितम् ॥ ३ ॥

अन्वय—हे महेश ! यया (रसनया) कलितसारसना गी. स्रक् इव त्वयि अर्प्यते, सा रसना जयति; हे वरदेव ! यत् हृदयम् त्वयि वरदे अव-हितम् तदेव हितम् (भवति)।

अर्थ—हे महेश्वर ! जो जिह्वा मेखलाबन्ध-युक्त वाणी को आपको माला की तरह अर्पित करती है वही रसना सर्वोत्कृष्ट है, और जो

हृदय आपके चरणों में लीन (एकाग्र) रहता है, वही हृदय हित-कारक होता है ।

तव दृक्सुधाकरकलोपमिता-
पतिता विपत्तदनुलोपमिता ।
भगवन् दृशैव कमला भवतः
सहसाङ्कमेति शमला भवतः ॥ ४ ॥

अन्वय—हे भगवन् ! सुधाकरकलोपमिता तव दृक् (स्वद्भक्तजने) पतिता, तदनु विपत् लोपम् इता, हे विभो ! भवतः दृशा एव सहसा कमला शमला भवतः अङ्कम् एति ।

अर्थ—अयि भगवन् ! चन्द्रकला के समान सुनिर्मल एवं शीतल आपकी दृष्टि यदि भाग्यवशात् भक्त जनों पर पड़ जाती है, तो तत्काल सब विपत्तियाँ लुप्त हो जाती हैं । हे प्रभो ! आपकी सुदृष्टि होने पर परम शान्त भक्त लोगों की गोद में वह मोक्षलक्ष्मी स्वयं ही आ विराजती है ।

कुरु नाथ चेतसि वचो दयिता
तव गीरहं न तव चोदयिता ।
अथवा महेश पृथुकामतया
न किमारटन्ति पृथुका मतया ॥ ५ ॥

अन्वय—हे नाथ ! त्वम् (मदीयम्) वचः चेतसि कुरु, यतः गीः तव (विभोः) दयिता, अतः अहम् तव चोदयिता न (भवामि) अथवा हे महेश ! मतया पृथुकामतया (घनाभिलाषत्वेन) पृथुकाः किम् न आरटन्ति ।

अर्थ—हे नाथ ! आप इस मेरी वाणी को अपने हृदय में धारण कर लीजिए; क्योंकि दीनों के वचन आपको बहुत प्रिय लगते हैं, इसलिए इस विषय में मैं आपको अधिक नहीं प्रेरित करता; अथवा हे महेश ! तीव्र अभिलाषा-वश बालक लोग क्या-क्या नहीं रटते ? और किसको क्षुब्ध नहीं करते ?

विषयैर्मुखे वरद कामधुरैर्विवशीकृतं घटितकामधुरैः ।
भज मां महेश्वर मुदा रहितं दिश भाषितामृतमुदारहितम् ॥६॥

अन्वय—हे वरद ! घटितकामधुरैः मुखे कामधुरैः विषयैः विवशीकृतम् , मुदा रहितम् माम् भज, (आत्मवशं कुर्वित्यर्थः) हे महेश्वर ! उदार-हितम् भाषितामृत दिश ।

अर्थ—हे प्रभो ! बड़ी-बड़ी अभिलाषाओं के भार को इकट्ठा करनेवाले, आरम्भ में मधुर लगनेवाले शब्दादि विषयों से विह्वल किये हुए और आनन्द से हीन मुझ दीन को अब अपने वश में कर लीजिए; हे महेश ! मुझको अपनी उदार और हितकारी अभय-वाक्य-सुधा सुनाइए ।

विजितं मया जगदमोहतया न रुषा क्षतो मम दमो हतया ।
तृणवत्सुरक्षितिधरोऽपि तया विहितो महेश हृदि रोपितया ॥७॥

अन्वय—हे महेश ! मया अमोहतया जगत् विजितम् , तया हतया रुषा मम दमः न क्षतः, हृदि रोपितया तया सुरक्षितिधरः अपि तृणवत् विहितः ।

अर्थ—अयि महेश्वर ! मोह-भाव से रहित होने के कारण मैंने सारा जगत जीत लिया, उस तुच्छ क्रोध ने मेरी शान्ति को नहीं बाधित किया; हे प्रभो ! मन में दृढ़ता से धारण किये उस अमोह-भाव से हमने यह सुमेरु पर्वत भी शुष्क तृण के समान बना दिया है ।

मरुतायतेव मलयाचलतः
क्षपिता धृतिः कमलया चलतः ।
तदिमां प्रसादनपरां करुणां
शृणु मे गिरं कुरु परां करुणाम् ॥ ८ ॥

अन्वय—हे विभो ! मलयाचलतः आयता मरुता इव, कमलया चलतः मम धृतिः क्षपिता । तत् प्रसादनपराम् इमाम् मे करुणाम् गिरम् शृणु, पराम् करुणाम् कुरु ।

अर्थ—हे प्रभो ! मलयाचल से आते हुए पवन के तुल्य इन सांसारिक वैभवों ने मेरे धैर्य को क्षीण कर दिया है, इसलिए हे नाथ ! आपकी आराधना में तत्पर हुई मेरी वाणी की करुण-विज्ञप्ति को आप सुन लीजिए और मुझ पर विशेष कृपा कीजिए।

भवतः प्रसादमधुरामहतां दृशमीयुषां शमधुरा महताम् ।
धृतिमेत्यपास्य च रमा लसतां सुलभत्वमेति चरमालसताम् ॥९॥

अन्वय—हे विभो ! प्रसादमधुराम् अहताम् भवतः दृशम् ईयुषाम् महताम् शमधुरा धृतिम् एति, लसताम् (क्रीडताम्) महताम् रमा चरमाऽलसताम् अपास्य सुलभत्वम् एति।

अर्थ—हे प्रभो ! प्रसन्नता से मधुर और कहीं भी विफल न होनेवाली आपकी करुणामयी दृष्टि की शरण ग्रहण किये महापुरुषों का धैर्य स्थिर स्थिति को प्राप्त होता है और उन महान् ऐश्वर्यशालियों के लिए भगवती श्री महालक्ष्मी आलस्यरहित हो अतीव सुलभ हो जाती है।

समरे विकीर्णगजराजघटे बत तस्य शक्तिरजरा जयटे ।
तव येन सेवनविधौ तरसा मतिरर्पिताऽन्यभविधौतरसा ॥ १० ॥

अन्वय—हे विभो ! बत, तव सेवनविधौ येन तरसा अन्यभविधौतरसा मतिः अर्पिता, तस्य शक्तिः विकीर्णगजराजघटे समरे अजरा जयटे।

अर्थ—अहा, हे विभो ! जिस धन्यात्मा ने अपनी स्वच्छ बुद्धि को आपके चरणारविन्द की सेवा में अर्पित किया है, उस धन्यात्मा की शक्ति बड़े-बड़े हाथियों की घटाओं से आकुल संग्राम में अजर होकर विजय पाती है।

विषयान्प्रति प्रयतमानमदः सुजनो मनः प्रयतमानमदः ।
तव शासनेन वशमानयते शरणं ततो नवशमानयते ॥ ११ ॥

अन्वय—हे नाथ ! प्रशमानमदः सुजनः, विषयान् प्रति प्रयतमानम् अदः मनः तव शासनेन वशम् आनयते; ततः नवशमान् (साधून्) शरणम् अयते ।

अर्थ—हे नाथ ! जिसका मान और मद शान्त हो गये हैं, वह सत्पुरुष नित्य विषयों की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करनेवाले इस दुष्ट मन को आपके बतलाये हुए उपायों द्वारा अपने वश में करता है, इसलिए वह अखण्ड शान्ति से भरे महात्माओं की शरण में जाता है ।

रविजं रजोभिरिव मेचकितं हृदयं विभाव्य शिव मे चकितम् ।
वचनं जितामृतरसं भ्रमतः पथि सङ्कटे वितर संभ्रमतः ॥ १२ ॥

अन्वय—हे शिव ! रविजम् रजोभिः मेचकितम् इव विभाव्य, मे हृदयम् चकितम् (भवति) हे स्वामिन् ! संभ्रमतः सङ्कटे पथि भ्रमतः मे जितामृतरसम् वचनम् वितर ।

अर्थ—हे सदाशिव ! धूलि से मलिन हुए जैसे, काले यमराज का स्मरण करने से मेरा हृदय भयभीत होता है, इसलिए हे नाथ ! भ्रम के कारण सङ्कटमय मार्ग में भ्रमण करनेवाले मुझ दीन को अमृत-रस के समान अपना अभय-वाक्य सुनाइए ।

त्वयि चक्षुरीश कलितापकृति क्षिपति क्षणं शकलितापकृति ।
परशक्तिरिद्धवपुरङ्गमिता जनता यया तव पुरं गमिता ॥ १३ ॥

अन्वय—हे ईश ! कलितापकृति त्वयि शकलितापकृति चक्षुः क्षणम् क्षिपति सति, इद्धवपुः सा परशक्तिः अङ्गम् इता, यया जनता तव पुरम् गमिता ।

अर्थ—हे ईश ! कलिकाल के सन्ताप का कर्तन करनेवाली प्राणियों के जरा-मरण को दूर करनेवाली आपकी कृपादृष्टि होने पर देह में ऐसी तेजोमयी परम (उत्कट) शक्ति आ जाती है कि, जिस शक्ति से भक्त लोग आपकी पुरी में ही पहुँच जाते हैं ।

रविजस्य वर्ष्म सहसा रचितं भवताग्निसादसहसारचितम् ।
वपुराप ते मदनघस्मरतां न तथापि भीमदनघस्मरताम् ॥१४॥

अन्वय—हे प्रभो ! असहसारचितम् रविजस्य वर्ष्म भवता सहसा अग्निसात् रचितम्, हे अनघ ! ते वपुः मदनघस्मरताम् आप, तथापि सः ते वपुः स्मरताम् भीमत् (भयप्रदम्) न (भवति) ।

अर्थ—हे शिव ! अत्यन्त असहनीय बल से युक्त यमराज के शरीर को आपने तत्काल भस्म कर दिया, हे माया के आवरण से रहित भगवन् ! आपके शरीर ने उस जगद्विजयी कामदेव को भस्म कर दिया, तथापि यह आपका शरीर आपका स्मरण करनेवालों को भय नहीं देता, किन्तु परम आनन्द ही प्रदान करता है ।

करुणा क्षतानवधिकोपचयाधिगता मया त्वदधिकोपचया ।
शशिना यथाकुलतरं गलता द्युसरिन्निरर्गलतरङ्गलता ॥ १५ ॥

अन्वय—हे भगवन् ! यथा, आकुलतरम् गलता (क्षीणवपुषा) शशिना निरर्गलतरङ्गलता द्युसरित् अधिगता, तथैव मया (अपि) क्षतानवधिकोपचया अधिकोपचया करुणा त्वत् (भवत्सकाशात्) अधिगता ।

अर्थ—हे भगवन् ! जैसे (आपके मस्तक पर विराजमान हुए) चन्द्रमा को अविच्छिन्न तरङ्ग-लताओंवाली मन्दाकिनी प्राप्त हुई है, वैसे ही मुझको भी निःसीम कोप को दूर करनेवाली एवं अतिशय वृद्धि को धारण करनेवाली आपकी करुणा प्राप्त हो गई है।

गरुडेन यद्विषमपक्षतिना कवलीकृतं विषमपक्षतिना ।
स तव प्रसादमहिमा न परः प्रभुरानतं प्रति हि मानपरः ॥१६॥

अन्वय—हे महेश विषमपक्षतिना अपक्षतिना गरुडेन विषम् (अपि) यत् कवलीकृतम् , सः तवैव प्रसादमहिमा (भवति) हि परः प्रभुः आनतम् प्रति मानपरः न (भवति) ।

अर्थ—हे प्रभो ! विशाल पर्वतोंवाले, शाखाओं से रहित गरुड़ ने जो महान् विष को भी भक्षण कर डाला, यह सब आपकी ही प्रसन्नता की महिमा है; क्योंकि हे भगवन् ! आप अपने विनीत भक्त जनों का कभी भी अनादर नहीं करते।

पदमाप्तुमार्तिशमनं गहनं महमर्थये भृशमनङ्गदहनम् ।
दहनं यथार्तिहरणं महिमे समये तथैव शरणं स हि मे ॥१७॥

अन्वय—आर्तिशमनम् गहनम् पदम् आप्तुम् (अहम्) अनङ्गदहनम् प्रभुम् भृशम् अर्थये, यथा—हिमे समये (हेमन्तकाले) दहनम् आर्तिहरणम् (भवति) हि, तथैव सः प्रभुः मे शरणम् (अस्ति)।

अर्थ—जन्म-मरण-रूपी महाव्याधि को शान्त करनेवाले उस अति दुर्गम परम तेजोमय धाम को प्राप्त करने के लिए मैं प्रभु से बार-बार प्रार्थना करता हूँ, जैसे हेमन्त की शीतबाधा के समय में अग्नि ही शरण होता है, वैसे ही समस्त दुःखों को हरनेवाले प्रभु ही मेरी शरण हैं।

सुरसुन्दरीषु रमणीयतमा स्वगुणेन रमणी यतमा ।
तव भक्तमक्षतरसाजर सा भजते समेत्य तरसा जरसा ॥१८॥

अन्वय—हे अजर ! सुरसुन्दरीषु मध्ये स्वगुणेन रमणीयतमा यतमा (या काचित्) रमणी (भवति) सा अक्षतरसा सती जरसा (उपलक्षितमपि) तव भक्तम् तरसा समेत्य भजते।

अर्थ—हे अविनाशिन् ! स्वर्गलोक की अप्सराओं में जो सबसे अधिक रूप-लावण्यवती और रमणीयतमा है, वह अप्सरा आपके वृद्ध सेवक को भी अत्यन्त अनुराग से उपस्थित होकर भजती है।

त्वयि गीर्मया निजगदे यत या निखिलं जयामि जगदेव तया ।
मुदितस्य भक्तिसुधया भवतः सभयस्य किं वसुधया भवतः ॥१९॥

अन्वय—हे नाथ ! यत, मया त्वयि या गीः निजगदे, तया (अहम्) निखिलम् जगत् एव जयामि; भवतः (संसारात्) सभयस्य, भवतः भक्तिसुधया मुदितस्य, वसुधया अपि (लब्धया) किम् (न किमपीत्यर्थः)।

अर्थ—हे नाथ ! मैंने यह जो आपसे स्तुतिरूपा वाणी को निवेदन किया, इससे मैंने सारे जगत् को ही जीत लिया है; क्योंकि हे प्रभो ! भव (भवसागर) से भयभीत और भव की (आपकी) भक्ति-सुधा से परम आनन्द को प्राप्त हुए पुरुष को यदि सारी पृथ्वी का भी वैभव प्राप्त हो जाय, तो इससे उसको क्या आनन्द हो सकता है ? अर्थात् कुछ भी नहीं।

शिरसि स्रजेव विधुरोचितया
　　हृदि मद्गिरात्र विधुरोचितया ।
क्रियतां पदं शिव धिया सहते-
　　विपदं सदानवधि या सहते ॥ २० ॥

अन्वय—हे शिव ! तव शिरसि विधुरोचितया स्रजा इव, विधुरोचितया मद्गिरा अत्र ते हृदि तया धिया (अनुग्रहबुद्ध्या) सह पदम् क्रियताम्; या (धीः) भक्तजनस्य अनवधि अविपदम् सदा सहते, (भक्तजनस्य विपदं न सहते, इत्यर्थः)।

अर्थ—हे सदाशिव ! आपके मस्तक में चन्द्रमा से विभूषित पुष्पमाला की भाँति यह मेरी समयोचित वाणी आपकी उस अनुग्रहमयी बुद्धि के साथ आपके हृदय में निवास करे, जो कि (आपकी बुद्धि) भक्त जनों की विपत्ति को नहीं सहन कर सकती !

विभुमाश्रये विगलदङ्गलतः
　　प्रमये बिभेमि यदमङ्गलतः ।
स विमुच्य पाशमशमं गलतः
　　कुरुते हि मे भयशमं गलतः ॥ २१ ॥

अन्वय—यत् (अहम्) प्रमये विगलदङ्गलतः सन् अमङ्गलतः बिभेमि, तत् विभुम् आश्रये, हि सः विभुः अशमम् पाशम् मे गलतः विमुच्य, गलतः मे भयशमम् कुरुते ।

अर्थ—मैं जीर्ण अवस्था को प्राप्त होता हुआ मरते समय काल की अमङ्गल भ्रुकुटि से भयभीत होता हूँ। इसलिए प्रभु की शरण लेता हूँ; क्योंकि वह कारण-रहित अतिशय कृपालु प्रभु यमराज के निर्दयी नागपाश को मेरे गले से हटाकर मुझ गलित—भयभीत—के भय को शान्त कर देंगे।

चरणौ यथा मुरजितः क्षमयाधिगतौ भरं धरितुमक्षमया ।
नमतां तथैव कृतरक्ष मया भवतो धिया समुचितक्षमया ॥२२॥

अन्वय—हे विभो ! यथा—भरम् धरितुम् अक्षमया क्षमया मुरजितः चरणौ अधिगतौ, तथैव हे नमताम् कृतरक्ष ! मया समुचितक्षमया धिया भवतः चरणौ अधिगतौ।

अर्थ—हे नाथ ! जैसे पापियों के भार को धारण करने में असमर्थ हुई पृथिवी को उसका भार हरने के लिये अवतीर्ण हुए भगवान् मुरारि के चरणारविन्द प्राप्त हुए, वैसे ही हे शरणागतों के प्रतिपालक सदाशिव ! अतीव क्षमायुक्त बुद्धि के द्वारा मुझे भी आपके चरणारविन्द प्राप्त हो गये हैं।

तिमिरं रवेरिव विभामुदितां
दृशमाप्य ते जहति या मुदिताम् ।
भगवन् रसाद्गिरमिमामुदिता-
मुपकर्णयन्मयि दिशाऽमुदि ताम् ॥ २३ ॥

अन्वय—हे भगवन् ! रवेः उदिताम् विभाम् इव, मुदिताम् याम् ते दृशम् आप्य (भक्तजनाः) तिमिरम् जहति, हे विभो ! रसात् (भक्तिरसात्) उदिताम् इमाम् मम गिरम् उपकर्णयन् अमुदि मयि ताम् दृशम् दिश।

अर्थ—हे भगवन् ! सूर्यमण्डल में उदित हुई प्रभा के समान, आपकी जिस प्रसन्न दृष्टि को पाकर भक्तजन तत्काल अज्ञान-रूप अन्धकार को त्याग देते हैं; हे प्रभो ! भक्तिरस से उत्पन्न हुई इस मेरी

वाणी (मेरी स्तुति) को सुनते हुए अब आप मुझ हर्षहीन, दीन पर वह प्रसन्न-दृष्टि समर्पण कीजिए।

' करुणा सुरैः प्रतिपदानत या
भवतः स्तुता सदपदानतया।
किमु मां भियाप्तमपदानतया
भजसे निरस्तविपदा न तया॥ २४॥

अन्वय--हे सुरै प्रतिपदानत ! सदपदानतया या भवतः करुणा (जनैः) स्तुता (भवति), अपदानतया भिया आप्तम् माम् निरस्तविपदा तया किम् उ न भजसे ?

अर्थ-हे ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्रादि देवों से प्रतिक्षण स्तूयमान आराध्य देव ! भक्तों के निमित्त अनेकों लोकोत्तर लीलाओं के द्वारा प्रख्यात हुई जिस आपकी करुणा को भक्तजन सदैव आराधित किया करते हैं, हे भगवन् ! असमय पर प्राप्त हुई विपत्ति से ग्रस्त मुझ दीन को आप उस करुणा से क्यों नहीं अनुगृहीत करते ?

तव दृग्जयत्यलसतां लसतां
मदनस्य या व्यतनुताऽतनुताम्।
कुशलाय सा किल सतां लसतां
निबिडं शमप्यतनुता तनुताम्॥ २५॥

अन्वय—हे विभो ! या तव दृक् मदनस्य अतनुताम् व्यतनुत, (सा) लसताम् अलसताम् जयति, किल सा अतनुता दृक् सताम् कुशलाय लसताम् निबिडम् शम अपि तनुताम्।

अर्थ—हे प्रभो ! जिस आपकी दृष्टि ने कामदेव को शरीर से रहित किया, वह आपकी दृष्टि निर्भीक शरणागतों के आलस्य को दूर करती है; सो हे प्रभो ! वह आपकी विशाल दृष्टि भावुक लोगों का कल्याण और मङ्गल करे।

षड्विंशं स्तोत्रम्

अब 'पादादियमक' नामक चित्र-काव्य द्वारा छब्बीसवें स्तोत्र को प्रारम्भ करते हुए कवि कहते हैं—

हन्तापहन्तापदुपद्रवाणां
यस्याऽक्षयस्याक्षणिकः प्रसादः ।
सन्तापसन्तापहरा प्रपेव
कान्तारकान्ता रसना च यस्य ॥ १ ॥

तादृङ्मता दृङ् महतां समन्ता-
दालोकदा लोकहिता च यस्य ।
तं सन्ततं सन्तमसार्त्तलोक-
पालं कृपालङ्कृतमीशमीडे ॥ २ ॥

(युग्मम्)

अन्वय—हन्त, यस्य अक्षयस्य अक्षणिकः प्रसादः आपदुपद्रवाणाम् अपहन्ता (भवति) यस्य च रसना प्रपा इव, सन्तापसन्तापहरा कान्तारकान्ता च (भवति) समन्तात् महताम् आलोकदा मता लोकहिता च तादृक् यस्य दृग् (भवति) तम् सन्तमसार्त्तलोकपालम् कृपालङ्कृतम् ईशम् (अहम्) सन्ततम् ईडे ।

अर्थ—जिस अविनाशी परमेश्वर का अमोघ प्रसाद आपत्ति-रूपी उपद्रवों को दूर करता है, जिसकी अमृत-रस-पूर्ण रसना मरुस्थल की प्रपा के समान जीवों के त्रिविध तापों के सन्ताप को हरती है और जिसकी महात्माओं को परम प्रकाश देनेवाली, परमाभीष्ट दृष्टि सर्वत्र सब का हितावरण करती है, उस अज्ञान रूप अन्धकार से पीड़ित जनों के प्रतिपालक, कृपा से अलंकृत ईश की मैं बार-बार स्तुति करता हूँ।

हृद्यः सुहृद्यः सुकृतोर्जितानामन्यूनमन्यूनपि यः पृणाति ।
योऽनामयो नामगृहीतिमात्रादस्तापदस्तापमपाकरोति ॥ ३ ॥

अन्वय—यः सुकृतोर्जितानाम् हृद्यः सुहृत् (भवति) यः अन्यूनमन्यून् अपि पृणाति, यः अनामयः (प्रभुः) नामगृहीतिमात्रात् अस्तापदः सन् तापम् अपाकरोति; सः (भक्तजनम्) परमे पदे नियोक्ता देवः वः कामम् सफलीकरोत्विति चतुर्दशतमश्लोकेनाऽन्वयः ।

अर्थ—जो परमेश्वर पुण्यात्माओं का परम मित्र बन जाता है, जो अत्यन्त क्रोधी लोगों को भी पूर्णमनोरथ कर देता है, तथा जो निरामय परमेश्वर केवल नाम लेने मात्र से ही जीवों की आपत्तियों का निराकरण करता हुआ उनके सन्ताप को दूर कर देता है, वह परम तत्त्व का उपदेष्टा स्वयप्रकाश परमात्मा आपकी इच्छाओं को सफल करे !

चेतः प्रचेतःप्रमुखा यदेक-
तानंततानन्तगुणा वहन्ति ।
योगीति यो गीतिषु गीयमानः
सिद्धैः प्रसिद्धैः प्रभुरभ्युपेतः ॥ ४ ॥

अन्वय—प्रचेतःप्रमुखाः ततानन्तगुणाः अपि सन्तः चेतः यदेकतानम् वहन्ति, यः च प्रभुः योगी इति गीतिषु गीयमानः, प्रसिद्धैः सिद्धैः अभ्युपेतः, स इत्यादि शेष पूर्ववत् ।

अर्थ—वरुण आदि लोकपाल लोग अनेकों गुणों से विख्यात होकर भी एकाग्रचित्त होकर जिसका ध्यान करते हैं और जिसको अष्टाङ्ग योग का उपदेष्टा समझकर बड़े बड़े प्रसिद्ध सिद्ध जन शरण लेते हैं, वह स्वयप्रकाश परमेश्वर आपकी अभिलाषाओं को पूर्ण करे ।

मान्योऽधमान्योऽधरयत्युदग्र-
रंहोभिरंहोभिरपास्ततृत्तान् ।

नामापि नामापिदधाति वीता-
लोकस्य लोकस्य तमांसि यस्य ॥ ५ ॥

अन्वय—यः मान्यः उदग्ररंहोभिः रहोभिः अपास्तवृत्तान् अधमान् अधरयति, नाम, यस्य नाम अपि वीतालोकस्य लोकस्य तमांसि अपिदधाति, स इत्यादि सर्वं पूर्ववत् ।

अर्थ—जो प्रभु महा उग्र वेगवाले घोर पातकों से नष्ट सदाचार-वाले अधमों को अधोगति को प्राप्त करता है, और जिसका केवल नाम-मात्र ही अज्ञान से अन्ध बने लोगों के शोक, मोह को दूर कर देता है, वह स्वयप्रकाश परमेश्वर आपको अभिलाषा पूर्ण करे ।

भूतिर्विभूतिर्विपुला दिशश्च
वासो निवासो निलयः पितृणाम् ।
हीनैरहीनैरपि यस्य भूषाऽ-
राला कराला कलिका च मौलौ ॥ ६ ॥

अन्वय—यस्य भूतिः विभूतिः, विपुलाः दिशः च वासः, पितृणाम् निलयः निवासः (अस्ति) हीनैः (भूतादिभिः) अहीनैः अपि यस्य भूषा (भवति) यस्य च मौली अराला (वक्रा) कराला कलिका (अस्ति) सः देवः वः कामम् सफलीकरोत्विस्यग्रे सम्बन्धः ।

अर्थ—जिस अतर्क्य लीला-शक्ति-सहायक परमेश्वर की, भूति (भस्म) ही विभूति (ऐश्वर्य) है, विशाल दिशाएँ ही वस्त्र हैं, श्मशान ही निवासस्थल है, भयङ्कर भूत-प्रेत और सर्प ही आभूषण हैं तथा कुटिल चन्द्रलेखा जिसके मस्तक पर है, वह स्वयंप्रकाश परमेश्वर आपकी मनोकामना पूर्ण करे ।

यः खेऽलयः खेलति यः शिखाभिः
सत्यं हसत्यंहविहारिणीभिः ।

श्री मित्रदेव (सूर्य) के द्वारा और सौम्य बुध के द्वारा सेवित किया जाता है; वह स्वयंप्रकाश परमेश्वर आपकी उत्तम कामनाओं को पूर्ण करे।

लोकान् सलोकान् सदयोऽसृजद्यो
धाता विधाता विभुरीप्सितानाम् ।
देवः पदे वः परमे नियोक्ता
कामं सकामं सफलीकरोतु ॥ १४ ॥

(द्वादशभिः कुलकम्)

अन्वय—ईप्सितानाम् विधाता सदयः विभुः यः धाता सलोकान् लोकान् असृजत्, सः परमे पदे नियोक्ता देवः वः कामम् कामम् (निश्चयेन) सफलीकरोतु।

अर्थ—शरणागतों की सम्पूर्ण अभिलाषाओं को पूर्ण करनेवाले, जिस अतिशय दयालु, सर्वत्र व्यापी विधाता ने चराचर-सहित समस्त भुवनों को रचा, वह परम निर्वाण-पद के देनेवाला स्वयंप्रकाश परमेश्वर हमारी सम्पूर्ण अभिलाषाओं को अवश्य पूर्ण करे।

तं वन्दितं वन्दिभिरर्चयन्ते
सन्तो लसन्तो ललितैर्वचोभिः ।
तस्याऽजितस्याजिषु नौति लीला-
मुत्तालमुत्तालरवेण लोकः ॥ १५ ॥

धीरस्य धीरस्यति तस्यतीक्ष्णा-
बन्धानुबन्धानुगतां प्रवृत्तिम् ।
दानं ददानं दयितेव रागा-
दानन्ददा नन्दयते च तं श्रीः ॥ १६ ॥

सपन्नसम्पन्नवसिद्धिहेतुं
धुर्यामधुर्याममरेन्द्रमुख्याः ।
भासा शुभा सा शुचिरीशभक्ति-
र्यस्याऽभयस्याभरणत्वमेति ॥ १७ ॥

(तिलकम्)

अन्वय—सम्पन्नसम्पन्नवसिद्धिहेतुम् धुर्याम् याम् (ईशभक्तिम्) अमरेन्द्रमुख्या अधु , सा भासा शुभा शुचि 'ईशभक्ति' यस्य अभयस्य आभरणत्वम् एति । वन्दिभि वन्दितम् तम् (धन्यम्) ललितै वचोभि लसन्त सन्त अर्चयन्ते, आजिषु अजितस्य तस्य लीलाम् लोक उत्तालरवेण उत्तालम् (त्वरितम्) नौति, तस्य धीरस्य तीक्ष्णा धी च धातुर्वानुगताम् प्रवृत्तिम् अस्यति, दयिता इव आनन्ददा श्री च (अर्थिभ्य) दानम् ददानम् तम् रागात् आनन्दयते ।

अर्थ—जिस पूर्ण सम्पत्तियों की नवीन सिद्धिदात्री (ईशभक्ति) को ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्रादि देवशिरोमणि धारण करते हैं, वह परम प्रकाशमयी विशाल शिवभक्ति जिस निर्भयात्मा का आभूषण बन जाता है, उस श्रेष्ठ वन्दियों से वन्दित धन्यात्मा को सहृदय जन सुललित वचनों द्वारा परम आदरपूर्वक अर्चित करते हैं, महावीर सङ्ग्रामों में विजय प्राप्त करनेवाले उस धन्यात्मा की पवित्र लीलाओं को लोग ऊँचे स्वर से गाया करते हैं, उस धीर पुरुष की तीक्ष्ण बुद्धि संसार चक्र के बन्धनों में डालनेवाली प्रवृत्ति को शीघ्र त्याग देती है, तथा याचकों को अनेकों दान देते हुए उस धन्यात्मा को सकल प्रकार का आनन्द देनेवाली लक्ष्मी प्रेयसी स्त्री के समान बड़े अनुराग से आनन्दित करती है ।

[शिवभक्तिकल्पलता के अलौकिक आनन्द रसास्वाद में मग्न होने के कारण उसके सामने सांसारिक समस्त वैभव को तृण-तुल्य समझते हुए अब हमारे कवि कतिपय श्लोकों के द्वारा अपना मनोविनोद करते हैं—]

शङ्का भृशं का भृतकप्रियश्चे-
　　दासन्नदासं न जहाति शम्भुः ।
नाराधनाराधयितुश्च मिथ्या
　　किं चित्त किंचित्तरलत्वमेषि ॥ १८ ॥
सानन्द सा नन्दनभूस्तृणं ते
　　कल्याण कल्याणगिरिः क गण्यः ।
सा तेजसा ते जडतामुदस्त-
　　कम्पाऽनुकम्पा नुदतीन्दुमौलेः ॥ १९ ॥
जम्बालजं बालरवेरिवाभा-
　　ऽदीनं नदीनं नवचन्द्रिकेव ।
साशङ्क सा शङ्करभक्तिरुच्चै-
　　रक्षामरक्षा मदयिष्यति त्वाम् ॥ २० ॥
नो भोगिनो भोगिभिरर्चितो यः
　　सातङ्क सातं कलयञ्जहाति ।
स त्वाऽलसत्वालयदैन्यहारी
　　पास्यत्यपास्तयशुभं च शंभुः ॥ २१ ॥

(चक्कलकम्)

अन्वय—हे चित्त ! ते भृशम् का शङ्का ? शम्भुः चेत् भृतकप्रियः, तर्हि आसन्नदासम् न जहाति, आराधयितुः च आराधना च मिथ्या न (भवति), तस्मात् हे चित्त ! (त्वम्) किंचित् तरलत्वम् किम् एषि ? अयि सानन्द ! सा नन्दनभूः ते तृणम् (भवति) अतश्च हे कल्याण (सः) कल्याणगिरिः क्व गण्यः ? भो चित्त ! उदस्तकम्पा सा इन्दुमौलेः अनुकम्पा (स्वकीयेन) तेजसा ते जडताम् नुदति, अयि साशङ्क ! बालरवेः आभा जम्बालजम् इव,

नवचन्द्रिका अदीनम् नदीनम् इव, सा उच्चैः अच्छामरच्छा शङ्करभक्तिः, त्वाम् मदयिष्यति, हे सातङ्क ! चित्त ! भोगिभिः (विषयाभिलाषिभिः) अर्चितः य. (विभु) सातम् कलयन् भोगिनः न जहाति, स. अलसत्वालयदैन्यहारी शभु त्वा पास्यति अशुभम् च अपास्यति।

अर्थ—अरे चित्त ! तुझे कौन बडी शङ्का (चिन्ता) है ? भगवान् शङ्कर भक्तों को बहुत प्यार करते हैं, इसलिए वे अपने अभिन्न शरणागत का परित्याग कदापि नहीं करते। और उनकी आराधना करनेवाले की प्रार्थना कभी भी मिथ्या (निष्फल) नहीं होती, अतः हे मन ! तू किञ्चिन्मात्र भी चञ्चलता क्यों करता है ? अरे परम आनन्द में मग्न मन ! तेरे लिए वह नन्दन वन (इन्द्र का बगीचा) एक तृण के समान है और वह सुवर्ण पर्वत तो कोई गिनती में ही नहीं है ? हे प्यारे मन ! शरणागतों के भय को दूर करनेवाली वह भगवान् शङ्कर की अनुकम्पा अपने प्रकाश से तेरी जडता को दूर कर रही है। अरे ओ शङ्काओं से घिरा हुआ मन ! जैसे बाल-रवि की आभा कमल को आनन्दित कर देती है और नवचन्द्रिका चञ्चल महासमुद्र को आनन्दित कर देती है, वैसे ही जीवों की हर तरह रक्षा करनेवाली वह भगवान् शङ्कर की विशाल भक्ति तुम्हे हर्ष के मारे आह्लादित कर देगी। अरे आधि व्याधियों से घिरा हुआ मन ! भला देख तो, जो अतिशय दयालु प्रभु भोगी (विषयाभिलाषी) लोगों से अर्चित हो उन्हें यथेच्छ भोग सामग्री प्रदान कर सुखी करता हुआ भोगियों (सर्पों) का (भी) परित्याग नहीं करता, वह आलस्य की आलय दीनता को हरनेवाला करुणालु शङ्कर सदैव तेरी रक्षा करेगा और तेरे अमङ्गलों को दूर करेगा।

दोषप्रदोषप्रसृतापि सक्ता
सेवारसे वारविलासिनीव।
या निर्भया निर्भररागिणी त्वा-
मायाति मायातिमिरेऽभिसर्त्तुम् ॥ २२ ॥

भावानुभावानुगमेन रूढा
बाला नवालानगता वशेव ।
साऽनेहसा नेह विहास्यति त्वां
कण्ठोपकण्ठोपगतैव वाणी ॥ २३ ॥

(युग्मम्)

अन्वय—हे चित्त ! दोषप्रदोषप्रसृता अपि, निर्भररागिणी निर्भया सेवारसे सक्ता या (वाणी), वारविलासिनी इव, माशतिमिरे त्वाम् अभिसर्तुम् आयाति, सा भावानुभावानुगमेन रूढा कण्ठोपकण्ठोपगता वाणी, इह कण्ठोपकण्ठोपगता बाला इव, नवालानगता, कण्ठोपकण्ठोपगता वशा (करिणी) इव, त्वाम् अनेहसा न विहास्यति ।

अर्थ—अरे ओ भूला मन ! जैसे प्रदोष के समय विचरनेवाली, अतिशय रागवाली और सेवाधर्म मे तत्पर निर्भय अभिसारिका अन्धकारमय समय में अपने कामुक के पास चली आती है, वैसे ही, पददोष और अर्थदोष रूप प्रदोष मे विचरती हुई भी निश्चल अनुरागवाली एव भगवत्सेवा मे परायण हुई जो निर्भय वाणी (ईश स्तुति) अविद्यारूप अन्धकार में तुम्हारे पास आ रही है, वह विवेक और वैराग्य से उदित भक्तिरस के प्रभाव से अत्यन्त प्रसिद्धि को प्राप्त हुई एव सदैव तुम्हारे कण्ठ में ही रहनेवाली अभय वाणी, अपने प्रियतम के सन्निकट मे गई अतिशय अनुरागवती युवती की तरह एव नवीन गजबन्धनालय के निकट गई, अतीव गाढ़ अनुराग से पूर्ण करिणी की तरह, तुम्हे कदापि नहीं छोड़ेगी ? अर्थात् सदैव तुम्हारी सहायता करेगी ।

[इस प्रकार अपना मनोविनोद करके कवि अब प्रभु का भी मनोविनोद करते हैं—]

दिव्या यदि व्यायतकान्तयस्ते
गौरीश गौरी शशिनः कला च ।

विघ्नन्ति विघ्नं तिमिराभिधानं
तेनाऽहतेनाऽहमुपद्रुतः किम् ॥ २४ ॥

अन्वय—हे ईश ! व्यायनकान्तयः दिव्या ते गौः, गौरी, शशिनः कला च (एता.) यदि तिमिराभिधानम् विघ्नम् विघ्नन्ति, तर्हि तेन अहतेन (तिमिरेण) अहम् किम् उपद्रुतः (अस्मि) ?

अर्थ—हे ईश ! आपकी अत्यन्त विशाल प्रकाशवाली वाणी, श्री पार्वती एवं उज्ज्वल चन्द्रकला, ये तीनों वस्तुएँ यदि मोहान्धकार-रूप विघ्न को समूल नष्ट कर देती हैं; तो फिर बतलाइए ! यह मोहरूपी अन्धकार मुझे क्यों दुःख दे रहा है ?

मुद्योगमुद्योगभृतो भजन्ते
शंसन्ति शं सन्ति च निर्विकल्पाः ।
भक्ता विभक्ता विपदस्त्वदीयाः
कस्मादकस्मादहमेव मग्नः ॥ २५ ॥

अन्वय—हे ईश ! उद्योगभृत त्वदीया. भक्ता. मुद्योगम् भजन्ते, शम् शंसन्ति, निर्विकल्पा. च सन्ति, विपदः विभक्ता. च सन्ति, तर्हि अकस्मात् अहम् एव (विपदर्णवे) कस्मात् मग्न. ?

अर्थ—हे प्रभो ! सत्कार्यों में पूर्ण उद्योग करनेवाले आपके भक्त परम आनन्द योग के प्राप्त होते हैं, संसार में कल्याण के मार्ग के प्रकट करते हैं, सदैव निश्चिन्त रहते हैं और विपत्तियों के संसर्ग से रहित रहते हैं; तो फिर हे नाथ ! बिना ही कारण एक मैं ही इस विपत्ति-सागर में क्यों मग्न हो रहा हूँ ?

वाचां तवाचान्तशुचां शुभाना
मोघा न मोघा नमतां कदाचित् ।
तैरुद्धतैरुद्धर मामनाथं
लीनं कुलीनं कुदशान्धकारे ॥ २६ ॥

अन्वय—अयि विभो ! नमताम् आचान्तशुचाम् तव शुभानाम् वाचाम् ओघाः कदाचित्(अपि)मोघा. न भवन्ति, अतः तैः उद्धतैः (यमभटत्रास विधायकैर्वाक्यसमूहैः) माम् अनाथम् कुदशान्धकारे लीनम् कुलीनम् उद्धर !

अर्थ—हे विभो ! भक्त जनों के शोक को समूल ही नष्ट कर देनेवाले आपके अभय वचन कभी भी निष्फल नहीं होते ! इसलिए हे नाथ उन यमदूतों को त्रास देनेवाले उद्धत वचनों से मुझ अनाथ, कुदशारूपी अन्धकार में लीन हुए कुलीन (ब्राह्मण) का उद्धार कीजिए ।

कल्पान्तकल्पान्तकभीतियुक्तं
रक्षामि रक्षामिह योऽर्हतीति ।
यस्ते नयस्तेन दिश प्रसन्ना-
मत्राऽसमत्रासहरां दृशं मे ॥ २७ ॥

अन्वय—हे ईश ! इह यः रक्षाम् अर्हति, कल्पान्तकल्पान्तकभीतियुक्तम् तम् रक्षामि, इति यः ते नयः (अस्ति) तेन अत्र असमत्रासहराम् प्रसन्नाम् दृशम् मे दिश ।

अर्थ—हे ईश्वर ! 'इस संसार में जो अनाथ प्राणी है उसकी मैं कल्पान्त-तुल्य यमभीति से हर प्रकार रक्षा करता हूँ', इस प्रकार की जो आपकी नीति (प्रतिज्ञा) है, उसके अनुसार मुझ अनाथ पर अपनी महात्रासहारिणी प्रसन्न दृष्टि समर्पण कीजिए ।

कन्दर्प कं दर्पमुपैपि यात-
मस्तं समस्तं सहसा बलं ते ।
भीरो गभीरो गलितः किमुच्चै-
रक्षोभरक्षो भगवत्प्रसादः ॥ २८ ॥

अन्वय—हे कन्दर्प ! कम् दर्पम् उपैपि ! ते समस्तम् बलम् सहसा अस्तम् यातम्, अयि भीरो ! अक्षोभरक्षः गभीरः उच्चैः भगवत्प्रसादः किम् गलितः ? (त्वया विस्मृतः किम्) ।

अर्थ—अरे कामदेव ! तू किस अहङ्कार में पड़ा है ? अरे ओ क्षुद्र ! तेरा सम्पूर्ण बल नष्ट हो चुका है ! अरे कातर ! भगवान् शङ्कर ने तुझे जो एक बार भस्म करके पुनः जीवन दान दिया था, उस महान् गम्भीर भगवत् प्रसादानुग्रह को क्या तू भूल गया ? जो कि मुझ पर कुपित होता है ।

विद्यामविद्यामपि तां यया त्वा-
मारध्यमाराध्य सुखी भवामि ।
मायापि मा यापितभीरुपैतु
याता न या तानवमर्चितुं त्वाम् ॥ २९ ॥

अन्वय—हे प्रभो ! यया त्वाम् आराध्यम् आराध्य (अहम्) सुखी भवामि, ताम् अविद्याम् अपि (अहम्) विद्याम् (एव जाने), या (माया) त्वाम् अर्चितुम् तानवम् न याता, सा यापितभीः माया अपि मा (माम्) उपैतु ।

अर्थ—हे प्रभो ! जिससे आप आराध्य देव की आराधना करके मैं परम सुखी होता हूँ, उस अविद्या को भी मैं विद्या ही समझता हूँ, और जो (माया) सदैव आपकी पूजा में कृशता को न प्राप्त हो, उस सकल भीति को दूर करनेवाली माया (मिथ्या मोह) को भी मैं उपादेय ही समझता हूँ ।

रामाभिरामाभिमता धृतार्धे
भोगोपभोगोपगतेन केन ।
कस्यान्तकस्यान्तकरी च लक्ष्मी-
धामानि धामानि बिभर्ति दृष्टिः ॥ ३० ॥

अन्वय—हे विभो ! अभिरामा अभिमता रामा भोगोपभोगोपगतेन (त्वदन्येन) केन अर्धे धृता ? अन्तकस्य अन्तकरी कस्य च दृष्टिः लक्ष्मीधामानि धामानि बिभर्ति ?

अर्थ—हे प्रभो ! समस्त भोगों मे परिपूर्ण हुए आपके सिवाय और किस देवता ने त्रैलोक्यसुन्दरी रामा (श्री गिरिजा) को अपने अर्धाङ्ग मे धारण किया है और अन्तक (काल) का अन्त करनेवाली किसकी दृष्टि परम शोभा के धाम तेजोमय धामों (सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि) को अपने अन्दर धारण करती है ?

क: स्तम्भकः स्तम्भनिभस्य जिष्णोः
कस्तापकस्तापकृतः स्मरस्य ।
कारानुकारानुभवे भवेऽस्मिन्
को जीवको जीवभृतां विना त्वाम् ॥ ३१ ॥

अन्वय—हे विभो ! त्वाम् विना स्तम्भनिभस्य जिष्णोः स्तम्भकः कः (भवति), तापकृतः स्मरस्य तापकृतः कः (भवति) तथा कारानुकारानुभवे अस्मिन् भवे जीवभृताम् जीवकः कः भवति ? न कोपीत्यर्थः ।

अर्थ—हे नाथ ! इन्द्र का स्तम्भन करनेवाला आपके सिवाय दूसरा कौन हो सकता है ? और ससार भर को संतप्त करनेवाले कामदेव को भस्म करनेवाला भी आपके सिवाय दूसरा कौन हो सकता है ? एव कारागार के समान भयङ्कर इस संसार मे देहधारी जीवो का पालन करनेवाला आपके बिना दूसरा कौन हो सकता है ? अर्थात् कोई भी नही ।

या शंसया शंसति शंभुभक्तिं
चेष्टासु चेष्टासु रतिं स्मरस्य ।
तामक्षतामक्षयपुण्यकोपा-
द्वन्द्यो वदन्यो वहते तनुं कः ॥ ३२ ॥

अन्वय—या (तनुः) शंसया शंभुभक्तिम् शंसति, स्मरस्य इष्टासु चेष्टासु च रतिम् शंसति, ताम् अक्षताम् तनुम् अक्षयपुण्यकोपात् अन्यः कः वदन्यः वहते ?

अर्थ—जो (शरीर) स्तुति के द्वारा शिवभक्ति को प्रकट करता है और काम को अभीष्ट चेष्टाओं में अनुराग प्रकट करता है, ऐसा अखण्ड शरीर अक्षय पुण्यराशिवाले धन्यात्मा के सिवा और किसको मिल सकता है ?

याहन्तया हन्त नृपेऽप्यवज्ञा-
मानञ्ज मानं जनयन्त्यभङ्गम् ।
हा निःसहा निःसरणेऽपि भक्त्या
सा वागसावागमदन्तिकं ते ॥ ३३ ॥

अन्वय—हन्त ! हे विभो ! अभङ्गम् मानम् जनयन्ती या (वाक्) अहन्तया नृपे अपि अवज्ञाम् आनञ्ज, हा ! सा (एव) असौ वाक् निःसरणे अपि निःसहा भक्त्या ते अन्तिकम् आगमत् ।

अर्थ—हन्त ! हे प्रभो ! जो अत्यन्त मानवती वाणी बड़े अहंकार से राजाओं के साथ भी अपमान प्रकट करती थी, हाय वही यह वाणी बाहर निकलने में भी असमर्थ होकर भक्ति के उत्कर्ष से आपकी शरण में आ गई है ।

[अब इस स्तोत्र का उपसंहार करते हुए कवि कहते हैं—]

देवं यदेवं यमकैर्महेशं
तुष्टाव तुष्टावसरोचितं गीः ।
शस्यो यशस्योऽयमुपस्थितोऽस्मा-
देनोभिदे नोऽभिमतः प्रसादः ॥ ३४ ॥

अन्वय—इयम् तुष्टा गीः यत् एवं यमकैः महेशम् देवम् अवसरोचितम् तुष्टाव, अयम् शस्यः, यशस्यः नः एनोभिदे अभिमतः च प्रसादः अस्मात् (महेशात्) उपस्थितः ।

अर्थ—इस मेरी वाणी ने प्रसन्नतापूर्वक जो इस प्रकार यमकालङ्कार* के द्वारा भगवान् शङ्कर की यथोचित स्तुति की, यह अति

* 'स्वर व्यञ्जन समुदाय पौनरुक्त्यं यमकम्' ।

प्रशंसनीय, यशोदायक और हमारे पापों को हरनेवाला प्रसाद उसी करुणासागर से प्राप्त हुआ है।

तरलतरलताग्रस्पर्द्धिनी चञ्चलत्वं
रुचिररुचिरमन्दानन्ददा मुञ्चति श्रीः।
चरति च रतिकान्तध्वंसिशंसारतानां
मधुरमधुरसार्द्रा भारती वक्त्रपद्मे ॥ ३५ ॥

अन्वय—तरलतरलताग्रस्पर्द्धिनी (अपि) श्री· रतिकान्तध्वंसिशंसारतानाम् (पुंसाम्) अमन्दानन्ददा रुचिररुचि सती चञ्चलत्वम् मुञ्चति, रतिकान्तध्वंसिशंसारतानाम् वक्त्रपद्मे च मधुरमधुरसार्द्रा भारती चरति।

अर्थ—लताग्र के समान अतीव चञ्चल स्वभाववाली भी लक्ष्मी भगवान् श्री शंकर की स्तुति करनेवाले भाग्यशालियों को महान् आनन्द प्रदान करती हुई, अपनी चञ्चलता को छोडकर उनके गृह में बडे अनुरागपूर्वक निवास करती है और उनके मुखकमल में मधु के समान सुमधुर भक्तिरसामृत में आर्द्र हुई भारती (सरस्वती) नित्य विहार करती है।

इति श्री प्रेममकरन्दसमेत काश्मीरकमहाकविश्रीमज्जगद्धरभट्टविरचिते भगवतो महेश्वरस्य स्तुति-कुसुमाञ्जलौ 'पादादियमक'-स्तोत्रं षड्विंशम्

———

सप्तविंशं स्तोत्रम्

अब यहाँ से 'पादमध्ययमक' नामक चित्रकाव्य द्वारा २७वें स्तोत्र का निर्माण करते हुए कवि कहते हैं—

जयति संयति सगतपाण्डवप्रहरणाहरणाहितकैतवः ।
तरुणदारुणदाशवपुर्धृतस्थिरयशा रयशालिशरो हरः ॥१॥

अन्वय—जयति सगत पाण्डवप्रहरणाहरणाहितकैतव तरुणदारुण-दाशवपुः धृतस्थिरयशा रयशालिशर हर जयति ।

अर्थ—संग्राम में अर्जुन के आयुधों का स्तम्भन करने के लिए छल-कपट का धारण करनेवाले, अतएव उद्भट भिल्ल युवक की मूर्ति धारण करनेवाले, स्थिर यश के धारण करनेवाले और तीव्र वेगशाली बाणों के धारण करनेवाले हर की सदा जय हो ।

भुवनपावनपादमधर्षितं मघवताऽघवतामपि सस्पृहम् ।
मुनिजनीनिजनीतिपरीक्षणे धवलखेवलखेलिकृतं स्तुमः ॥२॥

अन्वय—भुवनपावनपादम् मघवता अधर्षितम्, अघवताम् अपि सस्पृहम् मुनिजनीनिजनीतिपरीक्षणे धवलखेवलखेलिकृतम् (वयम्) स्तुमः ।

अर्थ—जिसके चरणारविन्द सम्पूर्ण भुवनों को पवित्र करते हैं, जिसके तेज के सामने महातेजस्वी इन्द्र भी धर्षित हो जाता है और पापात्मा लोग भी जिसकी अत्यन्त स्पृहा करते हैं, जो मुनि पत्नियों के शील और सदाचार की परीक्षा-रूप स्वच्छ क्रीडा करता है, उस सर्व स्वतन्त्र शिव का हम स्तवन करते हैं ।

स्थिरमगारमगात्मजया श्रितं
स्मरविकारविकामपराङ्मुखम् ।

भुजगराजगराग्निशिखावली-

विषमवेषमवेपथुदायिनम् ॥ ३ ॥

शमिषु कामिषु कारुणिकेषु वा

वरमघोरमघोपशमक्षमम् ।

घनविपन्नविपन्निधने सदा

परमधीरमधीशमुपास्महे ॥ ४ ॥

(युग्मम्)

अन्वय—अगात्मजया श्रितम् स्थिरम् अगारम्, स्मरविकारविकास-पराङ्मुखम्, भुजगराजगराग्निशिखावलीविषमवेषम् (अपि) अवेपथुदा-यिनम्, वरम्, अघोरम्, शमिषु कामिषु कारुणिकेषु वा अघोपशम-क्षमम्, सदा घनविपन्नविपन्निधने परमधीरम् (एवभूतम्) अधीशम् (वयम्)उपास्महे ।

अर्थ—जो प्रभु सदैव श्री नगेन्द्रकन्या (पार्वती) से आश्रित होकर भी काम के विकारों से पराङ्मुख है, और भयङ्कर सर्पों के विष रूप अग्निज्वालाओं से विकराल वेषवाला होकर भी प्राणियों को अभय-दान देता है, जो जितेन्द्रिय, कामी और परम कृपालु (सत्त्वगुणी) आदि सभी प्रकार के लोगों को सन्मार्ग मे लगाकर उनके पापों को दूर करता है एव महाविपत्ति से पड़े हुए अनाथों की विपत्ति का समूल नाश कर देता है, उस परम उदार, त्रैलोक्याधीश्वर भगवान् महेश्वर की हम उपासना करते हैं।

श्रुतनयास्तनयास्तनुमध्यमा

युवतयो बत योगिमनोहृतः ।

यदघनामघनामयवैशसं

तदमृतेशमृते शमयन्ति किम् ॥ ५ ॥

ओर हे नाथ ! जिसे पाकर ज्येष्ठ भ्राता(श्री रामचन्द्रजी) के बिना राज्य-पदवी को नहीं स्वीकार करनेवाले धर्म-तत्पर भरतजी ने भी शत्रुओं के गौरव को निस्तेजित करनेवाला तेज प्राप्त किया, उस महा मङ्गल-दायक अपने अखण्ड प्रसादानुग्रह को मुझ पर समर्पण कीजिए, हे ईश ! अब शीघ्र आइए।

भृशमनीशमनीतिपथस्थितं
मदवशादवशाक्षमुपप्लुतम् ।
अहरहर्हर हर्षयते न किं
हितवती तव तीव्रशुचं रुचिः ॥ १० ॥

अन्वय—हे हर ! भृशम् अनीशम् अनीतिपथस्थितम् तथा मदवशात् अवशाक्षम् (कामादिवैरिभिः) उपप्लुतम् तीव्रशुचम् (माम्) हितवती तव रुचिः अहरहः किम् न हर्षयते ?

अर्थ—हे हर ! अत्यन्त अनाथ, कुमार्ग पर चलनेवाले, अहङ्कार के कारण अजितेन्द्रिय, एवं काम-क्रोधादि वैरियों से घिरे हुए मुझ अत्यन्त शोकाकुल को आपकी हितवती रुचि अहर्निश क्यों नहीं हर्षित करती ?

कुशलपेशलपेलवदृग्वमन्
रसनया सनयार्चिहुतामृतम् ।
मदनसादन सान्त्वय संपदा-
मपदमापदमाश्रितमेहि माम् ॥ ११ ॥

अन्वय—अयि मदनसादन ! कुशलपेशलपेलवदृक् (त्वम्) सनयार्चिहुता रसनया अमृतम् वमन्, सम्पदाम् अपदम्, आपदम् आश्रितम् माम् सान्त्वय, (त्वम्) एहि ।

अर्थ—अयि मदन के मान को मर्दन करनेवाले सदाशिव ! मङ्गल से मधुर और अतीव सौम्यवती दृष्टि को धारण किये हुए आप

सदा नीति पर चलनेवाले लोगों की पीड़ाओं को दूर करनेवाली जिह्वा से अमृतवर्षण करते हुए, मोक्ष-सम्पत्ति से रहित और जन्म, जरा, मरण-रूपी विपत्ति से पकड़े हुए मुझ दीन को आश्वासन दीजिए। प्रभो! अब आप शीघ्र पधारिए!

कथमनाथमनागसमन्तिके
　　मदनमर्दन मर्षयसे न माम् ।
भुवनभावन भाति विना त्वया
　　जगति कोऽगतिकोद्धरणक्षमः ॥ १२ ॥

अन्वय—हे मदनमर्दन! (त्वम्) अनागसम् माम् अनाथम् अन्तिके कथम् न मर्षयसे? अयि भुवनभावन! त्वया विना जगति अगतिकोद्धरणक्षमः कः भाति? (न कोपीत्यर्थः)।

अर्थ—हे कामविजयिन्! आप निरपराध मुझ अनाथ को अपने सामने क्यों नहीं रख लेते? अयि अखिल भुवनों के निर्माता सदाशिव! आपके बिना अगतिकों का उद्धार करनेवाला जगत् में दूसरा कौन है? अर्थात् कोई नहीं।

यदि कृपापर पापरतस्य मे
　　न कुरुषे परुषे पदमाशये ।
हिततमा कतमा कलुषात्मनो
　　मम हराऽमहरा घटते गतिः ॥ १३ ॥

अन्वय—हे कृपापर! यदि पापरतस्य मे परुषे आशये पदम् न कुरुषे, तर्हि हे हर! कलुषात्मनः मम अमहरा कतमा हिततमा गतिः घटते?

अर्थ—हे दया-परायण! यदि आप मुझ पापात्मा के अतिशय कठोर हृदय में अपना स्थान नहीं बनावेंगे, तो फिर हे नाथ! मुझ मलिन-अन्तःकरण का उद्धार करनेवाली दूसरी गति और कौन होगी?

स्थिरविभा रविभातिरिवोन्मदं
मदमयं दमयन्त्यसमन्तमः ।
तव दया यद यात्युदयं न चेद्
भवतमी वत मीलति मे कथम् ॥ १४ ॥

अन्वय—हे प्रभो ! स्थिरविभा तव दया रविभाति इव, उन्मदम् मदमयम् असमम् तम दमयन्ती न चेत् उदयम् याति, तर्हि हे विभो ! (त्वमेव) वद, मम भवतमी कथम् मीलति ?

अर्थ—हे प्रभो ! जैसे सूर्य की स्थिर ज्योति गाढ अन्धकार को दूर करती हुई उदय होती है, वैसे ही अतिशय स्थिर प्रभावशालिनी आपकी कृपा यदि मेरे इस अत्युत्कट अहङ्कारमय गाढ अन्धकार (अज्ञान) को दूर करती हुई नहीं उदय होगी तो, हे नाथ ! फिर आप ही बतलाइए कि मेरी यह संसार रूपी रजनी कैसे दूर होगी ?

रजनिराजनिराकरणक्षमः
क्षतनिशातनिशातिमिरोत्करः ।
कृतविभातविभाभरभास्वरो
दिनकरो न करोत्युदयं यदा ॥ १५ ॥
दिवि यदा वियदाभरणं कृपा-
परमते रमते न सुधाकरः ।
न शुचिराशु चिरापतितं यदा
स्थिरमपारमपाकुरुते तमः ॥ १६ ॥
ननुकृशानुकृशां ग्रसते यदा
मिहिरजाहिरजातघृणस्तनुम् ।
शिव तदा बत दास्यति मे धृतिं
त्वदितरः कतरः करुणापरः ॥ १७ ॥

(तिलकम्)

अन्वय—हे विभो ! यदा रजनिराजनिराकरणक्षमः हतनिशातनिशातिमिरोत्करः हतविभातविभाभरभास्वरः दिनकरः उदयम् न करोति, हे कृपापरमते ! यदा वियदाभरणम् सुधाकरः दिवि न रमते, यदा चिरापतितम् स्थिरम् अपारम् तमः शुचिः (अग्निः) न अपाकुरुते, यदा अजातघृणः मिहिरजाहिः (कालपाशः) तनुकृशानुकृशाम् तनुम् ग्रसते, अयि शिव ! बत !! तदा त्वदितरः कतरः करुणापरः मे (ममाऽशरणस्य) धृतिम् दास्यति ?

अर्थ—हे विभो ! जिस अवस्था में चन्द्रमा के निस्तेज करनेवाला और रात्रि के गाढ़ अन्धकार को दूर करनेवाला, अखण्ड तेजोधाम से दीप्त सूर्य प्रकाश नहीं करता, हे दयासागर ! जिस समय वह आकाश का भूषण सुधाकर (चन्द्रमा) आकाश में नहीं सुशोभित होता, जिस समय गाढ़ अन्धकार के अग्नि नहीं दूर कर सकता, और जिस समय वह अत्यन्त निर्दयी काल-पाश अतीव कृश शरीर के पकड़ लेता है, उस समय हे नाथ ! एक आपके सिवाय और कौन करुणासागर मुझ अनाथ गतिविहीन के धैर्य देगा ?

निधनसाधनसान्द्रलसद्विषा-
नलकरालकरात्तमहोरगः ।
नियमनाय मनाङ् मम सस्पृहे
भवति धावति धाम यमः कथम् ॥ १८ ॥

अन्वय—अयि विभो ! भवति सस्पृहे (दयापरे) सति, निधनसाधनसान्द्रलसद्विषाऽनलकरालकरात्तमहोरगः यमः, मनाक् नियमनाय मम धाम कथम् धावति ?

अर्थ—हे प्रभो ! आपकी दयादृष्टि हो जाने पर प्राणियों का संहार कर देनेवाले महाभयङ्कर विषानल से विकराल सर्प (नागपाश) के हाथ में धारण किया हुआ यमराज फिर मुझे किञ्चिन्मात्र भी भय देने के कैसे मेरे पास आ सकता है ? अर्थात् कभी नहीं आ सकता ।

पलितमीलितमीश मम स्मर-
श्चतुरमातुरमारचयन्वपुः ।
घनबलेऽनवलेपपरे त्वयि
प्रभविता भवितापकरः कथम् ॥ १९ ॥

अन्वय—हे ईश ! पलितमीलितम् मम वपु चतुरम् आतुरम् आरचयन् भवितापकर स्मर घनबले त्वयि अनवलेपपरे सति कथम् प्रभविता ?

अर्थ—हे ईश ! जरा (बुढ़ापा) से कृशित मेरे शरीर को कामोद्रेक से आतुर करता हुआ यह जीवों को संताप देनेवाला कामदेव आप महा बलवान प्रभु के प्रसन्न हो जाने पर फिर मेरा क्या कर सकेगा ?

त्वमधुना मधुनापि युतो वहन्
रतिमभीतिमभीष्टतमामपि ।
श्रितमवन्तमवन्ध्यबलं विभुं
जयति मां यतिमानहरः स्मरः ॥ २० ॥

अन्वय—हे विभो ! मधुना युत अपि, अभीतिम् अभीष्टतमाम् अपि रतिम् वहन्, यतिमानहर स्मर अधुना अवन्ध्यबलम् अवन्तम् विभुम् श्रितम् माम् किम् जयति ? (कथ नयनीयाद)

अर्थ—हे प्रभो ! अपने सखा वसन्त से युक्त होकर भी और अतिशय प्रीति को उत्पन्न करता हुआ भी, बड़े-बड़े संयमी पुरुषों के भी मान को दूर करनेवाला यह कामदेव अब सब प्रकार से रक्षा करने वाले आप बलवान प्रभु की शरण में आये हुए मुझको कैसे जीत सकता है ? अर्थात् कदापि नहीं जीत सकता।

विषमगोपमगोः पथि पातय-
न्मतिमनीतिमनीक्षितमन्यथाम् ।
भृशमयं शमयन्नियमं कथं
नय पुरे वपुरेपति मे मदः ॥ २१ ॥

अन्वय—हे स्वामिन् ! अनीतिमत्पथाम् अनीतिम् मतिम् विषमरोषमरोः पथि पातयन्, भृशम् नियमम् शमयन् अयम् मदः, तव पुरः मे वपुः कथम् ओषति ?

अर्थ—हे नाथ ! सन्मार्ग से विमुख और नीति से रहित मति को अति विषम क्रोधरूपी मरुस्थल के मार्ग में गिराता हुआ तथा यम-नियम को समूल नष्ट करता हुआ यह दुष्ट अहङ्कार आप प्रभु के सामने मुझ आपके भक्त के शरीर को कैसे जला सकता है ?

मम निकामनिकारकृतो वृथा
वपुरवापुरवार्यरुपोऽरयः ।
न हि तदाहितदाहमदन्त्यमी
तव हितावहिता हि नतेषु धीः ॥ २२ ॥

अन्वय—हे विभो ! निकामनिकारकृतः अवार्यरुषः अरयः, मम (भावुकस्य) वपुः वृथा अवापुः । हि अमी आहितदाहम् तत् (ममवपुः) न अदन्ति; हि नतेषु तव धीः हितावहिता (भवति) ।

अर्थ—हे नाथ ! अत्यन्त तिरस्कार करनेवाले और महान् कोप के भरे हुए ये काम-क्रोधादि शत्रु मुझ आपके सेवक के शरीर में वृथा (निरर्थक) ही आये, क्योंकि, ये लोग मेरे शरीर में अपना कुछ भी अधिकार नहीं दिखला सकते ? कारण यह है कि आपकी दया भक्त जनों की रक्षा करने में हर समय बड़ी सावधानी से रहती है !

यदि विभा दिवि भाति न तावकी
यदि न मे दिनमेति भवन्मयम् ।
तदु महादमहारि तमः कथं
विपदोपमदो विनिवर्तते ॥ २३ ॥

अन्वय—हे शिव ! यदि तावकी विभा दिवि (बाह्याकाशे, हृदयाकाशे च) न भाति, भवन्मयम् दिनम् मे यदि न एति; तर्हि तम् यद् महादमहारि विपमदोपम् अदः तमः कथम् विनिवर्तते ?

अर्थ—हे सदाशिव ! यदि आपका परम-प्रकाश बाह्याकाश और हमारे हृदयाकाश में न उदय होगा, और यदि मेरा दिन निरन्तर आपके ही स्मरण में न व्यतीत होगा, तो फिर हे नाथ ! आपही कहिए कि महाशान्ति का हरनेवाला तथा मायावरण से उत्पन्न हुए अप्रकाश आदि विषम दोषों से भरा हुआ यह मेरा अज्ञानरूप अन्धकार कैसे हटेगा ?

कमलिनी मलिनीक्रियते यया
विहतसंततसंतमसापि या ।
स्मरचिता रचितापि च यत्र तां
वितर कातरकामदुघां दृशम् ॥ २४ ॥

अन्वय—हे विभो ! यया (वामभागस्थितयेन्दुरूपया दृशा) कमलिनी मलिनीक्रियते, या अपि (दक्षिणभागस्थिता दृक्) विहतसंततसंतमसा भवति; यत्र च (तृतीयस्यां ललाटस्थितायां दृशि) स्मरचिता रचिता, ताम् कातरकामदुघाम् (चन्द्रार्काग्निरूपत्रिधाममयीम्) दृशम् वितर ।

अर्थ—हे प्रभो ! जो आपके वाम भाग में स्थित आपकी चन्द्ररूपी दृष्टि कमलिनी को मलिन (सकुचित) करती है और दक्षिण भाग में स्थित जो सूर्यरूपी दृष्टि सदैव गाढ़-अन्धकार को दूर करती है, एवं जो आपके ललाटस्थित अग्निरूपी दृष्टि कामदेव को भस्म करने के लिए चिता बना थी, उन शरणागतों की अभिलाषाओं को पूर्ण करनेवाली—चन्द्र, सूर्य, अग्निरूप तीनों तेजोमय पिण्डों को धारण करनेवाली सुमनोहर दृष्टियों को मुझपर समर्पण कीजिए ।

तुहिनवाहिनवानिलजे मनः
सहसि रंहसि रञ्जयति प्रिया ।
न रसिकोरसि कोष्णकुचा तथा
तव गुणानुगुणा नुतिर्गीर्यथा ॥ २५ ॥

अभिजनेन जनेन सुदुष्कृतै-

रशबलेन वलेन च वर्धते ॥ २७ ॥

अभिनवेन नवेन शिवस्य यः

स्तुतिमुदारमुदारभतेऽमुना ।

अवहितस्य हि तस्य तनोति शं

विभवदो भवदोपहरो हरः ॥ २८ ॥

(युग्मम्)

अन्वय—यः (धन्यात्मा) उदारमुत् सन्, अभिनवेन अमुना नवेन शिवस्य स्तुतिम् आरभते; सः नरः अनिधनेन धनेन, मनस्विनाम् अनुगुणेन गरीयसा गुणेन, अभिजनेन जनेन, सुदुष्कृतैः अशबलेन बलेन च वर्धते; हि विभवदः भवदोषहरः हरः तस्य अवहितस्य शम् तनोति ।

अर्थ—जो धन्यात्मा अत्यन्त प्रसन्न होकर इस नूतन स्तोत्र से भगवान् श्री सदाशिव की स्तुति करता है, वह पुरुष अविनाशी धन, उदार पुरुषों के अनुकूल श्रेष्ठ गुण, उत्तम कुल और परिवार एवं विशुद्ध बल के सहित नित्य वृद्धि (उन्नति) को प्राप्त होता है, क्योंकि समस्त वैभवों को देनेवाला, संसार के पुनरागमन-रूप दोषों को हरनेवाला वह उदार प्रभु अवश्य ही उस शान्तात्मा का कल्याण करता है ।

स सकलासु कलासु विचक्षणः

स मतिमानतिमानसमुन्नतः ।

न शशिखण्डशिखण्डमृते स्तुतिं

सुकृतवान् कृतवानपरस्य यः ॥ २९ ॥

अन्वयः—यः सुकृतवान् शशिखण्डशिखण्डम् ऋते अपरस्य स्तुतिम् न कृतवान्, सः नरः सकलासु कलासु विचक्षणः, सः मतिमान् अतिमानसमुन्नतः (भवति) ।

अर्थ—जो पुण्यात्मा केवल एक भगवान् चन्द्रमौलि के सिवाय अन्य किसी भी प्राकृत पुरुष की स्तुति नहीं करता, वह मनुष्य (नृत्य गीत हास्य आदि) सम्पूर्ण कलाओं में निपुण, महा बुद्धिमान् और अत्यन्त मान से उन्नत होता है।

रविरहो विरहोद्धरणाद्दिश-
न्धृतिमुदेति मुदे रथपक्षिणाम्।
यदविपादविपाभिभवं जग-
त्कृतमसन्तमसं स्तुतिभिः प्रभोः ॥ ३० ॥

अन्वय—(रविणा प्रातरुत्थाय) यत् प्रभोः (श्री शम्भोः) स्तुतिभिः जगत् अविपाद-विपाभिभवम् असन्तमसम् कृतम्, तत् अहो! विरहोद्धरणात् धृतिम् दिशन् रथपक्षिणाम् मुदे रविः उदेति।

अर्थ—सूर्यदेव ने प्रातःकाल में जो भगवान् सदाशिव की स्तुतियों के द्वारा समस्त जगत् को विषाद और अन्धकार से रहित किया है, आहा! इसी से वह चक्रवाक पक्षियों के विरह को दूर करके उन्हें धैर्य और आनन्द देता हुआ आकाश में अभ्युदित होता है।

विनयशोभि यशोभिरतं मनः
परहितारहिता विमला मतिः।
विपुलमङ्गलमङ्गमिति प्रभोः
प्रतिफलन्ति फलं स्तुतिवीरुधः ॥ ३१ ॥

अन्वय—मनः विनयशोभि सत् यशोभिरतम् (भवति) मतिः विमला (सती) परहितारहिता (भवति) अङ्गम् च विपुलमङ्गलम् (भवति) प्रभोः स्तुतिवीरुधः इति फलम् प्रतिफलन्ति।

अर्थ—आहा! प्रभु की स्तुति से मन अति विनीत होकर यज्ञ-दानादि द्वारा अखण्ड यश को प्राप्त करने में तत्पर हो जाता है, और मति अत्यन्त निर्मल होकर परोपकार में परायण हो जाती है

एवं अङ्ग मङ्गलमय हो जाता है। प्रभु की स्तुति-रूपी लताएँ ऐसे ऐसे उत्तम फलों को फलती हैं।

जितसुधारसुधारसभारती-
विभवसंभवसंभृतकीर्तयः।
कविबुधा विबुधाधिपवन्दितं
सुकृतिनः कृतिनः स्तुवते शिवम् ॥ ३२ ॥

अन्वय—जितसुधारसुधारसभारती विभवसंभवसंभृतकीर्तय. सुकृतिनः कृतिन. कविबुधा विबुधाधिपवन्दितम् शिवम् स्तुवते।

अर्थ—जिनकी भारती (वाणी) का वैभव अमृत के रस को तिरस्कृत कर सारे दिगन्तों में पवित्र कीर्ति को पैदा करता है ऐसे महा-पुण्यशाली, धन्यात्मा कवि एवं पण्डित लोग (लौकिक वैभवों को शुष्क तृणवत् समझकर) इन्द्रादि देवों के वन्दनीय, देवाधिदेव भगवान् श्री महादेव की स्तुति करते हैं।

न महतामहतामलसंविदां
मदयिता दयिताधिगमस्तथा।
मधुरसाधुरसार्द्रपदा यथा
सयमका यमकामरिपुस्तुतिः ॥ ३३ ॥

अन्वय—मधुरसाधुरसार्द्रपदा, सयमका यमकामरिपुस्तुतिः यथा अहतामलसंविदाम् महताम् मदयिता (भवति) तथा तेषाम् दयिताधिगमः न मदयिता।

अर्थ—अत्यन्त मधुर और सुन्दर (भक्तिरूपी अमृत के) रस से आर्द्र पदोंवाली 'यमकालङ्कार' से युक्त श्री भगवान् शङ्कर की स्तुति अतिशय पवित्र ज्ञान से भरे हुए महात्माओं को जितना आनन्दित करती है, उतना आनन्द उन्हें सुन्दरी प्रियतमा की प्राप्ति से कदापि नहीं मिल सकता!

का नाम नामरवधूरवधूतकान्ता
कान्ता न का नरजनी रजनीपतिश्रीः ।
श्रीमन्तमन्तकरिपुं करिपुङ्गवान्त-
हेतुं स्तुवन्तमविराममविरावमेति ॥ ३४ ॥

अन्वय—करिपुङ्गवान्तहेतुम् श्रीमन्तम् अन्तकरिपुम् स्तुवन्तम्(पुरुषम्) अवधूत-कान्ता का नाम अमरवधूः अविराममविरावम् न एति ? तथा रजनीपतिश्रीः कान्ता का नरजनी न एति ? (अपि तु सर्वा एवेत्यर्थः)

अर्थ—गजासुर के निहन्ता भगवान् श्री अन्तकारि की स्तुति करनेवाले पुरुष को कौन सी देवाङ्गना बड़े प्रेम से प्रार्थना करती हुई नहीं भजती, तथा चन्द्रमा के समान सुमनोहर अङ्गवाली कौन नराङ्गनाएँ उसे नही भजती ? अर्थात् सभी भजती हैं ।

इति श्रीप्रेममकरन्दसमेतं काश्मीरकमहाकविश्रीमज्जगद्धरभट्टविरचिते
भगवतो महेश्वरस्य स्तुति-कुसुमाञ्जलौ 'पादमध्य-
यमकाख्य' स्तोत्र सप्तविंशम् ।

अष्टाविंशं स्तोत्रम्

अथ 'पादान्त-यमक नामक' अट्ठाईसवें स्तोत्र को प्रारम्भ करते हुए कवि कहते हैं—

अन्तश्चेतसि निर्वृतिर्न गमिता नाशं कया शङ्कया
नैषा पुष्यति तेन संहृतगतिः शोभारती भारती ।
भक्तिः किं तु विजृम्भते मम यथैवाभा स्वतो भास्वतो
यादृक्तादृगतः किमप्यभिदधे संमत्यहं मत्यहम् ॥ १ ॥

वाणी को सुनकर वह दयालु प्रभु क्यों न मेरी रक्षा करेंगे ? अर्थात् अवश्य करेंगे ।

मन्ये तां स्पृहणीयगौरवगुणामायामिनीं यामिनीं
तत्सेवारसमादधत्तव सुधा संवादिनं वा दिनम् ।
यत्रोपान्तगतं वचोभिरुचितैरानन्दिनं नन्दिनं
कुर्वद्भिश्चरितं सुचारु जगतामीशस्य ते शस्यते ॥ ३ ॥

अन्वय—हे विभो ! यत्र (रात्रौ) उपान्तगतम् नन्दिनम् आनन्दिनम् कुर्वद्भिः उचितैः वचोभिः जगताम् ईशस्य ते सुचारुचरितम् शस्यते, ताम् यामिनीम् स्पृहणीय-गौरवगुणाम् आयामिनीम् मन्ये; तथा यत्र (दिने) पूर्वोक्त विशेषणविशिष्टैः वचोभिः ते चरितम् शस्यते (अहम्) तत्र सेवारसम् आदधत् तत् दिनम् वा सुधासंवादिनम् मन्ये ।

अर्थ—हे नाथ ! जिस (रात्रि) में आपके दरवाजे पर बैठे हुए (द्वारपाल-) नन्दी को आनन्द देनेवाले सुमनोहर वचनों से आप अखिल ब्रह्माण्डाधीश्वर का अति-पवित्र सुयश गाया जाता है, उस रात्रि को मैं अति स्पृहणीय—गुणगौरववाली समझता हूँ, और जिस (दिन) में आपके दरबार के नन्दी को आनन्दित करने-वाले सुन्दर वाक्यों से आप (प्रभु) का सुयश गाया जाता है, बस—आपकी सेवा से सार्थक—दिन को मैं साक्षात् 'अमृत का सहोदर' ही समझता हूँ ।

तस्योदेति सदःसदां विदलितग्लानिर्भरो निर्भरो
वाचां वक्त्रसरोरुहे परिणमत्पाकोऽमलः कोमलः ।
लक्ष्मीस्तं न जहाति किं च विभवैराभासिताभासिता
येन त्वं हृदयाम्बुजे भवभयात्त्रातोपितस्तोपितः ॥ ४ ॥

अन्वय—हे विभो ! येन भवभयात् त्राता, हृदयाम्बुजे उपितः त्वम् तोषितः, तस्य (धन्यस्य) वक्त्रसरोरुहे सदःसदाम् विदलितग्लानिः, परिणम-

स्यात्: अमलः कोमलः निर्भरः वाचाम् भरः उदेति; किं च—विभवैः आभासिना, आभासिता लक्ष्मीः तम् न जहाति।

अर्थ—प्रभो! भवसागर के त्रास से बचानेवाले और हृदय-कमल में निवास करनेवाले आप दयालु को जिसने (प्रसन्न) कर लिया, उस धन्यात्मा के मुख-कमल में सभासदों (श्रोता लोगों) के विषाद को दूर करनेवाला, अत्यन्त प्रौढ, निर्मल, कोमल—माधुर्य गुणयुक्त एवं गम्भीर वाग्विलास (कविता का वैभव) उदय होता है, और नाना प्रकार के अलौकिक वैभवों से सुशोभित, एवं दिव्य कान्ति से देदीप्यमाना भी लक्ष्मीदेवी उस धन्यात्मा का कदापि परित्याग नहीं करती।

सेव्यन्ते भगवन्नपास्य[1] कलितोल्लासं मदं[2] संमदं
विभ्राणास्तरुणीजनेन मधुरव्याहारिणा हारिणा।
वीज्यन्ते दिवि चन्द्ररश्मिरुचिरैः किंचाऽमरैश्चामरै-
राबाल्याद्विदधे त्वदेकविषया यैः शेमुषी शेमुषी॥ ५॥

अन्वय—हे भगवन्! यैः आबाल्यात् त्वदेकविषया शेमुषी[3] शेमुषी विदधे, ते संमदम् बिभ्राणाः (सन्तः) कलितोल्लासम् मदम् (वयं मानिन्यः कमनुयाम इति गर्वम्) अपास्य, हारिणा मधुरव्याहारिणा तरुणीजनेन सेव्यन्ते, किं च (त एव जनाः) दिवि अमरैः चन्द्ररश्मि-रुचिरैः चामरैः वीज्यन्ते।

अर्थ—हे भगवन्! जो लोग बाल्यावस्था में ही अपनी शान्त मति को आपके चरणारविन्द में अर्पित कर देते हैं, उन परमानन्द में मग्न हुए आपके भक्तों को 'हम बड़ी मानवती हैं इसलिए किसके पास जावें?' इस प्रकार के अहङ्कार को त्यागकर सुमधुर शब्द बोलनेवाली

---

(१) 'मनाप्य' इत्यपि पाठः।

(२) 'मदं संमदम्' इत्यपि पाठः।

(३) शेमे भवति इति शे.=मोहस्तं मुष्णातीति शेमुषी (=शमप्रधाना बुद्धिः)।

और मनोहर मुक्ताहार से शोभायमान तरुणी महिलाएँ सेवित करती हैं, और फिर उन्हीं लोगों को स्वर्ग में देवता लोग चन्द्रमा के समान स्वच्छ चँवरों से सेवित करते हैं।

तूर्णं चूर्णयितुं वपुर्यमभटो झम्पारयं पारय-
न्नुच्चण्डभ्रु कुटीकरालितमुखो यत्रासकृत्त्रासकृत् ।
तां भूमिं परिहर्तुमीश्वर भवत्सेवाधनं बाधनं
दुःखानामधिगम्य हन्मि कुमतिप्रादुष्कृतं दुष्कृतम् ॥ ६ ॥

अन्वय—हे ईश्वर ! उच्चण्डभ्रुकुटीकरालितमुखः यमभटः तूर्णम् वपुः चूर्णयितुम् झम्पारयम् (उत्प्लुतिवेगम्) पारयन् यत्र (नरकभूमौ) असकृत् त्रासकृत् (भवति) ताम् भूमिम् परिहर्तुम्, दुःखानाम् बाधनम् भवत्सेवाधनम् अधिगम्य (अहम्) कुमतिप्रादुष्कृतम् दुष्कृतम् हन्मि ।

अर्थ—हे ईश्वर ! जहाँ महाभयङ्कर भ्रुकुटियों से विकराल मुखोंवाले यम-दूत लोग प्राणियों के शरीर को चूर-चूर करने के लिए बड़े वेग स कूदते हुए प्राणियों को बार-बार महा त्रास देते हैं, उस महान् सङ्कटमयी नरकभूमि के कष्टों से बचने के लिए अब मैं समस्त दुःखों को दूर करनेवाली आपकी सेवारूपी धन को पाकर दुष्ट वासनाओं से उत्पन्न हुए पातकों को दूर कर रहा हूँ। अतः—

मुञ्चद्भिर्यमकिङ्करैः कृतमहाजृम्भैरवं भैरवं
यावद्दर्शितमाननं न घुसृणक्षोदारुणं दारुणं ।
तावत्सत्त्वरमेहि देहि महसां धामेदृशं मे दृशं
या दूरीकुरुते निरन्तरसुधासंदोहदं दोहदम् ॥ ७ ॥

अन्वय—हे प्रभो ! कृतमहाजृम्भैः भैरवम् रवम् मुञ्चद्भिः यमकिङ्करैः (क्रोधेन) घुसृणक्षोदारुणम् दारुणम् आननम् यावत् (मे) न दर्शितम्, तावत् (एव) त्वम् सत्वरम् एहि, या (तव दृक्) निरन्तरसुधासंदोहदम् दोहदम् दूरीकुरुते, ईदृशम् महसाम् धाम ताम् दृशम् मे देहि ।

अर्थ—हे प्रभो ! बड़े ज़ोर से अकड़ते हुए मुँह फाड़ फाड़कर अत्यन्त भीषण, कठोर शब्द करनेवाले यम-दूत क्रोध से कुंकुम के समान लाल बने हुए मुँह को जब तक मुझे नहीं दिखलाते, उसके पहले ही हे विभो ! आप शीघ्र आइए ! और जो (आपकी दृष्टि) अत्यन्त गाढ़-अमृत-पान की अभिलाषा को भी फीकी कर देती है, उस परम तेजोमयी दृष्टि से मुझे देखिए।

यावद्दुःसहवह्निहेति-विहित-स्फीतापदं तापदं
जन्तूनां भगवन् भजामि नरकं नाहं सदाहं सदा ।
तावन्मुञ्च वचो यथा मरुपथे बाधावतां धावतां
भीष्मग्रीष्मकदर्थ्यमानवपुषां सञ्जीवनं जीवनम् ॥ ८ ॥

अन्वय—हे भगवन् ! दुःसहवह्निहेतिविहितस्फीतापदम्, जन्तूनाम् तापदम्, सदा सदाहम् नरकम् यावत् अहम् न भजामि, तावत् (एव) यथा मरुपथे धावताम् बाधावताम् भीष्मग्रीष्मकदर्थ्यमानवपुषाम् जीवनम् सञ्जीवनं (भवति) तथा वचः मुञ्च।

अर्थ—भगवन् ! जब तक मैं अति दुःसह अग्नि-ज्वालाओं से जीवों को सन्ताप देनेवाले और सदैव दाह से भरे हुए घोर नरक में नहीं चला जाता, उसके पहले ही आप मरुस्थल में वृथा भटकते हुए भीषण उष्णता से पीड़ित होते जीवों को शान्ति देनेवाले शीतल जल के समान अपना सुमधुर वचनामृत मुझे सुना दीजिए।

न्यस्तं येन मनस्त्वयीदमहतोत्साहं तयाऽहंतया
गाढोद्वेगविधायिनी घटयते सायासतां या सताम् ।
तं भोगैरुपसेवते सुमनसामानन्दने नन्दने
दिव्यस्त्रीजनता विलासविकसच्छोभा सुरं भासुरम् ॥ ९ ॥

अन्वय—अयि भगवन् ! गाढोद्वेगविधायिनी या (अहंता) सताम् सायासताम् घटयते, तया अहंतया अहतोत्साहम् इदम् मनः येन (धन्येन)

त्वयि न्यस्तम्; तम् सुरम् भासुरम् विलासविकसच्छोभा दिव्यस्त्रीजनता सुमनसाम् आनन्दने नन्दने भोगैः उपसेवते।

अर्थ—हे प्रभो! महान् उद्वेग को पैदा करनेवाली जो अहंता साधु जनों को क्लेशित करती है, उस अहङ्कारता से जिसका उत्साह नहीं भङ्ग हुआ ऐसे अर्थात् अहन्ता से रहित मन को जो धन्यात्मा पुरुष आपके चरणों मे अर्पित कर देता है, उस परम तेजस्वी देवता को अलौकिक विलास से सम्पन्न अप्सराएँ देवताओं को आनन्द देनेवाले स्वर्ग के नन्दनवन में अनेक तरह की भोग-सामग्रियों से सेवित करती हैं।

यस्या हन्ति धृतिं विवेकविहितह्रासा विलासाविला
　मुग्धा दृङ् मदिरामदेन विगलद्वाचारुणा चारुणा।
रामा काममहास्त्रमर्पयति मे सा हन्त मोहं तमो
　येनाऽज्ञानमयं मनस्युपरमत्तापप्रथे पप्रथे॥ १०॥

अन्वय—हे नाथ! विवेकविहितह्रासा विलासाविला, विगलद्वाचा चारुणा मदिरामदेन अरुणा यस्याः मुग्धा दृक् धृतिम् हन्ति; हन्त! सा रामा येन(मोहेन)उपरमत्तापप्रथे मनसि अज्ञानमयम् तमः पप्रथे, तम् काममहास्त्रम् मोहम् मे अर्पयति।

अर्थ—हे नाथ! विवेक का ह्रास कर देनेवाली, विलास मे मग्न हुई और वाणी को स्खलित कर देनेवाले-सुन्दर मदिरा के मद से अरुण बनी हुई जिसकी मुग्धा दृष्टि धैर्य को दूर कर देती है, हाय! वह कामिनी मोह से सन्तप्त हुए मन मे अज्ञानमय अन्धकार को फैलानेवाले और कामदेव के महान अस्त्रभूत मोह को मुझे अर्पित करती है अर्थात् मुझे मोहित करती है।

लज्जेऽहं भज दूरमेव रभसादेवं धुता बन्धुता-
　संमूढेन मया यया विधृतयानेतामहंतामहम्।

किं किं श्रीमदमोहितेन विभवस्थेनाऽहितं नाहितं
येनैतां न भजे पुनर्मयि वरं याचे हितं धेहि तम् ॥ ११ ॥

अन्वय—हे विभो! यया (अहंतया) समूढेन मया "अहम् (त्वाम् दृष्ट्वा) लज्जे (अतः त्वम्) रभसात् दूरम् एव भव" एवम् बन्धुता धुता ताम् एताम् अहन्ताम् अहम् विधृतवान् (अस्मि) अतः श्रीमदमोहितेन विभवस्थेन मया किम् किम् अहितम् न आहितम्? हे दयालो! अहम् पुनः येन (वरेण) *एताम् (अहन्ताम्) न भजे, तम् याचे हितम् वरम् मयि धेहि।*

अर्थ—हे विभो! जिस (अहङ्कार) से मूढ होकर मैंने अपने बन्धुओं से "तुम्हें देखकर मुझे लज्जित होना पड़ता है, अतः तुम मुझसे दूर ही रहो!" ऐसा कहकर उनका परित्याग किया, ऐसे दुष्ट अहङ्कार को मैं धारण किये बैठा हूँ, और वैभव के समय लक्ष्मी के मद से मोहित होकर मैंने न मालूम क्या क्या पापाचरण नहीं किया? इसलिए हे प्रभो! अब मैं जिसके प्रसाद से इस दुष्ट अहंता के वश में न प्राप्त हो सकूँ, ऐसा सङ्कट में हितकारी वरदान मुझे दीजिए।

आनीता चरणान्तिकप्रणयितां कामेन का मेनका
कार्यं किं घनभोगसंभृतविधौ सारम्भया रम्भया।
कान्ता मे परमेश्वरे हतविपत्संभावना भावना
चित्ते कापि रतिर्ययाहितहितत्रातायते तायते ॥ १२ ॥

अन्वय—कामेन चरणान्तिकप्रणयिताम् आनीता मेनका मे का (भवति?) तथा घनभोगसंभृतिविधौ सारम्भया रम्भया च मे किम् कार्यम्? (न किंचिदपीत्यर्थः) आहित-हितत्राता काऽपि (अनिर्वाच्या) रतिः आयते चित्ते यया तायते सा हतविपत्संभावना परमेश्वरे भावना मे कान्ता (भवति)।

अर्थ—कामोद्रेक से स्वतः चरणों के समीप में प्राप्त हुई मेनका (अप्सरा) से मुझे क्या प्रयोजन है? और सम्भोग-सामग्री के आरम्भ में तत्पर हुई वह रम्भा भी मुझे प्रिय नहीं लगती। किन्तु

मुझे तो जिससे हमारे विशाल चित्त में अणिमादि सिद्धियों (मोक्ष-सम्पत्तियों) का सञ्चय करनेवाली किसी विलक्षण परमानन्दावाप्ति का सञ्चार होता है, ऐसी जन्म-जरा-मरण-रूपी सङ्कट को मिटानेवाली प्रभु की भक्ति ही अति-प्रिय लगती है।

धत्ते यस्य जटा कपालपटलं भव्या कुलं व्याकुलं
हंसानामिव रुन्धती भगवतीं गङ्गां तरङ्गान्तरम्।
तस्याधाय महेशितुर्नुतिगिरां नव्याकृतिं व्याकृतिं
भक्त्या निश्चलया नृजन्म सकलं संमानयामानया ॥१३॥

अन्वय—यस्य भव्या जटा व्याकुलम् तरङ्गान्तरम् हंसानाम् कुलम् इव, कपालपटलम् रुन्धतीम् भगवतीम् गङ्गाम् धत्ते, तस्य महेशितुः नव्याकृतिम् नुतिगिराम् व्याकृतिम् आधाय, अनया निश्चलया भक्त्या सकलम् नृजन्म (वयम्) समानयामः।

अर्थ—जिसकी भव्य जटा व्याकुल और तरङ्गों से घिरे हुए हंसगणों की भाँति स्वच्छ कपाल-पटल को रोकनेवाली भगवती गङ्गा को धारण करती है, उस महेश्वर की नवीन आकृति को स्तुति-वचनों से व्याकृत करके हम इस निश्चल भक्ति के द्वारा सारे ही मनुष्य जन्म को सम्मानित (सफल) कर रहे हैं।

कंचिच्छ्रीर्वसतेः करोतु विकसच्छोभा जनं भाजनं
कंचिद्वन्दिजनः प्रशंसतु मुदं प्रीत्या गतस्त्यागतः।
मन्येऽहं तु समग्रशोकशमनं संन्यासमन्यासमं
यस्मिन्मृत्युजितं भजामि मनसा वाचेष्टया चेष्टया ॥ १४ ॥

अन्वय—विकसच्छोभा श्रीः कंचित् जनम् वसतेः भाजनम् करोतु तथा त्यागतः प्रीत्या मुदम् गतः वन्दिजनः कंचित् जनम् प्रशंसतु, अहम् तु यस्मिन् मनसा, वाचा, इष्टया चेष्टया च मृत्युजितम् भजामि, तम् समग्रशोक-शमनम् अन्यासमम् संन्यासम् मन्ये।

अर्थ—लोकोत्तर विकासशालिनी लक्ष्मी देवी किसी पुरुष को प्रेम से भजे और अतिशय त्याग एवं प्रीति से हर्ष को प्राप्त हुए बन्दी जन भी किसी पुरुष की प्रशंसा किया करें, मुझे इनसे क्या काम है? मैं तो जिस (सन्यास) में मन, वचन और। चेष्टा से भगवान् श्री मृत्युञ्जय का ही भजन करूँ, ऐसे जन्म-मरण-रूपी समस्त शोक को शान्त कर देनेवाले संन्यास (सर्वसङ्गनिवृत्ति) को ही सर्वश्रेष्ठ समझता हूँ।

रूपं यद्भवतो दधत्परिकरं भौजङ्गमं जङ्गमं
सेवन्ते यदपि श्रिया कृतधियः स्वस्या वरं स्थावरम्।
प्राज्य ज्योतिरिव प्रसह्य तमसां वैकर्तनं कर्तनं
लब्ध्वा तत्प्रतिभा कथं न जनितस्वाभा सतां भासताम्॥१५॥

अन्वय—हे प्रभो! भौजङ्गमम् परिकरम् दधत्, यत् भवत. जङ्गमम् रूपम्, यदपि च श्रिय वरम् स्थावरम् रूपम् स्वस्या कृतधियः सेवन्ते, तत् (उभयमपि) तमसाम् वर्तनम् वैकर्तनम् प्राज्यम् ज्योति इव, प्रसह्य तमसाम् कर्तनम् भवत रूपम् लब्ध्वा, जनितस्वाभा प्रतिभा सताम् कथम् न भासताम्? (अपि तु भासताम्)

अर्थ—हे प्रभो! कुशली लोग आपके वासुकि प्रभृति भुजङ्गों के परिकर को धारण करनेवाले जिस जङ्गमस्वरूप तथा परमोत्तम 'स्थावर'-स्वरूप की उपासना करते हैं, सो गाढ़ अन्धकार को नष्ट करनेवाली सूर्य की अखण्ड ज्योति के समान मोह-महामोह रूपी अन्धकार को हठात् दूर कर देनेवाली आपकी उस दोनों प्रकार की परम ज्योति को प्राप्त करके आत्मप्रभा (आत्मस्वरूप) को प्रकाशित कर देनेवाली प्रतिभा (ज्ञानोदीप्ति) उन्हें क्यों नहीं भासमान होती? अर्थात् अवश्य होती है।

स्तोतु वाञ्छसि संश्रितं मरकतश्यामं गलं मङ्गलं
लब्धुं मानस तत्परं भगवतः सेवासु किं वासुकिम्।

भक्तिश्चेद्भवति स्थितिं मदमरुद्वेगाहते गाहते

तद्वत्प्रासि धृतिं त्वमप्यहिपतिप्रावारसेवारसे ॥ १६ ॥

अन्वय—हे मानस ! (त्वम्) मरकतश्यामम् गलम् श्रितम् भगवतः सेवासु तत्परम् वासुकिम् 'मङ्गलम्' लब्धुम् किम् स्तोतुम् वाञ्छसि ? (काकुः) अये मानस ! मदमरुद्वेगाहते भवति (प्रभोः) भक्तिः स्थितिम् गाहते चेत्, तत् त्वम् अपि अहिपतिप्रावारसेवारसे धृतिम् दधासि ?

अर्थ—अरे ओ मन ! क्या तू श्री सदाशिव के मरकत मणि के समान श्यामल कण्ठ में बैठे प्रभु-सेवा में तत्पर वासुकि सर्प को मङ्गल की प्राप्ति के लिए प्रसन्न करना चाहता है ? अरे भाई मन ! मदरूपी वायु के वेग से मारे हुए तुम्हारे अन्दर यदि प्रभु की भक्ति स्थिर हो जायगी, तो फिर तू अपने आपही प्रभु की सेवा में प्रेम करने लगेगा।

दृष्ट्वा यन्मघवा विहाय गतवानैरावणं रावणं

पश्यन्पाण्डुतया भयादनुकृतश्यामाधवं माधवम् ।

सर्वोऽयं भवतः प्रसादमहिमा हन्ता नवं तानवं

सेवा कस्य न सिद्धये हतवृथासङ्कल्प ते कल्पते ॥ १७ ॥

अन्वय—हे भगवन् ! रावणम् (रणे) दृष्ट्वा भयात् पाण्डुतया अनुकृतश्यामाधवम् माधवम् पश्यन्, मघवा यत् ऐरावणम् विहाय गतवान्, अयम् सर्वः नवम् तानवम् हन्ता भवतः प्रसादमहिमा (अस्ति) हे हतवृथासङ्कल्प ! ते सेवा कस्य न सिद्धये कल्पते ? (अपि तु सर्वस्यापि)

अर्थ—हे भगवन् ! आपके भक्त-प्रवर त्रैलोक्य-विजयी रावण को युद्ध में देख भगवान् श्री विष्णु को भय के मारे चन्द्रमा के समान श्वेत (धूसर) बने हुए देखकर इन्द्र जो अपने ऐरावत हाथी को छोड़कर भाग गया, यह सब महिमा लघुता (दुर्बलता) को दूर करनेवाले] आपके सर्वोत्कृष्ट प्रसाद की ही है। हे असत् संकल्पों को नष्ट करने

वाले सदाशिव ! आपकी सेवा किस किसका कल्याण नहीं करती ? अर्थात् सभी का कल्याण करती है।

तं हत्वा सबलं निशाचरपतिं लङ्कालयं कालय-
न्नार्तिं नाकसदामुपेत्य विभवं वैभीषणं भीषणम् ।
वैदेहीमनघां लभेत स कथं रामो हि तां मोहितां
त्वद्भक्तिं यदि न व्यधास्यत नुतो भ्राजिष्णुना जिष्णुना॥१८॥

अन्वय—हे प्रभो ! भ्राजिष्णुना जिष्णुना नुतः सः रामः, यदि हि त्वद्भक्तिम् न व्यधास्यत, तर्हि नाकसदाम् आर्तिम् कालयन्, लङ्कालयम् तम् निशाचरपतिम् (रावणम्) सबलम् हत्वा, भीषणम् वैभीषणम् विभवम् उपेत्य, अनघाम् मोहिताम् ताम् वैदेहीम् कथम् लभेत ?

अर्थ—हे नाथ ! तेजस्वी इन्द्र से पूजित वह रामभद्रजी यदि आपकी भक्ति (आराधना) न करते, तो फिर समस्त देवताओं के दुःख को दूर करते हुए उस लङ्कापति रावण को सेना सहित मारकर विभीषण से महान् सत्कार पाकर अपनी निर्दोष प्रियतमा श्री वैदेही को कैसे प्राप्त करते ?

लोकं शोकहरं परं प्रति भृशं संदेहिनां देहिनां
माया मोहतमोविमोहितदशामायासदा या सदा ।
तां हन्तुं मम किं करोषि विहितज्ञानोदयां नो दयां
यस्या दास्यमपीह नार्हति घनस्फारा सुधारा सुधा ॥१९॥

अन्वय—या माया मोहतमोविमोहितदशाम् शोकहरम् परम् लोकम् प्रति भृशम् संदेहिनाम् (परलोकोऽस्ति न वेति भृशं संशयवताम्) देहिनाम् सदा आयासदा (भवति) ताम् हन्तुम् विहितज्ञानोदयाम् ताम् दयाम् मम किम् नो करोषि ? घनस्फारा सुधारा सुधा यस्याः (तव दयायाः) दास्यम् अपि इह न अर्हति ।

अर्थ—जो (अनात्म में आत्मभ्रम पैदा करनेवाली) माया मोहरूपी अन्धकार से आवृत ज्ञानदृष्टि वाले और सांसारिक शोक-मोह को हरनेवाले पर-लोक पर अति-संदिग्ध हुए लोगों को, अर्थात् माया से मोहित होकर परलोक के विषय में 'परलोक है या नहीं'—इस प्रकार अत्यन्त अविश्वस्त हुए लोगों को सदा क्लेशित करती है, प्रभो ! उस माया को दूर करने के लिए तत्त्व-ज्ञान का उदय करनेवाली ऐसी दया आप मेरे ऊपर क्यों नहीं करते, कि जिस (आपकी दया) के सामने सुन्दर गाढ़ सुधा की धारा दासी के भी समान नहीं मालूम पड़ती !

दोषाणां सहसा विधातुमुदयं नो सांप्रतं साम्प्रतं
स्वालोकक्षपणं करोतु तिमिरं तन्मादृशां मा दृशाम् ।
ख्यातः पौष्ण इव प्रसह्य कमलोल्लासादयं सादय-
न्नार्ति न प्रकटीकरोति बत कामाशां करः शाङ्करः ॥२०॥

अन्वय—साम्प्रतम् दोषाणाम् उदयम् विधातुम् नो साम्प्रतम् ? (न युक्तम्), तत् तिमिरम् मादृशाम् दृशाम् स्वालोकक्षपणम् मा करोतु ! बत !! अयम् ख्यातः शाङ्करः करः, पौष्णः करः इव, प्रसह्य कमलोल्लासात् (मोक्ष-लक्ष्म्युत्पादनात्) आर्तिम् सादयन् काम् आशाम् न प्रकटीकरोति ? (अपि तु सर्वामपि) ।

अर्थ—ओ ! अब बार-बार जन्म, मरण से पैदा होनेवाले दोषों (क्लेशों) का उदय होने देना उचित नहीं है ! इसलिए अब वह मोहरूपी अन्धकार मेरे समान शिव-भक्ति-रसामृत से आर्द्र अन्तःकरण-वालों के ज्ञान रूपी नेत्रों के प्रकाश को मत नष्ट करे ! क्योंकि अब तो जैसे सूर्यदेव के कर (किरणें) कमलों को विकसित करके लोगों के कष्ट को दूर करते हुए सम्पूर्ण आशाओं को प्रकाशित कर देते हैं, वैसे ही समस्त भुवनों में विख्यात यह भगवान् शङ्कर का कर मोक्षलक्ष्मी को उत्पन्न करके संसार-रूपी मरुस्थल के क्लेशों को दूर करता हुआ हमारी

किन किन आशाओं के नहीं सफल कर रहा है ? अर्थात् हमारी सभी आशाओं को पूर्ण कर रहा है।

शीतस्निग्धं परिमलसुखं घानसारं न सारं
नापि प्रेम्णा कलितललितोद्दामहेलामहेला ।
तस्माज्जित्वा भवमनुदितस्तम्भजेयं भजेयं
भूयो भूयो हर परहितारम्भवन्तं भवन्तम् ॥ २१ ॥

अन्वय—शीतस्निग्धम् घानसारम् परिमलसुखम् न सारम्, प्रेम्णा कलितललितोद्दामहेलामहेला अपि न सारम्; तस्मात् हे हर ! अनुदितस्तम्भजेयम् भवम् जित्वा, परहितारम्भवन्तम् भवन्तम् भूयः भूयः भजेयम् ।

अर्थ—अतीव सुशीतल और कोमल कर्पूर के परिमल में कुछ सार नहीं है, और प्रेम से सुन्दर सुन्दर मनोहर विलासों को धारण करनेवाली प्रियतमा में भी कुछ सार नहीं है। इसलिए, हे संसृति के क्लेशों को हरनेवाले हर ! अब आप ऐसी कृपा कीजिए जिससे मैं निरहङ्कारी संयमी लोगों से पार होने योग्य भव-सागर को जीतकर दीनों के हित करने में परायण आप प्रभु का ही भजन करूँ ।

दृष्टिः स्त्रीणां मम निवसतो हानिशान्ते निशान्ते
चित्तं रुन्धे शिशुमिव मृगं वागुरा भङ्गुराभम् ।
तत्सम्पर्कादहमिह सहे देव मानाऽवमाना-
वार्त्तः प्राप्तः शरणमधुना त्वामुदारं मुदारम् ॥ २२ ॥

अन्वय—हे प्रभो ! हानि शान्ते निशान्ते (गृहे)निवसतः मम चित्तम् स्त्रीणाम् दृष्टिः भगुराभम् शिशुम् मृगम् वागुरा इव रुन्धे, हे देव ! तत्सम्पर्कात् अहम् इह मानावमानौ सहे(अतः)अरम् आर्त्तः सन् अहम् अधुना त्वाम् उदारम् मुदा शरणम् प्राप्तः (अस्मि) ।

अर्थ—हे प्रभो ! अकिंचनता के कारण शान्त हुए गृह में निवास करते हुए मेरे चित्त को स्त्रियों की दृष्टि अति चञ्चल मृग-बालक को

वागुरा (जाल) के समान रोक देती है। हे देव! इसी कारण मैं यहाँ मान और अपमान को सहन करता हूँ, अतः हे प्रभो! मैं अत्यन्त आर्त्त होकर आप अतिशय उदार प्रभु की शरण में आया हूँ।

प्राज्यं राज्यं नृपतिमकरीरत्ननिर्यत्न-निर्य-
द्रश्मिस्रोतःस्नपितचरणं क्रान्त-सामन्तसाम ।
सभ्रूभङ्गं मुनिजनमनःक्षोभिरामाऽभिरामा
वक्त्रं विभ्रत्युपचितरतिर्घस्मरेण स्मरेण ॥ २३ ॥
द्वारि क्षोभः क्षितिधरगुहाभोगजानां गजानां
का वा संख्या प्रकटितविपद्बाधनानां धनानाम् ।
इत्थं लक्ष्मीः कथमिव भजेद्धामहीनं महीनं
स्याच्चेन्नैकस्तव कृतरिपुक्षिप्रसादः प्रसादः ॥ २४ ॥
(युग्मम्)

अन्वय—हे भगवन्! कृतरिपुक्षिप्रसादः तव एकः प्रसादः चेत् न स्यात्, तर्हि—धामहीनम् महीनम्, नृपतिमकरीरत्न निर्यत्ननिर्यद्रश्मिस्रोतः-स्नपितचरणम्, क्रान्तसामन्तसाम प्राज्यम् राज्यम्; घस्मरेण स्मरेण उपचितरतिः (पुनः) मुनिजनमन क्षोभि सभ्रूभङ्गम् वक्त्रम् बिभ्रती अभिरामा रामा च, द्वारि क्षितिधरगुहाभोगजानाम् गजानाम् क्षोभ तथा—प्रकटितविपद्बाधनानाम् धनानाम् का वा संख्या! इत्थम् लक्ष्मीः कथम् इव भजेत्!

अर्थ—हे भगवन्! शत्रुओं का शीघ्र नाश करनेवाला एक आपका प्रसादानुग्रह यदि न होता, तो फिर तेजोविहीन महीपति को—राजाओं के शिरोमुकुटों की रत्न-किरणों के प्रवाह से चरणों को स्नान करानेवाला और सामन्तों को सन्धि को आक्रमित करनेवाला अत्युत्कृष्ट (चक्रवर्ती) राज्य, मन को अतीव क्षोभ पहुँचानेवाले, त्रैलोक्यविजयी काम के बाणों से अत्यन्त मोहित हुई, और मुनिजनों के मन को क्षुभित करनेवाले कुटिल कटाक्षों से युक्त मुख को धारण करती हुई मनोहर

एकोनत्रिंशं स्तोत्रम्

अब यहाँ से 'एकान्तर यमक' नामक चित्र-काव्य के द्वारा उन्तीसवें स्तोत्र का आरम्भ करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं—

उदारवर्णैरथ सङ्गतैरहं मुदाभिधावद्भिरुपोढलक्षणैः ।
पदैरमन्दध्वनिभिर्महेश्वरं प्रभुं प्रपद्ये तुरगोत्तमैरिव ॥ १ ॥

अन्वय—अथ अहम् मुदा उदारवर्णैः सङ्गतैः अभिधावद्भिः उपोढलक्षणैः अमन्दध्वनिभिः पदैः तुरगोत्तमैः इव, महेश्वरम् प्रभुम् प्रपद्ये ।

अर्थ—जैसे कोई पुरुष उदार (श्वेत,पीत आदि) वर्णवाले, रथ से जुड़े हुए, दर्प के मारे बड़े वेग से दौड़नेवाले, सुन्दर लक्षणों (गलेद्रे शरथ-देवमण्यादि चिह्नों) से सुशोभित और बड़े ज़ोर से हिनहिनानेवाले अत्युत्तम (वनायुदेशीय—पारसी) घोड़ों के द्वारा अपने स्वामी की शरण में जाता है, वैसे ही अब मैं उदार (अर्थात् प्रारम्भित ग्रन्थ के वर्णनीय रसानुकूल) वर्णों (अक्षरों)वाले, परस्पर सम्बद्ध अर्थवाले, अभिधा (मुख्य शब्द-व्यापार) से युक्त, लक्षणा[1] (रूढ़ि या प्रयोजन से मुख्य-वाच्यार्थ को छोड़कर गौण--लक्ष्यार्थ को कहनेवाली शब्द-शक्ति) को धारण करनेवाले और अत्युत्तम ध्वनि (व्यङ्ग्य अर्थ)-युक्त पदों से प्रेम-पूर्वक देवाधिदेव श्री महेश्वर की शरण में प्राप्त होता हूँ।

शिवेन देव्या जगृहे करोहित-
स्त्वसन्यदा कुङ्कुमपङ्करोहितः ।
तदास्य योऽर्काग्निनिशाकरोहितः
स्तवः स वः स्यादभयंकरो हितः ॥ २ ॥

---

(१) मुख्यार्थबाधतद्योग-सत्त्वे रूढितः प्रयोजनाद्वा मुख्येऽर्थेऽमुख्योऽर्थो यल्लक्ष्यते सा 'लक्षणा' ।

अन्वय—अहितः अशन् कुङ्कुमपङ्करोहितः देव्याः करः यदा (विवाह-समये) शिवेन जगृहे, तदा अस्य (भगवतः) यः (स्तवः) अर्काग्निनिशाकरोहितः, सः स्तवः वः अभयंकरः हितः (च) स्यात् ।

अर्थ—श्री शङ्कर के कर-कमल पर कङ्कण के समान विराजमान हुए सर्प (वासुकि) से डरता हुआ कुङ्कुम-पङ्क के समान अरुण श्री पार्वतीजी का हस्त-कमल जब विवाह के समय शिवजी ने ग्रहण किया, उस समय कर्म-साक्षी देवता श्री सूर्य, अग्नि और चन्द्रमा ने इस भगवान् सदाशिव का जो गुणानुवाद गाया, वह भगवद्गुणानुवादक स्तोत्र आपका अभय और हितकारक हो ।

अनञ्जनं नेत्रविकासकारणं
　　निरङ्कुशं कर्णकरेणुवारणम् ।
अचन्द्रिकं चित्तचकोरपारणं
　　क्रियाद्व ईशार्चनमार्तिदारणम् ॥ ३ ॥

अन्वय—अनञ्जनम् नेत्रविकासकारणम्, निरङ्कुशम् कर्णकरेणुवारणम्, अचन्द्रिकम् चित्तचकोरपारणम् ईशार्चनम् वः आर्त्तिदारणम् क्रियात् ।

अर्थ—मायारूपी अञ्जन से रहित और ज्ञानरूपी नेत्रों को विकास करनेवाला, अकुश (पराधीनता) से रहित और श्रोत्ररूपी हाथियों को रोकनेवाला एवं चन्द्रमा के प्रकाश से रहित और चित्त-रूपी चकोर को तृप्त करनेवाला 'ईश्वराराधन' आप लोगों के दुःखों का विदारण करे ।*

सुखाकरोति क्रमहृन्न माधव-
　　स्तथामरौ वोपवनेऽपि माधवः ।
यथा शरीरार्धनिरुद्धमाधवः
　　प्रशस्यमानो भगवानुमाधवः ॥ ४ ॥

* कारणाऽभावे कार्योत्पत्तिर्विभावना' (अलङ्कार-सर्वस्व) ।

अन्वय—क्लमहृत् माधवः (वसन्तः) मा तथा न सुखाकरोति, मा मरौ उपवने अपि धवः (सुललितवृक्ष) तथा न सुखाकरोति, यथा शरीरार्धनिरुद्धमाधव. प्रशस्यमानः भगवान् उमाधवः सुखाकरोति।

अर्थ—क्लम (परिश्रम से उत्पन्न हुए खेद) के हरनेवाला वह माधव (वसन्त) मुझे उतना आनन्द नहीं देता और मरुस्थल के उपवन में सुशीतल छाया करनेवाला धव (मनोहर वृक्ष) भी मुझे उतना आनन्द नहीं देता, जितना कि 'हरिहर'-स्वरूप को धारण करके उस शरीर के अर्धभाग मे माधव (विष्णु-स्वरूप) को धारण करनेवाला, स्तूयमान भगवान् श्री उमाधव (भवानीनाथ) आनंद देता है।

दिनान्तरात्र्यागमयोरिवाथवा
सुरस्रवन्तीयमुनौघयोरिव।
उमारमाकामुकयोः समागमः
सिताऽसितस्तापमघं च हन्तु वः ॥ ५ ॥

अन्वय—दिनान्तरात्र्यागमयोः समागम. इव, अथवा सुरस्रवन्तीयमुनौघयो. समागमः इव, उमारमाकामुकयोः सिताऽसित समागम. वः तापम् अघम् च हन्तु।

अर्थ—जैसे दिनान्त और रात्र्यागम का, अथवा श्री गङ्गा और यमुना का सितासित (श्वेत और कृष्ण) समागम लोगों के ताप और पाप का नाश करता है, वैसे ही श्री उमानाथ (शिव) और रमानाथ (विष्णु) का वह सिताऽसित (श्वेत-कृष्ण) समागम आप लोगों के त्रिविध ताप और पाप को दूर करे।

उमाख्यमासाद्य महानियोऽगतः
श्रियं निधिं सौख्यमहानि यो गतः।
करोतु युष्माकमहानि योगतः
शुभान्यसाविद्धमहा नियोगतः ॥ ६ ॥

अन्वय—यः महानिरः अगतः उमाख्यम् प्रियम् निधिम् आसाद्य, अहानि सौख्यम् गतः, असौ इद्धमहाः (प्रभुः) नियोगतः (आज्ञया) योगतः (च) युष्माकम् शुभानि अहानि करोतु ।

अर्थ—जो प्रभु महान्गौरवशाली हिमालय पर्वत के यहाँ से उमा-नामक प्रिय निधि को पाकर अखण्ड सौख्य को प्राप्त हुआ, वह महातेजस्वी शम्भु शुभ आज्ञा देकर अथवा योग (समाधि) द्वारा आपके दिनों (समय) को मङ्गलमय करे।

द्विजाधिपाधिष्ठितशेखरं महा-
भुजं गविन्यस्तभरं समुद्वहन्।
वपुः सदाभङ्गदयासमाश्रितं
तनोतु वः संपदमच्युतः शिवः ॥ ७ ॥

अन्वय—द्विजाधिपाधिष्ठितशेखरम् महाभुजम् गविन्यस्तभरम् सदा अभङ्गदयासमाश्रितम् वपुः समुद्वहन् अच्युतः शिवः वः सम्पदम् तनोतु ।

अर्थ—मस्तक पर चन्द्रमा से विराजित, बड़ी-बड़ी भुजाओं-वाला, वृषभ पर बैठकर चलनेवाला, सदा दीनों का उद्धार करनेवाली अविनाशी दया से समाश्रित शरीर को धारण करता हुआ वह अच्युत (अविनाशी) शिव आप लोगों के वैभव का विस्तार करे।

अथवा—पक्षिराज श्री गरुड़ के कंधे पर बैठा हुआ, शेषनाग पर अपना भार रखनेवाला, सुमनोहर शोभा से सम्पन्न और (कौमो-दकी) गदा से विराजमान हुए दिव्य मङ्गलमय शरीर को धारण करता हुआ वह कल्याणदाता अच्युत भगवान् (विष्णुरूपधारी शिव) आपकी सम्पत्तियों का विस्तार करे।

अघद्रुमध्वंसमहाकरेणवः
सुधासिताः पावककल्करेणवः ।
वसन्ति यस्मिन्नभयङ्करेऽणवः
करोतु शं तेन हरः करेण वः ॥ ८ ॥

अन्वय—यस्मिन् अभयकरे (करे) अघद्रुमध्वंसमहाकरेणवः सुधासिताः अणवः पावककल्करेणवः वसन्ति, तेन करेण हरः वः शम् करोतु।

अर्थ—शरणहीन दीनों को अभयदान देनेवाले जिस करकमल में पापरूपी वृक्षों को नष्ट करनेवाले, सुधा के समान श्वेत भस्म के सूक्ष्म कण सुशोभित होते हैं, उस करुणामय हस्तारविन्द से भगवान् शङ्कर आपका कल्याण करें।

धृतिस्त्वदीयेन सुदर्शनेन मे
भवत्यभेदस्तु हरे किमुच्यते।
परस्परं शङ्करकृष्णयोरिदं
वचः सुखायैकमुखोत्थमस्तु वः ॥ ९ ॥

अन्वय—हे हरे ! त्वदीयेन सुदर्शनेन मे धृतिः (अस्ति) भवति अभेदः तु किम् उच्यते, तथा हे शम्भो ! त्वदीयेन सुदर्शनेन मे धृतिः (अस्ति) भवति हरे अभेदः तु किम् उच्यते, इति शङ्करकृष्णयोः एकमुखोत्थम् परस्परम् इदम् वच वः सुखाय अस्तु।

अर्थ—"हे विष्णो ! आपके सुदर्शन चक्र से मेरी अतीव प्रीति है और आपके साथ अभेदभाव का तो कहना ही क्या है ? तथा हे सदाशिव ! आपके अतिमनोहर सुदर्शन (सुन्दर दर्शन) से मेरा बड़ा ही प्रेम है अतः आप और हमारे अभेद का तो क्या कहना है ?" इस प्रकार भगवान् श्री सदाशिव और विष्णु के (हरिहरात्मक स्वरूप के) एक ही मुख से परस्पर कहा हुआ यह सुमनोहर वचन आपको अखण्ड आनन्द प्रदान करे।

न जन्म यस्याद्रिनिवास दारुणः
स ते ज्वलत्पक्षिण शिखी सदारुणः।
यमं न किं तेन शिरःसदाऽरुण-
स्त्वदाश्रितं किं ग्रसतां स दारुणः॥ १० ॥

अन्वय—हे अद्रिनिवास ! यस्य दारुणः जन्म न (भवति) सः अरुणः शिखी ते अक्षिण सदा ज्वलति, हे प्रभो ! शिरःसदा तेन (अग्निना) त्वम् यमम् किम् न अरुणः ? (नाऽऽवृणो) स दारुणः (यमः) त्वदाश्रितम् माम् किम् ग्रसताम् ?

अर्थ—हे कैलाशवासिन् ! जिसकी उत्पत्ति काष्ठ से नहीं होती वह अरुण अग्नि आपके नेत्र में सदैव प्रज्ज्वलित होता है, सो हे नाथ ! मस्तक पर बैठे हुए उस अग्नि से आप यमराज को क्यों नहीं भस्म कर देते ? प्रभो ! वह दारुण (क्रूर) यम मुझ आपके आश्रित को क्यों ग्रस्त कर रहा है ?

सदा नगोपाहितबन्धुरस्थितिं
स्तुवे पिनाकेन समेधितश्रियम् ।
महर्द्धिकं सोपशमे कृतादरं
हरं हरिं वा तरसा रसादहम् ॥ ११ ॥

अन्वय—अहम् सदा नगोपाहितबन्धुरस्थितिम्, पिनाकेन समेधित श्रियम्, महर्द्धिकम् सोपशमे कृतादरम् हरम्, वा सदानगोपाहितबन्धुरस्थितिम् नाकेन अपि समेधितश्रियम् महर्द्धिक सोपशमे कृतादरम् हरिम्, रसात् तरसा स्तुवे ।

अर्थ—मैं नित्य कैलाश पर्वत में निवास करनेवाले और पिनाक (धनुष) से सुशोभित, अणिमा महिमा आदि अष्ट-सिद्धियों से सम्पन्न एवं सयमी पुरुष पर कृपा करनेवाले भगवान् श्री शङ्कर की, अथवा—अतीव दानी गोपाल बालों के साथ (श्री व्रज में) निवास करनेवाले और स्वर्ग की भी सम्पत्ति को लज्जित कर देनेवाली लक्ष्मी (श्री राधा जी) से सम्पन्न एवं महाऋद्धिशाली कंसासुर को मारनेवाले श्री भगवान् विष्णु की बड़े प्रेम से वन्दना करता हूँ ।

अन्वय—यस्मिन् अभयकरे (करे) अयद् भव्यसमदाक्करेणवः सुधा-सिता. अणवः पावकवल्करेणव वसन्ति, तेन करेण हरः वः शम् करोतु।

अर्थ—शरणहीन दीनों को अभयदान देनेवाले जिस करकमल में पापरूपी वृक्षों को नष्ट करनेवाले, सुधा के समान श्वेत भस्म के सूक्ष्म कण सुशोभित होते हैं, उस करुणामय हस्तारविन्द से भगवान् शङ्कर आपका कल्याण करें।

धृतिस्त्वदीयेन सुदर्शनेन मे
भवत्यभेदस्तु हरे किमुच्यते ।
परस्परं शङ्करकृष्णयोरिदं
वचः सुखायैकमुखोत्थमस्तु वः ॥ ९ ॥

अन्वय—हे हरे ! त्वदीयेन सुदर्शनेन मे धृतिः (अस्ति) भवति अभेद तु किम् उच्यते, तथा हे शम्भो ! त्वदीयेन सुदर्शनेन मे धृतिः (अस्ति) भवति हरे अभेद. तु किम् उच्यते, इति शङ्करकृष्णयो एकमुखोत्थम् परस्परम् इदम् वच वः सुखाय अस्तु।

अर्थ—"हे विष्णो ! आपके सुदर्शन चक्र से मेरी अतीव प्रीति है और आपके साथ अभेदभाव का तो कहना ही क्या है ? तथा हे सदाशिव ! आपके अतिमनोहर सुदर्शन (सुन्दर दर्शन) से मेरा बड़ा ही प्रेम है अत आप और हमारे अभेद का तो क्या कहना है ?" इस प्रकार भगवान् श्री सदाशिव और विष्णु के (हरिहरात्मक स्वरूप के) एक ही मुख से परस्पर कहा हुआ यह सुमनोहर वचन आपको अखण्ड आनन्द प्रदान करें।

न जन्म यस्याद्रिनिवास दारुणः
स ते ज्वलत्यक्ष्णि शिखी सदारुणः ।
यमं न किं तेन शिरःसदाऽरुण-
स्त्वदाश्रितं किं ग्रसतां स दारुणः ॥ १० ॥

अन्वय—हे अद्रिनिवास ! यस्य दारुणः जन्म न (भवति) सः अरुणः शिखी ते अक्ष्णि सदा ज्वलति, हे प्रभो ! शिरःसदा तेन (अग्निना) त्वम् यमम् किम् न अरुणः ? (नाऽऽवृणो.) स दारुणः (यमः) त्वदाश्रितम् माम् किम् ग्रसताम् ?

अर्थ—हे कैलाशवासिन् ! जिसकी उत्पत्ति काष्ठ से नहीं होती वह अरुण अग्नि आपके नेत्र में सदैव प्रज्ज्वलित होता है; सो हे नाथ ! मस्तक पर बैठे हुए उस अग्नि से आप यमराज को क्यों नहीं भस्म कर देते ? प्रभो ! वह दारुण (क्रूर) यम मुझ आपके आश्रित को क्यों ग्रस्त कर रहा है ?

सदा नगोपाहितबन्धुरस्थितिं
स्तुवे पिनाकेन समेधितश्रियम् ।
महर्द्धिकं सोपशमे कृतादरं
हरं हरिं वा तरसा रसादहम् ॥ ११ ॥

अन्वय—अहम् सदा नगोपाहितबन्धुरस्थितिम्, पिनाकेन समेधितश्रियम्, महर्द्धिकम् सोपशमे कृतादरम् हरम्, वा सदानगोपाहितबन्धुरस्थितिम् नाकेन अपि समेधितश्रियम् महर्द्धिक सोपशमे कृतादरम् हरिम्, रसात् तरसा स्तुवे ।

अर्थ—मैं नित्य कैलाश पर्वत में निवास करनेवाले और पिनाक (धनुष) से सुशोभित, अणिमा महिमा आदि अष्ट-सिद्धियों से सम्पन्न एवं संयमी पुरुष पर कृपा करनेवाले भगवान् श्री शङ्कर की, अथवा—अतीव दानी गोपाल बालों के साथ (श्री व्रज में) निवास करनेवाले और स्वर्ग की भी सम्पत्ति को लज्जित कर देनेवाली लक्ष्मी (श्री राधा जी) से सम्पन्न एवं महाऋद्धिशाली कंसासुर को मारनेवाले श्री भगवान विष्णु की बड़े प्रेम से वन्दना करता हूँ ।

मनो भृशं भ्राम्यति बालिशं भवे
जहाति भक्तिं च दिवानिशं भवे।
अतः परं नाम किमस्य शं भवे-
न्निवेदयेत्स्वं यदि कर्म शंभवे ॥ १२ ॥

अन्वय—(इदम्) बालिशम् मन भवे भृशम् भ्राम्यति, भवे (श्री-शिवे) च दिवानिशम् भक्तिम् जहाति, यदि (इद मन) स्वम् कर्म शंभवे निवेदयेत्, अत परम् अस्य किम् नाम शम् भवेत् ?

अर्थ—हाय हाय ! यह मूर्ख मन इन्द्रजाल अथवा गन्धर्व-नगर के समान (अनित्य) भव (संसार) में रात-दिन भटकता फिरता है और भव (शङ्कर) की भक्ति को दिन रात भूलता जाता है। आहा ! यदि यह मूर्ख अपने शुभाशुभ कर्मों को श्री शम्भु के अर्पण (श्रीशिवार्पण) कर देता तो, इससे अधिक इसका और क्या कल्याण होता ?

समुद्रजन्मानमुपाददत्करे सितद्युतिं वक्त्रनिवेशनोचितम्।
रतः सदास्कन्दकदर्थनाहतौ हरो हरिर्वा दुरितं धुनोतु वः॥१३॥

अन्वय—वक्त्रनिवेशनोचितम् असितद्युतिम् समुद्रजन्मानम् (काल-कूटम्) करे उपाददत्, सदा स्कन्दकदर्थनाहतौ रत हर, अथवा वक्त्रनिवे-शनोचितम् सितद्युतिम् समुद्रजन्मानम् (शङ्खम्) करे उपाददत् सदास्कन्दकद-र्थनाहतौ रत हरिः वा, व दुरित धुनोतु।

अर्थ—मुँह में स्थापन करने योग्य, नील कान्तिवाले समुद्रजन्मा कालकूट को कर-कमल में धारण करता हुआ और सदा स्वामी कार्तिकेय के दुःख का निवारण करने में तत्पर हर (श्री शिव), अथवा—मुख-कमल में रखने योग्य, स्वच्छ कान्तिवाले समुद्रजन्मा शङ्ख (पाञ्चजन्य) को कर कमल में धारण करता हुआ सत्पुरुषों के मायावरण से उत्पन्न हुए दुःखों को दूर करने में तत्पर हरि (श्री विष्णु) आपके समस्त पापों को दूर करें।

जिगीषवः क्लेशपरम्पराभवं वनेषु भिक्षाधृतकर्परा भवम् ।
असोढवन्तः कुनृपात्पराभवं भजन्ति सन्तः स्तुतितत्परा भवम्॥१४॥

अन्वय—क्लेशपरम्पराभवम् भवम् जिगीषवः, वनेषु भिक्षाधृतकर्पराः कुनृपात् पराभवम् असोढवन्तः सन्तः स्तुतितत्पराः (सन्तः) भवम् भजन्ति ।

अर्थ—(अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश रूप) क्लेशों की परम्परा से उत्पन्न होनेवाले भव (संसार-सागर) को जीतने की इच्छावाले, भिक्षा करने के लिए फूटे हुए घट के टुकड़े को धारण किये, और दुष्ट राजा के किये पराभव को न सहन करनेवाले महात्मा लोग एकान्त अरण्य मे निवास करते हुए स्तुति में तत्पर होकर अहर्निश भव (श्री शङ्कर) का भजन करते हैं।

कदा दधानो घनशान्तिशोभिनीं
शुभाम्बरालङ्करणोचितां तनुम् ।
भजाम्यहं दृष्टिनिवेशनौचितीं
शशीव तिग्मांशुरिवाऽच्युतस्य ते ॥ १५ ॥

अन्वय—प्रभो ! अहम् घनशान्तिशोभिनीम् शुभाम्बरालङ्करणोचिताम् तनुम् दधानः सन्, शशी इव, तिग्मांशुः इव, ते अच्युतस्य दृष्टिनिवेशनौचितीम् कदा भजामि ?

अर्थ—जैसे घन-शान्ति (मेघों की शान्ति) से शोभित होनेवाले और आकाश के अलङ्कृत करने योग्य शरीर के धारण करते हुए चन्द्रमा और सूर्य श्री अच्युत (विष्णु भगवान्) की दृष्टि मे प्रविष्ट होने की योग्यता के प्राप्त होते हैं; वैसे ही हे प्रभो ! मैं भी घन-शान्ति (अतीव शांति) से सुशोभित और सुन्दर वस्त्र एवं अलंकारों से अलंकृत शरीर के धारण करता हुआ आप अच्युत प्रभु के कृपा-कटाक्ष प्राप्त करने की योग्यता के कब प्राप्त होऊँगा ?

किमाम्रवन्या सुमरालवालया
प्रियाकबर्या किमरालवालया ।
सरःश्रिया किं स-मरालवालया
धृतेशभक्तिर्ह्यमराऽलवाऽलया ॥ १६ ॥

अन्वय—हे अमर! सुमरालवालया आम्रवन्या किम् (भवति) ? तथा अरालवालया प्रियाकबर्या (अपि) किम् ? स-मरालवालया सरःश्रिया (च) किम् (भवति) ? हि (मया) अलवा अलया ईशभक्तिः धृता!

अर्थ—हे प्रभो! बड़े-बड़े आलवालों वाली सुन्दर रसाल आम्र की वनी से मुझे कुछ भी प्रयोजन नहीं! और कुटिल केशोंवाली प्रिया की कबरी (केशपाश) से भी हमें क्या करना है? एवं हंस-बालकों से सुशोभित सरोवर की शोभा से भी हमें क्या प्रयोजन है! अर्थात् कुछ नहीं, क्योंकि अब हमने श्री प्रभु की विशाल अविनाशी भक्ति को धारण कर लिया है। (अतः हमें यह सांसारिक पदार्थ नीरस प्रतीत होते हैं)।

[श्रीशिव-भक्ति-रसामृत से अतीव परितृप्त होकर कवि अब अपना मनोविनोद करते हैं—]

कदाऽनवद्यामतिनिर्मलामहं
महानदीनां सलिलैः प्रसादिभिः ।
वहामि हंसैरुपशोभिताम्बरां
प्रभुप्रसादाच्छरदं यथा तनुम् ॥ १७ ॥

अन्वय—अहम् शरदम् यथा, अनवद्याम्, प्रसादिभिः महानदीनाम् सलिलैः अतिनिर्मलाम्, हंसैः उपशोभिताम्बराम् तनुम् प्रभुप्रसादात् कदा वहामि!

अर्थ—प्रभो! जैसे शरद् ऋतु निर्दोष, गङ्गा आदि महानदियों के स्वच्छ सलिल से अतीव निर्मल एवं हंसों से सुशोभित आकाशवाली होती है; वैसे ही मैं आपके प्रसाद से निर्दोष, अणु, माया तथा कर्म-जन्य मलों से रहित, मन्दाकिनी प्रभृति महानदियों के स्वच्छ सलिल से

अति निर्मल और हंसों के समान शुभ्र वस्त्रों से सुशोभित पवित्र शरीर कब धारण करूँगा ?

प्रभुं प्रपत्तुं स्थलमेहि मालयं
महीधरं मानस वा हिमालयम् ।
रसातले वौपयिकाहिमालयं
श्रयन्तमन्वेषय याहि मा लयम् ॥ १८ ॥

अन्वय—अयि मानस ! (त्वम्) प्रभुम् प्रपत्तुम् मालयम् स्थलम् एहि, वा हिमालयम् महीधरम् एहि वा, रसातले औपयिकाहिम् आलयम् श्रयन्तम् प्रभुम् (श्रीहाटकेश्वरम्) अन्वेषय, (त्वम्, वृथायासेन) लयम् मा याहि ।

अर्थ—अरे भाई मन ! तू प्रभु को मिलने के लिए मलयाचल पर्वत में चला जा, अथवा नगाधिराज श्री हिमालय में चला जा, अथवा पाताल में नागराज के आलय में विराजमान श्री हाटकेश्वर प्रभु की शरण ले, किन्तु भवसागर में निरर्थक भ्रमण करते करते लय (नाश) को मत प्राप्त हो !

निधाय चक्षुर्दहतो मनोभवं
न कामहानिं प्रवितन्वतो दृशा ।
अनष्टमूर्तेर्दधतोऽष्टमूर्तितां
जयन्ति शंभोर्विविधा विभूतयः ॥ १९ ॥

अन्वय—चक्षु निधाय मनोभवम् दहन्, दृशा कामहानिम् न प्रवितन्वत:, अनष्टमूर्तेः अष्टमूर्तिताम् दधतः शम्भोः विविधा विभूतयः जयन्ति ।

अर्थ—तृतीय नेत्र धारण कर काम को भस्म करते हुए (भी) प्रसादमयी दृष्टि से काम (अभिलाष) की हानि न करनेवाले अर्थात् सकल कामनाओं को पूर्ण करनेवाले और अनष्ट-मूर्ति (अविनाशी मूर्ति)

तथा प्रणत लोगों के सन्ताप को दूर करनेवाले द्विजराज (चन्द्रमा) को मस्तक पर धारण करते हो, वह आप ईश्वर हो ! *

विभुं विरिञ्चोऽपि न वेद नाम यं
　　नतस्य दुःखं घनवेदनामयम् ।
निहन्ति तस्यापि भवेदनामयं
　　शुचं भजेन्नाप्यनिवेदनामयम् ॥ २२ ॥
समुद्रजालिङ्गितकण्ठपीठं
　　सदैव सत्याहितसक्तिमच्युतम् ।
अनन्यगा यस्य नवोक्तिमौक्तिकै-
　　रलङ्करोति प्रचुरा सरस्वती ॥ २३ ॥
　　　　　　　　　　(युग्मम्)

अन्वय—नाम, यम् विभुम् विरिञ्चः अपि न वेद, तम् समुद्रजालिङ्गित-कण्ठपीठम् सदैव सत्याहित सक्तिम् अच्युतम् यस्य अनन्यगा प्रचुरा सरस्वती नवोक्तिमौक्तिकैः अलङ्करोति, तस्य नतस्य घनवेदनामयम् दुःखम् (सः विभुः) निहन्ति, तस्य (नतस्य) अनामयम् अपि भवेत् । तथा अयम् (भक्तिनम्रः) अनिवेदनाम् शुचम् (पुनरागमनरूपाम्) अपि न भजेत् ।

अर्थ—श्री ब्रह्माजी भी जिसकी महिमा का पार नहीं पा सके, जो कालकूट को कण्ठ में धारण किये रहता है एवं जो धर्मावतार श्री वृषभ पर सदैव स्नेह रखता है, ऐसे अविनाशी परमेश्वर (श्री सदाशिव) के जिस धन्यात्मा पुरुष की पतिव्रता (प्रभु के सिवा किसी भी पुरुष को

* कवि ने इस श्लेषोक्ति में बड़ा ही चमत्कार भर दिया है। वह कहता है कि चिरकाल तक (पूर्व उत्तर इन) दोनों पक्षों में स्थिति रखनेवाले और विनीत जनों का दुःख दूर करनेवाले द्विजाधिराज (ब्राह्मणवर्य) का जिसने तिरस्कार किया है, वह तो कृष्ण अर्थात् मलिन ही है, और जो आप ऐसे ब्राह्मणशिरोमणि को मस्तक पर धारण करते हो, अर्थात् उसका परम सम्मान करते हो, वह आप ईश्वर—सर्वसमर्थ हो गये हो !

झूठी प्रशंसा न करनेवाली) वाणी नवीन-नवीन स्तुति रूपी मुक्ताहार से अलंकृत करती है, यानी जिसकी वाणी सदा प्रभु की ही स्तुति में तत्पर रहती है, उस भावुक के महाविदनामय दुःख को वह परमात्मा दूर कर देता है और प्रभु की कृपा से उस (भक्त) का परम कल्याण भी हो जाता है, एवं वह प्रभु-सेवक अनिर्वचनीय (पुनरावृत्ति रूप) शोक को फिर कभी भी नहीं प्राप्त होता।

अभीष्टदायी यमधामहोदयाद्-
ध्वनिर्यया श्वेतनृपे महोदया।
धृतिं दिशन्ती नमतामहो दया
क्व सा तवास्मास्वधुना महोदया ॥ २४ ॥

अन्वय—हे विभो ! अहो ! महोदया यया (तव दयया) श्वेतनृपे यम धामहा अभीष्टदायी ध्वनिः (मा भैषी इति ध्वनिः) उदयात्, सा नमताम् धृतिम् दिशन्ती महोदया तव दया, अधुना अस्मासु क्व (गता) ?

अर्थ—आहा ! हे नाथ ! सुप्रकाश को देनेवाली जिस आपकी दया से राजा श्वेत की रक्षा के लिए यमराज के तेज को नष्ट करनेवाली और सकल अभीष्ट को देनेवाली (मत डरना ! मत डरना !! इस प्रकार की) ध्वनि प्रकट हुई थी, वह भावुकों को परम धैर्य वितरण करनेवाली आपकी महा उदार दया इस समय हमारे लिए कहाँ चली गई ?

अयमहं पुरुषोत्तममच्युतं वलिजितं कृतसत्यपरिग्रहम्।
अचलितश्रियमाश्रितनन्दकं धृतसुदर्शनमीश्वरमाश्रये॥ २५ ॥

अन्वय—अयम् अहम् पुरुषोत्तमम् अच्युतम् वलिजितम् कृतसत्यपरिग्रहम् अचलितश्रियम् आश्रितनन्दकम् धृतसुदर्शनम् ईश्वरम् आश्रये।

अर्थ—आहा ! आपका कृपापात्र यह मैं अब पुरुषों में उत्तम, स्वातन्त्र्यशक्ति-सम्पन्न, त्रिपुरासुर आदि बड़े बड़े बलियों को जीतनेवाले, अचल शोभा से सम्पन्न, शरणागतों को आनन्दित करनेवाले और परम

मनोहर स्वरूप धारण करनेवाले भगवान् श्री सदाशिव का आश्रय लेता हूँ।

अथवा—अब मैं राजा बलि को जीतनेवाले, श्री गरुड़-वाहन, अचल लक्ष्मी से विराजित, नन्दक नामक खड्ग और सुदर्शन चक्र को धारण करनेवाले, पुराण-पुरुष श्री विष्णु-रूप शिव का आश्रय लेता हूँ।

वितन्वती भक्तिमतां समानतां
विभर्ति या कल्पलतासमानताम्।
कथं दधन्मूर्तिमिमां समानतां
तव स्तुतिं वच्मि शतं समा न ताम्॥ २६॥

अन्वय—हे विभो! या भक्तिमताम् समानताम् वितन्वती कल्पलता-समानताम् विभर्ति, ताम् तव स्तुतिम् अहम् समानताम् इमाम् मूर्तिम् दधत्, शतम् समाः कथम् न वच्मि?

अर्थ—हे विभो! जो भक्त लोगों को सर्वत्र सम्मानित कराती हुई साक्षात् कल्पलता की समानता को धारण करती है, उस आपकी स्तुति को मैं अतीव विनम्र होकर सौ वर्ष तक क्यों न वर्णित करूँ? [भक्त जनों से 'कवि' प्रार्थना करते हैं—]

इह परशुचितोर्जिताकृति-
द्विजपतिशेखरतां विभर्ति यः।
त्रिजगति गिरिशं सतां हितं
प्रणमतरामतनुं तमच्युतम्॥ २७॥

अन्वय—हे भावुकाः! परशुचितोऽर्जिताकृतिः यः (विभुः) द्विजपति-शेखरताम् विभर्ति, इह त्रिजगति सताम् हितम्, अतनुम् अच्युतम् तं गिरिशम् प्रणमतराम्।

अर्थ—अये भावुको! अतीव स्वच्छ आकृति से विराजमान होकर भी जो प्रभु मस्तक पर चन्द्रमा को धारण करता है, उस त्रैलोक्य-

का उद्धार करनेवाले, अमूर्तिमान्, अविनाशी श्री कैलासवासी प्रभु को सदैव प्रणाम करो।

अथवा—जो महान् परशु से विराजमान होकर भी श्रेष्ठ ब्राह्मणभाव को धारण करता है, उस स्तुति करनेवालों का हित करनेवाले श्री परशुराम-मूर्ति-धारी विष्णु को प्रणाम करो।

यमं ययारब्धमहामहाऽनयः क्षयं दृशा यस्य स शर्महाऽनयः ।
ददासि चेत्तामुदितो महानयः क्षताश्च विघ्नाः कृतकामहानयः ॥२८॥

अन्वय—हे आरब्धमहामह ! यस्य स अनयः शर्महा (भवति) तम् यमम् यया दृशा (त्वम्) क्षयम् अनय. (नीतवानसि) ताम् (दृशम्) चेत् (मादृशाय कृपापात्राय) ददासि, तर्हि महान् अयः (शुभावहो विधिः) उदितः, कृतकामहानयः विघ्नाः च क्षताः।

अर्थ—भवसागर के भय से भक्तों का उद्धार करके महान् उत्सव को आरम्भ करनेवाले हे सदाशिव ! जिसकी वह (सारे ही जगत् का संहार रूप) अनीति कल्याण को नाश कर डालती है, उस महा भयङ्कर यमराज को आपने जिस दृष्टि से भस्म को प्राप्त किया था, उस अपनी कृपा-दृष्टि को आप यदि मुझ सरीखे अनाथ कृपापात्रों पर डालें, तब तो अहा ! हम लोगों का महान् भाग्य उदय हो गया है और उत्तम अभिलाषाओं को नष्ट करनेवाले (जरा-मरण रूपी) उपद्रव भी नाश हो चुके हैं।

अनल-संभृतकान्ति दधत्सदा
रुचिरमारचितास्पदमीक्षणम् ।
सुमतये विधुरोपकृतिप्रियो
भवतु वो भगवान् भगवानिव ॥ २९ ॥

अन्वय—अनलसंभृतकान्ति सदारुचिरमारचितास्पदम् ईक्षणम् दधत् विधुरोपकृतिप्रियः भगवान् इव (श्रीबुद्ध इव) सदा अनलसंभृतकान्ति रुचिर-मारचितास्पदम् ईक्षणम् दधत् विधुरोपकृतिप्रियः भगवान् वः सुमतये भवतु।

अर्थ—सदैव ध्यान में निमग्न होने के कारण आलस्यरहित, सदैव अनुपम शोभावती श्री से आश्रित नेत्रोंवाले और दीनों पर उपकार करनेवाले भगवान् श्री बुद्धदेव के समान, सदैव अग्नि से उज्ज्वलित-कान्ति वाले और मनोहर कामदेव को भस्म करनेवाले नेत्र को धारण करनेवाले एवं त्रिपुरासुर को दग्ध करते समय श्रीविष्णु को बाण बनानेवाले भगवान् सदाशिव आप लोगों को भक्तिरूपी सुधा के रस में अनुराग रखनेवाली सुन्दर मति प्रदान करें।

न जातु तज्ज्ञाः कृतिनोऽवहन्त या-
मधोगतौ कारणमेव हन्त या।
त्वयि प्रसन्ने सुमतावहंतया
न यामि दुःखं नरकावह तया ॥ ३० ॥

अन्वय—हे प्रभो ! तज्ज्ञाः कृतिनः याम् (अहताम्) जातु न अवहन्त, या (अहता) अधोगतौ एव कारणम् (भवति) हे स्वामिन् ! त्वयि सुमतौ प्रसन्ने सति (अहम्) तया अहन्तया नरकावहम् दुःखम् न यामि।

अर्थ—हे प्रभो ! पारमार्थिक तत्त्व को जाननेवाले विद्वान् लोग जिस (अहता) को कभी भी नहीं धारण करते, हाय ! जो (अहंकार) प्राणी की अधोगति का मूल कारण है, हे नाथ ! अशरणों को शरण दान देनेवाले आप कृपालु के प्रसन्न हो जाने पर मैं उस अहता से नरक में ले जानेवाले दारुण दुःख को कदापि नहीं प्राप्त होऊँगा।

प्रियां मुखे यो धृतपञ्चमस्वरां
गिरं वहन्तीममृतस्य सोदराम्।
विशेषविश्रान्तरुचिर्विभर्ति मां
वपुष्यसौ पुष्यतु वः शिवोऽच्युतः ॥ ३१ ॥

अन्वय—विशेषविश्रान्तरुचिः यः अमृतस्य सोदराम् गिरम् वहन्तीम्, मुखे धृतपञ्चमस्वराम् माम् (उमा) प्रियाम् वपुषि बिभर्ति, असौ अच्युतः शिवः वः पुष्यतु।

अर्थ—अतीव सुमनोहर कान्तिवाला जो प्रभु साक्षात् अमृत की सहोदर (मधुर) वाणीवाली एवं आरम्भ में पञ्चम स्वर अर्थात् 'उ'कार को धारण करनेवाली 'मा' इस वर्ण की आकृति को अर्थात् 'उ'के सहित 'मा' = उमा पद वाच्य प्रियतमा श्री पार्वती को वामाङ्ग में धारण करता है, वह कारणाऽतीत सदाशिव आपको अतीव पुष्ट करे ।

अथवा—'वि = ' गरुड़, और 'शेष = ' शेषनाग पर अनुराग रखनेवाला जो प्रभु अमृत के समान मधुर वाणी को बोलनेवाली, और मुख में पञ्चम (नामक) स्वर को धारण करनेवाली प्रिया श्री लक्ष्मी जी को शरीर पर धारण करता है, वह कल्याणदायी अच्युत-नारायण आपको अतीव पुष्ट करे ।

नुतिर्मयेयं भजतां हिताय ते
कृताऽनया शर्म सतां हि तायते ।
मनस्यपि ग्लानिरपोहिता यते
धृता यदेषा श्रुतिसंहितायते ॥ ३२ ॥

अन्वय—हे नाथ ! मया इयम् तव स्तुतिः भजताम् हिताय कृता, हि अनया सताम् शर्म तायते, आयते (विस्तीर्णे) यते (सयते) वा मनसि ग्लानिः अपि अपोहिता, यत् एषा धृता (सती) श्रुतिसंहितायते ।

अर्थ—हे नाथ ! मैंने सहृदय जनों के हित के लिए यह आपकी स्तुति की है, क्योंकि इस (मेरी स्तुति) से सहृदयों का कल्याण विशालता को प्राप्त होता है, और विशाल अथवा संयमित चित्त की ग्लानि भी दूर हो जाती है, क्योंकि यह मेरी स्तुति मन में धारण करने पर श्रुति (वेद) की संहिता के समान हित आचरण करने लगती है ।

अमेयमहिमा हिमाद्रितनयानयात्तहृदयो दयोर्जितमतिः ।
विभुर्भवरुजं रुजन्नविकलं कलङ्करहितं हितं दिशतु वः ॥३३॥

अन्वय—अमेयमहिमा हिमाद्रितनयानयात्तहृदयः दयोर्जितमतिः विभुः भवरुजम् रुजन्, अविकलम् कलङ्करहितम् हितम् व दिशतु ।

अर्थ—जिसकी महिमा अतर्क्य है, और गिरिजाजी ने जिन्हें अतीव प्रेम से अपने वश में किया है, वह अतिशय करुणार्द्र-चित्तवाला सर्वव्यापी प्रभु संसार के रोग को समूल नष्ट करता हुआ आप लोगों को अखण्ड निष्कलङ्क कल्याण प्रदान करे।

उदारकरुणोऽरुणोर्जितमहा
महाहिवलयो लयोज्झितवपुः।
अघौघशमनो मनोधृतमुदा-
मुदात्तविभवो भवो भवतु वः॥ २४॥

अन्वय—उदारकरुणः अरुणोर्जितमहाः महाहिवलयः लयोज्झितवपुः उदात्तविभवः भवः मनोधृतमुदाम् वः (युष्माकम्) अघौघशमनः भवतु।

अर्थ—अतीव उदार करुणा वाला, सूर्य की तरह महान् तेजोमय, नागराज श्री वासुकि को हाथों का कङ्कण बनानेवाला, अविनाशी और परम ऐश्वर्यशाली परमेश्वर आपके समस्त पातकों को दूर करें।

एकः पादोदकमधिशिरः श्लाघ्यमन्यस्य धत्ते
चक्रे पूजां नयनकमलेनाऽपरस्य द्वितीयः।
इत्यन्योन्यं प्रकृतिमहतामन्तरज्ञौ गुणानां
हर्षोत्कर्षं कमपि कुरुतां कामकंसद्विषौ वः॥२५॥

अन्वय—एकः (श्रीशम्भुः) अन्यस्य (श्रीविष्णोः) श्लाघ्यम् पादोदकम् अधिशिरः धत्ते, द्वितीयः (श्रीविष्णुः) अपरस्य (श्रीशम्भोः) नयन-कमलेन पूजाम् चक्रे, इति अन्योन्यम् प्रकृतिमहताम् गुणानाम् अन्तरज्ञौ कामकंसद्विषौ वः कमपि हर्षोत्कर्षम् कुरुताम्।

अर्थ—एक (श्री शंकरजी) तो दूसरे (श्री विष्णुजी) के श्लाघ्य चरणोदक (चरण से निकली हुई गङ्गा) को अपने मस्तक पर धारण करते हैं, और दूसरे (श्री विष्णुजी) उनको (श्री शंकरजी को)

अपने नेत्र-कमल से पूजते हैं, * इस प्रकार परस्पर एक दूसरे के स्वाभाविक महान् गुण-गणों की महिमा के जाननेवाले भगवान् श्री शङ्कर और विष्णु दोनों ही देव आप लोगों को किसी विलक्षण (अनिर्वचनीय) हर्ष-प्रवाह में मग्न करें।

यस्मिन्नद्रिसमुद्रजावहनयोरुत्सृज्य नैसर्गिकं
वैरं केसरि-कुञ्जरप्रवरयोः सौहार्दहृद्या स्थितिः।
यस्मिन्नप्यहिराजपन्नगभुजौ निर्व्याजमैत्रीयुजौ
निष्प्रत्यूहमसौ महापुरुषयोः संधिर्निबध्नातु वः ॥३६॥

अन्वय—यस्मिन् (महापुरुषसंधौ) अद्रिसमुद्रजावहनयोः केसरि-कुञ्जर-प्रवरयोः नैसर्गिकम् वैरम् उत्सृज्य, सौहार्दहृद्या स्थितिः (भवति) यस्मिन् अहिराजपन्नगभुजौ अपि निर्व्याजमैत्रीयुजौ (भवतः) असौ महापुरुषयोः (श्री शम्भु-नारायणयोः) सन्धिः वः निष्प्रत्यूहम् निबध्नातु।

अर्थ—जिस (महापुरुषों की सन्धि) में कैलाश और क्षीर-सागर की कन्याओं (श्री पार्वती और लक्ष्मी जी) के वाहनों (सिंह और गजेन्द्र) के आपस में स्वाभाविक वैरभाव दूर होकर प्रेम से अतीव सुमनोहर स्थिति हो जाती है, तथा जिस (मिलन) में नागराज (श्री वासुकि) और गरुड़, ये दोनो भी परस्पर निष्कपट मैत्री को धारण करते हैं, वह दोनो महापुरुषों का, अर्थात् भगवान् श्रीशङ्कर और नारायण का पारस्परिक सम्मिलन आप लोगों के कल्याण में निर्विघ्न करे।

इति श्रीप्रेममकरन्दसमेत काश्मीरक महाकवि श्रीमज्जगद्धरभट्ट-विरचिते
भगवतो महेश्वरस्य 'स्तुति-कुसुमाञ्जलौ' एकान्तरयमक-
स्तोत्रमेकोनत्रिंशम्।

---

* हरिरते साहस्रं कमलबलिमाधाय पदयो-
र्यदेकोने तस्मिन्निजमुदहरन्नेत्र-कमलम्।

त्रिंशं स्तोत्रं

अथ यहाँ से 'महायमक' नामक तीसवें स्तोत्र को प्रारम्भ करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं:--

शारदीमिव नदीं प्रसादिनी-
　　मुच्चकैरवसरोजराजिताम् ।
स्तोतुमेष मम मूर्तिमैश्वरी-
　　मुच्चकैरवसरोऽजराजिताम् ॥ १ ॥

अन्वय—प्रसादिनीम् उच्च-कैरव-सरोज-राजिताम् शारदीम् नदीम् इव, प्रसादिनीम् अजराजिताम् ऐश्वरीम् मूर्तिम् स्तोतुम् मम एषः उच्चकैः (महान्) अवसरः (अस्ति)।

अर्थ--श्री अगस्त्य के उदय होने पर जिसका जल अतीव निर्मल हो गया हो ऐसी एवं ऊँचे ऊँचे श्वेत और रक्त कमलों से सुशोभित हुई, शरत्काल की नदी के समान अतीव-प्रसन्न, और जरा-मरण-रूप व्याधि से रहित, ईश्वरीय मूर्ति की स्तुति करने के लिए मेरा यही अति उत्तम समय है।

अर्थात्--अभी जब तक यह शरीर स्वस्थ है, तभी तक प्रभु को प्रसन्न करने का अच्छा मौका है, इसी लिए तो कहा गया है--

यावत्पश्यसि पन्थानं यावत्तौ चरणौ स्थितौ ।
यावन्न हीयते कायस्तावदात्महितं कुरु ॥

अर्थात्--अरे प्राणी ! जब तक तुझे रास्ता (ठीक) सूझता है, जब तक तेरे पैर स्थिर रह सकते हैं और जब तक तेरा शरीर क्षीण नहीं होता, तब तक तू अपना उद्धार कर ले ! क्योंकि पीछे फिर क्या हो सकता है ?

रोहिणीरमणखण्डमण्डनं नन्दिनन्दिनमनं दिनं दिनम् ।
नौमि बिभ्रतमुपोढकालिकासङ्गमं गलमसङ्गमङ्गलम् ॥ २ ॥

अन्वय—नन्दिनन्दिनमनम्, उपोढकालिकासंगमम् असङ्गमङ्गलम् गलम् बिभ्रतम्, रोहिणीरमणखण्डमण्डनम् (विभुम्) अहम् दिनम् दिनम् नौमि ।

अर्थ—नन्दी गण के नमन को देख अतीव आनन्दित होनेवाले, और कालकूट के पान से उत्पन्न हुई कालिमा से मनोहर मङ्गलमय कण्ठ को धारण करनेवाले प्रभु श्रीचन्द्रार्धमौलि को मैं प्रतिदिन प्रणाम करता हूँ ।

नौमि भक्तजनकण्ठनिःसर-
न्नादरञ्जितमकालकामदम् ।
कालकामदमनादरं जित-
क्लेशमीशममृतांशुशेखरम् ॥ ३ ॥

अन्वय—(अहम्) भक्तजनकण्ठनिःसरन्नादरञ्जितम् अकालकामदम् कालकामदमनादरम् जितक्लेशम् अमृतांशुशेखरम् ईशम् नौमि ।

अर्थ—भक्त जनों के कण्ठ से निकले हुए आर्त-नाद—हे प्रभो 'अशरण मां पाहि' इस प्रकार के करुणाजनक शब्द को सुनकर अतीव प्रसन्न होनेवाले, विना समय पर भी, अर्थात् लोगों के भाग्य में न होने पर भी, उनके मनोभिलाषों को पूर्ण कर देनेवाले, अथवा नहीं देने लायक समय में भी, शरणागतों को यथेष्ट वर प्रदान करनेवाले, काल और काम को दमन करनेवाले, मायानिर्मित क्लेशों को दूर कर देनेवाले भगवान् श्री चन्द्रशेखर को मैं प्रणाम करता हूँ ।

भ्राम्यतु द्रविणतृष्णया भृशं
मानसं सदिनमानसंसदि ।

त्वस्स्तवामृतमृते तु दुस्तरे
बन्धुरध्वनि न बन्धुरध्वनि ॥ ४ ॥

अन्वय—हे प्रभो ! (इदम्) मानसम् द्रविणतृष्णया सदिनमानसदसद्भराम् भ्राम्यतु, दुस्तरे अध्वनि तु बन्धुरध्वनि त्वत्स्तवामृतम् ऋते (कोपि) बन्धुः न (भवति) ।

अर्थ—हे नाथ ! यह मूर्ख मन धन के लालच से अतीव सम्मान देनेवाली राजाओ की सभा मे भले ही (खूब) घूमता रहे, परन्तु इस अत्यन्त दुस्तर मार्ग (भव-सागर) मे इसे आश्वासन देनेवाला एक आपकी स्तुति रूप अमृत के सिवाय इसका दूसरा बान्धव और कोई भी नही है ।

साधु नाथ नुतिरीप्सया मया
या मयार्चित कृतात्र साधुना ।
सा धुनातु विपदं भवामया-
यामयापनलसद्रसाऽधुना ॥ ५ ॥

अन्वय—हे नाथ ! हे मयार्चित ! अधुना मया साधुना अत्र ईप्सया या साधु नुतिः कृता, सा भवामयायामयापनलसद्रसा(मत्कृता स्तुतिः)विपदम् धुनातु ।

अर्थ—हे नाथ, हे मय (विश्वकर्मा के पुत्र) से पूजित प्रभो ! मैंने जो बड़ी उत्कण्ठा से यह आपकी अति सुन्दर स्तुति की, सो संसार-रूपी महाव्याधि को मिटानेवाली वह (मेरी) स्तुति हमारी समस्त आपत्तियो को दूर करे ।

न मेऽभिभूतस्य पिता न माता
न वा सनाभिर्धनवासनाभिः ।
अरिस्तु दम्भे सुहृदा वियुक्तं
समाधिना मानसमाधिनामा ॥ ६ ॥

अन्वय—हे प्रभो! धनवासनाभिः अभिभूतस्य मे मानसम् पिता च (रुन्धे) न (च) माता, न वा बान्धवः, समाधिना सुहृदा वियुक्तम् आधि-नामा अरिः तु रुन्धे।

अर्थ—हे प्रभो! धन की वासना के वशीभूत मेरे मन को पिता, माता अथवा बान्धव ये कोई भी नहीं समझा सकते; किन्तु समाधि-रूपी बान्धव से बिछुडे हुए इस (मेरे मन) को इस दुष्ट आधि नामक शत्रु ने रोक रक्खा है।

दर्पकान्तक विराजमानयाऽदर्पकान्त कविराजमानया।
त्वत्प्रसादविधिलब्धया धिया साधवो दधति वैबुधीं धुरम् ॥७॥

अन्वय—हे दर्पकान्तक! साधवः त्वत्प्रसादविधिलब्धया विराजमानया अदर्पकान्तकविराजमानया धिया वैबुधीम् धुरम् दधति।

अर्थ—हे काम-शत्रो! साधु लोग आपके प्रसाद से प्राप्त हुई, परम सुन्दर, अनहङ्कारी महाकवियों की माननीय बुद्धि के द्वारा प्रकाण्ड विद्वत्ता अथवा देव-भाव को धारण करते हैं।

येन शीतकरखण्डशेखर
त्वत्प्रसादवशतः करोत्करः।
कोऽपि तामरसभासनोऽर्जितः
केऽपिताऽमरसभासनोर्जित ॥ ८ ॥

रविरलङ्कुरुते नवरञ्जनं
स किल यत्तव दक्षिणमीक्षणम्।
इममपास्य तमः सहजं शनै-
रनिरलं कुरु तेन वरं जनम् ॥ ९ ॥

(युग्मम्)

अन्वय—हे शीतकरखण्डशेखर! येन (रविणा) त्वत्प्रसादवशतः तामरसभासनः, केऽपिताऽमरसभासनोर्जितः केऽपि (अनन्यसामान्यः) करोत्करः

अर्जितः, सः रविः किल नवरञ्जनम् यत् तव दक्षिणम् ईक्षणम् अलङ्करुते, तेन (दक्षिणेन, ईक्षणेन), अविरलम् सहजम् तमः अपास्य, इमम् जनम् शनैः वरम् कुरु।

अर्थ—हे चन्द्रार्धमौले ! जिस (सूर्यदेव) ने आपके प्रसाद से कमलों को प्रकाशित करनेवाला, इन्द्र को कुपित[1] कर देनेवाला बलवान्—एक विलक्षण ही किरणों का प्रवाह प्राप्त किया, वह सूर्यदेव आपके जिस नवीन—सुन्दर राग (कज्जल) से रञ्जित दक्षिण नेत्र को सुशोभित करता है, उस नेत्र से हे नाथ ! मेरे ऊपर अवलोकन (कृपा-कटाक्ष) करके मेरे स्वाभाविक अज्ञान-रूपी अन्धकार को हटाकर मुझे सन्मार्ग पर ले जाइए।

महतामतामसमहावपुषं तव भक्तिमर्थितवतां भगवन् !
महतामतामसमहावपुष प्रथयन्ति कीर्तिमिह सिद्धगणाः ॥१०॥

अन्वय—भगवन् ! इह महतामताम् असमहावपुषम् अतामसमहावपुषम् तव भक्तिम् अर्थितवताम् महताम् कीर्तिम् सिद्धगणाः प्रथयन्ति।

अर्थ—हे भगवन् ! इस संसार में जो पुण्यात्मा पुरुष अहर्निश महान् उत्सवों को पैदा करनेवाली, और असाधारण (अति विलक्षण) हाव-भावों (प्रणाम, अर्चन, स्तुति आदि उत्तम चेष्टाओं) की वृद्धि करनेवाली, तथा अतीव सुपवित्र स्वरूपवती आपकी भक्ति का आश्रय लेते हैं, उन महात्माओं की कीर्ति को सिद्ध-गण समस्त भुवन में विख्यात करते हैं।

अध्यास्यते शमजुषा भवतः प्रसादा-
दामोदराजितरुचारु चिरं जनेन।
दामोदराजितरुचा रुचिरञ्जनेन
कीर्णं तृणेन मृदुना वनपार्वतेन ॥ ११ ॥

---

(१) देव-सभा में बैठे इन्द्र को सूर्य का उदय तेज अतीव दुःसह होता है, इसी अभिप्राय से कुपित करना कहा गया है।

अन्वय—हे भगवन् ! भवतः प्रसादात् शमजुषा जनेन, चिरम् आमोदराजितरुचाय, दामोदराऽजितरुचा रुचिरञ्जनेन आर्तवेन (ऋतुसंभवेन) मृदुना तृणेन कीर्णम् वनम् अध्यास्यते।

अर्थ—भगवन् ! आप दयालु के अनुग्रह से अतीव शान्ति को प्राप्त हुए भक्त जन चिर काल तक अतीव सुमनोहर सुगन्धित वृक्षों से सुशोभित, साक्षात् श्रीकृष्णजी की कान्ति के समान अर्थात् (हरे हरे) और अनुराग (प्रीति) के बढ़ानेवाले यथाकालोचित सुकोमल तृणों से भरे हुए वन में निवास करते हैं।

तव सवहरिणं व्रती महर्षिं
यमकृत चापलता नवासमाधिम् ।
पुनरपि दृगलम्भयत्तवैनं
यमकृतचापलतानवा समाधिम् ॥ १२ ॥

अन्वय—हे भगवन् ! तव चापलता सवहरिणम् व्रती यम् महर्षिम् (दक्षम्) नवाऽसमाधिम् अकृत, (एतत्तु अत्यद्भुतम्—) यमकृतचापलतानवा (या) तव दृक् एनम् (दक्षप्रजापतिम्) यत् पुनः अपि समाधिम् अलम्भयत् ।

अर्थ—हे भगवन् ! आपकी चाप-लता (धनुष) ने दक्ष के 'यज्ञ-मृग' का शिरश्छेदन करते हुए महर्षि (दक्ष प्रजापति) को नूतन व्यामोह (व्यथा) से खिन्न किया और फिर (यह तो अत्यन्त ही आश्चर्य है कि—) यमराज की चपलता को दूर करनेवाली आपकी करुणामयी दृष्टि लता ने फिर उसे समाधि (भुक्ति-मुक्ति निमित्त योग) को प्राप्त कर दिया। [इसी से आपकी अवन्ध्य कोप-प्रसादता (अपार क्रोध पर भी आशुतोषता) प्रकट होता है ।]

सभाजनेऽनल्परतेर्नृपस्य त्वद्भक्तिभाजः प्रसभाजनेन ।
सभा जनेन प्रगुणेन पूर्णा विभाति निःश्रेयसभाजनेन ॥१३॥

अन्वय—प्रभो ! त्वद्भक्तिभाजः सभाजने अनल्परतेः नृपस्य सभा, प्रसभाजनेन निःश्रेयसभाजनेन प्रगुणेन जनेन पूर्णा विभाति ।

अर्थ—हे प्रभो ! आपके भक्तजनों में अतिशय प्रीति रखनेवाले राजा की सभा महा तेजस्वी और कल्याण (मोक्षलक्ष्मी) के पात्र, एवं उत्तमोत्तम गुणवाले लोगों से परिपूर्ण होकर अतीव शोभा को प्राप्त होती है।

अनन्तराऽयन्त्रितवाग्भवस्त्वां
गृणाति यो नित्यमनन्तरायम् ।
अनन्तरायं स्वयमेत्य लक्ष्मी-
र्निषेवते तं समनन्तरायम् ॥ १४ ॥

अन्वय—हे विभो ! अनन्तरायन्त्रितवाग्भवः यः त्वाम् नित्यम् अनन्तरायम् गृणाति, तम् अनन्तरायम् समनन्तराऽयम् लक्ष्मीः स्वयम् एत्य निषेवते।

अर्थ—भगवन् ! जो धन्यात्मा अपने अनन्य अमोघ वाग्वैभव (वाक् रचना) से सदैव एक आपका ही स्तवन किया करता है, उस अक्षयलक्ष्मीवान् और आसन्नभाग्योदयशाली पुरुष को लक्ष्मी स्वयं आकर सेवित करती है।

सहो मयाद्यैरपि यस्य दुर्धरं
यमः स धर्तुं हृदि दुःसहो मया ।
सहोमयाऽभ्येत्य भज प्रसन्नया
दृशा कृतानङ्गभुजांसहोमया ॥ १५ ॥

अन्वय—हे भगवन् ! मयाद्यैः अपि यस्य सहः दुर्धरम्, सः यमः मया हृदि धर्तुम् दुःसहः, (अतः, त्वम्) उमया सहः अभ्येत्य, कृतानङ्गभुजांसहोमया प्रसन्नया दृशा (माम्) भज।

अर्थ—हे भगवन् ! जगन्नगरनिर्माण करने में अति प्रवीण मय (विश्वकर्मा के पुत्र) आदि महातेजस्वी महर्षि लोग भी जिस (यम) के बल को नहीं रोक सकते, उस महाभयंकर यमराज के भय को मैं अपने हृदय में नहीं धारण कर सकता; इसलिए हे दयासागर !

अब आप श्री उमा के सहित शीघ्र आकर कामदेव के भस्म करनेवाली अपनी प्रसन्न दृष्टि से मुझे देखिए।

कले वरं दातुमुदीरितेऽस्ति या
गुधा सुवाक्ये तव निष्कले वरम्।
कलेव रङ्कुङ्कतनोरसौ कदा
ममेदमाप्यायते कलेवरम्॥ १६॥

अन्वय—प्रभो ! (आश्रितजनस्य) कले (=करे रलयोरैक्यात्) वरम् (उत्कृष्टम्) वरम् दातुम् उदीरिते तव निष्कले सुवाक्ये या सुधा अस्ति, असौ सुधा रङ्कुङ्कतनोः कला इव, इदम् मम कलेवरम् कदा आप्याययते ?

अर्थ—हे नाथ ! शरणागत जनों के हाथ में उत्कृष्ट वरदान देने के लिए उच्चारण किये हुए आपके निष्कपट और सुमधुर वाक्य में जो सुधा रहती है, वह सुधा चन्द्रमा की कला के समान, मुझ अनाथ के इस कलेवर (शरीर) को कब तृप्त करेगी ?

सदानवारिद्विरदा वरूथिनी
हरेरिव ध्वस्तसहिंसदानवा।
सदा नवाराद्धशिवा शिवाप्तये
न कस्य गीर्भक्तिविकासदा नवा॥ १७॥

अन्वय—सदा नवाराद्धशिवा भक्तिविकासदा ध्वस्तसहिंसदानवा नवा गी, हरेः सदानवारिद्विरदा वरूथिनी इव, कस्य शिवाप्तये न (भवति, अपि तु सर्वस्यापि)।

अर्थ—नित्य नवीन-नवीन स्तुतियों से भगवान् शिव की आराधना करनेवाली, भक्ति को प्रफुल्लित करनेवाली और हिंसक दानवों का विध्वंसन करनेवाली नवीन वाणी, मद-जल को टपकानेवाले हस्तियों से युक्त भगवान् श्रीविष्णु की सेना के समान किस किस का कल्याण नहीं करती ? अर्थात् सभी का कल्याण करती है।

घनैरहंताकृतलङ्घनैरहं
महारिभिर्निर्मलशर्महारिभिः ।
निराकृतौजा धृतहानिराकृतौ
न तेऽवलेपावसरो नतेऽवले ॥ १८ ॥

अन्वय—हे भगवन् ! अहम् घनैः अहंताकृतलङ्घनैः, निर्मलशर्म-हारिभिः महारिभिः निराकृतौजा, आकृतौ धृतहानिः (अस्मि, अतः) हे विभो ! नते अबले (मयि) ते अवलेपावसरः न (अस्ति) ।

अर्थ—भगवन् ! अहंकार के अत्यन्त प्रबल तिरस्कारी और निर्मल शान्ति-सुख (विवेक) को हरनेवाले काम-क्रोधादि महावैरियों ने मेरे बल को नष्ट करके मेरा शरीर क्षीण कर दिया है, इसलिए हे नाथ ! मुझ निर्बल भक्त का अपमान करना (मुझ दीन पर विमुख होना) आप महाकृपालु प्रभु का कर्त्तव्य नहीं है ।

मनस्यदोषेऽप्यतिदौर्मनस्यदो
महारयः पन्नगभीमहार यः ।
तमन्तकर्म्मैकनिमित्तमन्तकं
नयाशु भङ्गं हतदुर्नयाशुभम् ॥ १९ ॥

अन्वय—हे पन्नगभीमहार ! हे हतदुर्नय ! महारयः (अन्तकः) अदोषे अपि मनसि अतिदौर्मनस्यदः (अस्ति) तम् अन्त-कर्म्मैकनिमित्तम् अशुभम् अन्तकम् आशु भङ्गम् नय ।

अर्थ—हे भीषण भुजङ्ग-माला-धारिन् ! हे दुष्टों के दमन करने-वाले सदाशिव ! जो (यमराज) निर्दोष (अतीव पवित्र) मन में भी *महादौर्मनस्य (अतीव दुःख) पैदा कर देता है, हे नाथ !* उस अन्तसमय में महात्रास देनेवाले दुःखदायी यमराज को आप शीघ्र मार डालिए ! [श्रीशिव-तत्त्व के ही चिन्तन में तल्लीन होने से अपने को कृतकृत्य समझते हुए कवि कहते हैं—]

न वारबाणा न हया नवाग्र्या
न दन्तिनः सद्मनि वा लसन्ति नः ।
हतापदाशा तु विपक्षतापदा
जितो भवः साधु हि पूजितो भवः ॥ २० ॥

अन्वय—नः सद्मनि वारबाणाः न (सन्ति), नवाग्र्याः हयाः न (सन्ति), दन्तिनः वा न (सन्ति), किन्तु (अस्माभिः) विपद् हता, (अस्माकम्) आशा तु विपक्षतापदा (भवति) भवः (अस्माभिः) भवः जितः । हि, साधु भवः पूजितः ।

अर्थ—हमारे घर में न तो कोई कवच (अस्त्र शस्त्र) हैं, और न कोई उत्तम घोड़े हैं, न हाथी हैं; परन्तु हमने संग्राम में महा विपत्ति (जन्म, जरा और मरण के भय) को नष्ट कर डाला और हमारी अमोघ आशा बाह्य अथवा काम क्रोधादि-रूपी आन्तरिक महाशत्रुओं को दबा लेती है। इसलिए अब हमने (पुनरावृत्ति के द्वारा बार-बार महा कष्ट देनेवाले) भव (संसार) को जीत लिया है; जो कि हमने गाढ़-भक्ति के द्वारा मन, वचन और शरीर से तन्मय होकर सम्यक् प्रकार से श्री भव (शङ्कर) का आराधन किया है!

जलाशया यान्ति मृगा जलाशया
मरावलङ्घ्ये प्रति पामरा वलम् ।
परं हसन्तो जितकोपरंहसं
जना भवेऽप्युज्झितपूजना भवे ॥ २१ ॥

अन्वय—(यथा) जडाशयाः (मन्दमतयः) पामराः मृगाः जलाशया वलम् प्रति, अलङ्घ्ये मरौ यान्ति, (तथैव) जडाशयाः पामराः जनाः अपि जितकोपरंहसम् परम् हसन्तः भवे (श्री सदाशिवे) उज्झितपूजनाः (सन्तः) भवे (संसारे) यान्ति ।

अर्थ—हाय ! जैसे मन्दमति और तुच्छ स्वभाववाले मृगजल की आशा से अथाह मरुस्थल की मरीचिका (मृगतृष्णा के जल) में

भटकते-भटकते अपने बल को नष्ट कर देते हैं; वैसे ही अत्यन्त नीच स्वभाववाले मतिमन्द पामर लोग भी भव (श्री शिव) की आराधना को छोड़कर निष्क्रोधी (क्षमाशील) पुरुषों की हँसी करते हुए मृग तृष्णा के जल, अथवा रज्जु-सर्प आदि के समान अनित्य संसार में भटकते फिरते हैं।

अमन्दरागाश्रितमन्दरागा-
स्ते देवजाताविह देव जाताः।
ये सिद्धसाध्यार्चित सिद्धसाध्या
रता नवं तेनुरतानवं ते ॥ २२ ॥

अन्वय—हे देव ! हे सिद्धसाध्यार्चित ! इह ये (त्वयि) रताः, ते (तव) अतानवम् नवम् तेनुः, ते सिद्धसाध्याः अमन्दरागाश्रितमन्दरागाः (जनाः) देवजातौ जाताः (अमरत्वं प्राप्ताः)।

अर्थ—अयि परम व्योम में स्वतन्त्र विहरनेवाले, हे सिद्ध और साध्यों के पूजनीय प्रभो ! जो पुरुष आपकी शरण होकर नित्य आपका ही स्तवन करते हैं, वे धन्यात्मा पुरुष बड़े अनुराग से श्री मन्दराचल पर्वत में, जहाँ कि आपका सदैव सान्निध्य रहता है, निवास करते हुए अमर हो जाते हैं।

सदय मोदय मोदयमोक्षदं
कुशमदः शमदः शमदः कुरु।
न हि तता हितताऽहिततायनैः
कृततनुते तनु ते तनुते शुभम् ॥ २३ ॥

अन्वय—हे सदय ! मा (माम्) मोदय, कुशमदः शमदः (त्वम्) उदयमोक्षदम् अदः शम् कुरु, हि हे अहिततायनैः (अहित तायन—पालन येस्ते तादृशा विप्लवादयस्तै.) कृततनुते ! तता न हितता, तनु शुभम् न तनुते ! (अपि तु महदेव कल्याणं विस्तारयतित्यर्थः)।

अर्थ—हे दयालो ! मुझे अपने कृपा-कटाक्ष से आनन्दित कीजिए। प्रभो ! अखिल ब्रह्माण्डाधीश्वर होने पर भी निरहङ्कारी और परम शान्ति के दाता आप भोग और मोक्ष को देनेवाला कल्याण कीजिए ! हे जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, संहारादि करनेवाले ब्रह्मादि देवों से वन्दित देव ! आपकी वह विशाल उदारता शरणागतों को स्वल्प कल्याण (मामूली सौख्य ही) नहीं देती, किन्तु महान् कल्याण को प्रदान करती है।

रसमये समयेऽसमयेहया
धनमहीनमहीनमहीष्वपि ।
कृतमुदात्तमुदात्तमुदाहृतं
तदिदमापदमाप दमापहम् ॥ २४ ॥

अन्वय—हे भगवन् ! अहीनमहीषु अपि उदाहृतम् उदात्तम् कृतमुत् अहीनम् यत् धनम् (मया) रसमये समये (यौवने) असमया ईहया आत्तम्, तत् इदम् दमापहम् (धनम्) आपदम् आप।

अर्थ—भगवन् ! बड़े बड़े भुजङ्गों से सुरक्षित स्थलों से भी अति कष्टतया जो अनुपम अमूल्य धन मैंने युवावस्था में अनेकों उपायों से प्राप्त किया था, सो वह अतीव मद पैदा करके परम शान्ति को हरनेवाला धन अब आपकी कृपा से नष्ट हो गया है।

मदनवादनवादनवासनायतनयातनया तनयाऽम्बुधेः ।
अकृत वै कृतवैकृतवैशसा सकमला कमला कमलापवम् ॥२५॥

अन्वय—हे भगवन् ! वै अम्बुधेः तनया कृतवैकृतवैशसा सकमला कमला(लक्ष्मीः)मदनवादनवादनवासनायतनया तनया कम् (पुरुषम्) अलापवम् अकृत (अपि तु सर्वं लघूकृतवतीत्यर्थः)।

अर्थ—हे भगवन् ! क्षीरसागर की दुहिता, कमल-पुष्प पर विराजमान होनेवाली वह कमला देवी (लक्ष्मी) काम-क्रीड़ा और उत्तम-उत्तम भोजन की उत्कट वासना को पैदा करके उन पदार्थों की

प्राप्ति के लिए अनेकों प्रयत्न द्वारा महान् अनर्थ कराती हुई किस-किस पुरुष को नीचता नहीं दिखलाती? अर्थात् सभी को नीच बना डालती है।

कमलयाऽमलया मलयाद्रिव-
त्त्वसदयासदया सदयाप्यया।
प्रवरधीवर धीवर धीरया
कलयमाऽलयमालयमापदाम् ॥ २६ ॥

अन्वय—अयि धीवर! हे प्रवरधीवर! (त्वम्) मलयाद्रिवत् अमलया, असदयासदया सदयाप्यया धीरया कमलया अलयम् आपदाम् आलयम् मा (माम्) कलय।

अर्थ—अतः, हे किरात-रूप-धारिन्! अयि उत्कृष्ट बुद्धिशाली शिव! आप मलयाचल पर्वत के समान निर्मल, भयभीतों के आश्वासन देनेवाली, अतिशय-दयालुओं के प्राप्त होनेवाली, अचल (मोक्ष)-लक्ष्मी से मुझ अनाथ, विपत्ति-पीड़ित को अलंकृत कीजिए।

वितरणाभरणा भरणाभय-
क्षयमना मम नाम मनागपि।
शुभवने भवने भव नेप्सित-
प्रद रमाऽदरमादरमादधे ॥ २७ ॥

अन्वय—हे भव! हे ईप्सितप्रद! वितरणाभरणा भरणाभयक्षममना रमा शुभवने मम भवने मनाक् अपि नाम अदरम् आदरम् न आदधे।

अर्थ—अयि भक्तों के मनोभीष्ट को पूर्ण करनेवाले भोले नाथ! दान ही जिसका आभूषण है ऐसी, तथा प्राणियों के पालन-पोषण करने और उन्हें अभय देने में तत्पर हुई मोक्ष-लक्ष्मी सुन्दर क्रीडोद्यानों (विहार के योग्य बागों) से सुशोभित मेरे गृह में आने के लिए किंचिन्मात्र भी इच्छा नहीं करती!

अनयतो नयतो न यतो धृति-
मद यमादयमादयमाश्रितः ।
प्रसति शंमति शसति श च यो
धृतमुदं तमुदन्तमुदश्चय ॥ २८ ॥

अन्वय—हे धृतिमद ! यतः (यस्मादुदन्तात्) अनयतः नयतः अयमात् यमात् अयम आश्रित न भयति, य च शसति (जने) शम् शंसति, तम् धृतमुदम् उदन्तम् उदञ्चय ।

अर्थ—अयि भयभीतों को धैर्य देनेवाले, प्रभो ! जिस वृत्तान्त से यह शरणागत (अर्थात् मैं) दुर्नीति से जीवों को हरनेवाले अति दण्डकुशल यमराज को देखकर किंचिन्मात्र भी भय न करे ऐसे, आराधना में तल्लीन हुए भक्तों को निःश्रेयस प्रदान करनेवाले एवं अकाल-मृत्यु को हरनेवाले वृत्तान्त को शीघ्र प्रकट कीजिए ।

शुभरता भवता भवतारिणा
भवनिताऽखलिता कलितापभूः ।
हर कृतान्त-कृतान्त-कृतान्त नो
किममता ममता मम तादृशी ॥ २९ ॥

अन्वय—हे हर ! हे कृतान्तकृतान्तकृतान्त ! शुभरता भवतारिणा भवता मम अमता अखलिता (अखण्डिता) कलितापभूः तादृशी (अतिप्रसिद्धा) ममता किम् नो अवखण्डिता ?

अर्थ—अयि कृतान्त (यमराज) के सिद्धान्त (हठात् अनन्त प्राणियों के संहार-रूप निश्चय) को विनष्ट कर देनेवाले सदाशिव ! शरण में आये हुए लोगों को प्रशस्त कल्याण प्रदान करनेवाले और संसार सागर से पार उतारनेवाले आप महादयालु ने कलिकाल के ताप को पैदा करनेवाली मेरी इस अति प्रसिद्ध दुष्ट ममता को क्यों नहीं खण्डित किया ?

विशदशोभयशोभय शोभय
त्रिजगदक्षम-दक्ष-मदक्षम ।
स्वपदमानय मानय मा नय-
क्षत-समक्ष-यमक्षयमक्षय ॥ ३० ॥

अन्वय—हे विशदशोभयशोभय ! हे अक्षम-दक्ष-मदक्षम ! हे अक्षय ! त्रिजगत् शोभय, मा (माम्) नयक्षत-समक्ष-यमक्षयम् स्वपदम् आनय (अतएव) मानय ।

अर्थ—हे अति निर्मल विशाल-अभयदान देनेवाले ! हे उद्धत दक्ष प्रजापति के मद को चूर करनेवाले ! हे अविनाशी महेश ! आप तीनों भुवनों को आनन्दित कीजिए, और हे नाथ ! मुझे दुष्टों का दमन करनेवाली नीति के द्वारा समक्ष मे ही यमराज को निस्तेजित कर देनेवाले अपने परम धाम मे ले जाकर सम्मानित कीजिए।

घनाऽघनाशनैः शनैर्नवैर्नवैरिहाऽरिहा ।
भवान्भवाऽन्वहं वहन्नहीनहीनदानदाः ॥ ३१ ॥
दयोदयोर्जितोऽर्जितो मयोमयोचितश्चितः ।
यतेय ते हितेहिते रवैरवैरधीरधीः ॥ ३२ ॥

(युगलकम्)

अन्वय—हे भव ! मया इह अन्वहम् अहीन् वहन्, अहीनदानदाः अरिहा दयोदयोर्जितः, उमया चितः, उचितः भवान् घनाघनाशनैः नवैः नवैः शनैः (मृदुलेलापेन, मगस झगिति यावत्) अर्जितः (स्वीकृतः) हे भगवन् ! अवैरधीरधीः (अहम्) रवैः ते हितेहिते यतेय ।

स्तुतियों के द्वारा बड़े ही सरल उपाय से शीघ्र प्रसन्न करना उचित समझा है; इसलिए भगवन्! मैं सर्वत्र (शत्रु, मित्र सभी प्राणियों पर) निर्वैर-बुद्धि होकर गम्भीर स्तुति-वाक्यों से अथवा गाल बजाकर आपकी अभिमत सेवा में तत्पर हो जाऊं ?

तवात्तबाधने धने गदं गदन्ति केऽन्तिके ।
मयाऽऽमयाविना विना विभो विभोजना जनाः ॥ ३३ ॥

अन्वय—हे विभो! आत्तबाधने धने (आन्तरे शरीर मे, बाह्ये वा हिरण्यादौ) सति तव (दयालोः) अन्तिके मया आमयाविना विना के विभोजनाः (निरशनाः) जनाः गदम् गदन्ति ! (न केचित्) ।

अर्थ—प्रभो! परम प्रकाश-(ज्ञान)मय आन्तरिक धन, अथवा सुवर्ण आदि बाह्य धन के नाश होने के कारण आप दयालु के सामने केवल मुझ महारोगी के सिवा दूसरे कौन भिक्षुक लोग अपने दुःख को निवेदन करते हैं ? अर्थात् कोई नहीं।

स्तवास्तवाऽऽहिता हिता न केन केवलं बलम् ।
शुभाऽऽशु भारती रतीशनाशनाऽऽपदापदा ॥ ३४ ॥

अन्वय—हे रतीशनाशन! तव हिताः (हृद्याः) स्तवाः केन न आहिताः (अपि तु सर्वजनेन) केवलम् (इयम्) शुभा आपदा मे भारती आशु बलम् आपत् ।

अर्थ—अयि कामदेव का अन्त करनेवाले प्रभो! आपकी सुमनोहर स्तुति कौन कौन नहीं करते हैं ? अर्थात् सभी लोग करते हैं, किन्तु मुझ महाविपत्ति में पड़े हुए दीन की यह करुणाजनक वाणी शीघ्र अधिक उन्नति को प्राप्त हुई है। अर्थात् और महाकवियों की वाणी की अपेक्षा यह मेरी वाणी आपकी स्तुति अधिक करती है।

नतानतानवानवारितारितापदं पदम् ।
हराहरामि तेऽमिते शमे शमेवमेव मे ॥ ३५ ॥

अन्वय—हे हर ! (अहम्) अतानवान् नतान् (भक्तिप्रह्वजनान्) अमिते शमे (सति) अवारिताऽरितापदम् ते पदम् आहरामि; एवमेव मे शम् (उभयलोकशुभावह कल्याणम् भविष्यति)।

अर्थ—अयि शरणागतों के दुःखों को हरनेवाले प्रभो ! मैं आपके कृपा-प्रसाद से प्राप्त हुए उपदेश (स्तुति-रूप युक्ति)द्वारा अनेकों सहृदय भक्त जनों को, महासंयमी पुरुषों से प्राप्त होने योग्य और महाबलवान् काम-क्रोधादि शत्रुओं का नाश करनेवाले आपके अखण्ड तेजोमय धाम में सहज ही पहुँचा देता हूँ, सो हे भगवन् ! इसी प्रकार (आपके भक्तों की सेवा करते-करते) मेरा दोनों लोकों में कल्याण हो जायगा।

पराऽपराधबान्धवाः सवासवाः सुरासुराः ।
सदा सदानमानमाश्रयं श्रयन्ति यन्ति यम् ॥३६॥
स मा समाहितं हितं बताऽवतादमन्दमम् ।
कलङ्क-लङ्घने घने ह्यवाह्यवासनः स नः ॥ ३७ ॥

(युगलकम्)

अन्वय—बत ! पराऽपराधबान्धवाः सवासवाः सुरासुराः सदा सदानमानम् यम् (प्रभुम्) आश्रयम् श्रयन्ति, (शरणार्थम् च) यन्ति, सः समाहितम् अमन्दमम् (अनल्पमोक्षश्रीगन्तम्) माम् हितम् अवतात्, हि—सः (विभुः) नः घने कलङ्कलङ्घने अवाह्यवासनः (अत्युत्कण्ठितः, अस्तु)।

अर्थ—अहा ! अपकार करनेवालों का भी उपकार करनेवाले समस्त इन्द्रादि देव और दानव लोग सदैव बड़े दान (तन्निमित्तक अर्पण) और मान (पूजा) के सहित जिस प्रभु की शरण में जाते हैं और जो हमारे महान् पापों के नष्ट करने की इच्छा करता है, वह अतिशय करुणालु प्रभु मुझ परम-शान्त, और मोक्ष-लक्ष्मीवान् शरणागत की सदैव रक्षा करे।

अलं घना अलङ्घनास्तपस्यतस्तपस्यतः ।
तनुर्हि मेऽतनुर्हि मेऽङ्गतानवं गता नवम् ॥ ३८ ॥

अन्वय—हिं, हे विभो ! तपसि (माघे) घनाः अलम् अलङ्घनाः (भवन्ति) अतः तपसि हिमे तपस्यतः मे अतनुः तनुः नवम् अङ्गतानवम् गता ।

अर्थ—हे विभो ! माघ मास में अत्यन्त शीतल मेघ (जल) सहन नहीं हो सकते । इस कारण हे नाथ ! अत्यन्त शीत माघ मास में तपस्या (यथोचित व्रत-चर्या) करते हुए मेरा शरीर अतिशय कृशता को प्राप्त हो गया है । अतः प्रभो ! आपकी आराधना के निमित्त कृशता को प्राप्त हुए मुझ दीन पर आप 'विमुख न हों,' इसलिए मैं आपसे यह अपनी आर्ति निवेदन कर देता हूँ ।

मलमलक्षवलक्षबलस्मर-
स्मरणकारणकार कदङ्कदम् ।
हर हरस्व भजस्व भजन् दिशं
दिश विभासविभासदृशं दृशम् ॥ ३९ ॥

अन्वय—हे अलक्षवलक्षबलस्मरस्मरणकारणकार ! हे हर ! (त्वम्) दिशम् भजन् (मम) कदङ्कदम् मलम् (आणव मायीय-कर्मभेदात् त्रिविधम्) हरस्व, भजस्व, विभासविभासदृशम् दृशं मे दिश ।

अर्थ—लक्षण रहित अर्थात् इयत्तया परिच्छेद करने (मापने) के अयोग्य महान् बल और तेज-शाली कामदेव को शोचनीय करनेवाले हे महेश्वर ! सत्ता रूप से सर्वत्र विद्यमान होते हुए भी विशेषतः शरणागत जनों के कल्याणार्थ उत्तर दिशा—श्री कैलास पर्वत—में प्रत्यक्ष विराजमान होते हुए, आप मेरे इन दुर्लक्षण(कलङ्क-)दायक मलों को दूर कर दीजिए । और सर्व-श्रेष्ठ विज्ञान एवं सर्वोत्कृष्ट प्रकाश से भरी हुई कृपा दृष्टि से मुझे अनुगृहीत कीजिए ।

भव-संभव-संहत-मोहतमो-
दमनेदमनेकमशङ्कमशम् ।
सविकास-विकार-चितं रचितं
हर मे हर मेदुरितं दुरितम् ॥ ४० ॥

अन्वय—हे भव-सम्भव-संहत-मोहतमो-दमन, हे हर ! अनेकम् अशङ्कम् (कृत्वा) रचितम् अशम् सविकासविकारचितम् मेदुरितम् इदम् मे दुरितम् हर।

अर्थ—संसार से उत्पन्न हुए महामोह-रूपी अन्धकार को नाश करनेवाले हे हर ! अज्ञानता के कारण निःशङ्क होकर इकट्ठे किये हुए, महा अकल्याण-कारक, आधि-व्याधि प्रिय-वियोग अप्रिय-समागम आदि अवस्था-परिणामों से भरे हुए, और दूसरे के सामने प्रकट करके तथा पश्चात्ताप आदि के द्वारा प्रायश्चित्त न करने के कारण और भी बढ़े हुए (स्वयं अनुभूयमान) मेरे अनेक प्रकार के पापों को दूर कर दीजिए !

कृपणं भगवन् बहुशोऽभिहितं
बहुशोभि हितं दिश मे वचनम् ।
दिशमेव च नन्दितमानस तां
दितमान सतां न पतामि यतः ॥ ४१ ॥

अन्वय—हे भगवन् ! (मया) बहुशः कृपणम् अभिहितम् (अतः) त्वम् बहुशोभि हितम् वचनम् मे दिश। अयि सताम् नन्दितमानस ! अयि दितमान ! (अहम्) यतः (संसारे) न पतामि, ताम् एव दिशम् च दिश।

अर्थ—भगवन् ! मैं चिरकाल से अनेक प्रकार बहुत करुणा-जनक विलाप कर रहा हूँ, इसलिए हे नाथ ! अब मुझे अभिमत वरदान और अभयदान देनेवाला सुमनोहर हित-वचन सुना दीजिए। अयि भालुओं के अन्तःकरण को आनन्दित करनेवाले, और मदोद्धतों के अभिमान को चूर करनेवाले ईश्वर ! जिससे मैं इस संसार के संकटों में न गिरूँ, वह उपाय मुझे बतला दीजिए।

मन्यामहे गतिमृते त्वयि भक्तिमन्या-
मन्यायगां तव दृशेव तपःशमन्या ।

[आहा ! महाराजा श्री भर्तृहरि जी भी प्रभु से यही वर माँगते हैं :—

अहौ वा हारे वा कुसुमशयने वा दृषदि वा
मणौ वा लोष्टे वा बलवति रिपौ वा सुहृदि वा ।
तृणे वा स्त्रैणे वा मम समदृशो यान्तु दिवसाः
कदा पुण्याऽरण्ये शिवशिवशिवेतिप्रलपतः ॥

अर्थात्—महाभीषण भुजङ्ग और मुक्ताहार, सुमनोहर कुसुम-शय्या और पाषाण-शिला, अमूल्य मणि और लोष्ट, बलवान् शत्रु और मित्र एवं शुष्क तृण और मनोहर अङ्गना, इन सब वस्तुओं को सदैव एक समान समझता हुआ किसी पवित्र वन में 'हे शिव ! हे शिव ! हे शिव !' कहता हुआ मैं अपना समय व्यतीत कब करूँगा ?]

दोषारयस्तरलयन्ति महामदोषा
दोषा धृतिं हरति मोहमयप्रदोषा ।
दोषाकराङ्कवपुरेष्यति मां कदोषा
दोषाचकण्ठमनिरुद्धमिवोन्मदोषा ॥ ४४ ॥

अन्वय—हे विभो ! महामदोषाः दोषारयः माम् तरलयन्ति, मोहमय-प्रदोषा दोषा (मे) धृतिम् हरति । हे दयालो ! उन्मदा उषा (बाणासुर-दुहिता) दोषाचकण्ठम् अनिरुद्धम् इव, दोषाकराङ्कवपुः (श्रीचन्द्रमौलि-दर्शनरूपा) उषा (प्रभातम्) माम् कदा एष्यति !

अर्थ—हे प्रभो ! महान् मद (अहंकार) के दाह से भरे हुए ये काम-क्रोधादि शत्रु मुझे कम्पित कर रहे हैं, और अज्ञानमय-प्रदोषवाली रात्रि मेरे धैर्य को हर रही है ! हे नाथ ! जैसे, उषा (बाणासुर की कन्या) काम के वश में होकर हाथों से कण्ठ-स्थल को आलिङ्गित करती हुई अनिरुद्ध के पास आती है, वैसे ही 'श्री चन्द्रमौलि' के दर्शन रूपी उषा (प्रातःकाल) मेरे सामने कब आवेगी !

का रामणीयककृतेन्दुकरानुकारा-
कारा विना तव कृपां प्रथितोपकारा
कारागृहेऽत्र भवनामनि मोचिका रा-
काराजखण्डशिखर क्षपितान्धकारा ॥ ४५ ॥

अन्वय—हे राकाराजखण्डशिखर ! अत्र भवनामनि कारागृहे (केवलम्) तव कृपाम् विना रामणीयककृतेन्दुकरानुकाराऽऽकारा, प्रथितोपकारा, क्षपितान्धकारा का मोचिका भवति ? (न काऽपीत्यर्थः)।

अर्थ—अयि चन्द्रार्धमौले ! इस संसार नामक कारागार (बन्धनालय—कैदखाने) में केवल एक आपकी कृपा को छोड़कर चन्द्रकिरणों के समान अति सुमनोहर, दीनोपकार में विख्यात एवं मोहरूपी अन्धकार का निराकरण करनेवाली कौन सी वस्तु प्राणियों को इस बन्धन से मुक्त कर सकती है? अर्थात् कोई भी नहीं।

काशान्तचित्तधृतमुक्तिपथाऽवकाशा-
काशान्तवर्तिरविवत् प्रचुरप्रकाशा।
काशावकीर्णखिलतुल्यकृतान्तकाशा
का शाम्भवीं दृशमृते भृतसेवकाशा ॥ ४६ ॥

अन्वय—शाम्भवीम् दृशम् ऋते काशान्तचित्तधृतमुक्तिपथावकाशा, आकाशान्तर्वर्तिरविवत् प्रचुरप्रकाशा, काशावकीर्णखिलतुल्यकृतान्तकाशा भृतसेवकाशा का (भवति ? न काऽपीत्यर्थः)।

अर्थ—शान्त चित्तवालों को मुक्ति-पथ का राह बतानेवाली, आकाशान्तर्गत सूर्य के समान अतीव प्रकाशमयी, एवं यमराज की दिशा (यमपुरी) को काश के तृणों से भरे हुए महान् अरण्य के तुल्य कर देनेवाली शङ्कर की कृपा-दृष्टि के बिना, भावुकों की अभिलाषाओं को पूर्ण करनेवाली दूसरी वस्तु कौन है अर्थात् कोई भी नहीं।

कां तापतान्तिमुपयान्ति शुचौ न कान्ताः
कान्तावलम्बितकराः स्खलितांशुकान्ताः ।
कान्ता हठाद्वनचरैर्मृदितालकान्ताः
कान्तारगास्त्वदनुरक्तनृपारिकान्ताः ॥ ४७ ॥

अन्वय—हे भगवन् ! शुचौ कान्तारगाः कान्ताः (रमणीयाः) कान्ताः (अभिलषिताः) कान्तावलम्बितकराः स्खलितांशुकान्ताः वनचरैः हठात् मृदितालकान्ताः त्वदनुरक्तनृपारिकान्ताः काम् न तापतान्तिम् उपयान्ति ? (अपि तु सर्वामपि तापतान्तिमनुभवन्ति ।)

अर्थ—हे भगवन् ! जो भाग्यवान् राजा आपके चरणारविन्द में अनुराग रखता है, उसके शत्रु लोगों की मनोहर अङ्गनाएँ ग्रीष्म ऋतु के समय महा अरण्य में निवास करती हुई, अपने अपने पतियों का हाथ पकड़कर उन्हें सहारा देती हुई एव वसन-हीन होकर महा दुष्ट वनचर लोगों के द्वारा अनेक प्रकार से सताई जाती हुई महान् विपत्ति को भोगती हैं। सारांश यह है कि भगवद्भक्तों को कष्ट देनेवालों की बड़ी ही दुर्गति होती है।

मायाऽर्करश्मिपटलीव मदक्षमाया-
मायासमर्पयति मे दुरतिक्रमा या ।
मायाः पदं तव कृपाऽत्र महातमाया-
मायात्युपेव हि कदा कलितोत्तमाऽयाः ॥ ४८ ॥

अन्वय—या (माया) दुरतिक्रमा (ब्रह्मादैरपि, अनतिक्रम्या) सा माया मदक्षमायाम् अर्करश्मिपटली इव मे आयासम् अर्पयति । हे प्रभो ! हि, अत्र महातमायाम् मायाः (लक्ष्म्याः) पदम्, कलितोत्तमायाः तव कृपा, उषा इव कदा आयाति ?

अर्थ—भगवन् ! ब्रह्मादि देव भी जिसका पार नहीं पा सकते, वह माया (अर्थात् अनात्म वस्तु में आत्मविभ्रम करनेवाली अविद्या)

(अनिन्द्याः) गाः सृजन्ती (इयं धीः) नागाश्रिता उच्चतनन्दनागा इन्द्रदिक् (पूर्व दिशा) इव, परत्र (भवत्स्तुतिरसादन्यत्र) च न अगात् ।

अर्थ—भगवन् ! जैसे, काञ्चन-पर्वत के सहित स्वर्ग-नगरी पाताल को कभी नहीं प्राप्त होती, वैसे ही यह मेरी निरपराध-बुद्धि आपके अगाध हृदय में नहीं पहुँच सकती ? प्रभो ! जैसे, हस्ती (दिग्गज) से आश्रित, और विशाल नन्दन-वन के वृक्षों से सुशोभित 'पूर्व दिशा' कभी पश्चिम को नहीं जाती, वैसे ही यह मेरी बुद्धि बेचारी अतीव अनिन्द्य (निर्दोष) वाणी (स्तुति) को रचती हुई आपकी स्तुति को छोड़कर अन्यत्र (सांसारिक विषयों में) नहीं जाती !

सारासहाऽपि मम धीस्त्वयि मन्दसारा
सारावना विहितमोहतमोऽभिसारा ।
साराव-कोकिलवचःसमसूक्तिसारा
सारावलीव गुरुतापकृतापसारा ॥ ५३ ॥

अन्वय—हे विभो ! विहितमोहतमोभिसारा साराधना सारावकोकिल-वचःसमसूक्तिसारा, सारावली (ज्वरतापहारिका औषधिः) इव गुरुताप-कृतापसारा अपि (इयम्) मम सारासहा धीः त्वयि मन्दसारा भवति ।

अर्थ—प्रभो ! मोह-रूपी निशा में विचरने के कारण आपकी आराधना करनेवाली, कोकिलों के सुमनोहर कल-रव के समान सूक्ति-सारवाली एवं तीव्र ज्वर के ताप को हरनेवाली सारावली नामक औषधि के समान महाभयकर पाप-तापों को दूर करनेवाली भी यह मेरी साराऽ-सहिष्णु (अनुचितमार्गगामिनी) बुद्धि आपकी ओर नहीं अग्रसर होती !

सामात्यभूपसदसीक्षितसूक्तिसामा
सामाजिकाहितनुतिः कृतसैर्ष्यसामा ।
सामान्यवर्त्म न यथाश्रयमोजसा मा
सा मान्यता त्वयि विभो मुचदञ्जसा मा ॥ ५४ ॥

अन्वय—हे विभो ! यया (अहम्) ओजसा सामान्यवर्त्म न आश्रयम्, सा सामात्यभूपसदसि ईडितसूक्तिसामा, सामाजिकाहितनुतिः क्रुनसेर्ष्यसामा मान्यता, त्वयि मा (माम्) अञ्जसा मा मुचत्।

अर्थ—हे विभो ! जिस (मान्यता) से मैं सामान्य मार्ग का आश्रय न लूँ, अर्थात् जिससे मैं केवल एक आपका ही आश्रय लूँ, वह बड़े बड़े अमात्य-(मन्त्री-) गण और राजाओं से भरी हुई सभा में सम्मानित होनेवाली, सभ्य पुरुषों से वन्दनीया, एवं महान् ईर्ष्यालु (द्रोही) जनों से भी पूज्यमान होनेवाली मान्यता (उत्कृष्टता) मेरा परित्याग न करे, अर्थात् मुझे प्राप्त हो।

धारा गिरेरिव तरीव सकर्णधारा-
धाराऽर्पणी तव दगूपरवर्षधारा।
धारापुरीव सुखदा दुरितासिधारा
धारा परार्तिहरणे हतपड्विधारा ॥ ५५ ॥

अन्वय—हे विभो ! गिरेः धारा(सानुभूः)इव आधारार्पणी, तरी इव सकर्णधारा, ऊपरवर्षधारा, धारापुरी इव, दुरितासिधारा परार्तिहरणे धारा(पराकाष्ठा)हतपड्विधारा तव दक् सुखदा(भवति)।

अर्थ—हे प्रभो ! पर्वत के शिखर की समभूमि के समान आश्रय देनेवाली, केवट से युक्त नौका के समान दीनों को दुःख-सागर से पार लगानेवाली, ऊपर भूमि में अमोघ वर्षधारा के समान, धारा पुरी के समान परम मनोहर, सकल पाप-राशियों के विदारण करने में तीक्ष्ण खण्डधारा के समान, और पड्विध-शत्रुओं (काम-क्रोधादिकों) का नाश करनेवाली आपकी प्रसाद-दृष्टि भाग्य-शालियों को अखण्ड सौख्य प्रदान करती है।

कालापसेोपमरुचिर्गलभूः सुकाला
कालाग्निवद्दृगपि ते क्षणदग्धकाला।

काला यथोक्तिरमृदुः क्षतसेवकाला
का लाभकृन्मम विनाऽऽभिरनन्तकाला ॥ ५६ ॥

अन्वय—हे भगवन् ! कालायसोपमरुचिः ते गलभूः सुकाला (सुश्यामला, अस्ति), ते दृक् अपि कालाग्निवत् क्षणदग्धकाला, अमृदुः काला (कालिकादेवी) यथा ते उक्तिः अमृदुः (अपि) क्षतसेवकाऽऽला (भवति) हे विभो ! आभिः (भवत्कण्ठभू-भवद्दृग् भवदुक्तिभिः) विना का अनन्तकाला मम लाभकृत् ?

अर्थ—भगवन् ! आपका कण्ठस्थली काले लोहे की कान्ति के समान सुश्यामला है, आपकी दृष्टि कालाग्नि रुद्र के समान क्षण भर में ही काल को भस्म कर डालती है—एवं आपकी अमोघ वाणी भी काली देवी के समान विकराल बनकर भक्त लोगों की आला (अपवाद अर्थात् कलङ्क) को नष्ट कर डालती है, सो हे नाथ ! इन (आपकी कण्ठस्थली, आपकी दृष्टि और आपकी वाणी) के सिवाय मेरा कल्याण और कौन कर सकती है, अर्थात् कोई भी नहीं।

मुक्तार्पितस्वपदपूर्णकृपाऽविमुक्ता
मुक्तार्चनादिरतिनाऽऽकिंभयाद्विमुक्ता ।
मुक्तावलीव विमला त्वयि गीरमुक्ता
मुक्तान्यमार्गगमनेन मयेयमुक्ता ॥ ५७ ॥

अन्वय—अयि नाथ ! मुक्तान्यमार्गगमनेन, मुक्तार्चनादिरतिना मया, आर्किभयात् इयम् मुक्तार्पितस्वपदपूर्णकृपाऽविमुक्ता, मुक्तावली इव विमला, अमुक्ता(अनल्पा)गीः त्वयि (तवाऽग्रे) उक्ता, विमुक्ता(क्षिप्ता च)।

अर्थ—हे नाथ ! अन्य मार्ग (सांसारिक विषयों) को तिलाञ्जलि देकर केवल एक आपकी सेवा में तत्पर हुए और यथाशक्ति मुक्ता आदि वस्तुओं द्वारा आपका पूजन करने की इच्छा रखनेवाले मुझ शरणागत ने यमराज के भय से मुक्तावली के समान निर्मल और

मुक्त पदवी को प्राप्त हुए भावुकों को श्रीशिव-सायुज्य प्रदान करनेवाली कृपा से पूर्ण, यह वाणी (करुण विज्ञप्ति) आपके आगे प्रकट कर आपको समर्पित की है ।

कल्पाङ्घ्रिवल्लिरिव धौतविपद्विकल्पा
कल्पाञ्चिता कृतनुतिर्भवतीन्दुकल्पा ।
कल्पाख्यसूत्रविदुरागमदृष्टकल्पाऽऽ-
कल्पाक्षयाऽस्तु मम गीरमृतानुकल्पा ॥ ५८ ॥

अन्वय—हे विभो ! भवति कृतनुति, धौतविपद्विकल्पा कल्पाञ्चिता इन्दुकल्पा कल्पाख्यसूत्रविदुरा आगमदृष्टकल्पा अमृतानुकल्पा (इयम्) मम गीः कल्पाङ्घ्रिवल्लिः इव, आकल्पाक्षया अस्तु ।

अर्थ—हे नाथ ! आपका गुणानुवर्णन करनेवाली, (वक्रोक्ति, शब्दश्लेष आदि) शब्दालङ्कार और (उपमा, आदि) अर्थालङ्कारों से सुशोभित, जन्म, जरा और मरण जन्य विपत्ति के जञ्जाल को नष्ट करनेवाली, चन्द्रमा के समान सुनिर्मल और सन्ताप को हरनेवाली, कल्प सूत्र एवं सकल शास्त्रों के यथार्थ तत्त्व को जाननेवाली और अमृत की वृष्टि के समान भावुकों को अजराऽमर कर देनेवाली यह मेरी वाणी (मेरी स्तुति) इस संसार में कल्प पर्यन्त अक्षय बनी रहे !

सहसाऽर्क इवाऽस्मि कृतः सहसा-
ऽसहसारभृदात्मभुवा सहसा ।
स ह सायकमस्यति या सहसा
सहसाध्वसमेत्यपि दुःसहसा ॥ ५९ ॥

अन्वय—अयि प्रभो ! सहसा (मार्गशीर्षेण) अर्क इव, आत्मभुवा (कामेन) अहम् सहसा, सहसा (बलेन) असहसारभृत् कृतः अस्मि, ह ! सः सहसा (हास्ययुक्ता) दुःसहसा या (स्त्री) सहसाध्वसम् अपि (मे सम्मुखम्) एति, (तम् स्त्रीरूप सायकम्) साम्प्रति अस्यति ।

अर्थ—हे प्रभो ! जैसे मार्गशीर्ष मास सूर्य को निर्बल (मन्द-तेज) कर देता है, वैसे ही इस दुष्ट काम ने अपने तीव्र बल के वेग से मुझे बलहीन (क्षीण) कर दिया है। हाय ! जो (स्त्री) अपने हाव-भाव और हास्यादि के द्वारा बड़े-बड़े बलवानों को भी क्षीण कर डालती है, उस स्त्री-रूप बाण को वह कामदेव मुझ पर चलाता है।

जनयाऽशुचमार्तमभाजनया-
जनयाचनरञ्जनवेजनया ।
जनयामलखिन्नमखञ्जनया-
ऽजनयाऽमृतमात्मनियोजनया ॥ ६० ॥

अन्वय—हे अखञ्जनय ! हे अज ! (त्वम्)अभाजनयाजन याचन-रञ्जनवेजनया आर्तम् अशुचम् (निर्दु.खम्) जनय, तथा—जनयामल-खिन्नम् (माम्) आत्मनियोजनया अमृतम् नय ।

अर्थ—हे अखण्ड नीतिवाले ! हे अनादि शिव !! अयोग्य अर्थात् कुपात्र लोगों को यज्ञ कराने और उनसे याचना करने एवं उन्हीं अनभिज्ञों के चित्त को अनुरञ्जित करने के द्वारा प्राप्त हुए महान् उद्वेग से आर्त्त बने मुझ दीन को दुःखों से बचाइए। और हे नाथ ! बन्धु, बान्धव एवं कुटुम्बी लोगों के झञ्झटों से अत्यन्त क्लेश को प्राप्त हुए इस शरणागत को स्वकीय सायुज्य प्रदान करके मोक्ष को प्राप्त कीजिए।

शमनाय शुचां त्वमुमेश मनाक्
शमनार्तिकरः कृतभीशम ना ।
शमनामय देहि विपाशमना-
शमनाथजनप्रथिताशमनाः ॥ ६१ ॥

अन्वय—हे उमेश ! हे कृतभीशम ! हे अनामय ! मनाक् (ईषत्प्र-यासेन) शमनार्त्तिकर.(त्वम्) शुचाम् शमनाय ना (भवसि) हे विभो ! अनाथजनप्रथिताशमना (त्वम्)विपाशम् अनाशम् शम् (मे) देहि ।

अर्थ—हे पार्वती-प्राणनाथ! हे भक्त जनों के भय का नाश करनेवाले! हे अनामय शिव! आप बिना ही प्रयास से यमराज को भयभीत करनेवाले हो, हे नाथ! भक्त जनों की विपत्ति के निवारण करने में आपका अखण्ड पौरुषार्थ रहता है, और शरणहीन जनो के मनोरथों के परिपूर्ण करने में आपका चित्त अत्यन्त ही उदार है, इसलिए प्रभो! मुझको मायापाश से रहित कैवल्य धाम प्रदान कीजिए।

मधुनाशिनाऽर्चित समं मधुना
मधुनामपुष्पजनुषा मधुना।
मधुनाऽलसामिव वधूमधुना-
मधुनाप्लुतां त्वयि गिरं मधुना ॥ ६२ ॥

अन्वय—हे मधुनाशिना मधुना(वसन्तेन)समम् मधुनामपुष्पजनुषा मधुना(किंजल्केन) अर्चित! अधुना(अहम्) मधुना अलसाम् वधूम् इव, मधुना प्लुताम्(मधुमधुराम्) गिरम् त्वयि अधुनाम् (सुप्तामिव बोधितवान-स्मीत्यर्थः)।

अर्थ—हे मधुनाशी (भगवान् श्री विष्णु) के द्वारा, मधु (वसन्त) के सहित मधु(मधूक) नामक पुष्पों के मधु(पराग) से पूजित सदाशिव! प्रभो! जैसे कोई मधु(मद्य) पान से आलसी होकर सोई हुई वधू को जगाता है, वैसे ही, मैंने इस समय मधु के समान सुमधुर वाणी को आपके गुणानुवाद के लिए सोई हुई को जैसा, जगाया है।

वसु धान्यमुज्झितुमपीवसु धा-
व सुधासितच्छवियशोवसुधा।
वसुधाधृवन्य यदसारवसुधा
वसुधाम दृक्तव नवेव सुधा ॥ ६३ ॥

अन्वय—अयि वसुधाधृवन्द्य! सुधासितच्छवियशोवसुधा(त्वम्)अपी-वसु(धनधान्यादिसमृद्धिहीनत्वात्कृशीभूतेषु जनेषु)वसु धान्यम्(च)उज्झि-

तुम् धाव; यत् असौ तव वसुधाम दृक्, नवा सुधा इव, असुधा (प्राणदान-दायिनी, भवति)।

अर्थ—हे अष्ट वसु और ब्रह्मा आदि प्रजापतियों के द्वारा वन्दित सदाशिव ! आप साक्षात् अमृत के समान धवल सुयश की वसुधा हैं। आपकी वह 'सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि' इन तीनों तेजों को धारण करने-वाली दृष्टि, भावुकों को नवीन सुधा के समान प्राण-दान देती है। अतः हे प्रभो ! आप धन-धान्यादि सम्पत्ति से विहीन दीन जनों को महा-धन, धान्य आदि समृद्धि प्रदान करने के लिए बड़े वेग से दौड़िये ।

समयासिषुः क्व न विकासमयाः
समयापतिं जगति यं समया ।
समया भवन्ति च विलासमयाः
स मया गिराऽर्च्यत सुधासमया ॥ ६४ ॥

अन्वय—यम् समयापतिम् समया(निकटे, स्थितस्य जनस्य)अयाः जगति क्व न विकासम् समयासिषुः ? (अपि तु सर्वत्र), तथा—यम् समयापतिम् समया(स्थितानां जनानाम्)समयाः विलासमयाः भवन्ति, सः (विभुः)मया सुधासमया गिरा अर्च्यत ।

अर्थ—समया देवी(अर्थात् हवन पूजन आदि यज्ञ के हीनाऽति-रिक्त दोष के परिहार के लिए यज्ञान्त में पूजित होनेवाली समया नामक देवी)के पति—जिस उमापति के चरणारविन्द के निकट निवास करने-वाले भक्त का शुभावह भाग्य(उत्तम भाग्योदय)सारे संसार में विख्यात हो जाता है, और जिसके शरणागतों के सभी समय विलास-मय हो जाते हैं, उस प्रभु को मैं इस सुधा के समान सुमनोहर वाणी से पूजित करता हूँ ।

कलिकालताम्यदमृतोत्कलिका
कलिकातरे हृदि नवोत्कलिका ।

कलिका स्रजीव जितशाकलिका-

ऽकलि कान्तिभृच्च मुकुटे कलिका ॥ ६५ ॥

अन्वय—हे भगवन् ! (जनेन) कलिकातरे (जनकलहेन सकृपे) तव हृदि उत्कलिका(उत्कण्ठा)कलिकालताम्यदमृतोत्कलिका अकलि, हे जित-शाकलिक ! कान्तिभृत् कलिना च तव मुकुटे स्रजि कलिका(सूक्ष्मकुड्मलमिव) अकलि ।

अर्थ—भगवन् ! लोगों के कलह को देखकर कृपा से आर्द्र हुए आपके हृदय की उत्कण्ठा, कलि-काल से म्लान हुए जीवों के लिए साक्षात् अमृत की लहरी बन जाती है। हे किरातरूपधारिन् ! वह ज्योत्स्नामयी चन्द्र-कला आपके मुकुट में माला में पुष्प-कलिका (कुड्-मल) के समान बन जाती है।

कलयाऽऽश्रितं विरुजमेकलया

कलया विधोर्दलितपाकलया ।

कलया गिरा च सकलाऽकल या

कलया विना विहितशोकलया ॥ ६६ ॥

अन्वय—हे सकलाकल ! (त्वम्)एकलया दलितपाकलया* विधोः कलया, तथा या कलया(व्याजेन)विना विहितशोकलया (भवति) तया कलया (सुमधुरया)गिरा च आश्रितम् विरुजम् कलय !

अर्थ—हे साकार और निराकार रूप निरञ्जन परमेश्वर ! आप जन्म, जरा और मरण रूप ज्वर का नाश करनेवाली चन्द्रकला से, तथा जो निष्कपट भाव से भक्त जनों के शोकजाल का लय कर देती है उस अपनी सुमधुर गिरा से मुझ शरणाश्रित को नीरोग कर दीजिए।

---

* दलितः पाकलो ज्वरो जरामरणादिरूपो यया सा तया, यद्यपि पाकलो हस्तिज्वर एवायुर्वेदे प्रसिद्धस्तथापि कविभिः सामान्यज्वरेऽपि प्रयुक्तः ।

परमारकान्तककृतोपरमा-

ऽपरमानतं तव दृशाऽऽप रमा ।

परमार्थसद्गुणपरम्पर मा

परमार्त्तमुज्झ करुणापर मा ॥ ६७ ॥

अन्वय—हे परमारकान्तककृतोपरम ! हे परमार्थसद्गुणपरम्पर ! तव दृशा रमा अपरम् आनतम्(जनम्) आप, हे करुणापर ! परम् आर्तम् मा (माम्) मा उज्झ ।

अर्थ—हे परम हिंसक-यमराज का मानमर्दन करनेवाले ! हे पारमार्थिक-सद्गुण-परम्परा-रूप शंकर ! प्रभो ! शरणागतों को आपके कृपा-कटाक्ष के लेशमात्र से लक्ष्मी स्वयं सेवित करती है, अतः हे परम उदार ! हे करुणा परायण ! आप मुझ परम आर्त्त (अतीव दुःखित) का परित्याग मत कीजिए ।

कल-कलकल-कलकण्ठ-वदस्मा-

नव नवनवनवरोचितवाचः ।

भव भव भव-भवभीतिभिदस्य-

न्मदमदमदमदनान्तक दूरम् ॥ ६८ ॥

अन्वय—हे भव ! हे अदमद-मदनान्तक ! कल-कल-कल-कलकण्ठ-वत्, नव-नवन वरोचितवाच. अस्मान् अव, मदम् दूरम् अस्यन् भवभव-भीतिभित् भव ।

अर्थ—अयि, जितेन्द्रियता को हरनेवाले कामदेव का भस्म करनेवाले शिव ! अति सुमधुरभाषी कोकिलों के समान, नवीन स्तुति-रचना द्वारा उत्कृष्ट वचन बोलनेवाले (हम सरीखे) शरणागतों की रक्षा कीजिए ! और हमारे मद (दुरहंकार) को दूर करते हुए इस सांसारिक भय से हमें बचाइए !

अविकल-कल कलकल-कल-कण्ठं
　　दिश नवनव-नवनवन वरवचः ।
सविभव भव भव भवभवभयभि-
　　द्धर मदमदमदमदमदयमिमम् ॥ ६९ ॥

अन्वय—हे अविकल-कल ! हे नवनव-नवनवन ! (त्वम्, मादृशाय) कलकल-कल-कण्ठम् वरवचः दिश, हे सविभव ! हे भव ! (अस्माकम्)भव-भवभयभित् भव, अदमदमदम् इमम् अदयम् मदम् हर ।

अर्थ—अयि षोडश-कला-मय, विश्वेश्वर ! हे अतिशय नवीन नुतियों(स्तुतियों)के उपवन में विहार करनेवाले प्रभो ! अब मुझे अपना सुमधुर अभय-वचन सुना दीजिए। अयि अखण्ड ऐश्वर्यशाली सदा-शिव ! हमारे समस्त भय का नाश कीजिए और हमारी अखण्ड शान्ति को नष्ट करनेवाले इस महा निर्दयी अहङ्कार वैरी को दूर भगा दीजिए ।

देव्यां भ्रमद्भ्रुवि जयाविजयार्चितायां
　　सक्ता तवाऽस्तविजया विजयाय दृष्टिः ।
दृष्ट्येव भूर्दिविजया विजयाख्यया ते
　　मूर्त्या त्रसद्विजयाऽऽवि जयाढ्या च ॥ ७० ॥

अन्वय—हे भगवन् ! विजयाय अस्तविजया(दत्तविजया) ते दृष्टिः जयाविजयार्चितायाम् भ्रमद्भ्रुवि देव्याम् (भीमपत्न्याम्) सक्ता, तथा—त्रसद्विजया विजयाख्यया, जयाढ्या च ते मूर्त्या(इयम्)भूः दिवि-जया दृष्ट्या इव, आवि(रक्षिता) ।

अर्थ—भगवन् ! विजय(अर्जुन)को विजय प्रदान करनेवाली आपकी करुणामयी दृष्टि जया और विजया नामक सखियों से पूजिता श्री भवानीजी पर बड़ा ही अनुराग रखती है, तथा जगद्‌व्यापक यमराज

कुर्वित्यर्थ.) भिय' जय, हे विभो ! तर्हि तमोहृत' (त्वम्) सदायतेः (मम) धने अक्षयशोभि असौहृदम् (अमेलापम्) योजय ।

अर्थ—हे भगवन् ! अब मैं अपने अन्त करण में छिपे हुए दुष्ट मोह को रोकने मे सदैव प्रयत्न कर रहा हूँ, अत: हे नाथ ! जिस प्रकार मैं शान्त पुरुषों के मध्य में सुयश पाऊँ वैसा उपाय कीजिए ! और मेरी भीति को दूर कीजिए। हे विभो ! मुझ भावी-कल्याणशाली का, इस क्षणभगुर सांसारिक नश्वर पदार्थों से अनासक्ति (वियोग) करा दीजिए। अर्थात् मुझे विषयासक्ति से विरक्त कर दीजिए !

सकलश सकपालमलङ्कृत-
प्रमदमस्थिरसं मदनाशनम् ।
भवमदभ्रमहानिधने हितं
शमनमज्जनमानमताऽलयम् ॥ ७५ ॥

सकलशंसकपालमलं कृत-
प्रमदमस्थिरसंमदनाशनम् ।
भवमदभ्रमहानिधनेहितं
शमनमज्जनमानमतालयम् ॥ ७६ ॥

(युग्मम्)

अन्वय—अयि रसिक शिरोमणय: ! (यूयम्) सकलशम् सकपालम् अलङ्कृतप्रमदम् अस्थिरसम् मदनाशनम्, अदभ्रमहानिधने हितम्, शमन-मज्जनम् अलयम्, सकलशंसकपालम्, अलम् कृतप्रमदम्, अस्थिर-संमदनाशनम्, भवमदभ्रमहानिधनेहितम्, शमनमज्जनमानमतालयम् 'भवम्' आनमत ।

अर्थ—अयि प्रेम-रसिको ! आप लोग हाथ में सुधा-कलश और कपाल को धारण करनेवाले, वामाङ्ग में श्री गिरिजा को धारण करनेवाले, कण्ठ में मुण्ड-माला को धारण करनेवाले, भाल-नेत्र द्वारा मदन को भस्म करनेवाले, भक्तजनों को अखण्ड ऐश्वर्य प्रदान करनेवाले,

भावुकों को अजराऽमर करने के लिए यमराज का शासन करनेवाले, आद्यन्त-रहित (अनादि और अनन्त), सकल भावुक जनों का पालन करनेवाले, अतिशय आनन्द-दायक, असन्तोषी लोगों को दुःखदायक, सांसारिक भ्रमों से विरक्त लोगों के प्रार्थनीय, शान्तिशाली विनीत जनों के सम्मानार्थ सगुण स्वरूप धारण करनेवाले अनन्त कोटि ब्रह्माण्डाधिनाथ भगवान् 'श्री भवानीनाथ' की आराधना किया कीजिए !

तनुशङ्करवैरसमाऽयतया-
ऽतनु शङ्कर वै रस माऽयतया ।
तनु शं करवै रसमायतया-
ऽतनुशं कर वैरसमायतया ॥ ७७ ॥

अन्वय--वै, अयि शङ्कर ! (त्वम्) अयतया असमायतया (उपलक्षितम्)मा अतनु(अनल्पं कृत्वा)तनुशङ्करवैः रस (संभावय) हे विभो ! शम् तनु, (अहम्) रसम्(भक्तिरसम्)करवै,(त्वम्) माम् आयतया वैरसमायतया अतनुशम्(काम-कृश-कारिणम्)कर* (कुर्वित्यर्थः) ।

अर्थ--अयि शङ्कर ! मुझ महाभाग्यशाली को बार-बार अपना अभय-वचन सुनाकर शीघ्र सँभालिए । हमारे कल्याण का खूब विस्तार कीजिए । हे नाथ ! मैं आपके भक्ति-रस का समास्वादन कर रहा हूँ, अतः आप मुझे ऐसी शक्ति प्रदान कीजिए कि जिससे मैं इन दुष्ट काम-क्रोधादि वैरियों को निर्बल बना डालूँ ।

भकाशकलितापदं शकलितापदं शंसता-
मसारसमये हितं रसमयेहितं शङ्करम् ।
हृदि स्मरत रङ्गितं स्मरतरङ्गितं शान्तता
नयन्तमसमानसंतमसमानसं चान्तकम् ॥ ७८ ॥

---

* कर इति भौवादिकस्य कृमः लोटि मध्यमपुरुषैकवचने हि प्रत्यये प्रयोगश्छन्दसि, यथा—'तेभ्योकरं नमः' इति; छान्दसोऽपि प्रयोगो भाषायामपि क्वचिद्विषये प्रयुक्तः 'छान्दसा अपि क्वचिद् भाषायां प्रयुज्यन्ते' इति वचनात् ।

का विजय करती हुई यह वृषभवाहन भगवान् श्री शङ्कर की स्तुति समस्त भूमण्डल में व्याप्त हो।

इति श्रीप्रेममकरन्दव्याख्यासमेतं काश्मीरकमहाकविश्रीमज्जगद्धरभट्ट-
विरचिते भगवतो महेश्वरस्य 'स्तुति कुसुमाञ्जलौ' महायमक-
नाम त्रिंश स्तोत्रम्।

एकत्रिंशं स्तोत्रम्

—०—

अब ग्रन्थकार भगवद्भक्तिरसाऽमृत के आस्वाद से विनीत हुए भावुकों को सदुपदेश देने के लिए 'नतोपदेश' (नम्र लोगों को उपदेश) नामक इकतीसवें स्तोत्र का प्रारम्भ करते हुए कहते हैं—

मनः समाधौ परमान्तरङ्गं
विधाय निःस्पन्दमनुत्तरङ्गम्।
बुधा विधातुं भवभीतिभङ्गं
विभुं भजध्वं गिरिजाभुजङ्गम् ॥ १ ॥

अन्वय—अयि बुधा! मनः समाधौ परमान्तरङ्गम् अनुत्तरङ्गम् निस्पन्दम् विधाय, भवभीतिभङ्गम् विधातुम् (यूयम्) गिरिजाभुजङ्गम् विभुम् भजध्वम्।

अर्थ—अयि विद्वज्जन! आप लोग मन को समाधिनिष्ठ (तदेकाकार) और चाञ्चल्यादि दोषों से रहित, एवं निःस्पन्द अर्थात् सङ्कल्प विकल्प से रहित करके भवसागर के भय को भङ्ग करने के लिए अर्थात् संसार-सागर से पार होने के लिए मन, वचन, कर्म से भगवान् श्री *भवानीनाथ की सेवा करो।*

पाश्यावशेनेव महाविहङ्गं
वल्गाबलेनेव महातुरङ्गम् ।
निरुध्य योगेन मनःप्लवङ्गं
विभुं भजध्वं गिरिजाभुजङ्गम् ॥ २ ॥

अन्वय—पाश्यावशेन महाविहङ्गम् इव, वल्गाबलेन महातुरङ्गम् इव, योगेन मनःप्लवङ्गम् निरुध्य, गिरिजाभुजङ्गम् विभुम् भजध्वम् ।

अर्थ—अयि भगवत्प्रेमियो ! जिस प्रकार पाश्या (पक्षियों के फँसाने के लिए बने हुए वालों के बन्धन) से बड़े भारी पक्षी को फँसाया जाता है, और वल्गा (लगाम) के बल से बड़े भारी घोड़े को रोका जाता है; बस, उसी प्रकार यम, नियम आदि अष्टाङ्ग योग के द्वारा इस मन-रूपी वानर को रोककर भगवान् 'भवानीवल्लभ' का भजन करो ।

मन्त्रौषधादिक्रियया भुजङ्गं
यथा यथा वागुरया कुरङ्गम् ।

का विषय करती हुई पार वृषभवाहन भगवान् श्रीशंकर की स्तुति समस्त भूमण्डल में व्याप्त हो !

इति श्रीप्रेममकरन्दव्याख्यासमेते काश्मीरमहाकविश्रीमज्जगद्धरभट्ट-
विरचिते भगवतो महेश्वरस्य 'स्तुतिकुसुमाञ्जलौ' महापर्व-
नाम त्रिंशं स्तोत्रम् ।

एकत्रिंशं स्तोत्रम्

अब ग्रन्थकार भगवद्भक्तिरसामृत के आस्वाद से विनीत हुए आतुरों को सदुपदेश देने के लिए 'नतोपदेश' (नम्र लोगों को उपदेश) नामक इकतीसवें स्तोत्र का प्रारम्भ करते हुए कहते हैं—

मनः समाधौ परमान्तरङ्गं
विधाय निःस्पन्दमनुत्तरङ्गम् ।
बुधा विधातुं भवभीतिभङ्गं
विभुं भजध्वं गिरिजासुजङ्गम् ॥ १ ॥

अन्वय—अयि बुधाः ! मनः समाधौ परमान्तरङ्गम् अनुत्तरङ्गम् निस्पन्दम् विधाय, भवभीतिभङ्गम् विधातुम् (यूयम्) गिरिजासुजङ्गम् विभुम् भजध्वम् ।

अर्थ—अयि विद्वज्जन ! आप लोग मन को समाधिनिष्ठ (तदेकाकार)और चाञ्चल्यादि दोषों से रहित, एवं निःस्पन्द अर्थात् सङ्कल्प विकल्प से रहित करके भवसागर के भय को भङ्ग करने के लिए अर्थात् संसार-सागर से पार होने के लिए मन, वचन, कर्म से भगवान् श्री भवानीनाथ की सेवा करो ।

पाश्यावशेनेव महाविहङ्गं
वल्गावलेनेव महातुरङ्गम् ।
निरुध्य योगेन मनःप्लवङ्गं
विभुं भजध्वं गिरिजाभुजङ्गम् ॥ २ ॥

अन्वय—पाश्यावशेन महाविहङ्गम् इव, वल्गावलेन महातुरङ्गम् इव, योगेन मनःप्लवङ्गम् निरुध्य, गिरिजाभुजङ्गम् विभुम् भजध्वम् ।

अर्थ—अयि भगवत्प्रेमियो ! जिस प्रकार पाश्या (पक्षियों के फँसाने के लिए बने हुए बालों के बन्धन) से बड़े भारी पक्षी को फँसाया जाता है, और वल्गा (लगाम) के बल से बड़े भारी घोड़े को रोका जाता है; बस, उसी प्रकार यम, नियम आदि अष्टाङ्ग योग के द्वारा इस मन-रूपी वानर को रोककर भगवान् 'भवानीवल्लभ' का भजन करो ।

मन्त्रौषधादिक्रियया भुजङ्गं
यथा यथा वागुरया कुरङ्गम् ।
मनस्तथाऽऽयम्य धियाऽस्तसङ्गं
विभुं भजध्वं गिरिजाभुजङ्गम् ॥ ३ ॥

अन्वय—यथा कश्चित् मन्त्रौषधादिक्रियया भुजङ्गम् आयच्छति, यथा च वागुरया कुरङ्गम् आयच्छति, तथैव धिया(एकाग्रचित्ततारूपया)अस्तसङ्गम् मनः आयम्य, गिरिजाभुजङ्गम् विभुम् भजध्वम् ।

अर्थ—अयि मदसद्विवेकियो ! (यदि आप इस आवागमन के चक्र से छुटकारा चाहते हों, तो) जैसे कोई मणि-मन्त्र और औषधि के द्वारा भयङ्कर भुजङ्ग को पकड़ लेता है एवं जैसे कोई वागुरा (मृग-बन्धनी) से मृग को पकड़ लेता है, वैसे ही आप लोग एकाग्रचित्तता-रूपी बुद्धि से विषयासक्त मन को पकड़कर 'श्री पार्वतीप्राणवल्लभ' की आराधना करो ।

भित्त्वाऽलिकं सभ्रुकुटीविभङ्गं
यस्याऽग्निरुद्यन्नभसादनङ्गम् ।
ददाह तं मोहतमःपतङ्गं
विभुं भजध्वं गिरिजाभुजङ्गम् ॥ ४ ॥

अन्वय—यस्य सभ्रुकुटीविभङ्गम् अलिकम् भित्त्वा उद्यन् अग्निः रभसात् अनङ्गम् ददाह, तम् मोहतमःपतङ्गम् विभुम् गिरिजाभुजङ्गम् भजध्वम् ।

अर्थ—जिस परमेश्वर के सुन्दर भ्रुकुटियों से सुशोभित ललाट को भेदन करके (तीसरे नेत्र से) प्रकट होते हुए अग्नि ने क्षण-मात्र में ही 'जगद्विजयी' काम देव को भस्म कर डाला, उस 'मोहरूपी महाअन्धकार' के नाशक भगवान् 'भोलेनाथ' का भजन करो ।

वहन्तमुद्दामभुजङ्गमङ्गं
जटाभरं निर्भरनाकगङ्गम् ।
विलोचनं चाग्निशिखापिशङ्गं
विभुं भजध्वं गिरिजाभुजङ्गम् ॥ ५ ॥

अन्वय—उद्दामभुजङ्गम् अङ्गम् वहन्तम्, निर्भरनाकगङ्गम् जटाभरम् वहन्तम्, अग्निशिखापिशङ्गम् विलोचनम् च वहन्तम्, गिरिजाभुजङ्गम् विभुम् भजध्वम् ।

अर्थ—महाभयङ्कर फणधर सर्पों को लिपटाये हुए 'अङ्ग' को धारण करनेवाले, मस्तक पर अचल सुर-गङ्गा (मन्दाकिनी) से विराजित 'जटाजूट' को धारण करनेवाले और ललाट में अग्निज्वाला से पिशङ्ग 'नेत्र' को धारण करनेवाले 'श्री गिरिजा-भुजङ्ग' (श्री शिव) का स्मरण करो ।

भवबन्धबद्धत्रिपुरोद्धरणं
फणिमण्डलध्वलदलङ्करणम् ।

व्रजत क्षमाधरदरीशरणं
शरणं तुषारकिरणाभरणम् ॥ ६ ॥

अन्वय—अयि भक्तिरसास्वादज्ञा. विद्वांस. ! (यूयम्) भवबन्धनद्ध-विधुरोद्धरणम् फणिमण्डलजलदलङ्करणम् क्षमाधरदरीशरणम् तुषारकिरणा-भरणम् शरणम् व्रजत !

अर्थ—अयि भक्तिरसास्वाद के जाननेवाले विद्वानो ! आप लोग ससार रूपी पाश के बन्धन से व्याकुल हुए ससारी जीवों का उद्धार करनेवाले, वासुकि आदि सर्पों के अलङ्कार (हार, कङ्कण आदि आभूषण) को धारण करनेवाले और हिमालय पर्वत की गुहा में निवास करनेवाले 'चन्द्रमौलि' की शरण मे जाओ।

कृतघस्मरस्मरनिराकरणं
कटुकालकूटकवलीकरणम् ।
व्रजत प्रपन्नजनताशरणं
शरणं तुषारकिरणाभरणम् ॥ ७ ॥

अन्वय—अयि भावुका ! कृतघस्मरस्मरनिराकरणम्, कटुकालकूट-कवलीकरणम्, प्रपन्नजनताशरणम्, तुषारकिरणाभरणम् शरणम् व्रजत ।

अर्थ—अयि भावुको ! त्रैलोक्य को क्षुब्ध करनेवाले कामदेव का निराकरण करनेवाले, महान् उग्र कालकूट विष का ग्रास करनेवाले और प्रपन्न जनो को शरण देनेवाले भगवान् श्री चन्द्रशेखर की शरण लीजिए।

मरुमेदिनीरचितसंचरणं
त्रिदशेन्द्रशेखरमरन्दचरणम् ।
व्रजत त्रिदुःखहरणस्मरणं
शरणं तुषारकिरणाभरणम् ॥ ८ ॥

सुर के साथ संग्राम करनेवाले भगवान् 'चन्द्रशेखर' की शरण में पधारिए।

तरुणतमालमलीमसनालं
ज्वलनशिखापटलोज्ज्वलभालम्।
शिरसि लसत्परमेष्ठिकपालं
श्रयत विभुं हतकल्मषजालम् ॥ ११ ॥

अन्वय—अयि सहृदयाः (यूयम्) तरुणतमालमलीमसनालम्, ज्वलनशिखापटलोज्ज्वलभालम्, शिरसि लसत्परमेष्ठिकपालम् हतकल्मषजालम् विभुम् श्रयत।

अर्थ—अयि सहृदयजन! आप नवीन तमाल-पुष्प के समान नीले 'नाल' (कण्ठ) वाले, अग्नि की ज्वालाओं से उज्ज्वलित-भालवाले, मस्तक में 'ब्रह्मकपाल' (महाप्रलय के समय कालाग्नि रुद्र रूप धारण करके संहारित किये हुए ब्रह्मादिकों के मस्तकों की माला) को धारण करनेवाले एवं समस्त पातकों के 'जाल जञ्जाल' को नष्ट कर देनेवाले प्रभु का आश्रय लीजिए।

नरमुखकल्पितशेखरमालं
नतजनजम्भितमोहतमालम्।
नयनशिखाशतशातितकालं
श्रयत विभुं हतकिल्बिषजालम् ॥ १२ ॥

अन्वय—नरमुखकल्पितशेखरमालम्, नतजनजम्भितमोहतमालम् नयनशिखाशतशातितकालम्, हतकिल्बिषजालम् विभुम् श्रयत।

---

* नृमुखेति नराः (नॄ नये) नरा यत्र नेतारो महादेवः सेवों महाप्रलयेषु संहारितानां मुखैर्मुण्डैः कल्पिता शेखरमाला येन सः।

अर्थ—अयि विवेकी जनो! मस्तक पर नर-मुण्ड-माल को धारण किये हुए, विनीत जनों के 'मोह-तमाल' (मोहान्धकार) को दूर करनेवाले, नेत्र की अग्निज्वालाओं से काल को दग्ध करनेवाले एवं शरणागतों के 'पापजाल' के छेदन करनेवाले परमेश्वर की शरण लीजिए।

विषमविषाग्निशिखाविकरालं
फणिपतिहारमतीवविशालम्।
गलभुवि बिभ्रतमुग्रसिरालं
श्रयत विभुं हतकल्मषजालम्॥ १३॥

अन्वय—विषमविषाग्निशिखाविकरालम्, गलभुवि अतीवविशालम्, फणिपतिहारम् बिभ्रतम् उग्रसिरालम्, हतकल्मषजालम् विभुम् श्रयत।

अर्थ—अत्यन्त उग्र विष-रूप अग्नि की ज्वालाओं से विकराल, और कण्ठतट पर अतीव विशाल नागराज के हार को धारण किये हुए, निज गणाधीश श्री भृङ्गरिटि स्वरूप से उग्रनाड़ियों को धारण करनेवाले एवं पापों के जाल का मूलोच्छेदन करनेवाले परमेश्वर का आश्रय लीजिए।

विदलयितुं यमृते भवतालं
त्रिभुवनसीमनि कश्चन नाऽलम्।
तममलमानसवासमरालं
श्रयत विभुं हतकिल्बिषजालम्॥ १४॥

अन्वय—यम् ऋते त्रिभुवनसीमनि भवतालम् विदलयितुम् कश्चन न अलम्, तम् अमलमानसवासमरालम् हतकिल्बिषजालम् विभुम् श्रयत।

अर्थ—इस संसाररूपी ताल-वृक्ष का मूलोच्छेदन करने को त्रिभुवन की सीमा में जिस (प्रभु) के सिवाय दूसरा कोई भी नहीं समर्थ हो सकता है, उस निर्मल अन्तःकरण-रूपी मानसरोवर में निवास

करनेवाले हंस—एवं पातकों के जाल को दूर करनेवाले प्रभु की शरण लीजिए।

कमलपरागपिशङ्गजटालं
　जलधि-समर्पण-तर्पितबालम्।
भवभटभङ्गमहाकरवालं
　श्रयत विभुं हृतकल्मषजालम्॥ १५॥

अन्वय—कमलपरागपिशङ्गजटालम् जलधिसमर्पणतर्पितबालम्, भवभटभङ्गमहाकरवालम्, हृतकल्मषजालम् विभुम् श्रयत।

अर्थ—अयि प्रेम-पथिका! आप लोग कमल के केसर के समान पिङ्गल जटाजूट वाले, क्षीरसागर प्रदान करके बालक (उपमन्यु) को तृप्त करनेवाले, इस संसार-रूपी वीर-योद्धा के विघातन करने में तीक्ष्ण खड्ग के समान, उस पाप-राशि-नाशी अविनाशी प्रभु का आश्रय लीजिए।

अतिघस्मर-भस्मरजोधवलं
　नतलोकसमर्पितबोधफलम्।
ध्वजधामविराजिमहाधवलं
　भजत प्रभुमद्रिसुताधवलम्॥ १६॥

अन्वय—अतिघस्मरभस्मरजोधवलम्, नतलोकसमर्पितबोधफलम्, ध्वजधामविराजिमहाधवलम् अद्रिसुताधवलम् प्रभुम् भजत।

अर्थ—अतीव घस्मर (अर्थात रूक्ष) भस्म की रज से धवल, विनीत जनों को बोध-फल समर्पित करनेवाले एवं महा धवल[१] (श्वेत वृषभ) से विराजित ध्वजा को धारण करनेवाले गिरिजा-धवल (पार्वती-प्राणनाथ) का भजन कीजिए।

---

(१) 'धवलश्चुण्णां पदवीं कासारोपि विप्रमन्वेति' इति कविप्रयोगा-दयश्चोऽपि वृषवाचकः।

प्रभया परिभूतदलद्गवलं
गलमङ्गदरत्नशिखाशवलम् ।
दधतं विपक्लृप्तमहाकवलं
भजत प्रभुमद्रिसुताधवलम् ॥ १७ ॥

अन्वय—प्रभया परिभूतदलद्गवलम्, अङ्गदरत्नशिखाशवलम्, गलम् दधतम्, विपक्लृप्तमहाकवलम् अद्रिसुताधवलम् प्रभुम् भजत ।

अर्थ—नील प्रभा के द्वारा गवल (महिष-शृङ्ग) के विलज्जित करनेवाले, केयूर (अंगद) की तरह धारण किये हुए वासुकि की रत्न-ज्वालाओं से शबल कण्ठ के धारण करनेवाले, और अयुग्म कालकूट का महाकवल करनेवाले श्री गिरिजा-धवल का भजन करो।

शिखरं द्युनदीलहरीतरलं
गलमूलमुपोढमहागरलम् ।
दधतं हृदयं च सुधासरलं
भजत प्रभुमद्रिसुताधवलम् ॥ १८ ॥

अन्वय—द्युनदीलहरीतरलम् शिखरम् दधतम् उपोढमहागरलम् गलमूलम् दधतम्, सुधासरलम् हृदयम् च दधतम् अद्रिसुताधवलम् प्रभुम् भजत।

अर्थ—आकाश-गंगा (मन्दाकिनी) की लहरों से चञ्चल मस्तक धारण करनेवाले, महा हालाहल से नील कण्ठमूल को धारण करनेवाले एवं सुधा के समान सरल हृदय को धारण करनेवाले भगवान् श्री गिरिजापति की सेवा करो।

अपनीतकुकर्मकलङ्कमलं
नतलोकवितीर्णमहाकमलम् ।
ददतं शुभसिद्धिविपाकमलं
भजत प्रभुमद्रिसुताधवलम् ॥ १९ ॥

अन्वय—अयि सहृदयाः ! अपनीतकुकर्मकलङ्कमलम्, नतलोकवितीर्ण-महाकमलम्, अलम् शुभसिद्धिविपाकम् ददतम् अद्रिसुताधवलम् प्रभुम् भजत ।

अर्थ—अयि भक्तिभावुको ! शरणागतों के कुकर्म-रूप कलङ्क के मल को दूर करनेवाले, विनीत जनों को महान् सम्पत्ति प्रदान करनेवाले, एवं अणिमादि अष्ट महासिद्धियों के फल को वितरण करनेवाले भगवान् कैलासपति की आराधना कीजिए ।

ददतं वचनं घनहासकलं
नमतां दलयन्तमघं सकलम् ।
भजतां च दिशन्तमभीष्टफलं
भजत प्रभुमद्रिसुताधवलम् ॥ २० ॥

अन्वय—घनहासकलम् वचनम् ददतम्, नमताम् सकलम् अघम् दलयन्तम्, भजताम् च अभीष्टफलम् दिशन्तम् प्रभुम् अद्रिसुताधवलम् भजत ।

अर्थ—अयि विनीत जनो ! शरणागतों को सघन हास्य से सुशोभित अभय वचन देनेवाले, भक्तों के सकल पातकों को नष्ट करनेवाले और सेवकों को मनोभीष्ट वर देनेवाले श्री गिरिजावल्लभ प्रभु का आराधन किया करो ।

अविरतनतिपरसुरवरशिखर-
प्रणिहितमणिगणमसृणितचरणम् ।
सितकरकरभरधवलितमुकुटं
प्रणमत पुरहरमशरणशरणम् ॥ २१ ॥

अन्वय—अविरतनतिपरसुरवरशिखरप्रणिहितमणिगणमसृणितचरणम्, सितकरकरभरधवलितमुकुटम् अशरण-शरणम् पुरहरम्, प्रणमत ।

अर्थ—सदैव स्तुति में तत्पर हुए ब्रह्मादि देवों के शिरो-मुकुटों पर जड़े हुए मणि-गणों से रञ्जित चरणोंवाले, चन्द्रमा की किरणों से स्वच्छ मस्तकवाले और अशरणों (अनाथ जनों) को शरण देनेवाले त्रिपुर-हर श्री शङ्कर का स्मरण करो ।

(किन्तु) निखिलविषमभवभरमहार्णवतरणम् अखिलधराधरदुहितृवल्लभ-चरणपङ्कजपूजनम् भजत।

अर्थ—अरे ओ भोले-भाले अज्ञानियो! आप लोग, कलुषित नेत्रों के राग (अन्धकार) को हटानेवाले (उत्तम औषधादि) अञ्जन का दूर कीजिए; और दुःखित-हृदय को आनन्दित करनेवाले सुशीतल मलयागिरि चन्दन के सुगन्धित लेपन को भी छोड़ दीजिए! किन्तु इस महा विषम (अपार) भवसागर से पार करनेवाले नगेन्द्र-कन्या-नाथ के चरण पङ्कज का पूजन कीजिए।

सकलकलिमलपटलपन्नगनिग्रहखण्डनपण्डितं
विशदशशधरशकलशोभितमुकुटमण्डनमण्डितम्।
हृदयमीहितुमभयमुन्मदमदनदुर्नृपदण्डितं
भजतदुस्तरदुरितवारिधितर[1]तरण्डमखण्डितम् ॥२७॥

अन्वय—अयि मन्दमतय! उन्मदमदनदुर्नृपदण्डितम् हृदयम् अभयम् ईहितुम्, सकलकलिमलपटलपन्नगनिग्रहखण्डनपण्डितम्, विशदशशधरशकल-शोभितमुकुटमण्डनमण्डितम्, अखण्डितम् दुस्तरदुरितवारिधितरतरण्डम् भजत।

अर्थ—अयि मन्दमति! उन्मत्त कामदेव रूपी दुष्ट नृप से दण्डित किये हृदय को निर्भय करने के लिए आप लोग, कलिकाल के मल-पटल (पाप पुञ्ज) रूपी नागकीट के खण्डन करने में अति प्रवीण, विशद चन्द्रकला से शोभायमान मुकुट से मण्डित एवं दुस्तर पातक रूपी महासागर को पार करने में अखण्ड नौका-तुल्य भगवान भवानीनाथ की आराधना करो।

[इस प्रकार भावुकों को सदुपदेश करके 'प्रभु' से भी कुछ कहते हुए तीन श्लोकों द्वारा अब इस स्तोत्र का भी उपसंहार करते हैं—]

---

(१) 'वरतरण्ड' इत्यपि पाठः।

जितसुधाकरगिरिसुताकरसरसिजादरलालितं
नतपुरंदररुचिरशेखरकुसुमकेसररञ्जितम् ।
द्रुहिण-माधव-कुमुदबान्धव-कमलिनीधव-सेवितं
वितर मूर्धनि चरणपङ्कजममृतशीकरशीतलम् ॥२८॥

अन्वय—अयि भगवन् ! जितसुधाकरगिरिसुताकरसरसिजादरलालितम्, नतपुरन्दररुचिरशेखरकुसुमकेसररञ्जितम्, द्रुहिणमाधवकुमुदबान्धव कमलिनीधवसेवितम् अमृतशीकरशीतलम् चरणपङ्कजम् (मम) मूर्धनि वितर ।

अर्थ—अयि नाथ ! चन्द्रमा को विलज्जित कर देनेवाले गिरि-सुता जी के कोमल कर-कमलों से लालित, चरणों मे नम्र हुए देवराज (इन्द्र) के अति मनोहर मस्तक पर गुँथे हुए कल्पद्रुम और पारिजात के सुगन्धित कुसुमों के केसर से रञ्जित, ब्रह्मा विष्णु और चन्द्र सूर्य से सेवित एवं अमृत के कणों के समान सुशीतल चरणकमल को मुझ शरणागत के मस्तक पर रख दीजिए ।

अवटमज्जनजनिततर्जनवृजिनभञ्जनसाधनं
कृतनमज्जनहृदयरञ्जनचिरनिरञ्जनपूजनम् ।
त्रिपुरमारणदुरितदारणदरनिवारणकारणं
वितर मूर्धनि चरणपङ्कजममृतशीकरशीतलम् ॥२९॥

अन्वय—अयि विभो ! अवटमज्जनजनिततर्जनवृजिनभञ्जनसाधनम्, कृतनमज्जनहृदयरञ्जनचिरनिरञ्जनपूजनम्, त्रिपुरमारणदुरितदारणदरनिवारणकारणम्, अमृतशीकरशीतलम् (स्वीयम्) चरणपङ्कजम् (मम) मूर्धनि वितर ।

अर्थ—हे विभो ! कुत्सित काय(दुष्कर्म)रूप गर्त में गिराकर महान् त्रास देनेवाले पापो को समूलोच्छेदन कर देनेवाले, निष्कपट पूजन के द्वारा भक्त जनों के हृदय को आह्लादित कर देनेवाले, एवं त्रिपुरासुर के मारण और पातकों के विदारण तथा संसार के भय का निवारण करने में अतिशय प्रवीण अपने अमृत के समान सुशीतल 'चरण-पङ्कज' को मुझ अनाथ के मस्तक पर रख दीजिए ।

ज्वलदनर्गलभवदवानल-कवलिताकुलचेतसं
चतुरमुद्धर हर जगद्धरमशरणं शरणागतम् ॥३॥

अन्वय—हे हर! प्रमुखपेशलविषमवैरसविषयपाशवशीकृतम्, प्रकृतिदुर्ग्रहगुरुपरिग्रहनिबिडपीडितविग्रहम्, ज्वलदनर्गलभवदवानलकवलिताकुलचेतसम् अशरणम् शरणागतम् (माम्) जगद्धरम् चतुरम् उद्धर।

अर्थ—प्रभो! आरम्भ में सुख देनेवाले (और परिणाम में महान् दुःख देनेवाले) महा हिंसक विषयरूपी नागपाशों से पकड़े हुए, महा उग्र स्वभाववाले परिग्रह(परिकर)से अतिशय पीडित, एवं संसाररूपी महाघोर दावानल से ग्रसित चित्तवाले अनाथ शरणागत मुझ 'जगद्धर' का शीघ्र उद्धार कीजिए।

पवनवेल्लितकमलिनीदलतलचलज्जलचञ्चलं
विभवयौवनसुतसुखादिकमितिविवेकविसंस्थुलम्।
बलवदिन्द्रियकपटतस्करहठविलुण्ठनविह्वल
चतुरमुद्धर हर जगद्धरमशरणं शरणागतम् ॥ ४ ॥

अन्वय—हे हर! विभवयौवनसुतसुखादिकम् (सर्वम्) पवनवल्लितकमलिनीदलतलचलज्जलचञ्चलम् (भवति) इतिविवेकविसंस्थुलम् तथा बलवदिन्द्रियकपटतस्करहठविलुण्ठनविह्वलम्, अशरणम् शरणागतम् जगद्धरम् (त्वम्) चतुरम् उद्धर।

अर्थ—अयि शरणागतवत्सल! धनसम्पत्ति, यौवन, पुत्र, सुख आदि यह सभी वैभव वायु के वेग से कम्पित हुए कमल पत्र पर हिलते हुए जल बिन्दु के समान चञ्चल अर्थात् अत्यन्त क्षणभङ्गुर हैं। इस प्रकार के विवेक से हीन और उस पर भी महाबलवान् इन्द्रियरूपी कपट-तस्करों (छिपे हुए डाकुओं) के बलात्कार से पीडित 'जगद्धर' नामक अनाथ शरणागत का शीघ्र उद्धार कीजिए।

समदनन्दनमदनमर्दन दुरिततर्दनलोलुभं
भुवनभावन परमपावन सुदृढभावनमानतम्।

शशिकलाञ्छितमुकुटलाञ्छित विफलवाञ्छितमाकुलं
चतुरमुद्धर हर जगद्धरमशरणं शरणागतम् ॥ ५ ॥

अन्वय—हे हर ! हे समदनन्दनमदनमर्दन ! हे भुवनभावन ! हे परमपावन ! हे शशिकलाञ्छितमुकुटलाञ्छित ! (त्वम्) दुरिततर्दनलोलुभम्, विफलवाञ्छितम्, आकुलम्, सुदृढभावनम्, आनतम् अशरणम् (माम्) शरणागतम् जगद्धरम् चतुरम् उद्धर ।

अर्थ—हे हर ! हे महामदमत्त कामदेव के मर्दन करनेवाले ! हे सकल भुवन-पालक ! अयि परम पावन ! अयि चन्द्रकला से सुशोभित मुकुटवाले परमेश्वर ! पापो का तिरस्कार करनेवाले अर्थात् पापो को दूर करने की अभिलाषावाले, विफल-मनोरथ, अतीव व्याकुल, आपके चरणो मे दृढ़-भावना रखनेवाले, अतीव विनम्र और शरणहीन-शरणागत मुझ 'जगद्धर' का शीघ्र उद्धार कीजिए ।

जगदनुग्रहमहितविग्रह कृतपरिग्रहसद्ग्रह
त्रिपुरशासनं शबलवासनमसदुपासनलालसम् ।
घनचमत्कृतिकृतनमस्कृतिमुचितसत्कृतिसस्पृहं
चतुरमुद्धर हर जगद्धरमशरणं शरणागतम् ॥ ६ ॥

अन्वय—अयि जगदनुग्रहमहितविग्रह ! हे त्रिपुरशासन ! हे हर ! कृतपरिग्रहसद्ग्रहम्, शबलवासनम्, असदुपासनलालसम्, घनचमत्कृतिकृतनमस्कृतिम्, उचितसत्कृतिसस्पृहम्, अशरणम्, शरणागतम् (माम्) जगद्धरम् चतुरम् उद्धर ।

अर्थ—हे समस्त जगत् के उपकार से श्लाघ्य मूर्तिवाले ! हे त्रिपुरारे ! हे आपत्तिहर ! परिकर (कुटुम्बी जनो) में आसक्ति रखनेवाले, कलुषित (मलिन) वासनावाले, असत् (मायिक प्रपञ्च, अथवा दुर्जनों) मे प्रीति करनेवाले, बड़े ही चमत्कारपूर्वक (खिले हुए ढंग से) आपको नमस्कार करनेवाले एवं योग्य सत्कार (उचित पूजन) की अभिलाषा रखनेवाले, अनाथ शरणागत मुझ जगद्धर का शीघ्र उद्धार कीजिए ।

वरद नन्दय विपदमर्दय किमिति निर्दयतेदृशी
कृतनिवेदनमतुलवेदनमुदितखेदनवापदम् ।
दिश यशोधन हृदयशोधन-विमलबोधनदीं दृशं
चतुरमुद्धर हर जगद्धरमशरणं शरणागतम् ॥ ७ ॥

अन्वय—हे वरद ! कृतनिवेदनम् अतुलवेदनम् उदितखेदनवापदम् (माम्)नन्दय, विपदम् अर्दय, हे नाथ ! (ते) ईदृशी निर्दयता किमिति (भवति ?) हे यशोधन ! हृदयशोधनविमलबोधनदीम् दृशम् दिश, हे हर ! अशरणम् शरणागतम्(माम्)जगद्धरम् चतुरम् उद्धर ।

अर्थ—हे स्वामिन् ! आपसे अपनी व्यथा का निवेदन करनेवाले, अतीव पीड़ित और खेदरूपी नूतन विपदा से ग्रस्त हुए मुझ दीन को आनन्दित कीजिए । प्रभो, विपत्ति को दूर कीजिए । नाथ, क्यों आप इतने निर्दयी हो गये हैं ? हे महाउदार-कीर्तिशाली प्रभो ! मलिन हृदय को विशुद्ध करने के लिए विमल बोध रूपी नदी के तुल्य अपनी अनुग्रह-दृष्टि अर्पित कीजिए । हे हर ! अनाथ शरणागत मुझ जगद्धर का शीघ्र उद्धार कीजिए ।

अभयमर्पय कपटमलय शिरसि कलय मे पदं
मुखमुदश्चय वचनमञ्चय वरद वञ्चय मा नतम् ।
भृशमविश्रमकृतपरिश्रमशतमतिश्रमनिःसहं
चतुरमुद्धर हर जगद्धरमशरणं शरणागतम् ॥ ८ ॥

अन्वय—हे वरद ! अभयम् अर्पय, कपटम् अलय, मे शिरसि पदम् कलय, मुखम् उदश्चय, वचनम् अञ्चय (मुख)। विभो ! नतम् (विनीतम् माम्) मा वञ्चय । भृशम् अविश्रमकृतपरिश्रमशतम्, अतिश्रमनिःसहम् अशरणम् शरणागतम् जगद्धरम् चतुरम् उद्धर ।

अर्थ—हे वरद ! मुझे अभयदान दीजिए । इस कपट को हटा दीजिए । प्रभो ! अपने चरण पङ्कज को मेरे शिर पर रख दीजिए और अपनी मौनमुद्रा को छोड़कर (अभय) वचन सुना दीजिए ।

नाथ! विनीत शरणागत को मत वञ्चित कीजिए। अयि विभो! नितान्त परिश्रम से खिन्न और अतीव निःसह, अनाथ शरणागत 'जगद्धर' का शीघ्र उद्धार कीजिए।

इति श्रीप्रेममकरन्दव्याख्योपेते काश्मीरकमहाकविश्रीमज्जगद्धरभट्ट-
विरचिते भगवतो महेश्वरस्य स्तुतिकुसुमाञ्जलौ
'शरणागतोद्धरण' नाम द्वात्रिंश स्तोत्रम्।

त्रयस्त्रिंशं स्तोत्रम्

अब यहाँ से ग्रन्थकार 'कर्णपूर' (कर्णों का आभूषण) नामक ३३ वें स्तोत्र की रचना करते हैं—

काञ्चीकाञ्चनकिङ्किणीकलकलः शिञ्जानमञ्जीरजो
झाङ्कारः सकलाङ्गभूषणमणिश्रेणीझणाडम्बरः।
वाग्देव्याः प्रचलस्ख[1]लद्भुजलताक्षेपक्वणत्कङ्कण-
क्वाणश्चङ्क्रमणक्रमे विजयते चन्द्रार्धमौलेः स्तवः॥ १॥

अन्वय—वाग्देव्याः चङ्क्रमणक्रमे, काञ्चीकाञ्चनकिङ्किणीकलकलः, शिञ्जानमञ्जीरजः झाङ्कारः सकलाङ्गभूषणमणिश्रेणीझणाडम्बरः, प्रचलस्खलद्भुजलताक्षेपक्वणत्कङ्कणक्वाणः चन्द्रार्धमौलेः स्तवः विजयते।

अर्थ—श्रीश्रीसरस्वती देवी के क्रीडारम्भ क्रम में काञ्ची (करधनी) पर गुँथी हुई सुवर्णमय किङ्किणियों (छोटी घण्टिकाओं) का कलकल, शब्दायमान नूपुरों का मनोहर शब्द, वाग्देवी (श्रीसरस्वती) के समस्त अङ्गों पर सुशोभित मणिगणों का झणझण और स्खलित होती हुई भुजाओं के शब्दायमान कङ्कणों का क्वणन (शब्द) भग-

(१) 'प्रचलोच्छलत्' इत्यपि पाठः।

वान् सदाशिव का स्तव(स्तोत्र)सर्वोत्कृष्ट है, अर्थात् उसे मैं नमन करता हूँ ।

स्वामिन् वाङ्मयदेवता भगवती स्वेच्छाविहारक्रिया-
क्रीडाकाननमाननं भव भवद्भक्तस्य नूनं व्यधात् ।
नोचेन्नूतननूतनः प्रतिदिनं हृद्यः समुद्यन्क्रमा-
दस्मिन्नुज्ज्वलवर्णकोमलपदन्यासः कथं लक्ष्यते ॥ २ ॥

अन्वय—हे स्वामिन् ! हे भव ! नूनम्, भगवती वाङ्मयदेवता भवद्भक्तस्य आननम् स्वेच्छाविहारक्रियाक्रीडाकाननम् व्यधात् ' (एवम्) नो चेत्, तर्हि अस्मिन् प्रतिदिनम् क्रमात् समुद्यन् नूतननूतन हृद्य उज्ज्वलवर्णकोमल पदन्यास कथम् लक्ष्यते ?

अर्थ—हे नाथ ! हे सदाशिव !! भगवती श्री वाग्देवी(सरस्वती) ने आपके सेवक के मुख को अवश्य ही अपना स्वेच्छा-विहार-स्थल (स्वतन्त्र क्रीडा करने का स्थल)बना लिया है । यदि ऐसा नहीं, तो फिर इसमें प्रतिदिन क्रमश अत्युज्ज्वल वर्णो (अक्षरों)वाला नवीन नवीन सुमनोहर पदन्यास (कविता क्रम) क्यों देखने में आता है ?

स्वैरं कैरविणीकुटुम्बकलिकालङ्कार सारस्वत-
स्फारस्वारसिकप्रसादविशदस्वाधीनवाग्देवताः ।
धन्याः सत्कवयस्तव स्तवनिभात्त्वद्भक्तिभाजां विप-
त्तापाऽपाकृतये दिशन्ति शिशिरस्निग्धाः सुधाविप्रुषः ॥३॥

अन्वय—अयि कैरविणीकुटुम्बकलिकालङ्कार ! सारस्वतस्फारस्वारसिकप्रसादविशदस्वाधीनवाग्देवता धन्या सत्कवय, तव स्तवनिभात् (स्तुतिव्याजात्)त्वद्भक्तिभाजाम् विपत्तापाऽपाकृतये स्वैरम् शिशिरस्निग्धा सुधाविप्रुष (अमृतकणान्)दिशन्ति ।

अर्थ—अयि चन्द्रमुकुट ! अलौकिक पाण्डित्य के प्रवाह की स्वाभाविकी प्रसन्नता के द्वारा सरस्वती को स्वाधीन कर लेनेवाले

धन्यात्मा सत्कवि लोग, आपकी स्तुति के व्याज से आपके भक्तों की विपत्ति और सताप को दूर करने के लिए अतिशय शीतल और सुकोमल अमृत-कणों को बरसाते हैं।

यस्य त्वन्नमनैः शिरोदशशती सौन्दर्यसंदर्शनै-
श्चारित्रश्रवणोत्सवैश्च भवतश्चक्षुःसहस्रद्वयम्।
साफल्यं रसनासहस्रयुगलं त्वत्कीर्तनैश्चाश्नुते
त्रैलोक्याद्भुतमूर्तये भगवते शेषाय तस्मै नमः ॥ ४ ॥

अन्वय—हे भगवन्! यस्य शिरोदशशती त्वन्नमनै साफल्यम् अश्नुते, चक्षु सहस्रद्वयम् च भवत सौन्दर्यसन्दर्शनै चारित्रश्रवणोत्सवै च साफल्यम् अश्नुते, रसनासहस्रयुगलम् च त्वत्कीर्तनै साफल्यम् अश्नुते, तस्मै त्रैलोक्याद्भुतमूर्तये भगवते शेषाय नम।

अर्थ—हे भगवन्! जिसके एक हजार मस्तक आपको प्रणाम करने से सफलता (कृतार्थता) को प्राप्त होते हैं, और आपके मनोहर सौन्दर्य के दर्शन तथा आपके अद्भुत चरित्रों के श्रवण से दो हजार नेत्र भी साफल्य को प्राप्त होते हैं, एवं आपके गुणानुवाद से जिसकी दो हजार जिह्वाएँ साफल्य को प्राप्त होती हैं, उस त्रैलोक्य से अद्भुत मूर्तिवाले भगवान् शेष (नाग राज) को हमारा प्रणाम है।

राकेन्दोरपि माधवादपि सतां सङ्गादपि स्वामिनः
सम्मानादपि कामिनीकुचयुगाभोगोपभोगादपि।
शम्भो शर्व शशाङ्कशेखर शिव श्रीकण्ठ विश्वेश्वर
त्रायस्वेति सतां हरन्ति हृदयं सान्द्रामृतार्द्रा गिरः ॥ ५ ॥

अन्वय—हे शम्भो! शर्व! शशाङ्कशेखर! शिव! श्रीकण्ठ! विश्वेश्वर! (माम्) त्रायस्व, इति सताम् सान्द्रामृतार्द्रा गिर, राकेन्दो अपि, माधवात् अपि, सताम् सङ्गात् अपि, स्वामिन सम्मानात् अपि कामिनीकुचयुगाभोगोपभोगात् अपि (अधिकम्) हृदयम् हरन्ति।

अर्थ—अयि शम्भो ! हे शर्व ! हे चन्द्रशेखर ! हे शिव ! हे श्रीकण्ठ ! हे विश्वनाथ ! मां त्रायस्व (मेरी रक्षा करो !) इस तरह की सज्जनों की सुकोमल अमृतमयी सूक्तियाँ भावुकों के हृदय को—पूर्ण चन्द्रमा से भी अधिक, वसन्त से भी अधिक, मत्तङ्गति से भी अधिक, स्वामी के सम्मान से भी अधिक एवं कामिनी के विशाल स्तन-युगल के गाढ़ालिङ्गन से भी अधिक आकर्षित करती हैं !

श्यामाकामुकमाधवादिविरसं नासीरकस्तूरिका-
काश्मीरादिनिरादरं मलयजालेपावलेपावहम् ।
कुर्वन्ति मविधूतनूतनवधूगाढाङ्गसङ्गस्पृह
चेतः कस्य न शाम्भवस्तवसुधासिक्ताः सतां सूक्तयः ॥६॥

अन्वय—शाम्भवस्तवसुधासिक्ताः सताम् सूक्तयः कस्य चेतः श्यामाकामुकमाधवादिविरसम्, नासीरकस्तूरिकाकाश्मीरादिनिरादरम्, मलयजालेपावलेपावहम्, प्रविधूतनूतनवधूगाढाङ्गसङ्गस्पृहम् न कुर्वन्ति ?

अर्थ—शङ्कर की स्तुति-रूपी सुमधुर-सुधा से सींची हुई—भावुकों की—सूक्तियाँ किस सचेतन के चित्त को पूर्ण चन्द्रमा, वसन्त आदि पदार्थों में निःस्पृह, तथा कर्पूर, कस्तूरिका, काश्मीरी केसर आदि में निरादर, सुशीतल मलयगिरि चन्दन के लेप से उदासीन और नववधू के गाढालिङ्गन से विरक्त नहीं कर देती हैं ? अर्थात् भावुकों की सदुक्तियाँ सभी के चित्त को सांसारिक पदार्थों से विरक्त कर देता हैं ।

यस्यैताः स्तवसूक्तयस्तव मुखे खेलन्ति हेलाजित-
ज्वालाजालजटालकालरसनासरम्भसंभावनाः ।
वल्गन्त्यस्य पुरः पुरन्दरपुरीकान्ताकटाक्षच्छटा-
बाणश्रेणि-शरव्य-दिव्य-वपुषः स्वर्वन्दिवृन्दोक्तयः ॥ ७ ॥

अन्वय—हे भगवन् ! हेलाजितज्वालाजालजटालकालरसनासरम्भसंभावनाः एताः तव स्तवसूक्तयः यस्य मुखे खेलन्ति, अस्य पुरन्दरपुरीकान्ता-

कटाक्षच्छटाबाणश्रेणिशरव्यदिव्यवपुषः पुरः स्वर्वन्दिवृन्दोक्तयः वल्गन्ति (उल्लसन्ति)।

अर्थ—हे भगवन् ! क्रोध-ज्वालाओं से जटिल काल की विकराल जिह्वा के आटोप (वेग) को बिना ही पौरुषार्थ के अर्थात् सहज में ही पराभूत कर देनेवाली यह आपकी स्तुति-रूपी सूक्तियाँ जिस भाग्यवान् के मुख मे खेलती हैं, उस पुण्यात्मा का दिव्य शरीर इन्द्रनगर (स्वर्ग) को अङ्गनाओं के कटाक्ष-रूपी बाणों का लक्ष्य बन जाता है, अतएव उस (धन्यात्मा) के आगे समस्त देवाङ्गनाओं की सुललित मधुर उक्तियाँ विहार किया करती हैं !

हर्षोत्कर्षविवर्द्धिनीः परिणतक्षौद्रद्रवस्पर्धिनी-
धन्यानां मधुरास्तव स्तवगिरः कर्णे चिरं कुर्वताम् ।
मान्द्यं विन्दति नन्दनेन्दुवदनासंदिग्धमुग्धाधर-
प्रोन्मीलन्मधुबिन्दुसुन्दरसुधासंदोहदो दोहदः ॥ ८ ॥

अन्वय—अयि विभो ! हर्षोत्कर्षविवर्द्धिनीः परिणतक्षौद्रद्रवस्पर्द्धिनीः तव मधुराः स्तवगिरः चिरम् कर्णे कुर्वताम् धन्यानाम्, नन्दनेन्दुवदनासंदिग्ध-मुग्धाधरप्रोन्मीलन्मधुबिन्दुसुन्दरसुधासंदोहदः दोहदः मान्द्यम् विन्दति !

अर्थ—हे विभो ! हर्ष के उल्लास को बढ़ानेवाली और सुपरिपक्व मधुद्रव (मधु के रस) की स्पर्धा करनेवाली आपकी मधुर स्तुति-कथाओं को चिरकाल तक कर्णों मे धारण करनेवाले धन्यात्माओं की— नन्दन वन (स्वर्गोद्यान)में चन्द्रमुखी अङ्गनाओं के अधरामृत पान की अभिलाषा मन्द (फीकी) पड़ जाती है !

सद्विद्याभ्यसनः सभानिरसनः सौधामनाध्यासनः
शुद्धात्मग्रसनः सुपीतवसनः सत्माध्वसध्वंसनः ।
सद्धादोल्लसनः प्रसन्नहसनः संपन्नसद्मासनः
सत्काव्यव्यसनः सुधार्द्ररसनः शंभोः कृतोपासनः ॥ ९ ॥

अन्वय—शम्भोः कृतोपासनः(श्रीसदाशिवसेवकः)सद्विद्याभ्यसनः, सभानिवसनः, सौधासनाध्यासनः, शुद्धान्नप्रसनः, सुधौतवसनः, सत्प्राप्यसत्पंसनः, सह्लादोल्लसनः, प्रसन्नहसनः, सप्रश्रयद्वासनः सत्काव्यव्यसनः, सुधार्द्ररसनः (भवति)।

अर्थ—अहा ! भगवान् शिव का उपासक सद्विद्याभ्यासी, सभा-चतुर, अत्युत्तम गृह में निवास करनेवाला, विशुद्धान्नभोजी, सुनिर्मल वस्त्रोंवाला, सज्जनों को निर्भय करनेवाला, हर्ष के उल्लास से निर्भर, प्रसन्न हास्यवाला, सद्वासना-सम्पन्न एवं सत्काव्य-व्यसनी होता है।

राकाकान्तरुचः क्षताखिलशुचः पीयूषधारामुचः
स्वान्तम्लान्तिहृतश्चमत्कृतिकृतः सङ्गीतभङ्गीभृतः ।
शंभोरम्बुदनादविह्वलवलद्बालाङ्गनालिङ्गन-
ह्लादस्वादसुखस्पृहामिह जहत्यन्तर्मृशन्तः स्तुतीः ॥ १० ॥

अन्वय—इह(संसारे)राकाकान्तरुचः, क्षताखिलशुचः पीयूषधारा-मुचः, स्वान्तम्लान्तिहृतः, चमत्कृतिकृतः, सङ्गीतभङ्गीभृतः शंभोः स्तुतीः अन्तः (मनसि) मृशन्तः (धन्याः) अम्बुदनादविह्वलवलद्बालाङ्गनालिङ्गनह्लाद-स्वादसुखस्पृहाम् जहति ।

अर्थ—इस संसार में चन्द्रमा के समान निर्मल, समस्त शोकों को दूर करनेवाली, अमृत की धारा को बरसानेवाली, चित्त की ग्लानि को हरनेवाली, मन में अद्भुत चमत्कार प्रकट करनेवाली, अलौकिक सङ्गीत की छवि को धारण करनेवाली, भगवान् सदाशिव की 'स्तुतियों' का मनन करनेवाले भाग्यशाली पुरुष मेघ-ध्वनि को सुनकर विकलता (काम के वश में होकर विह्वलता) को प्राप्त हुई बालाङ्गनाओं के गाढ आलिङ्गन से होनेवाले सुखास्वाद की रुचि को त्याग देते हैं।

सारासारविदः सतां भयभिदः प्रद्योपतापच्छिदः
कारुण्यार्द्रहृदः प्रसन्नसुहृदः स्फारीभवत्संविदः ।

ज्ञाताशेषविशः प्रकाशितदिशः कीर्त्या महीनिर्विशः
कर्षन्तीश निशः प्रसक्तसुदृशस्त्वत्पादपीठस्पृशः ॥ ११ ॥

अन्वय—हे ईश ! सारासारविदः, सताम् भयभिदः, प्रह्वोपतापच्छिदः, कारुण्यार्द्रहृदः, प्रसन्नसुहृदः, स्फारीभवत्संपदः, ज्ञाताशेषविशः, कीर्त्या प्रकाशितदिशः, महीनिर्विशः त्वत्पादपीठस्पृशः 'प्रसक्तसुदृशः निशः' कर्षन्ति ।

अर्थ—हे ईश ! सार और असार के जाननेवाले, सज्जनों के भय को दूर करनेवाले, शरणागत के सन्ताप को दूर करनेवाले, करुणा से आर्द्र अन्तःकरणवाले, सहृदय जनों को प्रसन्न करनेवाले, अपार सवित् (परमार्थ ज्ञान) के भण्डार, समस्त प्रजा को पालन करनेवाले, अत्युज्ज्वल कीर्ति द्वारा समस्त दिगन्तों को प्रकाशित करनेवाले—आपके पाद-पीठ को नमन करनेवाले—भक्त लोग अपनी मनोहर अङ्गनाओं के सहित सदैव सुखपूर्वक रात्रि व्यतीत करते हैं ।

दुर्धर्षर्द्धिपुषः सहर्षवपुषस्तर्षप्रकर्षप्लुषः
सर्वोत्कर्षजुषः क्षणक्षतरुषः कल्याणपूर्णायुषः ।
उत्सर्पत्सहसः समिद्धमहसः क्षिप्तोर्जितानेहस-
श्चित्त्रान्तप्रहसः सुखाप्तरहसस्त्वद्ध्यानधौतांहसः ॥ १२ ॥

अन्वय—हे भगवन् ! त्वद्ध्यानधौतांहसः (धन्याः) दुर्धर्षर्द्धिपुषः, सहर्षवपुषः, तर्षप्रकर्षप्लुषः, सर्वोत्कर्षजुषः, क्षणक्षतरुषः, कल्याणपूर्णायुषः, उत्सर्पत्सहसः, समिद्धमहसः, क्षिप्तोर्जितानेहसः, चित्त्रान्तप्रहसः, सुखाप्तरहसः (भवन्ति) ।

अर्थ—हे भगवन् ! आपके ध्यान से निष्पाप हुए धन्यात्मा लोग अखण्ड ऋद्धि सिद्धिवाले, अतीव हर्षसम्पन्न, तृष्णा से रहित, सर्वोत्तम, अक्रोधी, कल्याण से पूर्ण आयुवाले, महान् बली, अत्यन्त तेजस्वी, काल को भी भयभीत कर देनेवाले, अतिशय गम्भीर हास्यवाले, सुखपूर्वक कालक्षेप करनेवाले होते हैं ।

स्वामिन् सौमनसं निबध्य वपुषि स्रग्दाम दृग्दामभि-
भस्मीभावितमन्मथस्य भवतो भिन्दन्ति भक्तिस्पृशः ।
दोलान्दोलनविह्वलेन्दुवदनादोःकन्दलीचन्दन-
स्यन्दानन्दनिमीलितार्धनयनास्तापव्यथां मान्मथीम् ॥१७॥

अन्वय—हे स्वामिन् ! दृग्दामभि· भस्मीभावितमन्मथस्य भवतः भक्तिस्पृशः वपुषि सौमनसम् स्रग्दाम निबध्य, दोलान्दोलन विह्वलेन्दुवदनादोः-कन्दलीचन्दनस्यन्दानन्दनिमीलितार्धनयनाः(सन्तः)मान्मथीम् तापव्यथाम् भिन्दन्ति ।

अर्थ—प्रभो ! नेत्र की ज्योति से कामदेव को भस्म करनेवाले आप करुणासागर के भक्तगण शरीर पर दिव्य कुसुमों की माला धारण करके, झूले पर झूलती हुई काम-विवशा युवती की भुज-लताओं पर अनुलिप्त सुगन्धित चन्दन के सुखावह आमोद (सुगन्ध) के सुखास्वाद में मग्न होते हुए 'काम-व्यथा' को दूर करते हैं ।

स्वामिन् यस्तव पादपङ्कजयुगं भक्त्याऽभ्यपिञ्चन्मुहुः
पूजान्तेषु नमन्नमन्दमुदितानन्दाश्रुलेशोत्करैः ।
तस्यांघ्री ललिताक्षिपक्ष्मपटलप्रान्तस्रुतार्णःकण-
श्रेणीभिः स्नपयन्त्यनङ्गविगलन्मानाः कुरङ्गीदृशः ॥१८॥

अन्वय—हे स्वामिन् ! यः पूजान्तेषु नमन्, भक्त्या तव पादपङ्कजयुगम् अमन्दमुदितानन्दाश्रुलेशोत्करैः मुहुः अभ्यषिञ्चन्, तस्य अङ्घ्री अनङ्गविगलन्माना कुरङ्गीदृशः, ललिताक्षिपक्ष्मपटलप्रान्तस्रुतार्णःकणश्रेणीभिः स्नपयन्ति ।

अर्थ—हे नाथ ! जो पुरुष पूजा के अन्त में भक्तिपूर्वक आपको प्रणाम करता हुआ, आनन्द के अश्रु-बिन्दुओं से आपके चरण-पङ्कज-युगल को सिञ्चित करता है उस धन्यात्मा के चरणों को युवतियाँ काम के वश अपगत मानवाली अर्थात् अमानवती होकर अपने सुललित-नयन-पङ्कजों से निकलते हुए प्रेमाश्रुओं से स्नापित करती हैं ।

त्वामक्षामशुभानुभावविभवं भालाग्निकीलावली-
संरम्भादभियोक्तुमक्षमतया साक्षादुपेक्ष्य स्मरः ।
नूनं हन्ति निरन्तरं भव भवत्सेवैकहेवाकिनं
कर्णाभ्यर्णवलत्कटाक्षविशिखश्रेणीभिरेणीदृशाम् ॥१९॥

अन्वय—हे भव ! भालाग्निकीलावलीसंरम्भात्(हेतोः)साक्षात् अभियोक्तुम् अक्षमतया, अक्षामशुभानुभावविभवम् त्वाम् उपेक्ष्य, स्मरः नूनम् भवत्सेवैकहेवाकिनम् एणीदृशाम् कर्णाभ्यर्णवलत्कटाक्षविशिखश्रेणीभिः निरन्तरम् हन्ति ।

अर्थ—हे भगवन् ! आपके भाल-नेत्र की अग्नि-ज्वालाओं के आटोप को देखकर, साक्षात् आपके साथ युद्ध करने में असमर्थ होने के कारण, आपकी उपेक्षा करके, वह कामदेव (मुझ) आपके अनाथ भक्त को युवति जनों के कर्णान्तिगामी(कानों तक पहुँचे हुए)कटाक्ष-रूपी बाणों से मारता है !

आदौ भक्तिवयस्यया परिचयान्नीतोन्मुखत्वं शनै-
रारूढा विषमेषुवर्त्मसु चिरं भ्रान्ताथ तान्तेः पदम् ।
दूतीकृत्य नवानवद्यवचसं देवीं पुरो भारती-
मेषा त्वामुपगन्तुमिच्छति पतिं प्रोद्दामकामा मतिः ॥२०॥

अन्वय—आदौ भक्तिवयस्यया परिचयात् (विश्वासस्कारात् हेतोः) शनैः उन्मुखत्वम् नीता,(ततः) विषमेषुवर्त्मसु आरूढा, चिरम् भ्रान्ता, अथ तान्तेः(ग्लानेः)पदम्(जाता)एषा प्रोद्दामकामा(मम)मतिः, नवानवद्यवचसम् भारतीम् देवीम् पुरः दूतीकृत्य, त्वाम् पतिम् उपगन्तुम् इच्छति ।

अर्थ—भगवन् ! जैसे कोई प्रियतमा(नायिका)पहले अपनी सखी के द्वारा 'प्रेम-पन्थ' से परिचित होकर, शनैः शनैः प्रिय सम्मिलन के लिए उत्कण्ठित होती है, पुनः कामदेव के वश में होकर चिरकाल तक इतस्ततः भ्रमण करती हुई नितान्त ग्लानि(खेद)को प्राप्त हो जाती है, और फिर किसी चतुर सखी को दूती बनाकर गाढ़

अनुरागपूर्वक अपने प्रियतम (नायक)से मिलने जाती है। वैसे ही, हे नाथ! यह मेरी मति पहले विद्या के संस्कारों द्वारा प्रेम-पन्थ से परिचित होकर भक्तिरूपी सखी को प्रेरणा द्वारा, शनैः शनैः आपके सम्मिलन के लिए उत्कण्ठित हुई, तदनन्तर चिरकाल तक अति विषम मार्गों (विषयों) में भटक भटक कर अतीव खिन्नता को प्राप्त हो अब इस नवीन निर्दोष वचनावाली वाणी (स्तुति) का दूती बनाकर अत्युत्कट अनुरागपूर्वक आप (प्रभु) से मिलना चाहती है।

धूमोद्गारगभीरघस्मरवपुर्निर्भर्त्सितार्कप्रभं
स्फूर्जत्फूत्कृतकर्बुरीकृतसितश्रीकान्तदेहद्युति।
ग्रासीकर्त्तुमुदग्र-विग्रहगलद्वह्निस्फुलिङ्गं विषं
यो जग्राह करेऽमरेश्वरनुतस्त्वामन्तरेणाऽपरः ॥ २१ ॥

अन्वय—हे भगवन्! त्वाम् अन्तरेण, कः अमरेश्वरनुतः अपरः, धूमोद्गारगभीरघस्मरवपुर्निर्भर्त्सितार्कप्रभम्, स्फूर्जत्फूत्कृतकर्बुरीकृतसितश्रीकान्तदेहद्युति, उदग्रविग्रहगलद्वह्निस्फुलिङ्गम् विषम् ग्रासीकर्त्तुम् करे जग्राह ?

अर्थ—हे भगवन्! धूम के महान् उद्गारों से भरे हुए अत्यन्त घोर भयङ्कर आकृति द्वारा सूर्य की भी प्रभा का अनादर कर देनेवाले, अपने तीव्र फूत्कारों से भगवान् श्री विष्णु के शरीर की श्वेत[१] कान्ति को कृष्ण कर देनेवाले, एवं प्रचण्ड अग्निकणों की ज्वालाओं को बहानेवाले उस लोक-संहारक हालाहल विष का ग्रास करने के लिए केवल एक आपके सिवाय और किस दयालु ने (उसे) अपने हाथ में उठाया? अर्थात् किसी ने भी नहीं।

---

(१) भगवान् श्री विष्णु का शरीर पहले श्वेत था, फिर समुद्र-मन्थनावसर में कालकूट के फूत्कारों से काला हो गया। ऐसी पौराणिकी की गाथा पाई जाती है।

क्रोधोद्भ्रान्तकृतान्तकिङ्करकरद्रोणीमुखप्रेङ्खित-
व्यालालिङ्गितकन्धरः प्रकटयन्नाक्रन्ददीनां गिरम् ।
चक्षुर्दिक्षु विदिक्षु च क्षतधृतिर्निक्षिप्य रक्षाक्षमं
कांक्षन्कं शरणं वृणोति मरणे त्वामन्तरेणातुरः ॥ २२ ॥

अन्वय—हे विभो ! क्रोधोद्भ्रान्तकृतान्तकिङ्करकरद्रोणीमुखप्रेङ्खित-व्यालालिङ्गितकन्धरः, आक्रन्ददीनाम् गिरम् प्रकटयन्, दिक्षु विदिक्षु च चक्षुः निक्षिप्य, रक्षाक्षमम् कांक्षन्, क्षतधृतिः आतुरः मरणे त्वाम् अन्तरेण कम् शरणम् वृणोति ?

अर्थ—हे नाथ ! क्रोध से उन्मत्त यमदूतों के हाथों पर लपकते हुए भयङ्कर नागपाश से गले में पकड़ा हुआ प्राणी, मृत्यु के समय अत्यन्त कातर होकर महा-करुणाजनक विलाप करता हुआ, चारों ओर दृष्टि डालकर अपने रक्षक को खोजता हुआ केवल एक आप दयासागर के सिवाय और किसकी शरण लेता है ?

वर्षन्ती भवदोषपोषपरुषप्लोषप्रमोषक्षमं
पीयूषं विशदांशुभि[1]र्दश दिशस्काशप्रकाशा दिशः ।
कर्षन्ती विषमं तमः प्रमथितालोकस्य लोकस्य गी-
श्चान्द्री मूर्ध्नि कलेव देव भवतो वक्त्रे विधत्तां पदम् ॥२३॥

अन्वय—हे प्रभो ! विशदांशुभिः भवदोषपोषपरुषप्लोषप्रमोषक्षमम् पीयूषम् वर्षन्ती, प्रमथितालोकस्य लोकस्य विषमं तमः कर्षन्ती, दश दिशः दिशत्काशप्रकाशा गीः (अभयवचनम्) भवतः मूर्ध्नि चान्द्री कला इव, भवतः वक्त्रे पदम् विधत्ताम् ।

अर्थ—प्रभो ! जैसे अपनी सुनिर्मल किरणों द्वारा सांसारिक सन्ताप को शान्त करनेवाले अमृत को बरसाती हुई, गाढ़ अन्धकार को दूर करके समस्त दिशाओं को प्रकाशित करती हुई चन्द्रकला आपके

---

(१) ...'दशनांशुभिः' ।

मस्तक पर विराजती है; वैसे ही सांसारिक दावों से उत्पन्न हुए सन्ताप को शान्त करने के लिए अमृत की वर्षा करनेवाली, अज्ञानरूपी गाढ़ अन्धकार से अन्ध हुए लोगों के उस अन्धकार को दूर हटाती हुई, एवं समस्त दिशाओं को प्रकाशित करती हुई आपकी अभय-वाणी आपके मुखारविन्द में विराजमान हो !

यत्पर्याप्तकृपाविपाकविकसन्माधुर्यधुर्यं तव
स्वान्तं भीमभवोपतापविपदि स्फीताऽवहेलं मयि ।
स्वामिन्नेष विधिर्ममैव विधुरो दूराध्वखिन्नो जन-
स्तीराद्रत्ननिधेर्व्यपैति विफलः स्वैरेव दुष्कर्मभिः ॥ २४ ॥

अन्वय—हे स्वामिन् ! यत् (यस्मात्) पर्याप्तकृपाविपाकविकसन्माधुर्यधुर्यम् तव स्वान्तम्, भीमभवोपतापविपदि मयि स्फीताऽवहेलम् (भवति) एषः मम एव विधिः विधुरः (अस्ति, हि—) दूराध्वखिन्नः जनः रत्ननिधेः तीरात् स्वैः एव दुष्कर्मभिः विफलः व्यपैति ।

अर्थ—अयि प्राणनाथ ! अपार करुणा के परिपाक से विकसित हुए माधुर्य से परिपूर्ण भी जो आपका हृदय मुझ सांसारिक सन्तापों से तप्त हुए अनाथ का इस तरह तिरस्कार कर रहा है, यह सब मेरे ही दुर्भाग्य की खूबी है, क्योंकि अभागे (दरिद्र) पुरुष अत्यन्त दूर से चलकर श्रान्त होता हुआ रत्नाकर (समुद्र) के तट पर पहुँचकर भी अपने ही दुष्कर्मों के कारण वहाँ से निराश चला आता है !

यत्सौन्दर्यसमुद्रसान्द्रलहरीहेलाचलच्चामर-
व्यग्राङ्गाङ्गुलिबालमालवबधूदृक्पातपात्रं वपुः ।
सेवासन्निधिशंसिसंभ्रमनमत्सामन्तमौलिस्थली-
लीढाङ्घ्रिद्वयमुद्वहन्ति कृतिनः सौभाग्यभाग्यास्पदम् ॥२५॥

अन्वय—कृतिनः यत् सौन्दर्यसमुद्रसान्द्रलहरीहेलाचलच्चामरव्यग्राङ्गाङ्गुलिबालमालवबधूदृक्पातपात्रम् सेवासन्निधिशंसिसंभ्रमनमत्सामन्तमौलिस्थलीलीढाङ्घ्रिद्वयम् सौभाग्यभाग्यास्पदम् वपुः उद्वहन्ति ।

अर्थ—अहा, धन्यात्माओं को जो सौन्दर्य सुधा-सिन्धु-को सघन लहरियों के समान स्वच्छ चँवर डुलाने में व्यग्र हुए हस्तारविन्दोंवाली सुन्दरी युवतियाँ जिसे गाढ अनुरागपूर्वक तिरछे कटाक्षों से देखा करती हैं, ऐसा और सेवा के लिए हाथ जोडकर सामने खडे हुए राजा लोग जिसके चरणों में अपने मस्तक को आलिङ्गित करते हैं ऐसा, सौभाग्य-शाली भव्य शरीर प्राप्त होता है, यह; तथा—

यच्च प्रेङ्खदखर्वगर्वघटितभ्रूभङ्गभीमाकृति-
क्ष्माभृत्पाशमुखावलोकनघनप्रोल्लङ्घनाभीरुभिः ।
उन्मीलन्मृदुशाद्वले तरुतले स्वर्लोककल्लोलिनी-
कूले मूलफलाशनैः शमसुधास्वादार्थिभिः स्थीयते ॥ २६ ॥

अन्वय—यत् च प्रेङ्खदखर्वगर्वघटितभ्रूभङ्गभीमाकृतिक्ष्माभृत्पाशमुखावलोकनघनप्रोल्लङ्घनाभीरुभिः शमसुधास्वादार्थिभिः (सद्भिः) उन्मीलन्मृदुशाद्वले स्वर्लोककल्लोलिनीकूले तरुतले मूलफलाशनैः स्थीयते ।

अर्थ—महागर्व की भरी टेढ़ी भ्रुकुटियों से जिनका स्वरूप ही महाभय दायक है ऐसे नृपाभिमानी क्षुद्र नृपशुओं के किये अपमानों से दूर रहनेवाले, केवल एक शान्तिरूपी सुधा के समास्वादन में आसक्त हुए, कन्द-मूल-फलाहारी महात्मा लोग जो कोमल तृणों से भरे हुए गङ्गा-तट पर वृक्षों के तले ध्यान में मग्न बैठे रहते हैं यह,—

यच्चाऽस्मिन्भवडम्बरे परिणमन्मन्दानिलान्दोलन-
व्यालोलन्नलिनीदलाञ्चलचलप्रालेयलेशोपमे ।
दुष्कालव्यसनावसन्नजनतासन्तापनिर्वापण-
व्यापारैकसुकर्मनिर्मलफलारम्भैः सुखं जीव्यते ॥ २७ ॥

अन्वय—यच्च परिणमन्मन्दानिलान्दोलनव्यालोलन्नलिनीदलाञ्चल-चलप्रालेयलेशोपमे अस्मिन् भवडम्बरे दुष्कालव्यसनावसन्नजनतासन्तापनिर्वापणव्यापारैकसुकर्मनिर्मलफलारम्भैः (सद्भिः) सुखम् जीव्यते ।

अर्थ—एवं जो पवन के वेग से हिलते हुए कमल-पत्र पर डोलनेवाले जल बिन्दु के समान चलायमान इस संसार के प्रपञ्च में दुष्ट कलिकाल के दुःखों से म्लान हुई जनता के सन्ताप को शान्त करनेवाले अतीव सुनिर्मल सत्कर्माचरण में परायण सज्जन लोग सुखपूर्वक जीते हैं यह, और—

निःशङ्कं विकलङ्कमङ्कविलसल्लक्ष्मीकटाक्षेक्षितं
यन्मानुष्यमुपेत्य नित्यमुदिता नन्दन्ति दन्तिव्रजैः।
यच्चान्ते पुरुहूतवारवनितागीतामृताकर्णन-
प्रोन्मीलत्पुलकावकीर्ण-वपुषः स्वर्मध्यमध्यासते ॥ २८ ॥

अन्वय—अङ्कविलसल्लक्ष्मीकटाक्षेक्षितम् विकलङ्कम् मानुष्यम् उपेत्य, नित्यमुदिताः (सन्तः) निःशङ्कम् दन्तिव्रजैः नन्दन्ति। यच्च—पुरुहूतवारवनितागीतामृताकर्णनप्रोन्मीलत्पुलकावकीर्णवपुषः (सन्तः) अन्ते स्वर्मध्यम् अध्यासते।

अर्थ—जो भाग्यवान् लोग गोद में खेलती हुई महालक्ष्मी के कटाक्षों के परम कृपापात्र, निष्कलङ्क मनुष्य-देह को पाकर निःशङ्क हो अतुलित वैभव के आनन्द में झूमे रहते हैं यह, और भी जो अन्तकाल में पुण्यात्मा लोग इन्द्र की अप्सराओं के गायनाऽमृत के समास्वाद से पुलकाङ्कितशरीर होते हुए स्वर्ग में डेरा बसाते हैं;

सोऽयं सर्वजगत्प्रभोरशरणत्राणैकहेवाकिनः
कारुण्यामृतसागरस्य गिरिजाभर्तुः परोऽनुग्रहः।
कस्तं न स्तुतिभिर्विमर्शरसिकः प्रौढार्पितप्रीतिभिः
प्राप्तुं शर्मदकर्मनिर्मलफलं नन्दत्यमन्दादरः ॥ २९ ॥

(पञ्चभिः कुलकम्)

अन्वय—सः अयम् (सर्वोऽपि) सर्वजगत्प्रभोः अशरणत्राणैकहेवाकिनः कारुण्यामृतसागरस्य गिरिजाभर्तुः परः अनुग्रहः (अस्ति, तदेवंभूतम्) शर्मद-

कर्मनिर्मलफलम् तम् (श्रीशिवप्रसादम्) प्रौढार्पितप्रीतिभिः स्तुतिभिः प्राप्तुम् कः अमन्दादरः विमर्शरसिकः न नन्दति ?

अर्थ—यह सब महिमा उस अखिल ब्रह्माण्डनायक, अनाथ-जन-प्रतिपालक, करुणाऽमृत के महासागर श्री गिरिजापति के कृपा-प्रसाद की ही है, तब भला ऐसे महा उदार कृपालु प्रभु के कृपा-प्रसाद को सुमनोहर स्तुतियों द्वारा प्राप्त करने के लिए कौन सहृदय सहर्ष नहीं उत्सुक होगा ?

दृष्टिः पीयूषवृष्टिर्मधुरमधुररसस्यन्दिनी देव वाणी
पाणी त्वत्पादपीठीपरिमलनरजोराजिमैत्रीपवित्रौ ।
चेतः स्वच्छन्दचर्यापरिणतकरुणारामविश्रामधाम
त्वामक्षामप्रसादामृतजलधिमहो भेजुषामेष पाकः ॥ ३० ॥

अन्वय—हे देव ! पीयूषवृष्टिः दृष्टिः, मधुरमधुररसस्यन्दिनी वाणी, त्वत्पादपीठीपरिमलनरजोराजिमैत्रीपवित्रौ पाणी, स्वच्छन्दचर्यापरिणतकरुणा-रामविश्रामधाम चेतः, अहो ! एषः पाकः त्वाम् अक्षामप्रसादामृतजलधिम् भेजुषाम् (भवति) ।

अर्थ—हे स्वयम्प्रकाश परमेश्वर ! अमृत की बरसानेवाली दृष्टि, सुमधुर मधु के रस को टपकानेवाली वाणी एवं आपके सिंहासन की रज से पवित्र हुए हाथ, और स्वतन्त्रचर्या में प्रवृत्त एवं करुणा के विश्राम का परम धाम चित्त, ये सब विलक्षण महिमाएँ आप उदार करुणालु प्रभु के सेवकों को प्राप्त होती हैं !

तस्यैकस्यांघ्रिपीठे स्फुरमुकुटमणिर्मौद्ररोचिःप्रतानैः
क्षोणीपालाः शिरोभिः करपुटघटितैरञ्जसा रञ्जयन्ति ।
धत्ते धन्यः स चैकः सितरुचिरुचिरच्छत्रशुभ्रोत्तरीयां
लक्ष्मीमुद्दामरामाकरकमलचलच्चामरोदारहाराम् ॥ ३१ ॥

तं वाणीभिर्गृणन्ति श्रवणपुटसुधास्यन्दिनीभिर्मुनीन्द्रा
गीतैर्गायन्ति विद्याधरवरवनितास्तस्य चित्रं चरित्रम् ।
विद्वद्गोष्ठीषु तस्य प्रसरति कृतिनो दानदाक्षिण्यवार्ता
कीर्तिर्जागर्ति तस्य प्रवरकविवचोभङ्गिसन्मङ्गलेषु ॥ ३२ ॥
किं वाऽन्यत्नैष पश्यत्यलमनलशिखापिङ्गजिह्वास्फुलिङ्ग-
स्फूर्जद्दंष्ट्राकरालं भ्रुकुटिकुटिलितं भीषणं कालवक्त्रम् ।
स्वामिन्मन्दानिलान्दोलितललितलतानृत्तकान्ते वनान्ते
शान्तेर्ध्यस्त्वामविद्याजडजगदगदंकारमाराधयेद्यः ॥ ३३ ॥
(तिलकम्)

अन्वय—क्षोणीपाला. तस्य एकस्य (धन्यस्य) अधिपीठम् स्फुटमुकुट-मणिप्रौढरोचिःप्रतानैः करपुटघटितैः शिरोभिः अञ्जसा रञ्जयन्ति, सः च एव: धन्यः सितरुचिरुचिरच्छत्रशुभ्रोत्तरीयाम् उद्दामरामाकरकमलचल-च्चामरोदारहाराम् लक्ष्मीम् धत्ते । मुनीन्द्राः श्रवणपुटसुधास्यन्दिनीभिः वाणीभिः तम् गृणन्ति, विद्याधरवरवनिताः तस्य चित्रम् चरित्रम् गीतैः गायन्ति । विद्वद्गोष्ठीषु तस्य कृतिनः दानदाक्षिण्यवार्ता प्रसरति, प्रवरकवि-वचोभङ्गिसन्मङ्गलेषु तस्य कीर्तिः जागर्ति । किम् वा अन्यत् (भवति) एष-ःअलम् अनलशिखापिङ्गजिह्वास्फुलिङ्गस्फूर्जद्दंष्ट्राकरालम् भ्रुकुटिकुटिलितम् भीषणम् कालवक्त्रम् न पश्यति । हे स्वामिन् ! यः शान्तेर्ध्यः मन्दा-निलान्दोलितललितलतानृत्तकान्ते वनान्ते त्वाम् अविद्याजडजगदगदंका-रम् आराधयेत् ।

अर्थ—उस धन्यात्मा की चरण-पादुका को राजा लोग बद्धा-ञ्जलि होकर अपने शिरो-मुकुटों पर जड़ी हुई अमूल्य मणियों की प्रौढ कान्ति से अनुरञ्जित करते हैं, और वही धन्यात्मा चन्द्रमा के समान सुमनोहर छत्ररूपी उत्तरीय (वस्त्र) से धारण करनेवाली एवं

सुन्दरी युवतियों के कर-कमलों में सुशोभित श्वेत चँवर रूपी मुक्ताहार से विराजित अखण्ड लक्ष्मी का आश्रय हो जाता है, तथा—मुनिजन कानों में अमृत बरसानेवाली सुमधुर वाणी के द्वारा उसकी स्तुति करते हैं, विद्याधरियाँ (अप्सराएँ) उसके अद्भुत चरित्रों का गायन करती हैं। और—विद्वद्गोष्ठी में उस धन्यात्मा के (दया दाक्षिण्यादि) सद्गुणों की प्रशंसा होती है। सत्कवियों के काव्य-मण्डल में उसका यशोगान होता है। अब अधिक क्या कहें, वह धन्यात्मा, अग्नि शिखा के समान पीली-पीली क्रोध जटिल जिह्वाओं द्वारा महाभयङ्कर दन्त और विकराल भृकुटियोंवाले काल के मुख को कभी भी नहीं देखने पाता। हे नाथ! जो पुरुष कि ईर्ष्या से रहित (शान्त) होकर मन्द मन्द पवन से कम्पित हुई सुललित लताओं के द्वारा मनोहर एकान्त वन में बैठकर अविद्या(अहङ्कार या माया)के कारण जडीभूत जगत् को आरोग्य करनेवाले आप करुणाम्भोधि वैद्य का आराधन करता है।

आकर्णाकृष्टचापः प्रहरति निभृतं निर्निमित्तापकारी
नारीनेत्रान्ततिर्यग्विवलनविशिखश्रेणिभिः पुष्पचापः।
फूत्कारस्फारफालः स्फुरदुरुगरलज्वालजिह्वाजटालः
कालव्यालः करालः कवलयति वपुर्हन्तुकामः क यामः॥३४॥
तस्मादस्माकमाकस्मिकविकसदसत्कर्मपाकोपताप-
व्यापत्तापातुराणामविरलकरुणासिन्धुरापन्नबन्धुः।
भक्तिश्रद्धाप्रबन्धानमदमरशिरःश्रेणिपाणिक्यमाला-
ज्वालालीढांघ्रिपीठः शरणमशरणत्राणशीलस्त्वमेकः॥३५॥
(युग्मम्)

अन्वय—निर्निमित्तापकारी पुष्पचापः आकर्णाकृष्टचापः सन् नारीनेत्रान्ततिर्यग्विवलनविशिखश्रेणिभिः निभृतम् प्रहरति। फूत्कारस्फारफालः स्फुरदुरुगरलज्वालजिह्वाजटालः हन्तुकामः करालः कालव्यालः वपुः कवलयति,

यं मुक्त्वा जीवयन्तं जगदगदमदः सन्ततं सन्तमन्त-
जन्तूनां शीतभीतिप्रकटितविपदामस्ति न स्वस्तिहेतुः ।
गीर्वाणानां हविर्भिर्ग्लपयति विपदं यज्वनामप्यनल्पैः
संकल्पैः कल्पितैर्यः स भवति विभवः पावकस्ते नमस्ते ॥२८॥

अन्वय—हे विभो ! सन्ततम् (जठराग्निरूपेण) जन्तूनाम् अन्तः सन्तम्, अगदम् अदः जगत् जीवयन्तम् यम् (पावकम्) मुक्त्वा, शीतिभीतिप्रकटितविपदाम् जन्तूनाम् स्वस्तिहेतुः (अन्यः कोऽपि) न अस्ति । यः गीर्वाणानाम् (अतृप्तिरूपाम्) विपदम् हविर्भिः ग्लपयति, अनल्पैः कल्पितैः सङ्कल्पैः यज्वनाम् अपि विपदम् ग्लपयति, सः पावकः (यस्य) ते विभवः (ऐश्वर्यमूर्तिरूपम्) भवति, तस्मै ते नमः अस्तु ।

अर्थ—प्रभो ! जो सदैव जठराग्नि रूप से प्राणियों के अन्दर स्थित होकर उन्हें नीरोग करता हुआ समस्त जगत् को जीवित करता है, जिस (अग्नि) के सिवाय शीतातुर प्राणियों का कल्याणकारी दूसरा कोई भी नहीं है। जो (अग्नि) आहुतियों के द्वारा देवताओं की अतृप्ति (क्षुधा) रूप विपत्ति को दूर करता है, अर्थात् उनको तृप्ति पहुँचाता है, और उत्तम-उत्तम मनोरथों (अभीष्ट वस्तुओं) को प्रदान करके यज्ञ करनेवालों को तृप्त करता है, वह 'अग्नि' जिस (आप) का ऐश्वर्यमूर्ति रूप है, उस आप (अग्निमूर्ति) को हमारा प्रणाम है ।

अन्तः सन्तिष्ठमानः स्थगयति जगतां पञ्चतां पञ्चधा यः
संधाय स्थायिभावं प्रसरति सततं यत्र तेजस्विचक्रम् ।
यत्र स्थैर्यं बिभर्ति त्रिभुवनभवनं बिभ्रदाधारभूतां
भूतानां मूर्तिमेष प्रथयति विभुतां मारुतस्ते नमस्ते ॥२९॥

अन्वय—हे भगवन् ! पञ्चधा (प्राणापानादिभिः पञ्चभिर्भेदैः) अन्तः (देहे) सन्तिष्ठमानः यः (मारुतः) जगताम् पञ्चताम् स्थगयति, तथा—यत्र सन्ततम् स्थायिभावम् संधाय तेजस्विचक्रम् प्रसरति, यत्र च त्रिभुवनभवनम्

स्थैर्यम् बिभर्ति, (असौ) भूतानाम् आधारभूताम् मूर्तिम् बिभ्रत् एषः मारुतः (यस्य) ते विभुताम् प्रथयति(तस्मै) ते नमः अस्तु ।

अर्थ—भगवन् ! जो (पवन) प्राण, अपान, समान, उदान, और व्यान रूप से प्राणियों के शरीर में पञ्चधा स्थित होकर जगत् को पञ्चता (मृत्यु) से बचाता है, और जिसमें स्थित होकर समस्त सूर्यादि-ग्रह एव तारामण्डल चक्र की तरह घूमते हैं, एवं जिसमें यह त्रिभुवन रूपी भवन स्थित है, वह समस्त प्राणियों की आधारभूत मूर्ति को धारण करता हुआ, यह पवन आपकी विभूति को प्रख्यात करता है, हे प्रभो ! उस आप पवन-मूर्ति को प्रणाम है ।

यत्र ब्रह्माण्डपिण्डः प्रसरति सरलालाबुतुम्बीविडम्बी
स्थैर्यं झाङ्कारि वारि प्रथयति तदपि स्कन्धबन्धेषु यस्य ।
सोऽपि स्फारेण भर्तुं प्रभवति पवनो यस्य नोद्देशलेशं
धाम्नामाधारभूतं भव भवति वपुस्तन्नभस्ते नमस्ते ॥४०॥

अन्वय—हे भव ! यत्र(यस्मिञ्जले) सरलालाबुतुम्बीविडम्बी ब्रह्माण्डपिण्डः प्रसरति, तत् अपि झाङ्कारि वारि यस्य (पवनस्य) स्कन्धबन्धेषु स्थैर्यम् प्रथयति, सः अपि पवनः स्फारेण यस्य(नभसः)उद्देशलेशम् भर्तुम् न प्रभवति, तत् नभः तव वपुः(मूर्तिभूतम्)धाम्नाम् आधारभूतम् भवति, तस्मै ते नमः (अस्तु)।

अर्थ—अयि स्वामिन् ! जिस जल में यह समस्त ब्रह्माण्ड-गोल, गोल अलाबु-तुम्बी(लौकी की तुम्बी) की तरह विचरता है, वह शब्दायमान जल भी जिस(पवन)के सात स्कन्ध-बन्धों में स्थित रहता है, ऐसा वह पवन भी अपने महान् उन्नाम (पूर) से जिस (आकाश) के एक अंश को (भी) नहीं भर सकता, उस आपकी सूर्य-चन्द्रमा आदि समस्त तेजों को आधार देनेवाली—आकाशमूर्ति को हमारा प्रणाम है ।

धातुश्चातुर्यभाजो जननजननविधौ या मुखेभ्यश्चतुर्भ्यः
साकं नाकस्थितानामजनिषत कृतप्रीतयः स्फीतभासाम् ।
तासामासां श्रुतीनां जनयति नियतं कर्मभिः शर्मकृद्भिः
साफल्यं यः स यज्वा वपुरधृत विपत्संगमस्ते नमस्ते ॥४१॥

अन्वय—हे भगवन् ! जननजननविधौ चातुर्यभाजः धातुः चतुर्भ्यः मुखेभ्यः, नाकस्थितानाम् कृतप्रीतयः याः (श्रुतयः) साकम् अजनिषत, स्फीतभासाम् तासाम् आसाम् श्रुतीनाम् यः (यज्वा) नियतम् शर्मकृद्भिः कर्मभिः साफल्यम् जनयति, सः अधृतविपत्संगमः यज्वा (यस्य) ते वपुः (आस्ते) तस्मै ते नमः (अस्तु)।

अर्थ—भगवन् ! प्रक्रिया की सृष्टि करने में चतुर ब्रह्मा के चारों मुखारविन्दों से देवताओं को प्रसन्न करनेवाली जो श्रुतियाँ साथ ही प्रकट हुई हैं, उन परम तेजोमयी श्रुतियों को जो (यजमान) कल्याण-दायक सत्कर्मों द्वारा सफल(कृतार्थ) करता है, वह समस्त क्लेश संसर्ग से रहित यजमान-मूर्ति जिस(आप)की एक विभूति है, उस आप जगत्प्रभु को हमारा नम्र नमन है।

मेद्दुद्भिर्यन्मयूखैर्विदधति धवले निर्जराः प्राणयात्रां
प्रोद्दामानन्दधाम प्रथयति बहुले पारणं यः पितॄणाम् ।
कुर्वन्नुर्वन्तरिक्षं प्रशमिततिमिरं यः समस्तौषधीनां
पीनां पुष्णाति भार्ति तनुरतनुरसौ चन्द्रमास्ते नमस्ते॥४२॥

अन्वय—निर्जराः धवले(शुक्लपक्षे)मेदुद्भिः यन्मयूखैः प्राणयात्राम् विदधति, यः (चन्द्रमाः)बहुले (कृष्णपक्षे) प्रोद्दामानन्दधाम पितॄणाम् पारणम् प्रथयति, तथा यः उरु अन्तरिक्षम् प्रशमिततिमिरम् कुर्वन् , समस्तौषधीनाम् पीनाम् भार्तिम् पुष्णाति, असौ चन्द्रमाः (यस्य)ते अतनुः तनुः (अस्ति)तस्मै ते नमः ।

अर्थ—शुक्लपक्ष में देवता लोग जिसकी अमृतमयी किरणों से अपनी प्राण-यात्रा करते हैं, और कृष्णपक्ष में जिससे पितर लोगों की पारणा सिद्ध होती है, एव जो इस विशाल आकाश को अन्धकार से रहित करते हुए सकल ओषधियों को परिपक्व करता है, वह चन्द्रमा जिस(आप)की एक विशालमूर्ति है, उस आप चन्द्रमूर्ति को नमस्कार है ।

प्रातः प्राभञ्जनेऽस्मिन्पथि पथिकमिव ध्वान्तकान्तारताम्य-
ल्लोकालोकार्पणार्थं प्रमुदितमुदितं यं समर्चन्ति सन्तः ।
सायं ध्यायन्ति संध्याविधिमधि सुधियो बाधिताधिं समाधिं
साधिम्नाऽधिष्ठिता यं त्वमिह स मिहिरः सद्गभस्ते नमस्ते ॥४३॥

अन्वय—अस्मिन् प्राभञ्जने पथि, पथिकम् इव, ध्वान्तकान्तारताम्य-ल्लोकालोकार्पणार्थम् प्रातः उदितम्, प्रमुदितम् यम् सन्तः समर्चन्ति, साधिम्ना समाधिम् अधिष्ठिता. सुधियः बाधिताधिम् यम(सूर्यम्) सध्याविधिम् अधि सायम् ध्यायन्ति, स. त्वम् इह मिहिरः (असि) हे सद्गभस्ते ! ते नमः ।

अर्थ—हे प्रभो ! पथिकों के समान, अन्धकाररूपी महा अरण्य में खिन्न हुए लोगों को प्रकाश देने के लिए प्रातःकाल आकाश में उदय हुए जिस तेजोमय मूर्ति (सूर्य) को पुण्यात्मा लोग अर्चित करते हैं, और महात्मा लोग सायङ्काल में सम्यक् प्रकार से समाधि में स्थित होकर, समस्त आधि-व्याधियों को नाश करनेवाले जिस सूर्य देव का ध्यान करते हैं, उस आप सूर्यमूर्ति को हमारा प्रणाम है ।

[अब एक श्लोक के द्वारा निष्कल (निर्विकार) अविनाशी पर-ब्रह्म-स्वरूप परम शिव की स्तुति करते हैं—]

दिग्देशाकारकालैरकलितविभवं यन्महद्वीजभूतं
भूतग्रामस्य यस्य त्रिभुवनविषयं वस्तुजातं विवर्तः ।

यस्मिन्हेम्नीव नानाभरणपरिकरो लीयते विश्वमन्ते
तद्भिन्नेष्वप्यभिन्नं भव भवसि परं ब्रह्म तस्मै नमस्ते ॥४४॥

अन्वय—दिग्देशाकारकालैः अकलितविभवम् यत्(परब्रह्म)भूतग्रामस्य महद्बीजभूतम्(अस्ति), त्रिभुवनविषयम् वस्तुजातम् यस्य विवर्तः (परिणामो वा) अस्ति । तथा—हेम्नि नानाभरण-परिकरः इव, यस्मिन् अन्ते विश्वम् लीयते हे भव ! (त्वम्) भिन्नेषु अपि(प्राणिषु)अभिन्नम् यत् परम् ब्रह्म भवसि, तस्मै ते नमः ।

अर्थ—सर्वव्यापकता के कारण जिसका महान् ऐश्वर्य दिशा, देश, काल और आकार के द्वारा परिच्छिन्न नहीं हो सकता, और जो चतुर्दश[1] प्रकार की भूत-सृष्टि का मूल कारण है, अर्थात् जैसे अतीव सूक्ष्म बीज से महान् वृक्षों का प्रादुर्भाव (उत्पत्ति) होता है, वैसे ही जिस परम कारण से यह समस्त चराचर ब्रह्माण्ड प्रादुर्भूत होता है और त्रैलोक्य सम्बन्धी यावत् वस्तु-मात्र जिसका विवर्त (या परिणाम) है, एवं जिस प्रकार नाना प्रकार के कङ्कण, नूपुर आदि सुवर्ण के आभूषण सुवर्ण में ही मिल जाते हैं, वैसे ही कल्पान्त के समय जिस (परब्रह्म) में यह समस्त विश्व लय हो जाता है, उस नाना प्रकार के सकल चराचर प्राणियों में एक रूप से स्थित रहनेवाले आप परिपूर्ण परात्पर परब्रह्म को हमारा प्रणाम है ।

इत्थं मत्सूक्तयस्ते शशधरशिखर स्फारसारस्वतौघ-
प्रोन्मीलद्वक्त्रशुक्तिस्खलदमलमिलन्मौक्तिकव्यक्तिभाजः ।
तीव्रापत्तापताम्यत्सहृदयहृदयक्लान्तिशान्तिप्रगल्भा
दर्भाग्रस्पर्द्धिबुद्धिग्रथितदृढगुणाः कर्णपूरीभवन्तु ॥ ४५ ॥

---

(१) अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति ।
मानुष्यश्चैकविधः समासतो भौतिकः सर्गः ॥
(सांख्यसिद्धान्त)

अन्वय—हे शशधरशिखर ! इत्थम् स्फारसारस्वतौघप्रोन्मीलद्वक्त्र-शुक्तिस्खलदमलमिलन्मौक्तिकव्यक्तिभाजः, तीव्रापत्तापताम्यत्सहृदयहृदयक्लान्ति-शान्तिप्रगल्भाः दर्भाग्रस्पर्धिबुद्धिग्रथितदृढगुणाः मत्सूक्तयः ते कर्णपूरीभवन्तु ।

अर्थ—हे शशाङ्क-शेखर ! इस प्रकार, जैसे सरस्वती नदी के प्रवाह से विकसित हुई शुक्तियों (सीपों) के मुख से स्खलित हुई और सूक्ष्म तन्तुओं पर गुँथी हुई, सुमनोहर मुक्ताएँ अपनी सुशीतलता के द्वारा लोगों के सन्ताप को दूर करती हुई कर्णों की आभूषण बन जाती हैं, वैसे ही सरस्वती(वाणी)के रस-प्रवाह से विकसित हुए मुख से स्खलित होनेवाले वचन रूपी मुक्ताओं को प्रकट करनेवाली, और तीव्र आपत्ति के सन्ताप से म्लान हुए सहृदय जनों के हृदय को परम शान्ति देनेवाली, एवं सूक्ष्म (कुशाग्र) बुद्धि के द्वारा, गुँथे हुए (ओजः-प्रसादादि) दृढ़ गुणोंवाली, ये मेरी सूक्तियाँ आपके कर्णों की आभूषण बन जायँ ।

इति श्रीप्रेममकरन्दसमेतं काश्मीरक-महाकवि-श्रीमज्जगद्धरभट्ट-
विरचिते भगवतो महेश्वरस्य स्तुतिकुसुमाञ्जलौ
कर्णपूरस्तोत्रं त्रयस्त्रिंशम् ।

चतुस्त्रिंशं स्तोत्रम्

अथ इसके अनन्तर ग्रन्थकार 'अपवर्ग' नामक चौंतीसवें स्तोत्र को प्रारम्भ करते हुए कहते हैं—

सर्पत्कन्दर्पदर्पज्वरभरहरणव्यग्रवर्गःप्रपञ्च-
मत्यग्रप्रभचन्द्रज्वलदनलचलत्पद्मलक्ष्मप्रसन्नवक्त्रः ।

शर्वस्तर्पमकर्पश्रमशमनमनस्तर्पणस्वर्णवर्ष-

स्वरथ तन्वन्सहर्षं जनमनघमघः कल्पयत्वक्षयं वः ॥ १ ॥

अन्वय—सपत्नकन्दर्पदर्पज्वरभरहरणव्यग्रवर्चः प्रपञ्चप्रलयप्रभचन्द्रज्वलदनलवलत्पद्मलव्यचक्षुः, तर्पप्रकर्षश्रमशमनमनस्तर्पणस्वर्णवर्षस्वरथम् सहर्षम् जनम् तन्वन्, अनघमघ शर्व वः अक्षयम् कल्पयतु।

अर्थ—महा उद्धत कन्दर्प के दर्प रूपी सन्निपात ज्वर को शान्त करने में व्यग्र तेजवाले सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि से उज्ज्वलित पलक और नेत्रोंवाला, महामहिमाशाली वह भगवान् श्रीशम्भु अत्यन्त तृष्णा के वेग से उत्पन्न हुए खेद को शान्त करनेवाले परम आनन्दरूपी सुवर्ण वृष्टि के द्वारा भावुकों को अतिशय हर्षित करते हुए आपको (हम लोगों को) अक्षय धैर्य (स्थिरता) प्रदान करे।

यद्वद्धन्त्र प्रसन्न लसदसमरसस्पन्दसन्दर्भगर्भं

मङ्गल्यं नर्मनद्धं तव वचनमदः शस्यमस्यत्कलङ्कम्।

तद्वद्भर्गस्य वर्यं शशधरशकलं ग्रत्नवर्यं कपर्द-

न्यस्तं वक्त्रं प्रशस्तं प्रबलतमतमःखण्डनं मण्डनं वः ॥ २ ॥

अन्वय—हे भगवन्! प्रसन्नम्, लसदसमरसस्पन्दसन्दर्भगर्भम्, मङ्गल्यम् नर्मनद्धम् शस्यम् कलङ्कम् अस्यत्, अदः तव वचनम् यद्वत् वन्द्यम् (भवति) तद्वत् कपर्दन्यस्तम् वक्त्रम् प्रशस्तम् प्रबलतमतमःखण्डनम् भर्गस्य वर्यम् मण्डनम् शशधरशकलम् वः अवद्यम् द्यतु।

अर्थ—जिस प्रकार, प्रसाद मधुर, अलौकिक अमृत रस से गर्भित, मङ्गलदायक, प्रशंसनीय और त्रिविध पापों का दूर करनेवाला भगवान् शिव का अभय वाक्य सर्वत्र वन्दमान होता है, वैसे ही, जटाजूट पर धारण किया हुआ, अति सुमनोहर और तीव्र अन्धकार को नष्ट करनेवाला भगवान् शङ्कर का चन्द्र खण्ड रूप श्रेष्ठ आभूषण आप लोगों के समस्त पातक को दूर करे।

षट्चक्रस्थः षडध्वप्रसरसरभसः सर्गबन्धप्रगल्भः
प्रत्यग्रप्रह्वनव्यस्तवपठनपरब्रह्मसच्चक्रशक्रः ।
दक्षक्रत्वन्तकत्वं दधदधमदध्वंसलक्ष्यप्रशंसः
संसर्गध्वस्तपङ्को गणगणमचलं कल्पयन्हन्त्वशं वः ॥ ३ ॥

अन्वय—षट्चक्रस्थ षडध्वप्रसरसरभस सर्गबन्धप्रगल्भ, प्रत्यग्रप्रह्व-नव्यस्तवपठनपरब्रह्मसच्चक्रशक्र दक्षक्रत्वन्तकत्वम् दधत्, अघमदध्वंस-लक्ष्यप्रशंस, संसर्गध्वस्त-पङ्कः गणगणम् अचलम् कल्पयन् (स भर्गः) व अशम् हन्तु ।

अर्थ—शरीरान्तर्वर्ती (मूलाधार, स्वाधिष्ठान, नाभि, हृदय, भ्रूमध्य और ब्रह्मरन्ध्र इन) षट्चक्रों में निवास करनेवाले, और वाचक (वर्ण, मन्त्र, पद) एवं वाच्य (कला, तत्त्व, भुवन) स्वरूप षट् मार्गों के प्रचार में उत्कण्ठित, तथा—सामने हाथ जोड़कर स्तुति-पाठ में तत्पर हुए ब्रह्मा, विष्णु, और इन्द्रादि देवों के वन्दनीय, दक्ष प्रजापति के यज्ञ-मृग को विध्वंस करनेवाले, अन्धकासुर, त्रिपुरासुर प्रभृति दुष्ट पामरों के मद का विध्वंसन करनेवाले, अपने चरणारविन्द-रज के स्पर्श से शरणागतों के कलङ्क पङ्क को दूर करनेवाले एवं नन्दी, महा-काल आदि गणों के गण को अचल बनानेवाले भगवान् शङ्कर हमारे समस्त अकल्याणों (अशुभों) को दूर करें ।

वक्षःप्रस्थपद्मं करकमलतलप्रज्वलच्चक्र
कंसघ्नं सर्पतल्पं खगवरवहनं नन्दयत्यर्धगं यः ।
धर्मं पद्मध्वजस्यं करगतकलशं चर्म यश्च प्रतस्यं
शंसन्तं संस्मरन्तं नतमनवरतं सोऽव्ययः स्पत्यर्थं वः ॥ ४ ॥

अन्वय—य वक्षःप्रस्थपद्मम् करकमलतलप्रज्वलच्चक्रम्, कंसघ्नम् सर्पतल्पम् खगवरवहनम् (श्रीविष्णुम्) अर्धगम् (हरिहरमूर्तेर्दक्षिणा-र्धगम्) नन्दयति, य च प्रतस्यम् धर्मम् चर्म, तथा करगतकलशम् पद्म-

दधान्, शंसन्तम् संस्मरन्तम् जनस्यम् नवम् (भक्तम्) अनवरतम् नन्दयति, सः अव्ययः वः अवम् रयतु ।

अर्थ—जो वक्षःस्थल-रूपी मन्दिर में श्रीलक्ष्मी को धारण करनेवाले, कर कमलों में उज्ज्वल पाञ्चजन्य शङ्ख एवं सुदर्शन चक्र को धारण करनेवाले, कंसारि, शेषशायी गरुड़-वाहन भगवान् (श्री विष्णु) को अपने हरिहर स्वरूप के दक्षिण अर्धभाग में धारण करके आनन्दित करता है, और जो अपनी ध्वजा पर श्री वृषभ को तथा कर-कमल में पीयूष कलश को धारण करता हुआ अपना स्मरण और कीर्तन करनेवाले विनीत भावुकों को निरन्तर आनन्दित करता है, वह अव्यय-अविनाशी परमेश्वर हमारे पापों का नाश करे ।

संरक्षन्भक्तवर्गं यमभटभयतः सभ्यमभ्यर्णलभ्यं

धन्यंमन्यं वदन्यं प्रणयपरवशं पर्षदुग्रव्यवस्यम् ।

चर्पत्वच्छिन्नचञ्चद्गरगवलगलः कस्थरङ्गत्तरङ्ग-

स्वर्गङ्गः शश्वदङ्कस्थलगतनगजस्त्र्यम्बकः सम्पदं वः ॥५॥

अन्वय—सभ्यम् अभ्यर्णलभ्यम् धन्यमन्यम् वदन्यम् प्रणयपरवशम् पर्षदग्र्यव्यवस्यम् भक्तवर्गम् यमभटभयतः संरक्षन्, अच्छिन्नचञ्चद्गरगवल-गलः कस्थरङ्गत्तरङ्गस्वर्गङ्गः शश्वदङ्कस्थलगतनगजः त्र्यम्बकः वः सम्पदम् चर्पतु ।

अर्थ—सभ्य, सेवा में समुपस्थित, धन्यात्मा, उदार-दानी, अतिशय प्रेम करनेवाले और सभ्य जनों के अग्रणी शरणागत को यमदूतों के भय से बचाता हुआ, एवं उग्र कालकूट के वेग से श्यामल-कण्ठवाला, मस्तक पर दिव्य तरङ्गोंवाली मन्दाकिनी से सुशोभित, और (अर्ध-नारीश्वर स्वरूप धारण करके) श्री गिरिजा को सदैव अपने अर्धभाग में धारण करनेवाला वह त्र्यम्बक (त्रिनेत्रधारी शिव) आपको सकल सम्पदा प्रदान करे ।

अम्भःकम्प्रं कटम्रं सवहलगरलं पन्नगं कण्ठलग्नं
ग्रथ्नन्मह्यम्नभस्वत्खरकरदहनस्वर्क्षपत्यम्वरत्वम्।
स्कन्धस्थं चर्म भर्मप्रभमलकचयं चन्दनत्वं प्रपन्नं
प्रत्यङ्गं भस्म सप्तच्छददलधवलं स्यत्वजः कल्मषं वः ॥ ६ ॥

अन्वय—अम्भ.कम्प्रम् कटप्रम् (जटाजूटम्) ग्रन्थन् (धारयन्), सवहलगरलम् कण्ठलग्नम् पन्नगम् ग्रथ्नन्, महाम्रभस्वत्खरकरदहनस्वर्क्षपत्यम्बरत्वम् ग्रन्थन् (तन्मूर्ति धारयन) स्कन्धस्थम् चर्म ग्रन्थन्, भर्मप्रभम् अलकचयम् ग्रन्थन्, चन्दनत्वम् प्रपन्नम् सप्तच्छददलधवलम् भस्म प्रत्यङ्गम् ग्रन्थन् (सः)अजः वः कल्मषम् स्यतु।

अर्थ—मस्तक पर मन्दाकिनी के वेग से कम्पित जटाजूट को धारण करता हुआ, कण्ठ पर महा विषधर सर्प को धारण करता हुआ तथा पृथिवी, जल, अग्नि, पवन, आकाश, आत्मा (यजमान), चन्द्रमा और सूर्य-मूर्ति को धारण करता हुआ, कन्धे पर गज-चर्म को धारण करता हुआ, शिर में सुवर्ण के समान पिङ्गल केशों को धारण करता हुआ, समस्त अङ्गों पर सप्तपर्ण (वृक्ष) के पर्ण (पत्र) के समान स्वच्छ विभूति को रमाता हुआ, वह अनादि, सर्व-व्यापक परमेश्वर हमारे पापों को क्षीण करे।

सद्यः सन्यस्तगर्वग्रहमहतमहस्त्यक्तसङ्गप्रसङ्गं
सत्त्वस्थं लब्धतत्त्वं मलशबलगलत्सर्वसम्बन्धबन्धम्।
यत्सम्पर्कप्रयत्नक्षममलयदयं तथ्यपथ्यप्रसक्तं
यच्छत्वच्छं मनस्तत्स्मरहरचरणद्वन्द्वनम्रस्य शं वः ॥ ७ ॥

अन्वय—यत् सद्य. सन्यस्तगर्वग्रहम् अहतमहः त्यक्तसङ्गप्रसङ्गम् सत्त्वस्थम् लब्धतत्त्वम् मलशबलगलत्सर्वसम्बन्धबन्धम् सम्पर्कप्रयत्नक्षमम् अलयदयम् तथ्यपथ्यप्रसक्तम् तत् स्मरहरचरणद्वन्द्वनम्रस्य अच्छम् मनः वः शम् यच्छतु।

अर्थ—तत्काल (स्मरण करते ही) समस्त गर्व के व्यसन को दूर कर देनेवाला, अखण्ड तेज से पूर्ण, बाह्य विषयों की आसक्ति से रहित, सत्त्वगुण के उद्रेक से परिपूर्ण, परमार्थ तत्त्व को प्राप्त हुआ, सम्पूर्ण मलों के संसर्ग से शून्य, केवल शिव-भक्ति रूपी अमृत-रस के आस्वादन के लिए प्रयत्न करनेवाला, उदार-करणशाली और सत्य-सङ्कल्पोंवाला श्री शिव के भक्त का स्वच्छ मन आप लोगों का कल्याण करे !

सत्यं नश्यत्यवश्यं घनमघपटलं यत्पदस्पर्शबद्ध-
श्रद्धस्य स्पष्टकष्टप्रशमनमनसः कस्य न व्यक्तकल्कम् ।
तस्य व्यस्यत्वशं वः सितकरशरणं मस्तकं ध्वस्तकम्पं
सम्पत्सम्पर्करम्यप्रभमभयकरस्यर्षभस्यन्दनस्य ॥ ८ ॥

अन्वय—स्पष्टकष्टप्रशमनमनसः यत्पदस्पर्शबद्धश्रद्धस्य कस्य व्यक्त-कल्कम् घनम् अघपटलम् सत्यम् अवश्यम् न नश्यति ? (अपि तु सर्वस्यापीति भावः) तस्य अभयकरस्य ऋषभस्यन्दनस्य सितकरशरणम् सम्पत्सम्पर्करम्य-प्रभम् ध्वस्तकम्पम् मस्तकम् वः अशम् व्यस्यतु ।

अर्थ—जिस दयालु प्रभु के पदारविन्द-स्पर्श के लिए उत्सुक हुए, शरणागतों के महान् कष्टों को दूर करने में उत्कण्ठित भावुकों का पाप-पटल अवश्य ही नष्ट हो जाता है, उस शरणागतों के अभयदाता भगवान् वृषभध्वज का चन्द्र-किरणों से उज्ज्वल, दिव्य शोभा से रम-णीय, एवं भक्तजनों के भय को दूर करनेवाला मस्तक आपके अमङ्गल को नाश करे ।

अत्यन्तस्वच्छमन्तःकरणमशरणमत्त्वरक्षं समक्षं
व्यञ्जन्भञ्जन्नजस्रं नयनतवदनस्तम्भसंरम्भदम्भम् ।
सर्वज्ञः सत्त्वसंघबलमकरणचणं जन्मकर्मप्रबन्धं
मध्नन्नत्यर्थमर्थं क्षतसकलमलं वर्धयत्वव्ययं वः ॥ ९ ॥

अन्वय—अशरणप्रस्तरदम् अत्यन्तस्वच्छम् अन्तःकरणम् समन्तम् (एव) व्यञ्जन, अजस्रम् नयनतवदनस्तम्भसरम्भदम्भम् भञ्जन्, सत्त्व-सम्पन्नमकरणचरणम् कर्मप्रबन्धम् (भविनाम्) जन्म अत्यर्थम् सघ्नन् (निःशेषीकुर्वन्) सर्वज्ञ (परमेश्वर) स्तनसकलमलम् अव्ययम् अर्थम् (परमार्थम्) वः वर्धयतु ।

अर्थ—अनाथ शरणागतों की रक्षा करनेवाले अत्यन्त स्वच्छ अन्तःकरण की उदारता को सामने प्रकट करते हुए और विनीत जनों के मुख की मौन-मुद्रा को भङ्ग करते हुए अर्थात् शरणागतों को यथेष्ट वर प्रदान करके अतीव हर्षित करते हुए, एवं शुभाशुभ कर्मों के बन्धन में समस्त जीवों को कष्ट देनेवाली (प्राणियों की) जन्म-परम्परा को जड़ से ही मिटाते हुए, यानी जीवों की पुनरावृत्ति को मिटाते हुए वह सर्वज्ञ परमेश्वर आप लोगों के सकल मलों को दूर करनेवाले अखण्ड परमार्थ की अभिवृद्धि करे ।

गत्स्फटिकप्रस्थपस्त्यं धरमथ मलयं मन्दरं सन्नमन्त-
  र्नन्दद्गन्धर्वयक्षं सकनककटकं कल्पतर्वन्तरङ्गम् ।
भद्रं सङ्क्रन्दनस्य प्रहसनसदनं नन्दनं स्वर्गरङ्गं
  गच्छन्स्वच्छन्दचर्यः परबलदलनस्तर्पयत्वन्वहं वः ॥ १० ॥

अन्वय—स्फटिकप्रस्थपस्त्यम् धराम् (कैलासम्) गच्छन्, अथ मलयम्, मन्दरम्, तथा—अन्तर्नन्दद्गन्धर्वयक्षम् सकनककटकम् कल्पतर्वन्तरङ्गम् (एतादृशम्) सानुम् गच्छन्, पुनः—सङ्क्रन्दनस्य भद्रम् प्रहसनसदनम् (लीलागृहम्) स्वर्गरङ्गम् नन्दनम् गच्छन्, परबलदलन (असौ) स्वच्छन्दचर्यः अन्वहम् वः तर्पयतु ।

अर्थ—(कभी) स्फटिक-मय शिखरोंवाले कैलास पर्वत के भव्य-भवन को जाता हुआ, (कभी) 'श्री मलयाचल' और मन्दराचल पर्वत को जाता हुआ, एवं (कभी) जिसके अन्दर यक्ष-गन्धर्वगण नृत्य

करते हैं, जिसका मध्यभाग काञ्चनमय है और जिसके मध्य में मन्दार[1] आदि पाँच प्रकार के कल्पवृक्ष सुशोभित हैं, एतादृश सह्य-पर्वत को जाता हुआ, पुनः देवराज इन्द्र के अति रमणीय स्वर्गरूपी लीला-गृह (क्रीडा-भवन) के 'नन्दनवन'रूपी रङ्गभूमि में जाता हुआ, दुष्ट दैत्यों के बल को मथन करनेवाला, वह स्वतन्त्रचर्या में तत्पर (स्वेच्छा-विहारी) प्रभु आपको प्रतिदिन (परम आनन्द-रूपी अमृत के रस से)तृप्त करें।

पद्मस्थं पद्महस्तं गजवरवदनं नन्दनं स्कन्दसंज्ञं
पर्जन्यं हंसमब्जं दशशतनयनं हव्यभक्षं सदण्डम् ।
रक्षःप्रख्यं जलस्थप्रथमथ पवनं मर्त्यपत्नं मखघ्नं
संपश्यत्यत्यजन्तं चरणतलमलं यः स कर्षत्वघं वः ॥ ११ ॥

अन्वय—यः अलम् (अत्यर्थम्) चरणतलम् अत्यजन्तम्* पद्मस्थम्[2], पद्महस्तम्, गजवरवदनम्, स्कन्दसंज्ञम् तनयम्, पर्जन्यम्, हंसम् (सूर्यम्) अब्जम्[3], दशशतनयनम्, हव्यभक्षम्, सदण्डम् (यमम्) रक्षःप्रख्यम् (निर्ऋतिम्) जलस्थप्रथम् (वरुणम्) अथ—पवनम्, मर्त्यपत्नम्[4] मखघ्नम् (ईशानम्) च संपश्यति (सम्यक् समदृष्ट्या च पश्यति) सः (प्रभुः) वः अघम् कर्षतु ।

अर्थ—जो(परमेश्वर) अपने चरण-तलों का अनन्य शरण लिये हुए था। ब्रह्मा, विष्णु, गणेश, स्वामी कार्तिकेय, मेघ, सूर्य, चन्द्रमा,

---

(१) मन्दार, पारिजात, सन्तान, कल्पवृक्ष, हरिचन्दन ।

* अत्र अलम् चरणतलम् अत्यजन्तम्, इति सर्वत्र सम्बन्धः ।

(२) ब्रह्माणम् ।

(३) चन्द्रमसम् ।

(४) कुबेरम् ।

इन्द्र, अग्नि, यम, निर्ऋति, वरुण, वायु, कुबेर और ईशान (रुद्र) इन सबको सम्यक् प्रकार (स्नेह-भरी दृष्टि से) एक समान देखता है, वह महान् दयालु समद्रष्टा प्रभु हमारे दुष्कर्म-जन्य दुरितों को दूर करे।

अव्यक्तं यः समग्रं जगदगनगरं व्यञ्जयत्यब्जजः स-
न्यः संरक्षत्यनन्तः स्मरयमदमनः संहरत्यक्रमं यः।
स त्र्यक्षस्तन्त्रमन्त्रप्रणयनसफलग्रन्थकर्मण्यखर्व-
ज्ञत्वः सद्गम्यवर्त्मप्रकटनपरमः स्पर्शयत्वद्वयं वः॥ १२॥

अन्वय—यः (रजोगुणस्योद्रेके) अब्जजः सन् अव्यक्तम् समग्रम् अगनगरम् जगत् व्यञ्जयति, तथा यः (सत्त्वोद्रेकेण) अनन्तः सन् समग्रम् जगत् संरक्षति, एवं—यः (तमोगुणप्राधान्ये) स्मरयमदमनः (रुद्ररूपः सन्) समग्रम् जगत् अक्रमम् (युगपदेव) संहरति, सः तन्त्रमन्त्रप्रणयनसफलग्रन्थकर्मणि अखर्वज्ञत्वः सद्गम्यवर्त्मप्रकटनपरमः त्र्यक्षः वः अद्वयम् स्पर्शयतु।

अर्थ—जो परमेश्वर (रजोगुण के प्राधान्य में) ब्रह्मारूप होकर अव्यक्त जगन्नगर को व्यक्त करता है, अर्थात् रचता है, और सत्त्वगुण की उत्कर्षता से श्रीविष्णुरूप होता हुआ समग्र जगत् की रक्षा करता है, एवं (तमोगुण के बाहुल्य से) श्रीरुद्ररूप होता हुआ फिर समस्त जगत् का एक साथ ही संहार करता है; वह सकल निगम, शास्त्रों का निर्माता और सन्मार्ग का उपदेष्टा त्रिनेत्रधारी भगवान् (सदाशिव) आप लोगों को 'अद्वैत भावना' अर्थात् एक ही भगवान् सकल चराचर रूप से भासमान हो रहा है, इस प्रकार का अभेद ज्ञान प्रदान करे।

द्रष्टव्यं सम्यगर्थप्रवचनपरमं शर्मदं पद्मवद्दं
मद्यमप्रमयास्यं नमदमरवरः शङ्करः सङ्करघ्नः।

वाले, पुत्रवत्सला जननी की तरह शरणागतों को पालना करनेवाले, सहोदर भ्राता की तरह सुख-दुःख के साथी 'त्रिलोकीनाथ भगवान् भवानीनाथ' की सदा जय हो ! आहा !—

उदारैर्मन्दारैरचितशिखरं चन्द्रशिखरं
समभ्यर्च्य प्रेम्णा विपुलपुलकालङ्कृततनुः ।
कदा गन्धाबन्धप्रमदमुदितोद्दाममधुप-
स्फुरद्गुञ्जागर्भैर्विभुमभिभजेयं नुतिपदैः ॥ २ ॥

अन्वय—उदारैः मन्दारैः रचितशिखरम् चन्द्रशिखरम् प्रेम्णा समभ्यर्च्य, विपुलपुलकालङ्कृततनुः (सन्) अहम्, गन्धाबन्धप्रमदमुदितोद्दाममधुपस्फुरद्गुञ्जागर्भैः नुतिपदैः विभुम् कदा अभिभजेयम् ?

अर्थ—कई योजनों तक जिनकी सुगन्धि फैलती है ऐसे उदार मन्दार (कल्पवृक्ष) के पुष्पों का मुकुट धारण किये हुए चन्द्र-मुकुट को सम्यक् प्रकार प्रेम से पूजित करके अत्यन्त रोमाञ्चित होता हुआ मैं सुन्दर (लक्ष्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ-रूपी) सुगन्धि के परम आनन्द से मुदित भक्त रूपी भ्रमरों की उत्तमोत्तम गीत ध्वनि से गर्भित स्तुति-पदों से प्रभु को कब भजूँगा ? हाय !—

इतो द्वन्द्वक्लेशा विषयमृगतृष्णास्थितिरितो
जरामृत्युव्याधिप्रतिभयमितः सर्वसुलभम् ।
महामोहैर्घोरैरुपहतमितो बोधललितं
कथं कुर्यादार्यः कृतमतिरपि स्वात्मनि हितम् ॥ ३ ॥

अन्वय—इतः द्वन्द्वक्लेशाः (सन्ति), विषयमृगतृष्णास्थितिः इतः (अस्ति), जरामृत्युव्याधिप्रतिभयम् इतः सर्वसुलभम् (अस्ति), घोरैः महामोहैः बोधललितम् इतः उपहतम् (इत्थं बहुविघ्नाकुलमनस्त्वात्) कृतमतिः अपि आर्यः स्वात्मनि हितम् कथम् कुर्यात् ?

अर्थ—एक ओर तो शीतोष्णादि द्वन्द्वो का द्वन्द्व-युद्ध मचा है और दूसरी ओर विषयरूपी मृगतृष्णा चकमकाती है, इधर—प्रति क्षण जरा, मृत्यु और व्याधियाँ सताती हैं, उधर—महाघोर माया-मोह रूपी लुटेरे बोध को हर रहे हैं। अब ऐसी दशा में यदि कोई महा बुद्धिमान् सज्जन अपना कल्याण (भवसागर से पार होने का उपाय) करना भी चाहे, तो कैसे करे ?

अशेषक्लेशौघस्खलनपरिपन्थी प्रकटय-
न्नयं विघ्नव्रातः प्रबलविपदापादनविधिम् ।
विवेकाख्यं चक्षुस्तिरयति सतां येन सहसा
भवश्वभ्रे पातः प्रतिपदमदभ्रः प्रभवति ॥ ४ ॥

अन्वय—अशेषक्लेशौघस्खलनपरिपन्थी अयम् (पूर्वोक्तः) विघ्नव्रातः प्रबलविपदापादनविधिम् प्रकटयन् सताम् (अपि) विवेकाख्यम् चक्षुः तिरयति, येन (देहिनाम्) सहसा भवश्वभ्रे अदभ्रः पातः प्रतिपदम् प्रभवति ।

अर्थ—अविद्यादि पञ्च महाक्लेशों-द्वारा महान् दुःख देनेवाला यह(पूर्वोक्त द्वन्द्व आदि)विघ्नों का समूह प्राणियों को इस संसाररूपी महा अरघट्ट में डालकर बारम्बार जन्म-मरणरूपी भीषण आपदाओं को उत्पन्न करते हुए बड़े-बड़े महात्माओं के भी विवेकरूपी चक्षुओं को ढाँक देता है; इसी कारण सहसा ही इस संसाररूपी गड्ढे में प्राणियों का बार बार पतन होता रहता है।

भवद्भक्तिं तस्य व्युपशमसमर्थामथ दृशः
प्रसादं तत्त्वानां घनमहसमासाद्य सुधियः ।
प्रकाशात्मानं त्वामतिविमलया हंसमुदितं
दृशा साक्षात्कृत्य प्रतिजहति मोहान्धतमसम् ॥ ५ ॥

अन्वय—अथ, हे भगवन् ! तस्य (पूर्वोक्तविघ्नव्रातस्य) व्युपशमसमर्थाम्, दृशः प्रसादम् तत्त्वानाम्, घनमहसम् भवद्भक्तिम् आसाद्य, सुधियः

तेषाम् तद्भोगार्थम् (तस्य शुभाशुभ-मिश्रितरूपस्य त्रिविधस्य कर्मणः भोगार्थम्) तरुणकरुणापूर्णहृदय. (सन्) यत् अखिलम् भुवननिर्माणम् विधत्से, तत् एतत् सङ्कल्पप्रकटितसमस्तत्रिजगत, भुवनमहनीयस्य भवतः प्रभो. लीला-मात्रम् (अस्ति, कुत :—) हे स्वामिन् ! इह यत् एकस्य तव (एव) सहजे, नित्ये, करणनिरपेक्षे, क्रियाज्ञाने (क्रियाशक्ति-ज्ञानशक्ती) यत् सर्वविषये (सर्वस्याधारभूते) प्रभवतः ।

अर्थ—भगवन् ! इस अनादि संसार में रजोगुण के उद्रेक से (अत्यन्त रागवश) बाधित होकर जीव शुभ, अशुभ अथवा शुभाशुभ-मिश्रित कर्मों को करते हैं; इसलिए जीवों के उन (शुभ, अशुभ और शुभाशुभ मिश्रित—तीन प्रकार के)कर्मों के भोग के लिए आप अतिशय करुणा-पूर्ण हृदय होकर जो इन पृथिव्यादि समस्त भुवनों का निर्माण करते हो, सो यह सब केवल सङ्कल्प (इच्छा मात्र) से ही सम्पूर्ण जगत् को प्रकट करनेवाले आप अखिलकोटिब्रह्माण्डाधीश्वर प्रभु की (केवल) एक लीलामात्र (क्रीडा) है। क्योंकि हे जगदीश ! आपकी स्वाभा-विकी (अकृत्रिम), नित्य (अविनाशी), एवं सचराचर भुवनों की आधार-भूता 'क्रियाशक्ति' और 'ज्ञानशक्ति' (ये दोनों ही) करण-निरपेक्ष (अर्थात् कार्यारम्भ में इन्द्रिय अथवा कारणों की अपेक्षा नहीं रखनेवाली) हैं।

प्रसिद्धोऽयं पन्था न भवति विचित्रा विरचना
विना यत्कर्तारं स च न भवति ज्ञानरहितः ।
अतोऽवश्यं कर्ता त्रिजगति विचित्रे त्वमुचितः
स च त्वं त्वय्यन्ये किमिव विवदन्ते हतधियः ॥१२॥

अन्वय—हे प्रभो ! यत्, कर्तारम् विना विचित्रा विरचना न भवति, स. च (कर्ता) ज्ञानरहितः (अपि) न भवति, अयम् पन्थाः प्रसिद्धः (आबाल-पर्यन्त विदित एवेत्यर्थः) अतः विचित्रे त्रिजगति अवश्यम् (एव) कर्ता त्वः

(सर्वज्ञः) उचितः, सः च (सर्वज्ञः परमात्मा) त्वम् (एवासि) अन्ये इत धियः त्वयि किमिव विवदन्ते ?

अर्थ—अयि परमेश्वर ! 'कर्त्ता के बिना यह नाना प्रकार की विचित्र रचना हो नहीं सकती और वह कर्ता भी ज्ञान-रहित (अज्ञानी) नहीं हो सकता।' यह बात आबाल-गोपाल पर्यन्त सर्वत्र ही प्रसिद्ध है। इसलिए इस नाना विध जगत् का कर्ता अवश्यमेव कोई 'सर्वज्ञ' ही होगा, सो हे भगवन् ! वह सर्वज्ञ परमात्मा आप ही हो, तो फिर अन्य (अनीश्वरवादी) निर्बुद्धि लोग आपके विषय में वृथा ही क्यों वाद-विवाद करते हैं ?

अथैवं चेद्ब्रूयुः किमयमपरप्रेरितमतिः
स्वतन्त्रो वा देवस्त्रिभुवनविधाने प्रयतते ।
अमुष्याद्ये पक्षे नहि परविधेयस्य विभुता
परस्मिन्पक्षे वा फलमपि किमुद्दिश्य यतते ॥ १३ ॥

अन्वय—अथ (ते पामराः) एवम् चेत् ब्रूयुः—अयम् देवः किम् अपरप्रेरितमतिः सन् त्रिभुवनविधाने प्रयतते ? (उत) स्वतन्त्रः वा प्रयतते ? अमुष्य आद्ये पक्षे परविधेयस्य (परप्रेरितस्य) विभुता न हि (भवति) परस्मिन् वा पक्षे किम् अपि फलम् उद्दिश्य यतते ?

अर्थ—हाँ ! यदि वे पामर लोग ऐसा कहें कि—'वह परमात्मा क्या किसी की प्रेरणा से इस त्रिभुवन का निर्माण करता है, अथवा स्वयं अपनी इच्छा से' ? सो इसमें, पहले पक्ष में तो (अन्य-प्रेरित) प्रभु की विभुत्व-शक्ति हो नहीं बन सकती, और दूसरे (स्वतन्त्र) पक्ष में किस कामना से प्रभु जगत् को रचता है ? अर्थात् जो स्वेच्छा-शक्तिमय और निरीह (इच्छा-रहित) है, वह क्यों किसी फल के उद्देश्य से संसार को रचता है ?

अथास्येयं वाञ्छा प्रभवति न कर्मक्षयमृते
नृणां मुक्तिः सोऽपि क्वचन न विना भोगमुचितः ।
विनाधारं भोगो न भवति वपुर्नापि भुवनं
ततोऽर्हं जन्तूनां तनुभुवननिष्पादनमिति ॥ १४ ॥

अन्वय—अथ, अस्य (देवस्य) इयम् वाञ्छा (भवति) यत् कर्मक्षयम् ऋते नृणाम् मुक्तिः न प्रभवति, सः अपि (कर्मक्षयः) भोगम् विना न क्वचन उचितः । भोगः (अपि) आधारम् विना न भवति, (सः चाधारः) वपुः भुवनम् अपि विना न भवति, ततः जन्तूनाम् तनुभुवननिष्पादनम् इति अर्हम् ।

अर्थ—और यदि वे लोग कहें कि हाँ, परमेश्वर की इच्छा (कामना) यह है कि कर्मों के क्षय हुए बिना (नरमात्राभिमानी) जीवों की मुक्ति नहीं हो सकती; और भोग के बिना वह कर्मों का क्षय नहीं हो सकता; एवं भोग भी आधार के बिना नहीं हो सकता, और यह आधार शरीर एवं भुवन के बिना नहीं हो सकता; इसलिए प्राणियों के लिए शरीर तथा भुवनों (पृथिव्यादि लोकों) का निर्माण करना युक्त (उचित) ही है । क्योंकि—

इदं युक्तं सान्द्रामृतमधुरयाऽन्तः करुणया
प्रयुक्तस्याऽजस्रं परहितविधानव्यसनिनः ।
दयालुश्चेल्लोकं सृजति सकलं किं न सुखिनं
कुतो वाऽऽधिव्याधिक्षत इह जनोऽनेन जनितः ॥ १५ ॥

अन्वय—सान्द्रामृतमधुरया अन्तः करुणया प्रयुक्तस्य अजस्रम् परहितविधानव्यसनिनः (विभोः) इदम् युक्तम्; सः (प्रभुः) दयालुः चेत् तर्हि, सकलम् लोकम् सुखिनम् (एव) किम् न सृजति ? इह अनेन आधिव्याधिक्षतः जनः कुतः वा जनितः ?

अर्थ—गाढ़-अमृत के समान सुमधुर करुणा के द्वारा प्रेरित हुए और सदैव परोपकार में परायण प्रभु के लिए तो यह कर्तव्य समुचित ही है। परन्तु, वह परमेश्वर यदि दयालु है, तो फिर क्यों न सारे संसार को सुखी बना देता? और उसने नाना प्रकार की आधि और व्याधियों से बाधित जीव क्यों बनाये हैं?

अथोपादानं यद्भवति परमाण्वादि जगत-
स्तथा कर्माऽनेहःप्रभृति सहकार्येतदुभयम्।
विना सृष्टौ नैष प्रभवति यदीशः किममुना
तदेवाऽस्तु व्यक्तं तनुभुवननिर्माणनिपुणम्॥ १६॥

अन्वय—अथ, यत् जगतः सृष्टौ परमाण्वादि उपादानम्, तथा कर्मा-नेहःप्रभृति सहकारि भवति, तत् एतत् उभयम् विना, सृष्टौ (सृष्टिविधाने) एषः ईशः यदि न प्रभवति, तर्हि अमुना (ईशेन) किम्? (यतः) तदेव (उभयम्) व्यक्तम् तनुभुवननिर्माणनिपुणम् अस्तु!

अर्थ—और हाँ, जगत् की सृष्टि मे जो यह परमाणु आदि उपादान कारण, एव (शुभ, अशुभ और उभय मिश्रित) कर्म तथा काल आदि सहकारि कारण है, सो इन दोनो (कारणों) के विना जगत् की सृष्टि करने में यदि वह परमात्मा नहीं समर्थ हो सकता है, अर्थात् वह परमात्मा अणु, कर्म, काल आदि निमित्त के अनुसार ही शुभाशुभ प्राणियों को रचता है, तो फिर उस परमेश्वर (को मानने) की क्या आवश्यकता है? क्योंकि वे दोनों उपादान और सहकारि कारण ही जीवों के शरीर एव भुवन को अपने आप ही रच लेंगे!

इतीत्थं मुग्धानामिह मतिविमोहाय कुधियः
कुतर्कप्रागल्भीमुखरितमुखा मूढमनसः।
अधिष्ठातारं त्वां वरद जडवर्गस्य सदयं
न जानन्ति स्वामिन् परमपुरुषं चेतनममी॥ १७॥

अन्वय—इति इत्थम् (इत्येवम्) इह मुग्धानाम् मतिविमोहाय कुतर्कप्रागल्भीमुखरितमुखाः मूढमनसः अमी कुधियः हे वरद ! हे स्वामिन् ! जडवर्गस्य अधिष्ठातारम् चेतनम् परमपुरुषम् त्वाम् सदयम् (कृपाम्बुधिम्) न जानन्ति ।

अर्थ—प्रभो ! इस प्रकार, मति-मन्द लोगों की बुद्धि को भ्रमित करने के लिए अनेकों तरह के कुतर्क करने में वाचाल बने हुए वे महा-अज्ञानी पामर लोग बेचारे आप समस्त जड़ वर्ग के अधिष्ठाता परम-प्रकाशमय चेतन-स्वरूप करुणासागर परमात्मा को नहीं जानते हैं। क्योंकि—

यथोपादानं मृत्तदनु सहकारीह लगुडो
जलं चक्रं सूत्रं वरद जडवर्गोऽयमखिलः ।
न यत्नं कौलालं प्रभवति विना कुम्भघटने
तथाधिष्ठातारं न भवति विना त्वां भवविधिः ॥ १८ ॥

अन्वय—हे वरद ! इह (घटस्य) उपादानम् मृत्, तदनु सहकारी लगुडः, जलम् चक्रम् सूत्रम् अयम् अखिलः जडवर्गः कौलालम् यत्नम् विना यथा कुम्भघटने (घट कर्तुम्) न प्रभवति; तथा त्वाम् अधिष्ठातारम् विना भवविधिः न भवति ।

अर्थ—जैसे (घट का) उपादान कारण मृत्तिका और सहकारी कारण दण्ड एवं जल, चक्र, सूत्रादि यह समस्त जड़ वर्ग (जड पदार्थ) कुम्भकार के प्रयत्न बिना घट बनाने को नहीं समर्थ हो सकता, वैसे ही, हे नाथ ! आप अधिष्ठाता (कर्ता) के बिना इस जगत् की रचना नहीं हो सकती ।

[अब इस भव-महासागर में डूबे हुए प्राणी के उससे पार होने का उपाय बतलाने के लिए कवि कहते हैं कि—हाय !]

अविज्ञायैवाऽज्ञः परुषविषमं कर्म कुरुते
विपाके तस्यासौ निपतति भवक्लेशकलिले ।
अतो ज्ञानालोकः प्रकटितसमस्तार्थगहनो
महामोहध्वान्तव्यवहितदृशोऽवश्यमुचितः ॥ १९ ॥

अन्वय—अज्ञः अविज्ञाय एव परुषविषमम् कर्म कुरुते; असौ तस्य (कर्मणः) विपाके सति भवक्लेशकलिले निपतति । अतः महामोहध्वान्तव्यवहितदृशः (पुंसः) प्रकटितसमस्तार्थगहनः ज्ञानालोकः अवश्यम् उचितः ।

अर्थ—अज्ञानी पुरुष बिना जाने बूझे ही महाघोर (कुत्सित) कर्म करता है, और फिर उस (पाप कर्म) के परिपाक (परिणाम) होने पर महाभयङ्कर क्लेश (दुःख) रूपी कीचड़ में गिरता है । इसलिए महामोह (अविद्या) रूपी अन्धकार से अन्ध बने हुए अज्ञानी पुरुष के लिए समस्त पदार्थों के पटल को प्रकाशित करनेवाले 'ज्ञानरूपी प्रकाश' की नितान्त आवश्यकता है ।

उपायस्तत्प्राप्तौ भवति न विना शास्त्रमपरो
न शास्त्रं तत्स्वामिन्निह यदुपदिष्टं न भवता ।
विविञ्चन्तः सन्तो हितमहितमेते विदधते
हिते सक्तिं मुञ्चन्त्यहितमिति नार्हन्ति पतनम् ॥ २० ॥

अन्वय—तत्प्राप्तौ शास्त्रम् विना अपरः उपायः न भवति, हे स्वामिन् ! यत् (च) भवता न उपदिष्टम्, तत् शास्त्रम् न (अस्ति, अतएव) सन्तः हितम् अहितम् (च) विविञ्चतः हिते सक्तिम् विदधते, अहितम् मुञ्चन्ति, इति (हेतो:) एते (सन्तः) पतनम् न अर्हन्ति ।

अर्थ—उस ज्ञानरूपी प्रकाश को प्राप्त करने के लिए 'शास्त्र' के बिना और कोई उपाय नहीं है, और हे प्रभो ! जो आपका उपदिष्ट नहीं, वह शास्त्र नहीं हो सकता । अतएव सज्जन पुरुष सच्छास्त्र के द्वारा विवेक पूर्वक हित और अहित का विवेचन करते हुए हित (सन्मार्ग) में

अनुराग करते हैं, और अहित (कुमार्ग) का परित्याग करते हैं, इसलिए वे (सज्जन) लोग पतित होने योग्य नहीं हैं। क्योंकि—

भवान्धर्मं साक्षादकृत सहजज्ञानमहसा
तमोध्वंसं पुंसामथ तदुपदेशेन विदधे।
प्रमाणं चोक्तिस्ते नहि घनघृणानिघ्नमनसो
जगद्भर्तुर्युक्तं वितथमभिधातुं भगवतः ॥ २१ ॥

अन्वय—हे विभो ! भवान् सहजज्ञानमहसा धर्मम् साक्षात् अकृत, अथ तदुपदेशेन पुंसाम् तमोध्वंसम् विदधे। ते उक्तिः च प्रमाणम्; हि घनघृणानिघ्नमनसः जगद्भर्तुः भगवतः (तव) वितथम् अभिधातुम् न युक्तम्।

अर्थ—भगवन् ! आपने 'स्वाभाविक ज्ञानरूपी प्रकाश' के द्वारा साक्षात् धर्म को बनाया और उस (धर्म) के उपदेश के द्वारा लोगों के अज्ञानरूपी अन्धकार को दूर किया, और हे प्रभो ! आपकी उक्ति समस्त प्रमाणों में सर्वोपरि है; क्योंकि उदार करुणा के अधीन (परवश) हुए आप त्रिलोकीनाथ का कथन असत्य कदापि नहीं हो सकता।

तदेतत्कारुण्यं घनतमतमःपङ्कपटली-
विलीनोऽयं लोकस्तव वरद संभाव्य सहजम्।
दधच्छ्रद्धाबन्धं त्वदुदितमनुष्ठातुमसकृत्
प्रवृत्तो दुष्पारं हर तरति संसारजलधिम् ॥ २२ ॥

अन्वय—हे हर ! हे वरद ! घनतमतमःपङ्कपटलीविलीनः अयम् लोकः, सहजम् तदेतत् (पूर्वक्रमोक्तेनोदितम्) तव कारुण्यम् संभाव्य (आदरेण मत्वा) त्वदुदितम् अनुष्ठातुम् असकृत् प्रवृत्तः, श्रद्धाबन्धम् दधत् दुष्पारम् (अपि) संसारजलधिम् तरति।

अर्थ—सो हे दयालो ! अत्यन्त घन अविद्यारूपी पङ्क-पटल(कीचड़) में विलीन हुआ यह जीव इस पूर्वोक्त क्रम से कहे हुए आपके स्वाभाविक (ज्ञानरूपी) 'कारुण्यामृत' को आदरपूर्वक सँभालकर आपके कहे

कः, यावज्जीवम् निरोगम् वपुः, अथ त्वदेकमनसः तवैव अग्रतः मुक्तिः भवति) इदम् मे भूयात् ।

अर्थ—अयि जन्म, जरा, मरण के भय को दूर करनेवाले ! अयि भक्तजनों पर अनुकम्पा करनेवाले भगवन् ! इस प्रकार अब बहुत कहने से क्या आवश्यकता है; बस, केवल यही एक प्रार्थना है कि आपके चरण-कमल-युगल के प्रसाद से आपके चरणारविन्द के पूजन में मेरी दृढ़ भक्ति हो, और यावज्जीवन शरीर नीरोग रहे, एवं अन्तसमय अनन्य भाव से आपमें ही तल्लीन होकर आपके ही आगे 'मुक्त' हो जाऊँ।

एवं देव तव स्तुतिप्रवचनप्राप्तप्रसादस्य मे
भूयो जन्म भविष्यतीति भगवन् मन्ये खपुष्पोपमम् ।
स्याच्चेत्प्राक्तनकर्मशेषजनितं तन्नाथ किं भूयसा
भूयासं भवदीयपादकमलस्तुत्या पुनर्निर्वृतः ॥ २५ ॥

अन्वय—हे देव ! हे भगवन् ! एवम् तव स्तुतिप्रवचनप्राप्तप्रसादस्य मे (धन्यस्य) भूयः जन्म भविष्यति इति (अहम्) खपुष्पोपमम् मन्ये, चेत् प्राक्तनकर्मशेषजनितम् तत् स्यात्, तर्हि किं भूयसा (उक्तेन) हे नाथ ! तत्रापि (अहम्) भवदीयपादकमलस्तुत्या पुनः निर्वृतः भूयासम् ।

अर्थ—हे भगवन् ! इस प्रकार आपकी स्तुति के प्रवचन से अनुगृहीत हुए मुझ धन्यात्मा का अब पुनर्जन्म होना (यह) तो आकाश-पुष्प के समान (अर्थात् सर्वथा ही असम्भव) है । हाँ, यदि कदाचित् प्राचीन कर्मों के शेष होने के कारण (फिर जन्म) हो भी जाय, तो हे नाथ ! उस जन्म में भी मैं आपके (ही) चरणारविन्द की स्तुति के द्वारा पुनः कैवल्यधाम को प्राप्त होऊँ !

इति श्रीप्रेममकरन्दसमेत काश्मीरक महाकवि-श्रीमज्जगद्धरभट्ट-
विरचिते भगवतो महेश्वरस्य स्तुतिकुसुमाञ्जलौ
'ईश्वर-प्रशंसा' नाम स्तोत्रम् समाप्तम् ।

षट्त्रिंशं स्तोत्रम्

यहाँ से ग्रन्थकार भगवत्स्तुति की फलप्राप्ति का वर्णन करने के लिए 'स्तुतिफलप्राप्ति' नामक छत्तीसवें स्तोत्र का निर्माण करते हैं—

ते नाथ जन्म सकलं न कलङ्कयन्ति
न द्रोहकर्मरसिकानपि शङ्कयन्ति ।
तान्सस्पृहं मृगदृशः प्रविलोकयन्ति
ये त्वत्पदाब्जरजसाऽलिकमङ्कयन्ति ॥ १ ॥

अन्वय—हे नाथ ! ते (धन्याः) सकलम् जन्म न कलङ्कयन्ति, द्रोहकर्मरसिकान् अपि (रिपून्) न शङ्कयन्ति, तान् सस्पृहम् मृगदृशः प्रविलोकयन्ति, ये त्वत्पदाब्जरजसा(निजम्) अलिकम् अङ्कयन्ति ।

अर्थ—हे नाथ ! वे (धन्यात्मा) लोग अपने समस्त जन्म को कलङ्कित नहीं करते हैं, महाद्रोही शत्रु लोगों को भी शङ्कित नहीं करते हैं* एवं उन्हें सुन्दरी युवतियाँ अतिशय अनुरागपूर्वक देखा करती हैं; जो लोग कि आपके चरण-कमलों की रज से अपने मस्तक को सुशोभित करते हैं ।

ते विद्विषामभिमतं हृदि मोघयन्ति
ज्ञानामृतं च कृपणेषु समर्पयन्ति ।
तेषां वचः क्षितिभुजोऽपि न लङ्घयन्ति
ये त्वां स्तवोक्तिकुसुमर्द्धिभिरर्चयन्ति ॥ २ ॥

---

* समदर्शी होने के कारण ।

अन्वय—ते (धन्याः) विद्विषाम् हृदि अभिमतम् मोघयन्ति; ज्ञानामृतम् च कृपणेषु समर्पयन्ति, तेषाम् वचः क्षितिभुजः अपि न लङ्घयन्ति; ये स्तवोक्तिकुसुमर्द्धिभिः त्वाम् अर्चयन्ति।

अर्थ—वे धन्यात्मा लोग शत्रुओं के मनोरथ (द्रोह) को निष्फल कर देते हैं; कृपणों (अज्ञानी जनों) को ज्ञानाऽमृत प्रदान करते हैं; और उनके वचनों को राजा लोग भी नहीं लङ्घित कर सकते हैं; जो भक्तजन सुन्दर 'स्तोत्र-रूपी कुसुमों' से आप प्रभु की पूजा करते हैं।

ते जन्मनः फलमनल्पमुदञ्चयन्ति
　　क्लेशापदः स्वमपरं च विमोचयन्ति।
तान्वैरिणः सहभुवोऽपि न वञ्चयन्ति
　　ये त्वामनाथजनबान्धवमर्चयन्ति ॥ ३ ॥

अन्वय—हे नाथ ! ते जन्मनः अनल्पम् फलम् उदञ्चयन्ति, क्लेशापदः(सकाशात्) स्वम् अपरम् च विमोचयन्ति; तान् सहभुवः अपि वैरिणः न वञ्चयन्ति, ये त्वाम् अनाथजनबान्धवम् अर्चयन्ति।

अर्थ—हे नाथ ! वे लोग मनुष्य-जन्म के सुमहत्फल (आत्म-कल्याण) को ग्रहण करते हैं; और अविद्यादि पञ्च-क्लेशों की आपत्तियों से (अथवा संसाररूपी मरुस्थल के भ्रमण से उत्पन्न हुए क्लेशों की आपत्तियों से) अपने को और दूसरे लोगों को मुक्त करते हैं। और उन्हें स्वाभाविक (काम-क्रोधादि, अथवा बाह्य) शत्रु लोग कदापि नहीं वञ्चित कर सकते हैं; 'जो भाग्यशाली पुरुष' आप अनाथ-जनों के बान्धव की पूजा करते हैं।

ते धर्ममिन्दुकरसुन्दरमर्जयन्ति
　　गीर्भिर्विदग्धहृदयान्यपि रञ्जयन्ति।
तानन्तकभ्रुकुट्योऽपि न तर्जयन्ति
　　ये त्वां भवामयहरं हर पूजयन्ति ॥ ४ ॥

अन्वय—हे हर ! ते इन्दुकरसुन्दरम् धर्मम् अर्जयन्ति, गीर्भिः विदग्ध-हृदयानि अपि रञ्जयन्ति, तान् अन्तकभ्रुकुटयः अपि न तर्जयन्ति; ये त्वाम् भवामयहरम् पूजयन्ति ।

अर्थ—अयि भक्तभीतिहर ! वे लोग चन्द्र-किरणों के समान सुनिर्मल यश के प्राप्त करते हैं, और अपनी प्रौढ़ उक्तियों से विद्वज्जनों के भी मन के मोहित करते हैं; उन्हें महा क्रोधोन्मत्त काल की विकराल भ्रुकुटियाँ भी नहीं डरा सक्ती, जो लोग कि आप भवभय-हारी प्रभु की पूजा करते हैं ।

ते त्वत्स्तुतिं हृदयधाम्नि कवाटयन्ति
दुःखद्रुमं च दृढमापदि पाटयन्ति ।
भावं तवैव भुवि बालमिवाटयन्ति
ये वाङ्नटीमभिमुखं तव नाटयन्ति ॥ ५ ॥

अन्वय—हे विभो ! ते त्वत्स्तुतिम् हृदयधाम्नि कवाटयन्ति, आपदि दृढम् दुःखद्रुमम् च पाटयन्ति । ते तवैव भावम् (भावनारसम्) बालम् इव, भुवि अटयन्ति, ये तव अभिमुखम् (निजाम्) वाङ्नटीम् नाटयन्ति ।

अर्थ—हे नाथ ! वे लोग अपने हृदयरूपी मन्दिर में आपकी स्तुति-रूपी कपाट लगा देते हैं, अर्थात् जिस प्रकार लोग अपने घर में कपाट बन्द करके चौरादिकों का प्रवेश नहीं होने देते वैसे ही, वे लोग अपने अन्तःकरण रूपी गृह में आपकी स्तुति के कपाट लगाकर (काम-क्रोधादि) दुर्भावनाओं को चित्त में नहीं आने देते । और आपत्ति-काल में महादुःख-रूपी दृढ वृक्ष के उखाड़ देते हैं । वे लोग आपकी ही भावना (भक्ति) के बालकों के पढ़ाने हुए जैसे, समस्त भुवन में विख्यात करते हैं, 'जो' धन्यात्मा लोग अपनी वाङ्नटी (वाणी रूपी नटी) के आपके सम्मुख नचाते हैं ।

ते कर्मरज्जुनिगडं ह्यतिखण्डयन्ति
सूक्तैः श्रुतीर्बुधजनस्य च मण्डयन्ति ।
त्वद्भक्तिमप्यधिभवाब्धि तरण्डयन्ति
ये त्वन्मनः स्तुतिधनस्य करण्डयन्ति ॥ ६ ॥

अन्वय—ते हि कर्मरज्जुनिगडम् अतिखण्डयन्ति, सूक्तैः च बुधजनस्य श्रुतीः मण्डयन्ति, अधिभवाब्धि अपि त्वद्भक्तिम् तरण्डयन्ति, ये त्वन्मनः स्तुतिधनस्य करण्डयन्ति ।

अर्थ—प्रभो ! वे लोग (शुभाशुभ) कर्म रूपी रज्जुओं की बेडी (बन्धन) को टुकडे टुकडे कर देते हैं, और अति सुन्दर प्रौढ उक्तियों से सहृदय जनों के कर्णों को विभूषित करते हैं एवं इस संसार-रूपी महासागर में भी आपकी भक्ति रूपी दृढ नौका (जहाज) का स्थापित करके दीन जनों को आश्वासन देते हैं, जो धन्यात्मा आपके मन को स्तुतिरूपी धन की पिटारी बना लेते हैं ।

पापानि तेऽश्मशकलानि व चूर्णयन्ति
गीर्भिर्भ्रुवः सुमनसामपि घूर्णयन्ति ।
लोके निजानि च यशांस्युपकर्णयन्ति
ये धीमतां नुतिकथास्तव वर्णयन्ति ॥ ७ ॥

अन्वय—ते पापानि अश्मशकलानि व (इव) चूर्णयन्ति, गीर्भिः सुमनसाम् अपि भ्रुवः घूर्णयन्ति । लोके च निजानि यशांसि उपकर्णयन्ति, ये (धन्याः) धीमताम् (अग्र) तव नुतिकथाः वर्णयन्ति ।

अर्थ—वह लोग पापों को पाषाण के खण्डों की तरह चूर कर देते हैं, अपनी अनुपम (अनोखी) वाणियों के द्वारा विद्वज्जनों की भी भ्रुकुटियों को कम्पित (आश्चर्य से घूर्णित) कर देते हैं । और वे लोग संसार में जगह-जगह पर अपने सुनिर्मल यश को सुनते हैं, 'जो' कि

सहृदय जनों के आगे आप (ईश्वर) की स्तुति-कथाओं का वर्णन करते हैं।

ते मारकानपि न संयति घातयन्ति
कारुण्यतः कृतरुषोपि न यातयन्ति ।
लोकस्य शोकमभयेन च शातयन्ति
ये शेखरं चरणयोस्तव पातयन्ति ॥ ८ ॥

अन्वय—ते संयति मारकान् अपि न घातयन्ति, कारुण्यतः कृतरुषः अपि न यातयन्ति (क्लेशयन्ति) लोकस्य शोकम् च अभयेन शातयन्ति, ये शेखरम् तव चरणयोः पातयन्ति ।

अर्थ—वे लोग संग्राम में अपने को मारने के लिए तत्पर हुए वैरियों को भी नहीं मारते; [1] और अतिशय करुणालु होने के कारण अपने अपकारी लोगों को भी कष्ट नहीं देते, एवं किसी कारण भयभीत हुए दीन जनों के शोक को अभयदान के द्वारा दूर करते हैं, जो लोग कि अपने मस्तक को आप त्रिलोकीनाथ के चरणों में झुकाते हैं।

ते पापपाश[2]मधिकं हृदि कर्तयन्ति
भोगस्पृहां च विषयेषु निवर्तयन्ति ।
सूक्तैः सचेतनमनांस्यपि नर्तयन्ति
ये चन्द्रचूडचरितं तव कीर्तयन्ति ॥ ९ ॥

अन्वय—ते हृदि अधिकम् (महान्तम्) पापपाशम् कर्तयन्ति, विषयेषु च भोगस्पृहाम् निवर्तयन्ति, सूक्तैः सचेतनमनांसि अपि नर्तयन्ति, हे चन्द्रचूड ! ये तव चरितम् कीर्तयन्ति ।

---

(१) सब में समान दृष्टि होने के कारण ।

(२) 'कर्मैयन्धमधिकं' इत्यपि पाठः ।

अर्थ—'वे धन्यात्मा' हृदय मे स्थित पाप रूपी पाश को खण्डित कर देते हैं और चित्त का निग्रह करते हुए समस्त विषयो में से भोग की इच्छा को हटा लेते हैं, एव सुमनोहर सूक्तियो से विद्वानो के भी मन को (चमत्कार करके) नचा देते हैं, जो लोग कि हे चन्द्रचूड ! आपके चरित्र का वर्णन करते हैं।

ते जान्मिकानि दुरितान्यवसादयन्ति
सूक्तानि निर्मलमतीननुवादयन्ति ।
गीतानि वैणिकनटानपि नादयन्ति
ये भक्तितस्तव नुतीः प्रतिपादयन्ति ॥ १० ॥

अन्वय—ते जान्मिकानि दुरितानि अवसादयन्ति, सूक्तानि निर्मलमतीन् अनुवादयन्ति, वैणिकनटान् अपि गीतानि नादयन्ति, ये भक्तित तव नुती प्रतिपादयन्ति ।

अर्थ—वे अनेकों जन्मो मे उपार्जित किये हुए पापो को नष्ट कर देते हैं, अपने वचनामृतो को निर्मल बुद्धिवाले सहृदयो को पिलाते (सुनाते) हैं और बडे बडे वीणावादको (गायको) को भी अपने यश-रूपी गायन सिखाते हैं, जो लोग कि भक्तिपूर्वक आप (भगवान्) की स्तुतियो का रचते हे।

ते सत्सु कर्मसु रिपूनपि चोदयन्ति
गीर्भिः सतां च हृदयानि विनोदयन्ति ।
तेषां शुचः क्वचन चेतसि नोदयन्ति
ये तावकानि चरितान्यनुमोदयन्ति ॥ ११ ॥

अन्वय—ते रिपून् अपि सत्सु कर्मसु चोदयन्ति, गीर्भिः च सताम् हृदयानि विनोदयन्ति, तेषाम् चेतसि क्वचन शुच न उदयन्ति, ये तावकानि चरितानि अनुमोदयन्ति ।

अर्थ—वे लोग महान् क्रोधी लोगों से भी कुपित नहीं होते; और ज्ञानरूपी अमृत से अपने हृदय को स्वच्छ करते हैं; एवं मारने को तत्पर हुए वैरी के भी कोप को शान्त कर देते हैं, जो लोग कि आपको (आपकी) स्तुति और कथा सुनाते हैं।

ते दुर्मदान्बुधसदस्यवमानयन्ति
प्रौढान्प्रणम्य विनयेन च मानयन्ति ।
तान्भूतयः स्वयमनन्यसमानयन्ति
ये वासरांस्तव नवैः सशमा नयन्ति ॥ १६ ॥

अन्वय—ते बुधसदसि दुर्मदान् अवमानयन्ति, प्रौढान् च विनयेन प्रणम्य मानयन्ति; तान् अनन्यसमान् भूतयः स्वयम् अयन्ति, ये सशमाः (धन्याः) तव नवैः वासरान् नयन्ति।

अर्थ—वह पुरुष अपने औदार्यातिशय के द्वारा विद्वज्जनों की भरी सभा में उद्धत पण्डितमन्यों को अपमानित करते हैं, और सद्विद्वानों को विनयपूर्वक प्रणाम करके सम्मानित करते हैं; एवं उन महात्माओं के पास सकल सम्पत्तियाँ अपने आप आ जाती हैं, जो शान्त पुरुष आप (प्रभु) की स्तुति में दिन बिताते हैं।

ते निर्भये नतिमतः पथि यापयन्ति
नोत्कम्पदानपि रिपूनुपतापयन्ति ।
क्लेशापदं पशुसमानपि हापयन्ति
ये त्वां प्रसाद्य दशमीश्वर दापयन्ति ॥ १७ ॥

अन्वय—ते नतिमतः (प्रणतजनान्) निर्भये पथि यापयन्ति, उत्कम्पदान् अपि रिपून् न उपतापयन्ति। पशुसमान् अपि क्लेशापदम् हापयन्ति; हे ईश्वर ! ये त्वाम् प्रसाद्य, दशाम् दापयन्ति।

अर्थ—हे ईश्वर ! वे पुरुष विनीत जनों को निर्भय (कैवल्यदायक) मार्ग में लगाते हैं, और (परम शान्त होने के कारण) महा-

त्रास देनेवाले शत्रुओं को भी सन्ताप नहीं देते। एवंवे लोग पशुओं के समान महा अज्ञानी जीवों के भी क्लेशों को दूर कर देते हैं; जो पुरुष (स्तुतियों के द्वारा) आपको प्रसन्न करके आपकी कृपादृष्टि के पात्र बन जाते हैं।

ते दुर्मदं शमनमुग्रमदर्पयन्ति
गर्धं च साधुसदनादपसर्पयन्ति।
दानादिनार्थिनिवहानपि तर्पयन्ति
ये तावके मुकुटमङ्घ्रितलेऽर्पयन्ति ॥ १८ ॥

अन्वय—ते दुर्मदम् उग्रम् शमनम् (अन्तकम्) अदर्पयन्ति, साधुसदनात् गर्धम् च अपसर्पयन्ति। दानादिना अर्थिनिवहान् अपि तर्पयन्ति, ये तावके अङ्घ्रितले मुकुटम् अर्पयन्ति।

अर्थ—वे पुरुष उग्र काल के दर्प को दूर कर देते हैं, सज्जनों के गृह से धनादिक के लोभ को दूर कर देते हैं, अर्थात् सज्जनों की विपत्तियों को दूर कर देते हैं और दानादि से याचक-जनों को सन्तुष्ट कर देते हैं, जो सज्जन प्रभु के चरणारविन्द में अपने मस्तक को अर्पित करते हैं।

ते सद्गृहेषु गुरुमापदमल्पयन्ति
स्वं चाशयं शिशयिषोस्तव तल्पयन्ति।
आर्तिस्पृशामुपकृतीरपि कल्पयन्ति
ये बालकानपि नवं तव जल्पयन्ति ॥ १९ ॥

अन्वय—ते सद्गृहेषु गुरुम् आपदम् अल्पयन्ति, शिशयिषोः (कृपया शयितुमिच्छोः) तव स्वम् आशयम् तल्पयन्ति। ते आर्तिस्पृशाम् उपकृतीः अपि कल्पयन्ति; ये तव नवम् बालकान् अपि जल्पयन्ति।

अर्थ—वे महात्मा विद्वज्जनों के घर की महाविपत्ति को दूर कर देते हैं; और आप दयालु को शयन कराने के लिए अपने अन्तः-

अर्थ—वे लोग शत्रुओं को भी सत्कार्यों में लगाते हैं, और अपनी सूक्तियों से सज्जनों का मनोविनोद करते हैं, उनके चित्त में शोक कदापि नहीं उदय हो सकता, जो लोग कि भगवान् के चरित्रों का अनुमोदन करते हैं।

ते विग्रहोग्रमनसोऽपि न खेदयन्ति
मोहं दृढार्गलनिभं हृदि भेदयन्ति।
स्वं कौशलं मृदुमतीनपि वेदयन्ति
सूक्तानि ये तव निजानि निवेदयन्ति ॥ १२ ॥

अन्वय—ते विग्रहोग्रमनसः अपि न खेदयन्ति, हृदि दृढार्गलनिभम् मोहम् भेदयन्ति। ते मृदुमतीन् अपि स्वम् कौशलम् वेदयन्ति, ये निजानि सूक्तानि तव (पुरः) निवेदयन्ति।

अर्थ—वे लोग महावैर (द्वेषभाव) से भरे हुए लोगों के भी चित्त को खिन्न नहीं करते, और हृदय में अर्गल (कपाट) के समान अत्यन्त दृढ़ मोह-पटल को विदीर्ण (खण्ड-खण्ड) कर देते हैं; एवं बाल-बुद्धि (कोमलमति)-वालों को भी अपना काव्य-कौशल बतला देते हैं, जो कि अपनी सूक्तियों को आप (जगत्प्रभु) के आगे निवेदन करते हैं।

ते भेजुषां भवति भक्तिममन्दयन्ति
वाग्वीरुधस्त्वयि रतिं हृदि कन्दयन्ति।
त्वामन्यदर्शनगतानपि वन्दयन्ति
ये वाग्भरेण हृदय तव नन्दयन्ति ॥ १३ ॥

अन्वय—ते जनाः भेजुषाम् (भवाब्ध्युत्तरणोपायश्रवणाय शरणागतानाम्) भवति भक्तिम् अमन्दयन्ति, हृदि त्वयि वाग्वीरुधः रतिम् कन्दयन्ति, ते अन्य-दर्शनगतान् अपि (कुटिलमार्गगतानपि वादिनः) (निजचातुर्यात्) त्वाम् वन्दयन्ति (मानयन्ति) ये वाग्भरेण तव हृदय नन्दयन्ति।

तीनों वंशों (पितृवंश, मातृवंश और श्वशुरवंश) को कीर्ति से सुशोभित करते हैं; जो पुरुष कि अपनी स्तुतियों से प्रभु को लुब्ध कर देते हैं।

ते मग्नमार्तजनमापदि तारयन्ति
बुद्ध्या विमृश्य सदसच्च विचारयन्ति ।
अज्ञानमानतिमतां च निवारयन्ति
त्वद्भक्तिमिन्दुधर ये हृदि धारयन्ति ॥ २२ ॥

अन्वय—ते आपदि मग्नम् आर्तजनम् तारयन्ति; बुद्ध्या विमृश्य सदसत् च विचारयन्ति । आनतिमतां च अज्ञानम् निवारयन्ति; हे इन्दुधर ! ये (जनाः) त्वद्भक्तिम् हृदि धारयन्ति ।

अर्थ—वे लोग महान् विपत्ति में डूबे हुए आर्त जनों को पार लगा देते हैं; और बुद्धि के द्वारा सत् और असत् वस्तु का विवेचन करते हैं; एवं विनीत जनों के अज्ञान को दूर हटा देते हैं; जो कि हे नाथ ! आपकी भक्ति को अपने हृदय में धारण करते हैं।

ते विद्विषः स्थिररुषोऽप्यनुकूलयन्ति
मोहं महीरुहमिव प्रविमूलयन्ति ।
आज्ञां च मूर्ध्नि महतामवचूलयन्ति
ये भालमङ्घ्रिरजसा तव धूलयन्ति ॥ २३ ॥

अन्वय—ते स्थिररुषः अपि विद्विषः अनुकूलयन्ति, मोहम् महीरुहम् इव प्रविमूलयन्ति; आज्ञाम् च महताम् मूर्ध्नि अवचूलयन्ति; ये तव अङ्घ्रिरजसा भालम् धूलयन्ति ।

अर्थ—वे लोग महान् अहङ्कारी भी शत्रुओं को अपने अनुकूल कर लेते हैं; मोह को वृक्ष के समान जड़ से ही उखाड़ देते हैं और अपनी आज्ञा को सज्जनों का शिरोभूषण बनाते हैं; जो सौभाग्यशाली लोग आपकी चरण-रज को अपने ललाट में धारण करते हैं।

करण की शय्या बनाते हैं, अर्थात् अपने निर्मल अन्तःकरण में आपके बैठने का स्थान बनाते हैं, एवं वे आर्त लोगों का उपकार करते हैं, जो पुरुष बालकों को भी आपकी स्तुति का पठन कराते हैं।

ते सापराधमनसोऽपि न कोपयन्ति
ताप ह्रिया विपुलमापदि गोपयन्ति ।
त्वद्धाम चामलमतीनधि-रोपयन्ति
ये नार्चनं तव कदाचन लोपयन्ति ॥ २० ॥

अन्वय—ते सापराधमनसः अपि न कोपयन्ति, आपदि विपुलम् तापम् ह्रिया गोपयन्ति, अमलमतीन् त्वद्धाम अधिरोपयन्ति, ये कदाचन तव अर्चनम् न लोपयन्ति ।

अर्थ—वे लोग महान् अपराध करनेवालों को भी नहीं कुपित करते, और आपत्ति में किसी कारण (अकस्मात्) प्राप्त हुए महान् सन्ताप को (भी) लज्जा के मारे बाहर नहीं प्रकट किया करते; एवं स्वच्छ अन्तःकरणवाले भावुकों को आपके धाम में पहुँचा देते हैं; जो लोग कि आपके पूजन को कदापि नहीं लुप्त करते हैं।

ते शक्तिमप्रतिहतां भुवि जृम्भयन्ति
प्रीतिं परां कृतमतीनुपलम्भयन्ति ।
वंशत्रयीमपि निजामभिशोभयन्ति
ये त्वां निजासु नुतिसूक्तिषु लोभयन्ति ॥ २१ ॥

अन्वय—ते भुवि अप्रतिहताम् शक्तिम् जृम्भयन्ति, कृतमतीन् पराम् प्रीतिम् उपलम्भयन्ति, निजाम् वंशत्रयीम् अपि अभिशोभयन्ति, ये त्वाम् निजासु नुतिसूक्तिषु लोभयन्ति ।

अर्थ—वे पुरुष अपनी अमोघ शक्ति को समस्त विश्व में विस्तृत करते हैं, विद्वज्जनों को अपना परम प्रेमी बना लेते हैं और अपने

तीनों वंशों (पितृवंश, मातृवंश और श्वशुरवंश) को कीर्ति से सुशोभित करते हैं, जो पुरुष कि अपनी स्तुतियों से प्रभु को लुब्ध कर देते हैं।

ते मग्नमार्त्तजनमापदि तारयन्ति
बुद्‍ध्या विमृश्य सदसच्च विचारयन्ति।
अज्ञानमानतिमतां च निवारयन्ति
त्वद्भक्तिमिन्दुधर ये हृदि धारयन्ति॥ २२॥

अन्वय—ते आपदि मग्नम् आर्तजनम् तारयन्ति, बुद्ध्या विमृश्य सदसत् च विचारयन्ति। आनतिमता च अज्ञानम् निवारयन्ति, हे इन्दुधर! ये (जनाः) त्वद्भक्तिम् हृदि धारयन्ति।

अर्थ—वे लोग महान् विपत्ति में डूबे हुए आर्त जनों को पार लगा देते है, और बुद्धि के द्वारा सत् और असत् वस्तु का विवेचन करते हैं; एवं विनीत जनों के अज्ञान को दूर हटा देते हैं, जो कि हे नाथ! आपकी भक्ति को अपने हृदय में धारण करते हैं।

ते विद्विषः स्थिररुषोऽप्यनुकूलयन्ति
मोहं महीरुहमिव प्रविमूलयन्ति।
आज्ञां च मूर्ध्नि महतामवचूलयन्ति
ये भालमङ्घ्रिरजसा तव धूलयन्ति॥ २३॥

अन्वय—ते स्थिररुषः अपि विद्विषः अनुकूलयन्ति, मोहम् महीरुहम् इव प्रविमूलयन्ति, आज्ञाम् च महताम् मूर्ध्नि अवचूलयन्ति, ये तव अङ्घ्रिरजसा भालम् धूलयन्ति।

अर्थ—वे लोग महान् अहङ्कारी भी शत्रुओं को अपने अनुकूल कर लेते हैं; मोह को वृक्ष के समान जड़ से ही उखाड़ देते हैं और अपनी आज्ञा को सज्जनों का शिरोभूषण बनाते हैं, जो सौभाग्यशाली लोग आपकी चरण-रज को अपने ललाट में धारण करते हैं।

ते पङ्कमङ्कगतमात्मनि धावयन्ति
दिङ्मण्डलं च परितः परिपावयन्ति ।
क्लेशान् क्षणात्तृणगणानिव लावयन्ति
ये त्वां प्रकाशवपुषं हृदि भावयन्ति ॥ २४ ॥

अन्वय—ते आत्मनि अङ्कगतम् पङ्कम् धावयन्ति; दिङ्मण्डलम् च परितः परिपावयन्ति, क्लेशान् तृणगणान् इव क्षणात् लावयन्ति; ये प्रकाशवपुषम् त्वाम् हृदि भावयन्ति ।

अर्थ—वे पुरुष अपने अन्तःकरण के मल के धोते हैं, और अपनी महिमा से समस्त दिगन्तों को पवित्र करते हैं। एवं अविद्यादि पञ्च क्लेशों को, अथवा सांसारिक दुःखों के क्षण भर में ही तृणों के समान काट डालते हैं; जो सज्जन आप परम प्रकाशमय प्रभु को अपने हृदय में भावना करते हैं।

ते पीवरीं विपदमोकसि कर्शयन्ति
स्वं कौशलं सुमनसश्च विमर्शयन्ति ।
प्रीतिं सतां च हृदयेषु निवेशयन्ति
ये त्वत्स्तुतीर्विबुधसद्मसु दर्शयन्ति ॥ २५ ॥

अन्वय—ते ओकसि (स्थिताम्) पीवरीम् विपदम् कर्शयन्ति, स्वम् च कौशलम् सुमनसः विमर्शयन्ति; सताम् च हृदयेषु प्रीतिम् निवेशयन्ति, ये त्वत्स्तुतीः विबुधसद्मसु दर्शयन्ति ।

अर्थ—वे पुरुष अपने गृह की महान् विपदाओं को नाश कर देते हैं; अपने कौशल को विद्वानों को सुनाते हैं और सहृदयों के हृदय में प्रीति उत्पन्न कर देते हैं, जो पुरुष आप (भगवान्) की स्तुतियों को विद्वानों के घरों में दिखलाते हैं।

ते निर्मलं सुकृतमात्मनि पोषयन्ति
दुष्कर्मकर्दममलं हृदि शोषयन्ति ।

क्रूरान् विरोधविधुरानपि तोषयन्ति
ये नाम ते शिवशिवेत्यभिघोषयन्ति ॥ २६ ॥

अन्वय—ते निर्मलम् सुकृतम् आत्मनि पोषयन्ति; दुष्कर्मकर्दमम् हृदि अलम् शोषयन्ति; विरोधविधुरान् अपि क्रूरान् तोषयन्ति, ये ते शिवशिवेति नाम अभिघोषयन्ति।

अर्थ—वे धन्यात्मा अपने सुनिर्मल पुण्य को परिपुष्ट करते हैं और दुष्कर्म रूपी कीचड़ को मन में ही सुखा डालते हैं; एव महान् विरोधी क्रूर लोगों को भी वे सन्तुष्ट कर देते हैं; जो विवेकी जन आपके "शिव ! शिव !" ऐसे पवित्र नाम की घोषणा (ध्वनि) करते हैं।

ते विश्वमेव चरितैरभिभूषयन्ति
क्रुद्धान् विरुद्धहृदयांश्च न दूषयन्ति ।
नात्युद्भटान्यमभटानपि रोषयन्ति
रागेण ये शिव मनस्तव तोषयन्ति ॥ २७ ॥

अन्वय—ते (निजैः) चरितैः विश्वम् एव अभिभूषयन्ति, विरुद्धहृदयान् क्रुद्धान् च न दूषयन्ति; अत्युद्भटान् यमभटान् अपि न रोषयन्ति; हे शिव ! ये (जनाः) रागेण[1] तव मनः तोषयन्ति।

अर्थ—हे शिव ! वे पुरुष अपने सुचरित्रों से समस्त विश्व को विभूषित करते हैं, और महान् क्रूर लोगों को भी दूषित नहीं करते; महाभयंकर यमदूतों को भी कुपित नहीं करते; जो पुरुष आपकी भक्ति के अनुराग द्वारा (अथवा गीतालाप से) आप आशुतोषी का मनः-सन्तोष करते हैं।

ते त्वां कृपाम्बुतृषिते हृदि वर्षयन्ति
स्वान्तैकसोऽघभुजगानपि कर्षयन्ति ।

---

(१) त्वद्भक्तिरसेन, रागालापेन वा—(गीतवादेन शंकरः) इत्युक्तेः।

कम्पं विधाय च यमं भुवि धर्षयन्ति
ये त्वां निजै'र्नुतिपदैर्हर हर्षयन्ति ॥ २८ ॥

अन्वय—ते कृपाम्बुतृषिते हृदि त्वाम् वर्षयन्ति; स्वान्तौकसः अघभुजगान् अपि कर्षयन्ति; भ्रुवि च कम्पम् विधाय (भ्रूक्षेपेणेत्यर्थः) यमम् धर्षयन्ति; हे हर ! ये त्वाम् निजैः नुतिपदैः हर्षयन्ति ।

अर्थ—वे लोग आपकी कृपा रूपी अम्बु के लिए पिपासित बने हुए हृदय में आप (प्रभु) की वर्षा करते हैं, और निज अन्तःकरण रूप गृह से पाप रूपी महाभुजंगों को दूर कर देते हैं; एवं आँखों के इशारे से ही यमराज को निस्तेज कर देते हैं; हे हर ! जो कि आपको अपनी स्तुति-रचनाओं से हर्षित करते हैं।

ते मौनमुद्रितगिरोऽप्युपहासयन्ति
गीर्भिर्मुखानि सुधियामधिवासयन्ति ।
विश्वं यशोभिरमलैरभिभासयन्ति
ये मानसं तव नवैः प्रविकासयन्ति ॥ २९ ॥

अन्वय—ते मौनमुद्रितगिरः अपि उपहासयन्ति; गीर्भिः सुधियाम् मुखानि अधिवासयन्ति; अमलैः यशोभिः विश्वम् अभिभासयन्ति; ये नवैः तव मानसम् प्रविकासयन्ति ।

अर्थ—वे विद्वान् लोग अपने सुमनोहर वचनों से मौनव्रतधारी लोगों को भी हँसा देते हैं, और अपनी सूक्तियों से विद्वज्जनों के मुखों को सुगन्धित करते हैं एवं अपने निर्मल यश से सारे विश्व को प्रकाशित कर देते हैं; जो लोग कि सुन्दर स्तुति रचनाओं से प्रभु के चित्त को विकसित कर देते हैं।

ते चित्तभित्तिमसतामपि चित्रयन्ति
रोषोद्धतानरिजनानपि मित्रयन्ति ।

(१) नवैरित्यपि पाठः ।

सूक्तामृतैश्च भुवमेव पवित्रयन्ति
वाङ्नावि ये तव चरित्रमरित्रयन्ति ॥ ३० ॥

अन्वय—ते अक्षताम् अपि चित्तभित्तिम् चित्रयन्ति; दोषोद्धतान् अपि अरिजनान् मित्रयन्ति, सूक्तामृतैः भुवम् एव पवित्रयन्ति, ये (धन्याः) तव चरित्रम् वाङ्नावि अरित्रयन्ति ।

अर्थ—वे सत्पुरुष दुर्जनों की भी चित्तभित्तियों को चकित कर देते हैं, महा डाह (कोप) से भरे हुए शत्रुजनों को भी मित्र बना लेते हैं; एवं] मनोहर वचनामृतों से सारी पृथिवी को पवित्र कर देते हैं, जो महात्मा आपके सुपवित्र चरित्र को अपनी वाणी-रूपी नौका का अरित्र (रम्भा) बना लेते हैं ।

चेतांसि ते सुकृतिनामुपबृंहयन्ति
बाह्यान्तरानसुहृदश्च निबर्हयन्ति ।
नात्मानमानतमरीनपि गर्हयन्ति
ये त्वां नवस्तवविभूतिभिरर्हयन्ति ॥ ३१ ॥

अन्वय—ते सुकृतिनाम् चेतांसि उपबृंहयन्ति, बाह्यान्तरान् असुहृदः च निबर्हयन्ति, अरीन् आनतम् अपि आत्मानम् न गर्हयन्ति; ये त्वाम् नवस्तवविभूतिभि· अर्हयन्ति ।

अर्थ—वे सज्जन सत्पुरुषों के चित्त को हर्षित करते हैं; बाह्य एवं आन्तरिक शत्रुओं को नष्ट करते हैं और शत्रुओं के अधीन होने पर भी अपने को गर्हित नहीं समझते हैं; जो महात्मा अति नवीन मनोहर स्तुति वाक्यों के द्वारा आपका सम्मान करते हैं ।

आत्मानं ते कलुषकलिले मग्नमुच्चालयन्ति
ज्ञानाम्भोभिर्मलमलिकुलश्यामलं क्षालयन्ति ।
स्मृत्वा च त्वां प्रमदरभसादंसमास्फालयन्ति
त्वद्भक्त्या ये सकलमलसं चित्तमुत्तालयन्ति ॥३२॥

अन्वय—ते कलुषकलिले मग्नम् आत्मानम् उच्चालयन्ति, अलिकुल-श्यामलम् मलम् ज्ञानाम्भोभि क्षालयन्ति, त्वाम् च स्मृत्वा प्रमदरभसात् अंसम् आस्फालयन्ति; ये सकलम् अलसम् चित्तम् त्वद्भक्त्या उत्तालयन्ति ।

अर्थ—वे लोग पापरूपी कर्दम (कीचड़) में डूबे हुए आत्मा (अपने) को पार कर लेते हैं, अलिकुल (भ्रमरसंघ) के समान श्यामल (काले) मलों (त्रिविध पापों) को ज्ञानरूपी निर्मल जल से प्रक्षालित कर लेते हैं, और हे प्रभो! आपको स्मरण करके हर्ष क मारे अतीव उत्कण्ठित होकर अपने स्कन्ध को आस्फालित (उत्तेजित) करते हैं; जो सज्जन कल्याण मार्ग मे आलसी मन को आपकी भक्ति के बल स शीघ्रगामी (फुर्तीला) बना देते हैं।

ते रामाणां मनसि मदनं सुप्तमुन्निद्रयन्ति
श्लाघां लब्धुं सदसि च सतां चित्तमुन्मुद्रयन्ति ।
तानुद्वृत्ताः कुटिलमतयो न क्वचिच्छिद्रयन्ति
त्वच्चित्तं ये वरद करुणाक्रन्दितैरार्द्रयन्ति ॥ ३२ ॥

अन्वय—ते रामाणा मनसि सुप्तम् मदनम् उन्निद्रयन्ति, सदसि च श्लाघाम् लब्धुम् सतां चित्तम् उन्मुद्रयन्ति, उद्वृत्ताः (क्रूरा.) कुटिलमतयः (धूर्ताः) तान् क्वचित् (अपि) न छिद्रयन्ति, हे वरद! ये (धन्या) करुणा-क्रन्दितै. त्वच्चित्तम् आर्द्रयन्ति ।

अर्थ—वे सज्जन युवतिजनो के मन में सोये हुए काम को जगा देते हैं, और सभा के बीच में श्लाघा (प्रशंसा) प्राप्त करने के लिए सज्जनो के चित्त की मौनमुद्रा को विचलित कर देते हैं; एव उन्हें महान् क्रूर कुटिल-मति (धूर्त) लोग कभी भी नहीं छेड़ते, जो धन्यात्मा अपने करुणालापों (दान विलापों) से आप करुणासागर (प्रभु) के चित्त को आर्द्र करते हैं।

ते सभ्यानां सदसि नयनान्यश्रु विस्रावयन्ति
क्रोधोत्कर्षं गुरुमुरुरुषां दूरमुत्सावयन्ति ।
चेतः सूक्तैर्मणिमिव सतामैन्दवं द्रावयन्ति
स्वामिन्ये त्वामभिनवनवव्याहृतीः श्रावयन्ति ॥३४॥

अन्वय—ते, सदसि सभ्यानाम् नयनानि अश्रु विस्रावयन्ति, उरुरुषाम् गुरुम् क्रोधोत्कर्षम् दूरम् उत्सावयन्ति; सूक्तैः सताम् चेतः ऐन्दवम् मणिम् इव, द्रावयन्ति; हे स्वामिन् ! ये (धन्याः) त्वाम् अभिनवनवव्याहृतीः श्रावयन्ति ।

अर्थ—वे सत्पुरुष सभा में सभ्य-जनों के नयनों से अश्रुधारा बहा देते हैं और ईर्ष्या के भरे हुए महाद्रोही लोगों के भी क्रोध को दूर कर देते हैं; एवं अपनी सूक्तियों से सहृदय जनों के चित्त को चन्द्रकान्ता मणि के समान पिघला देते हैं; जो लोग प्रभु को नवीन-नवीन सुन्दर स्तुति-वचन सुनाते हैं ।

तेषां सूक्तीरमलमतयः पूगवच्चर्वयन्ति
क्रूराणां ते मदमभिमुखं प्रेङ्खितं खर्वयन्ति ।
तान्विद्वांसस्तव नवसुधास्वादनायाह्वयन्ति
त्वत्पादाग्रे मुदितमनसो ये शिरः मह्वयन्ति ॥३५॥

अन्वय—तेषाम् सूक्तीः अमलमतयः पूगवत् चर्वयन्ति, ते क्रूराणाम् अभिमुखम् प्रेङ्खितम् (भ्राम्यन्तम्) मदम् खर्वयन्ति; तान्, विद्वांसः तव नवसुधास्वादनाय आह्वयन्ति; ये मुदितमनसः (सन्तः) त्वत्पादाग्रे शिरः मह्वयन्ति ।

अर्थ—उन महात्माओं की सूक्तियों को सहृदय लोग पूगीफल (सुपारी) की तरह चर्वित करते हैं; वे महात्मा क्रूर जनों के दुष्ट मद को दूर करते हैं। और उन्हें विद्वान् लोग आप (प्रभु) की स्तुति-रूपी सुधा के समास्वादन के लिए अपने पास बुलाते हैं, जो

सज्जन अत्यन्त मुदितचित्त होकर आपके चरणारविन्द के आगे अपना मस्तक झुकाते हैं।

ते दुर्वृत्तानपि न कृपया पेशलाः क्लेशयन्ति
ग्लानिं ज्ञानां व्यसनजनितामाशये नाशयन्ति।
तृष्णार्त्तानप्यमृतमधुराः स्वा गिरः प्राशयन्ति
त्वामन्तर्ये शकलितकलिक्लेशमावेशयन्ति ॥३६॥

अन्वय—ते कृपया पेशलाः (सन्तः) दुर्वृत्तान् अपि न क्लेशयन्ति; ज्ञानाम् आशये व्यसनजनिताम् ग्लानिम् नाशयन्ति; तृष्णार्त्तान् (श्रवणोत्कान्) अपि अमृतमधुराः स्वाः गिरः प्राशयन्ति; ये शकलितकलिक्लेशम् त्वाम् (प्रभुम्) अन्तः (मनसि) आवेशयन्ति।

अर्थ—वे पुरुष कृपा से कोमलचित्त होते हुए दुर्जनों को भी कष्ट नहीं देते, विद्वानों के अन्तःकरण में विपत्तियों के कारण उत्पन्न हुई ग्लानि को दूर कर देते हैं; एवं भगवच्चरितामृत के श्रवण के लिए उत्सुक हुए पिपासुओं को अमृत के समान अपनी सुमधुर उक्तियों का पान कराते हैं, जो धन्यात्मा इस कलिकाल के कलह-जन्य क्लेशों को मिटानेवाले आप दयालु प्रभु को अपने अन्तःकरण में बिठलाते हैं।

ते रागादीन्मनसि मिलितानाशु विश्लेषयन्ति
क्रोधान्धानप्यतनुविनया न क्वचिद्द्वेषयन्ति।
मोहध्वान्तं घनमधिमतिव्योम निःशेषयन्ति
त्वत्पार्श्वं ये गिरमभिमतप्राप्तये प्रेषयन्ति ॥३७॥

अन्वय—ते मनसि मिलितान् रागादीन् आशु विश्लेषयन्ति; ते अतनुविनयाः (सन्तः) क्रोधान्धान् अपि क्वचिद् (अपि) न द्वेषयन्ति, अधिमतिव्योम घनम् मोहध्वान्तम् निःशेषयन्ति; ये अभिमतप्राप्तये गिरम् त्वत्पार्श्वम् प्रेषयन्ति।

अर्थ—वे लोग अन्तःकरण से रागद्वेषादि मलों को पृथक् कर हैं और अत्यन्त विनीत होते हुए महाक्रोधान्ध लोगों के भी साथ नहीं करते; वे लोग बुद्धि-रूपी आकाश से मोहरूपी अन्धकार दूर कर देते हैं; जो पुरुष कि स्वाभीष्ट-प्राप्ति के लिए अपनी वाणी आपकी सेवा में लगाते हैं।

ते निर्वेदं मनसि शमिनामह्नु तं ह्रासयन्ति
त्रस्तानस्तंगमितविपदः शश्वदाश्वासयन्ति ।
त्वद्भावैकप्रवणभणितैरन्तकं त्रासयन्ति
स्तुत्या ये त्वां नतजनहृतत्रासमुल्लासयन्ति ॥३८॥

अन्वय—ते शमिनाम् मनसि निर्वेदम् अह्नुतम् (अजस्रम्) ह्रासयन्ति; अस्तंगमितविपदः (सन्तः) त्रस्तान् शश्वत् आश्वासयन्ति; त्वद्भावैकप्रवणभणितैः अन्तकम् त्रासयन्ति; ये नतजनहृतत्रासम् त्वाम् स्तुत्या उल्लासयन्ति।

अर्थ—वे पुरुष शान्त लोगों के खेद को दूर कर देते हैं और समस्त विपत्तियों को दूर करते हुए भयभीतों को आश्वासन देते हैं; आपकी ही भावनाओं से भरी हुई सूक्तियों के झंकार से यमराज को भयभीत कर देते हैं; जो कि शरणागतों के भय को हरनेवाले आप हर को स्तुति से प्रसन्न करते हैं।

ते तज्ज्ञानां परिषदि गुणानात्मनः शंसयन्ति
स्वान्ते चान्तर्यमभुजगजं साध्वसं ध्वंसयन्ति ।
क्लेशान्पाशानिव च निबिडानाशु विस्रंसयन्ति
प्रौढानां ये तव नुतिमधिश्रोत्रमुत्तंसयन्ति ॥ ३९ ॥

अन्वय—ते तज्ज्ञानाम् परिषदि आत्मनः गुणान् (सभ्यान् प्रति) शंसयन्ति; स्वान्ते अन्तः च यमभुजगजम् साध्वसम् ध्वंसयन्ति; क्लेशान् च निबिडान् पाशान् इव आशु विस्रंसयन्ति; ये तव नुतिम् प्रौढानाम् अधिश्रोत्रम् (श्रोत्रे) उत्तंसयन्ति।

अर्थ—वे पुरुष, जैसे कोई लोग तक्षक (बढ़ई) के द्वारा महान् वृक्ष को कटवाते हैं, वैसे ही आप (भगवान्) के द्वारा अपने महान् पाप को कटवाते हैं, और परम तृप्त होने के लिए सत्कर्म रूपी उत्तम फलों को भक्षण करते हैं; एवं आपके ध्यान में तल्लीन हुई बुद्धि के द्वारा मोक्ष-लक्ष्मी को अतिशय निकट में ही (करतलामलकवत्) देख लेते हैं, जो धन्यात्मा कि आपके भक्तों को श्रुति (वेद) के समान आपकी स्तुति सिखलाते हैं।

इति श्रीप्रमाकरन्दसमेत काश्मीरक-महाकवि श्रीमज्जगद्धरभट्ट-
विरचिते भगवतो महेश्वरस्य स्तुतिकुसुमाञ्जलौ
'स्तुतिफलप्राप्तिस्तोत्रं' समाप्तम्।

सप्तत्रिंशं स्तोत्रम्

अथ ग्रन्थकार 'स्तुति-प्रशंसा' अर्थात् प्रभु की स्तुति की प्रशंसा नामक सैंतीसवें स्तोत्र को प्रारम्भ करते हैं—

इह हि स्वात्ममहेश्वरपरिभावनशुद्धसंविदः सुधियः।
कमलदलानि जलैरिव बहिरावरणैर्न लिप्यन्ते ॥ १ ॥

अन्वय—हि, इह स्वात्ममहेश्वरपरिभावनशुद्धसंविदः सुधियः, जलैः कमलदलानि इव, बहिरावरणैः (शुभाशुभतदुभयरूपत्रिविधकर्मभिः) न लिप्यन्ते।

अर्थ—स्वीय आत्मा (हृदय) में भगवान् सदाशिव की भावना (ध्यान) करने से, अथवा स्वात्म(त्वंपदार्थ—जीव) और महेश्वर (तत्पदार्थ—ब्रह्म) की अभेद-भावना (अद्वैतभाव) से जिनकी

किमियं सद्गुरुदृष्टिर्ह्लादैकमयी नु किं जगत्सृष्टिः ।
किं वा निरभ्रवृष्टिः श्रवणामृतवर्षिणी नुतिः शम्भोः ॥ ७ ॥

अन्वय—श्रवणामृतवर्षिणी इयम् शम्भोः नुतिः, किम् सद्गुरुदृष्टिः (अस्ति ?) किम् नु ह्लादैकमयी जगत्सृष्टिः (अस्ति) ? किं वा—निरभ्र-वृष्टिः (अस्ति* ?) ।

अर्थ—आहा ! सहृदय जनों के कानों में अमृत की सी वर्षा करने वाली यह शिव की स्तुति क्या 'सद्गुरु की अनुग्रह-दृष्टि' है ? अथवा क्या यह जगत् की अतिशय आनन्दमयी सृष्टि है ? या यह 'बिना बादलों की वृष्टिधारा' है ?

अक्षयसुखोपभुक्तिः परमशिवावाप्तये नवा युक्तिः ।
यदि वा जीवन्मुक्तिः श्रवणामृतवर्षिणी नुतिः शम्भोः ॥ ८ ॥

अन्वय—श्रवणामृतवर्षिणी शम्भोः नुतिः (किम्) अक्षयसुखोपभुक्तिः (अस्ति) ? किं वा—परमशिवावाप्तये नवा युक्तिः (अस्ति ?) यदि वा (साक्षादेव) जीवन्मुक्तिः (अस्ति ?) ।

अर्थ—अथवा, क्या यह (शिवजी की स्तुति) कैवल्यरूप। अक्षय सुख की भोग क्रीडा है ? किंवा, यह परमपद के प्राप्त करने का कोई नवीन विलक्षण (अनोखी) युक्ति है ? या यह साक्षात् जीव न्मुक्ति ही है ? (धन्य है !)

क्षेत्रं तदिह पवित्रं तत्तीर्थं पावनं तदायतनम् ।
तदिह तपोवनमनघं यत्र नुतिः शाम्भवी श्रुतिं विशति ॥ ९ ॥

अन्वय—यत्र (यत्रादौ) शाम्भवी नुतिः श्रुतिम् विशति, इह (जगति) तत् (एव) क्षेत्रम् पवित्रम् तत्, (एव) तीर्थम् पावनम्, तत् आयतनम् पावनम्, इह तत् तपोवनम् अनघम् (भवति) ।

---

* अत्र ससंदेहालङ्कारः ।

अर्थ—जिस जगह सदाशिव की स्तुति कर्णगोचर होती (सुनने में आती) है, वही क्षेत्र पवित्र है; और वही परम पवित्र तीर्थ है, वही विशुद्ध घर है, और वही पवित्र तपोवन है।

सा क्रीडा सा गोष्ठी सा विश्रान्तिः स भूमिकालाभः।
साऽखिलदुःखनिवृत्तिर्यत्र नुतिः शांभवी श्रुतिं विशति ॥१०॥

अन्वय—सा क्रीडा, सा (एव) गोष्ठी, सा (एव) विश्रान्तिः, सः भूमिकालाभः (श्रेयान्) सा (एव) अखिलदुःखनिवृत्तिः, यत्र शाम्भवी नुतिः श्रुतिम् विशति।

अर्थ—आहा! वही एक वास्तविक क्रीड़ा है, और वही वास्तविक सभा है, वही परम विश्रान्ति है। और इस भव-रङ्ग (संसार-रूपी रङ्गस्थल) में नृत्य करनेवाले जीव की वही श्रेष्ठ भूमिका-प्राप्ति है, एवं वही आत्यन्तिकी दुःख-निवृत्ति (मुक्ति) है, जहाँ सदैव परमेश्वर की स्तुति कर्णगोचर होती है।

तद्ध्यानं स समाधिः स महायागस्तदर्चनं सकलम्।
सा खलु परमा दीक्षा यत्र नुतिः शांभवी श्रुतिं विशति ॥११॥

अन्वय—तत् ध्यानम्, सः समाधिः, सः (एव) महायागः, तत् सकलम् अर्चनम्, सा खलु परमा दीक्षा, यत्र शाम्भवी नुतिः श्रुतिम् विशति।

अर्थ—वही दिव्य ध्यान है, वही यथार्थ समाधि है, वही महा-याग है, वही सम्पूर्ण पूजन है, और वही (परमपद-प्राप्ति-दायिनी सद्गुरु की) दीक्षा है, जहाँ कि श्री सदाशिव की स्तुति कर्ण-गोचर होती है। (अब कुछ श्लोकों के द्वारा भावुकजनों को उपदेश देते हुए कवि कहते हैं—)

यदि पारिजातकुसुमस्तवकस्तव कर्णयोरलङ्करणम्।
भवितुं भवति न सुलभः श्रुतिपथमेता नय स्तुतीः शम्भोः॥१२॥

अन्वय—हे प्रणतजन ! यदि पारिजातकुसुमस्तबकः तव कर्णयोः अलङ्करणम् भवितुम् न सुलभः भवति, तर्हि एताः (मदीयाः) शम्भोः स्तुतीः श्रुतिपथम् नय। (स्वर्गतरुपारिजातकुसुमस्तबकेभ्योऽप्येताः अतिहृद्या इत्यर्थः)।

अर्थ—अयि भावुकजनो ! यदि स्वर्ग के नन्दनवन मे स्थित पारिजात नामक कल्पवृक्ष के कुसुमों का स्तबक आपके कर्णों का आभूषण नहीं बन सकता; तो आप इन (मेरी बनाई हुई) शिव-स्तुतियों को अपने कर्णों में धारण कर लीजिए ! अर्थात् स्वर्ग के कल्पतरु के पुष्प-स्तबकों से भी ये मेरी स्तुतियाँ अधिक मनोहर हैं।

अभिलषसि यदि निरोद्धुं पवनादपि दुर्ग्रहं मनोहरिणम्।
तदिमा गृहाण निभृतं दृढगुणगुणगुम्फिताः स्तुतीः शंभोः ॥१३॥

अन्वय—अयि भावुकजन ! पवनात् अपि दुर्ग्रहम् मनोहरिणम् निरोद्धुम् यदि अभिलषसि ? तत् (तर्हि) इमाः (मदीयाः) दृढगुणगुणगुम्फिताः[१] शम्भोः स्तुतीः निभृतम् (निश्चलीभूय) गृहाण।

अर्थ—अये भावुको ! यदि आप लोग पवन से भी अधिक दुर्ग्रह (कठिनता से वश मे होनेवाले) मनो-मृग को रोकना चाहते हो तो, इन (मेरी बनाई हुई) ओजः, प्रसाद, माधुर्यादि शब्दार्थ-गुण-रूपी दृढ गुणों (तन्तुओं) से गुम्फित[२] (बद्ध) 'शिव-स्तुतियों' को निश्चल होकर अवश्य ग्रहण करो।

यदमृतमम्बुधिमन्थनसमुत्थितं तस्य कः स्विदास्वादः।
इति यदि हृदि तव कौतुकमाकर्णय तत्स्तुतीरिमाः शंभोः॥१४॥

---

(१) दृढा ये गुणाः ओजःप्रसादमाधुर्याख्यस्त एव गुणास्तन्तवः तैर्गुम्फिताः (बद्धाः)।

(२) हरिण को बांधने के लिए भी तन्तुओं से बँधी हुई 'वागुरा' होती है।

अन्वय—हे सहृदयजन ! अम्बुधिमन्थनसमुत्थितम् यत् अमृतम्, तस्य कः स्वित् आस्वादः (भवति) इति यदि तव हृदि कौतुकम् (अस्ति) तत् इमाः शम्भोः स्तुतीः आकर्णय ।

अर्थ—अयि सहृदय लोगो ! समुद्र के मन्थन से निकला हुआ जो अमृत है, उसका आस्वाद कैसा होता है, इस प्रकार का कौतूहल यदि आपके मन में है (अर्थात् यदि आप अमृत का आस्वाद जानना चाहते हों) तो इन (मेरी की हुई) भगवान् शङ्कर की स्तुतियों को सुनिए ।

विषयोपभोगरहितः सहजो ह्लादः सतां मतो मोक्षः ।
तमपि यदीच्छसि वेदितुमवहितहृदयः शृणु स्तुतीः शम्भोः॥१५॥

अन्वय—हे प्रणतजन ! विषयोपभोगरहितः सहजः ह्लादः 'मोक्षः' सताम् मतः (अभिमतः अस्ति) तम् अपि (मोक्षम्) वेदितुम् यदि (त्वम्) इच्छसि, तर्हि अवहितहृदयः (सन्) शम्भोः स्तुतीः शृणु ।

अर्थ—अयि भावुक पुरुषो ! विषयों के उपभोग से रहित, स्वाभाविक परमानन्द-रूपी 'मोक्ष' पदार्थ ही सज्जनों को अभिमत (प्रिय) है; सो उसे भी आप यदि जानना चाहते हैं, तो सावधान होकर भगवान् शङ्कर की स्तुतियों को सुनिए !

अशुचि शुचामायतनं मलकलिलमिदं कलेवरं सत्यम् ।
भगवदुपासनसाधनमिति भवति न कस्य कमनीयम् ॥१६॥

अन्वय—अशुचि, शुचाम् आयतनम्, मलकलिलम् इदम् कलेवरम् सत्यम्; (एवभूतमपि शरीरम्) भगवदुपासनसाधनम् भवति, इति (हेतोः) कस्य न कमनीयम् (काङ्क्षणीयम्) भवति ?

अर्थ—यह मनुष्य शरीर वास्तव में अपवित्र और सांसारिक दुःखों का घर, एवं पापों से अत्यन्त कलुषित होता हुआ भी जो भगवान की उपासना का परम साधन है, इसलिए यह (मनुष्य-शरीर) सभी को प्रिय लगता है । अतः—

यदि मनुपे यमनियमप्राणायामादि दुर्घटं कर्त्तुम् ।
तदिमं सुगममुपायं श्रय परमपदाप्तये नुतिं शम्भोः ॥ १७ ॥

अन्वय—हे मनुज ! यदि (त्वम्) यमनियमप्राणायामादि कर्तुम् दुर्घटम् मनुपे, तत् परमपदाप्तये इमम् सुगमम् उपायम् शम्भोः नुतिम् श्रय ।

अर्थ—हे मनुष्य ! यदि तू यम-नियम प्राणायाम धारणादि अष्टाङ्ग योग का अभ्यास करना अत्यन्त कठिन समझता है, तो फिर उस परमपद के प्राप्त करने के लिए इस अत्यन्त सरल-सुगम उपाय 'श्री शिवस्तुति' का शरण ले ! [श्री शिवस्तुति के प्रताप से अपने के कृतकृत्य समझते हुए कवि कहते हैं—]

सिद्धं सम्यगभीष्टं सत्यगिरामाशिषः सतां फलिताः ।
लब्धं सुकृतस्य फलं निर्व्यूढेयं यतः स्तुतिः शम्भोः ॥१८॥

अन्वय— (मम) अभीष्टम् सम्यक् सिद्धम्, सत्यगिराम् सताम् (अपि) आशिषः (मम) फलिताः; सुकृतस्य फलम् (मया) लब्धम्, यतः (मया) इयम् शम्भोः स्तुतिः निर्व्यूढा (निर्वाह प्राप्तुं पारिता) ।

अर्थ—आहा ! मेरा अभीष्ट (मनोरथ) सम्यक् प्रकार सिद्ध हो गया है, सत्यवादी महात्माओं का शुभाशीर्वाद भी मेरे लिए फलीभूत हो गया है और पूर्वोपार्जित पुण्य का फल भी मुझे प्राप्त हो गया है, जो कि मैंने सम्यक् प्रकार यह "श्री सदाशिव" की स्तुति पर्याप्त की है।

मम सारः संसारः सकलमिदं मर्त्यजन्म मम सफलम् ।
मम सदृशोऽस्ति न कश्चन यदहं स्तोता शिवस्य संवृत्तः ॥१९॥

अन्वय—मम (धन्यस्य) संसारः सारः, मम इदम् मर्त्यजन्म सकलम् सफलम् (कृतार्थम्) (इह भूमौ) मम सदृशः कश्चन न अस्ति, यत् अहम् शिवस्य स्तोता संवृत्तः ।

अर्थ—यह निःसार भी संसार मेरे लिए सार हो गया है, और मेरा यह मनुष्य-जन्म सारा ही सफल हो गया है। हन्त ! इस पृथिवी

में मेरे समान धन्यात्मा दूसरा और कोई भी नहीं है, जो कि मैं भगवान् शिव की स्तुति में प्रवृत्त हुआ हूँ।

[अब कवि अति गाढ़ भक्ति-सुधा-पान के आवेश में उन्मत्त पुरुष की तरह बोलते हुए कहते हैं :—]

प्रणमामि प्रणमामि स्तौमि स्तौमि प्रभुं जगन्नाथम्।
ध्यायामि ध्यायामि च यामि च विमलं परं धाम ॥ २० ॥

अन्वय—(अहम्) जगन्नाथम् प्रभुम् (वाङ्मनःकायकर्मभिः) प्रणमामि प्रणमामि, प्रभुम् स्तौमि स्तौमि, (तदेकचित्तः सन् तत्पादाम्भोज-युगलम्) ध्यायामि ध्यायामि च; (त्वदीयप्रसादात्) विमलम् परम् धाम च (अवश्यम्) यामि।

अर्थ—अहह! मैं अपने प्रभु को मन, वचन, कर्म और शरीर के द्वारा बारम्बार प्रणाम करता हूँ, मैं पुनः पुनः प्रभु की स्तुति करता हूँ। मैं तल्लीन होकर आपके चरणारविन्द-युगल का बारम्बार ध्यान करता हूँ; हे नाथ! आपके प्रसाद से मैं परम निर्वाण धाम को प्राप्त होऊँगा, और अवश्य होऊँगा!

इति श्री प्रेममकरन्दसमेत काश्मीरक महाकवि-श्रीमज्जगद्धरभट्ट-
विरचिते भगवतो महेश्वरस्य स्तुतिकुसुमाञ्जलौ
'स्तुति प्रशंसा'नामक स्तोत्र सप्तत्रिंशम्।

अष्टात्रिंशं स्तोत्रम्

अब यहाँ से ग्रन्थकार 'पुण्यपरिणाम' नामक अड़तीसवें स्तोत्र को प्रारम्भ करते हुए कहते हैं—

सहस्रशीर्षा पुरुषः पुनातु वः
सहस्रचक्षुर्भगवान् सहस्रपात् ।
गलेऽङ्घ्रिमूले नयने च निश्चला-
स्त्रयोऽप्यमी यं पुरुषा उपासते ॥ १ ॥

अन्वय—सहस्रशीर्षा पुरुषः (शेष.), सहस्रचक्षु. पुरुष. (इन्द्रः), सहस्रपात् पुरुष (सूर्य.), अमी त्रय. अपि पुरुषा. निश्चलाः (सन्त) यम् (श्रीशिवम्, क्रमेण) गले, अङ्घ्रिमूले, नयने च उपासते, सः सहस्रशीर्षा, सहस्रचक्षु[1], सहस्रपात् पुरुषः[2] (विराट्रूप.) भगवान् व पुनातु ।

अर्थ—सहस्र फणोंवाला पुरुष (अर्थात् श्री शेष-नाग) निश्चल होकर जिसके कण्ठ पर विराजित होता है; और सहस्र-नेत्रोंवाला पुरुष (अर्थात् इन्द्र) शान्त होकर जिस (प्रभु) के चरण-तल की उपासना करता है एवं सहस्र चरणों(हजार किरणों) वाला पुरुष (अर्थात् सूर्य) जिसके (दक्षिण) नेत्र में सुशोभित होता है, इस प्रकार ये तीनों पुरुष सदैव जिस (महापुरुष) की सेवा में तत्पर रहते हैं, वह सहस्र (अनन्त) शिरोंवाला, सहस्र (अनेकों) नेत्रोंवाला, और सहस्र (अपरिमित) पादोंवाला, महापुरुष (विराट् रूप शङ्कर भगवान्) आप लोगों को पवित्र करे ।

सरस्वतीन्दुकलोद्गता करैः
सरस्वतीव श्रवणामृतैः स्वरैः ।
सरस्वतीवोर्मिभिरीश्वरस्तवैः
सरस्वती वर्षतु वः सुधामियम् ॥ २ ॥

---

(१) 'उपासते य पुरुषास्त्रयोऽप्यमी' इति च पाठ ।

(२) पुरि पुरि—प्रति शरीर तिष्ठतीति पुरुषः (परमात्मा) ।

अन्वय—[इव = यथा, तथा] यथा सरस्वती (समुद्रं) उद्गता इन्दुकला करैः (स्वकिरणैः) सुधा वर्षति, अवणागतैः स्वरैः सरस्वती (वीणा) सुधा वर्षति, ऊर्मिभिः सरस्वती (तन्नाम्नी नदी) सुधा वर्षति, तथा इयम् (मम) सरस्वती ईश्वरस्तवैः वः सुधाम् वर्षतु ।

अर्थ—जैसे समुद्र से निकली हुई चन्द्रकला अपनी सुशीतल किरणों से अमृत की वर्षा करती है, और जैसे सरस्वती (वीणा) अपने सुमधुर कर्णमनोहर स्वरों से (सहृदय जनों के कानों में) अमृत-वर्षा करती है एवं जैसे सरस्वती नदी अपनी सुशीतल तरङ्गों से सुधा वर्षण करती है, उसी तरह यह मेरी सरस्वती (मेरी वाणी भी) ईश्वर की स्तुति के द्वारा आप (सहृदय) लोगों के लिए साक्षात् अमृत की वर्षा करे ।

विमर्शशून्येन मया निरर्थकः
खलेन कालः सकलोऽतिवाहितः ।
इदं त्वसारादतिसारमुद्धृतं
धृतं यदीशस्तुतिवेतनं मनः ॥ ३ ॥

अन्वय—विमर्शशून्येन मया खलेन सकलः कालः निरर्थकः अतिवाहितः, इदम् तु असारात् अतिसारम् उद्धृतम्, यत् मनः ईशस्तुति-वेतनम् धृतम् ।

अर्थ—सदसद् के विचार से रहित मुझ खल ने अपना सारा समय निरर्थक (वृथा) ही खो डाला, किन्तु भाग्यवश (अब) विचार करने पर इस अत्यन्त निःसार संसार (प्रपञ्च) से यही एक सार (तात्त्विक वस्तु) निकाला, जो कि इस (*महालोभी*) *मन को* ईश्वर-स्तुति-रूपी वेतन (मासिक) देना निश्चित किया है ।

न हृष्यतामेति परस्य दुर्मुखः
शिशुः स्रवत्पीनसदिग्धनासिकः ।

पितुः स्वकीयस्य तु जीविताधिक-
स्तथोपहास्योऽपि ममाऽयमुद्यमः ॥ ४ ॥

अन्वय—यथा, दुर्मुखः सवलीनगदिग्धनासिकः शिशुः परस्य हृद्यताम् न एति; (किन्तु, स एव शिशुः) स्वकीयस्य पितुः तु जीविताधिकः (भवति) तथा मम अयम् उपहास्य अपि उद्यमः (भवतीति जाने)।

अर्थ—जैसे, कुरूप मुखवाला, (अर्थात् चिपटी हुई नाक और कीचड़ से भरी आँखोंवाला) और झरते हुए (नासिका के) मल से लथपथ नासिकावाला, अति घृणास्पद बालक दूसरे लोगों को मनोहर (प्रिय) नहीं लगता; किन्तु वही बालक स्वकीय (उसके) पिता को (तो) प्राणों से भी अधिक प्रिय लगता है; वैसे ही उपहास्य करने योग्य इस मेरे उद्यम (श्री सदाशिव-स्तुति-रूप प्रबन्ध-रचना) की भी दशा है। अर्थात् यद्यपि मेरा यह शिव-स्तुति-रूप काव्य (दुर्मुखत्वादि दोषों से दूषित होने के कारण) सकल-विद्वज्जनमनोहर नहीं होगा, तथापि करुणा-सागर प्रभु को तो यह अवश्य ही प्रिय लगेगा।

अवैमि भाग्योपचयः स पुष्कलः
सशक्तिपातः खलु पारमेश्वरः ।
स वा महार्हो महतामनुग्रहो
यदीश्वराराधनसाधनं मनः ॥ ५ ॥

अन्वय—(अहम्) अवैमि, स. पुष्कलः भाग्योपचयः (अस्ति), सः खलु पारमेश्वरः शक्तिपात (दृष्टिपात: अस्ति) स. वा (च) महार्हः महताम् अनुग्रहः (अस्ति) यत् मनः ईश्वराराधनसाधनम् (भवति)।

अर्थ—मैं तो समझता हूँ, कि वही पूर्ण भाग्योदय है, और वही परमेश्वर का महान् कृपाकटाक्ष है; एवं वही एक सद्‌गुरुजनों का महान् अनुग्रह है, जो कि यह मन, ईश्वर की आराधना में तत्पर हो जाता है।

अहो कृतार्थोऽस्मि मनोभिरामया
गिरा गुणालङ्कृतयेह रामया ।
तनुः स्थिरेयं ध्रियते निरामया
भवे च यद्भक्तिरभङ्गुरा मया ॥ ६ ॥

अन्वय—अहो ! इह (अहम्) गुणालङ्कृतया मनोभिरामया रामया (इव) गुणालङ्कृतया मनोभिरामया गिरा कृतार्थः अस्मि, यत् मया इयम् स्थिरा निरामया तनुः, भवे अभङ्गुरा भक्तिः च ध्रियते ।

अर्थ—आहा ! जैसे कोई पुरुष सौशील्य-लावण्यादि सद्गुणों से अलङ्कृता सती अङ्गना को पाकर कृतार्थ हो जाता है, वैसे ही मैं ओजः प्रसाद और माधुर्यादि गुणों से अलङ्कृत इस सुमनोहर वाणी (स्तुति) से कृतार्थ हो गया हूँ, जिसके प्रताप से मुझे यह नीरोग और स्थिर शरीर मिला है, एवं परमेश्वर में अचल (दृढ़) भक्ति प्राप्त हुई है ।

न विद्यया प्रीतिरनर्घमानया
तथा श्रिया वाऽन्वहमेधमानया ।
शिवस्तवैकव्रतयाऽसमानया[1]
यथा गिरा सान्द्रसुधासधानया ॥ ७ ॥

अन्वय—अनर्घमानया विद्यया, अन्वहम् एधमानया श्रिया वा तथा न (मे) प्रीतिः (भवति) यथा असमानया सान्द्रसुधासमानया शिवस्तवैकव्रतया गिरा प्रीतिः (भवति) ।

अर्थ—परम सम्मानवती अमूल्य विद्या और प्रतिदिन (उत्तरोत्तर) वृद्धि को प्राप्त होनेवाली लक्ष्मी से मुझे उतनी प्रीति (प्रसन्नता) नहीं होती, जितनी (प्रसन्नता) कि अहर्निश श्री शिव की स्तुति करनेवाली, गाढ़ अमृत के तुल्य इस लोकोत्तर वाणी से होती है ।

(१) 'समानया' इति च पाठः ।

पुरः स्फुरन्तं विमृशन्महेश्वरं
विलीनवेद्यान्तरवेदनो दशाम् ।
नवस्तवोल्लेखविधौ स्पृशामि यां
ममान्तरात्मा विभुरेव वेत्ति ताम् ॥ ८ ॥

अन्वय—विलीनवेद्यान्तरवेदनः (अहम्) पुरः स्फुरन्तम् महेश्वरम् विमृशन्, नवस्तवोल्लेखविधौ याम् दशाम् (भूमिकाम्) स्पृशामि; ताम् मम दशाम् (केवलम्) अन्तरात्मा विभुः एव वेत्ति ।

अर्थ—अन्य किसी भी वस्तु का भान (प्रत्यभिज्ञान) न होने के कारण तन्मय भावना द्वारा अपने सामने स्फुरित (उदय) होते हुए प्रभु (श्री शिव) में ही तल्लीन होता हुआ मैं, इन नूतन स्तोत्रों को लिखते समय जिस अनिर्वचनीय दशा (परमानन्दमयी भूमिका) को प्राप्त होता हूँ उसे केवल एक मेरे अन्तरात्मा प्रभु ही जानते हैं ।

मनुष्यता पूरुषताऽग्र्यवर्णता
मनीषिता सत्कविता शिवैकता ।
इयं मम क्षेमपरम्परा विभोः
स्तुतिप्रसङ्गेन गता कृतार्थताम् ॥ ९ ॥

अन्वय—मनुष्यता, पूरुषता, अग्र्यवर्णता, मनीषिता, सत्कविता, शिवैकता, (एवं प्रकारेण) इयम् मम क्षेमपरम्परा विभोः स्तुतिप्रसङ्गेन कृतार्थताम् गता ।

अर्थ—अहा ! एक तो मनुष्यता (मनुष्य-जन्म की प्राप्ति) और फिर उसमें भी पुरुष-शरीर, उसमें भी ब्राह्मण-शरीर, जिस पर भी विद्वत्ता और उसमें भी सत्कविता, उस पर भी फिर यह 'शिवैकता' इस प्रकार मेरे उत्तरोत्तर कल्याणों की यह परम्परा प्रभु की स्तुति के द्वारा कृतार्थता (सफलता) को प्राप्त हुई है !

[इस प्रकार नवीन नवीन स्तुतिरूपी पुष्पाञ्जलि के समर्पण के द्वारा दयालु प्रभु को अतिशय प्रसन्न हुआ जानकर कवि अपने को कृतकृत्य समझते हुए कहते हैं—]

ध्रुवं नवानां रसगर्भनिर्भर-
ध्वनिर्घनानामनघेयमावलिः ।
पृथुप्रभावं शशिखण्डमण्डितं
महर्षिणं नीलगलं करिष्यति ॥ १० ॥

अन्वय—[यथा, रसगर्भनिर्भरध्वनिः, अनघा नवानाम् घनानाम् आवलिः, पृथुप्रभावश-शिखण्डमण्डितम् नीलगलम् (मयूरम्) प्रहर्षिणम् करोति, तथा—] इयम् रसगर्भनिर्भरध्वनि॰, घनानाम् (अष्टात्रिंशत्संख्यया परिमितत्वाद् बहुलानाम्) नवानाम् अनघा आवलि॰, ध्रुवम् पृथुप्रभावम् शशिखण्डमण्डितम् नीलगलम् (श्रीशिवम्) प्रहर्षिणम् करिष्यति ।

अर्थ—[जैसे जल से गर्भित होने के कारण गभीर-ध्वनिवाली नवीन मेघ-माला, विशाल शोभावाले (रंग-बिरंग) पङ्खों से सुशोभित नीलकण्ठ (मयूर) को अत्यन्त हर्षित कर देती है, वैसे ही—] शान्तरस से गर्भित ध्वनि[1] (उत्तम काव्य) वाली, सघन (अर्थात् ३८ सङ्ख्या से परिमित) स्तोत्रों की यह निर्मल माला महान् प्रभावशाली एवं चन्द्रकला से सुशोभित भगवान् नीलकण्ठ को अवश्य ही हर्षित करेगी । हाँ—

यदि ह्ययोग्याश्शरणान्तिके वयं
तथापि नः प्राङ्गणसीमसेविनाम् ।
चमत्करिष्यन्ति गिरः मनोरिमा
जनङ्गमानामिव गीतरीतयः ॥ ११ ॥

---

(१) इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद्ध्वनिर्बुधैः कथितः ।
(काव्यप्रकाश) ।

अन्वय—यदि हि, प्रभोः चरणान्तिके (इमाः स्तुतीः श्रावयितुम् वयम्) अयोग्याः, तथापि प्रभोः प्राङ्गणसीमसेविनाम् (यामिकानां गणानामेव) नः इमाः गिरः 'गीतरीतयः जनङ्गमानाम् इव' चमत्करिष्यन्ति ।

अर्थ—यद्यपि प्रभु के चरणारविन्द (के समीप) में इन स्तुतियों को सुनाने के लिए हम अयोग्य हैं, तथापि जैसे, बाह्य जनों (चाण्डालादिकों) को ग्रामीण गीत चमत्कृत करते हैं, वैसे ही प्रभु के प्राङ्गण में रहनेवाले (यमदूतों अथवा नन्द्यादि) गणों को तो हमारे ये स्तुति-वचन अवश्य ही आश्चर्य दिखलावेंगे !

[फिर भी अपने को श्रीशिवस्तुति के द्वारा कृतार्थ समझते हुए कवि कहते हैं—]

परोपकारैरिव राजसेवनं
दरिद्रगार्हस्थ्यमिवार्थितर्पणैः ।
[1]इदं बहुक्लेशमपीश्वरस्तवै-
रवैमि वर्ष्म स्पृहणीयमात्मनः ॥ १२ ॥

अन्वय—बहुक्लेशम् अपि राजसेवनम्, परोपकारैः इव, बहुक्लेशम् अपि दरिद्रगार्हस्थ्यम् अर्थितर्पणैः इव, बहुक्लेशम् अपि इदम् आत्मनः वर्ष्म (अहम्) ईश्वरस्तवैः स्पृहणीयम् अवैमि ।

अर्थ—जैसे, सेवक का अत्यन्त दुःखमय भी राज-सेवन, परोपकारों के द्वारा स्पृहणीय होता है, और जैसे दरिद्री पुरुष का गृहस्थाश्रम बहुत क्लेशों से भरा हुआ भी अतिथि जनों के सत्कार द्वारा अत्यन्त प्रिय लगता है, वैसे ही सांसारिक अनेक दुःखों से अथवा अविद्यादि पञ्च क्लेशों से भरे हुए भी इस अपने शरीर को मैं भगवान् की स्तुति द्वारा परम प्रिय (मनोहर) समझता हूँ ।

(१) 'वपुर्बहुक्लेशमपीदमीश्वरस्तवैरवैमि स्पृहणीयमात्मनः' इत्यपि पाठः साधुः ।

सहस्रपत्रैरिव पल्वलोदकं
　　शिरः फणीन्द्रस्य मणित्रजैरिव ।
सदोषमप्येतदवैमि मानुषं
　　मनोरमं जन्म महेश्वरस्तवैः ॥ १३ ॥

अन्वय—सदोषम् अपि (कलुषमपि) पल्वलोदकम् सहस्रपत्रैः इव, सदोषम् (अविरलगरलापूर्णम्) अपि फणीन्द्रस्य शिरः मणिव्रजैः इव, (अहम्) सदोषम् अपि एतत् मानुषम् जन्म, महेश्वरस्तवैः मनोरमम् अवैमि।

अर्थ—जैसे अत्यन्त कलुषित (मलिन) भी सरोवर का जल कमलों से सुमनोहर हो जाता है, और जैसे महान् भयङ्कर विष से भरा हुआ भी सर्प का फण मणि-गणों से अतीव प्रिय लगता है, वैसे ही अनेकों दोषों (पापों) से भरे हुए भी इस मनुष्य-जन्म को मैं भगवान् श्री सदाशिव की स्तुतियों से अतीव मनोहर मानता हूँ।

मृगेन्द्रशावा इव कन्दरोदरा-
　　त्करीन्द्रकुम्भादिव मौक्तिकोत्कराः ।
विनिःसरन्तः कवितुर्मुखादमी
　　मनोज्ञतां बिभ्रति कस्य न स्तवाः ॥ १४ ॥

अन्वय—कन्दरोदरात् विनिःसरन्तः मृगेन्द्रशावाः इव, करीन्द्रकुम्भात् विनिःसरन्तः मौक्तिकोत्कराः इव, कवितुः (मम) मुखात् विनिःसरन्तः अमी स्तवाः (अष्टात्रिंशत्संख्यकाः) कस्य न मनोज्ञताम् बिभ्रति (अपि तु सर्वस्यापीति भावः)।

अर्थ—अहा ! कन्दरा (गुहा) के अन्दर से निकलते हुए मृगेन्द्र-बालकों (सिंह के बच्चों) के समान और गजेन्द्र के मस्तक से निकलते हुए मुक्ताहार के समान, कवि के (अर्थात् मेरे) मुख से निकलते

हुए ये (३८) मनाहर 'स्तोत्र' किस सचेतन के मन के नहीं मुग्ध करते ? अर्थात् सभी के मन के मोहित कर देते हैं।

मरालमाला सरसीव निर्मले
कुचस्थले हारलतेव सुभ्रुवाम्।
इयं भवत्वाभरणं महेश्वर-
स्तवावली वक्त्रसरोरुहे सताम् ॥ १५ ॥

अन्वय—निर्मले सरसि (मानसे, इत्यौचित्यात्) मरालमाला इव, सुभ्रुवाम् कुचस्थले हारलता इव, इयम् (मत्कृता) महेश्वरस्तवावली सताम् वक्त्रसरोरुहे आभरणम् भवतु।

अर्थ—जैसे निर्मल मानसरोवर में मरालों (हंसों) की माला सुशोभित होता है और जैसे सुन्दरी युवतियों के कुचस्थल में 'मुक्तावली' सुशोभित होती है, वैसे ही विद्वज्जनों के मुख कमल में यह (मेरी बनाई हुई) महेश्वर-स्तवावली सुशोभित हो।

इमां घनश्रेणिमिवोन्मुखः शिखी
चकोरकः कार्तिकचन्द्रिकामिव।
रथाङ्गनामा तरणेरिव त्विषं
स्तवावलीं वीक्ष्य न कः प्रमोदते ॥ १६ ॥

अन्वय—उन्मुखः शिखी घनश्रेणिम् इव, चकोरकः कार्तिकचन्द्रिकाम् इव, रथाङ्गनामा तरणेः त्विषम् इव, इमाम् (मत्कृताम्) स्तवावलीम् वीक्ष्य कः न प्रमोदते ?

अर्थ—जैसे जल बिन्दुओं के लोभ से ऊपर के मुख किये हुए मयूर, वर्षाकालिकी मेघमाला के देखकर आनन्दित होता है, और जैसे चकोर-बालक शरत्काल की चन्द्रप्रभा के देखकर आनन्दित होता है एवं जैसे चक्रवाक पक्षी प्रभात-समय की सूर्य-कान्ति के देखकर आन-

न्दित होता है; वैसे ही इस (मेरी बनाई हुई) 'स्तोत्रावली' को देखकर कौन सहृदय नहीं आनन्दित होगा ?

मधुव्रतः सौमनसीमिव स्रजं
सितच्छदः पङ्कजकर्णिकामिव ।
पिको विकोपामिव चूतमञ्जरी-
मिमां न कश्चर्वयति स्तवावलीम् ॥ १७ ॥

अन्वय—मधुव्रतः (भृङ्गः) सौमनसीम् स्रजम् इव, सितच्छदः (हंसः) पङ्कजकर्णिकाम् इव, पिकः (कोकिलः) विकोपाम् (प्रफुल्लाम्) चूतमञ्जरीम् इव, इमाम् स्तवावलीम् कः न चर्वयति ?

अर्थ—जैसे भ्रमर सुगन्धित पुष्पमाला का समास्वादन करता है, जैसे हंस कमल की कर्णिका को चर्वित करता है, एवं जैसे कोयल प्रफुल्लित आम्र की मञ्जरी को आस्वादित करती है, वैसे ही इस (मेरी बनाई हुई) स्तोत्रावली (स्तुति-कुसुमाञ्जलि) को कौन बुद्धि-मान् नहीं आस्वादित करेगा ?

मनस्विनीनामिव साचि वीक्षितं
स्तनन्धयानामिव मुग्धजल्पितम् ।
अवश्यमासां मधु सूक्तिवीरुधां
मनीषिणां मानसमार्द्रयिष्यति ॥ १८ ॥

अन्वय—मनस्विनीनाम् साचि वीक्षितम् इव, स्तनन्धयानाम् मुग्ध-जल्पितम् इव, आसाम् सूक्तिवीरुधाम् मधु मनीषिणाम् (सहृदयानाम्) मानसम् अवश्यम् आर्द्रयिष्यति ।

अर्थ—जैसे मानवती युवतियों के कुटिल कटाक्ष कामी जनों के चित्त को आर्द्र करते हैं; और जैसे स्तनन्धयों (छोटे-छोटे बालकों) की मुग्ध वाणी लोगों के अन्तःकरण को कोमल कर देती हैं, वैसे ही इन

मेरी स्तुति-सूक्ति रूपी लताओं का सुमधुर मधु भी सहृदयों के अन्तःकरण को अवश्य ही आर्द्र करेगा।

इयं मधुश्रीरिव केलिकाननं
सरोवरं प्रावृडिवातपक्षतम्।
स्तवावली काव्यकुतूहलं सता-
मकालजीर्णं तरुणीकरिष्यति ॥ १९ ॥

अन्वय—अकालजीर्णम् केलिकाननम् मधुश्री (वसन्तलक्ष्मी) इव, आतपक्षतम् सरोवरम् प्रावृट् इव, इयम् स्तवावली अकालजीर्णम् सताम् काव्य-कुतूहलम् (पुनः) तरुणीकरिष्यति (नवं सम्पादयिष्यतीत्यर्थः१)।

अर्थ—जिस प्रकार शीतकाल से जीर्ण हुए क्रीडोद्यान को वसन्त-लक्ष्मी पुनः नवीन कर देती है, और जैसे उष्ण काल से सूखे हुए सरोवर को वर्षा ऋतु फिर नवीन जल से पूर्ण कर देती है, उसी प्रकार यह (मेरी बनाई हुई) स्तोत्रावली भी इस अकाल कलिकाल के प्रभाव से विद्वानों के जीर्ण हुए काव्य-कौतूहल (काव्य-निर्माण की उत्कण्ठा) को पुनः नवीन कर देगी। अर्थात् मेरे इस काव्य को देखकर अन्य कवि लोग भी काव्य बनाने को उत्सुक होंगे।

विमत्सराणां सदसद्विवेकिनां
महात्मनां मूर्ध्नि धृतोऽयमञ्जलिः।
विलोकयन्तु प्रभुगौरवादिमां
प्रसादबुद्ध्या मयि वा स्तवावलीम् ॥ २० ॥

अन्वय—विमत्सराणाम्, सदसद्विवेकिनाम् महात्मनाम् मूर्ध्नि अयम् अञ्जलिः (स्तुतिकुसुमाञ्जलिग्रन्थः) धृतः (समर्पितः) इमाम् (मत्कृताम्)

---

(१) इदं मदीयं काव्यं पराकृष्य, अन्येऽपि कवयस्तद्वत् सुमनसो भविष्यन्तीत्यर्थः।

स्तवावलिम् प्रभुगौरवात् विलोकयन्तु, वा मयि (वराके) प्रसादबुद्ध्या विलोकयंतु ।

अर्थ—मत्सर (ईर्ष्या) से रहित, और सदसद्विवेकी महात्माओं के मस्तक मे यह स्तुति-कुसुमाञ्जलि समर्पित करके उन विद्वानों से यह प्रार्थना करता हूँ कि, आप लोग इस मेरी स्तुति-कुसुमाञ्जलि (ग्रन्थ) को भगवद्भक्ति के गौरव के नाते से देखें, अथवा मुझ दीन पर अनुग्रह-दृष्टि के नाते से देखें ।

स्तवावलीढौकनकार्पणच्छला-
दलभ्यमभ्यर्णचरैः सुरैरपि ।
प्रभोः पदस्पर्शमशङ्कमीप्सतो
विकत्थनत्वेपि न मे विडम्बना ॥ २१ ॥

अन्वय—अभ्यर्णचरैः सुरैः अपि अलभ्यम् प्रभोः पदस्पर्शम् स्तवावलीढौकन-कार्पणच्छलात् अशङ्कम् ईप्सतः मे (मम) विकत्थनत्वे अपि विडम्बना न (अस्ति) ।

अर्थ—जो (भगवच्चरण-कमल का स्पर्श) अत्यन्त-निकटवर्ती इन्द्रादि देवों को भी दुष्प्राप्य है, उस भगवच्चरण-कमल-स्पर्श को इस स्तोत्रावली रूपी उपहार के समर्पण करने के व्याज से निःशंक होकर अवश्य ही प्राप्त करने के लिए उत्सुक हुए मुझ धन्यात्मा को यह (अपनी) श्लाघा करना भी उपहास करने योग्य नहीं है ।

कलिमलमषीकल्माषोऽयं मनोमुकुरः पुरः
स्फुरितमपि न व्यक्तं वस्तु ग्रहीतुमभवत्क्षमः ।
सपदि विशदैः शब्दब्रह्मोर्मिभिर्विमलीकृते
करबदरवत्पश्यामोऽस्मिन् समस्तमिदं जगत् ॥२२॥

अन्वय—(पुरा) कलिमलमषीकल्माषः अयम् मनोमुकुरः पुरः स्फुरितम् अपि व्यक्तम् वस्तु ग्रहीतुम् न क्षमः अभूत्; सपदि (इदानीम्) विशदैः

शब्दब्रह्मोर्मिभिः (श्रीभगवत्स्तुतिरूपैः तरङ्गैः) विमलीकृते अस्मिन् (मनो-मुकुरे) इदम् समस्तम् जगत् करबदरवत् पश्याम. (सर्वं शिवमयं जगदित्या-कलयाम इत्यर्थः) ।

अर्थ—पहले (अर्थात् अज्ञानाऽवस्था में) कलिकाल के मल (पाप) रूपी कज्जल से कलुषित हुआ यह हमारा मन रूपी दर्पण अपने सामने स्पष्ट दीखती हुई वस्तु को भी नहीं ग्रहण करता (समझ सकता) था, किन्तु (सद्भाग्यवशात्) अब इस समय अतीव सुनिर्मल शब्द ब्रह्म रूपी—अर्थात् भगवान् श्रीसदाशिव की स्तुतिरूपी तरङ्गों के द्वारा स्वच्छ किये हुए इस मनरूपी दर्पण में हम इस सारे ही जगत् को 'कर बदर के समान' (हथेली पर रक्खे हुए बेर के समान) स्पष्ट देख रहे हैं ।

[कहने का अभिप्राय यह है कि जब तक हम अज्ञान निद्रा में सोये हुए थे, तब तक हमें प्रत्येक वस्तु भिन्न भिन्न (स्त्री, पुत्रादि) रूप से अनेक तरह की सी प्रतीत होती थी, किन्तु बड़े भाग्यवश भगवत्-कृपा से ज्ञानरूपी अखण्ड प्रकाश के उदय होने के कारण अज्ञान के हट जाने पर अब हमें 'सर्वं शिवमयं जगत्', 'एक ब्रह्म द्वितीयो नास्ति' 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन' की भावना के द्वारा यह सारा ही जगत् एक-रूप अर्थात् अद्वय शिव रूप भास रहा है । अहा, इसी भावना में रँगे हुए महाराजा भर्तृहरिजी के 'हृदय' की भी ठीक यही दशा है । आप कहते हैं कि :—

यदासीदज्ञानं स्मरतिमिर-संस्कारजनितं
तदा दृष्टं नारीमयमिदमशेषं जगदपि ।
इदानीमस्माकं पटुतरविवेकाञ्जनजुषां
समीभूता दृष्टिस्त्रिभुवनमपि ब्रह्म तनुते ॥

अर्थात् जब तक हमारी दृष्टि में काम की वासना द्वारा उत्पन्न हुआ अज्ञान रूप अन्धकार घुसा हुआ था, तब तक हमने सारे ही जगत् को नारीमय (स्त्रीरूप) देखा; किन्तु अहोभाग्यवश (सद्गुरु की कृपा से) जब इस दृष्टि में विवेकरूपी शुद्ध अञ्जन लगा, तब यह हमारी दृष्टि 'समदृष्टि' होकर अब सारे ही त्रैलोक्य को ब्रह्म-मय देख रही है ।]

आनन्दिनि स्तुवति नन्दिनि गूढमर्थं
देवश्चमत्कृतिकृताङ्गुलिभङ्गभङ्गिः ।
अङ्कस्थितां भगवतीमधिरूढहासा-
मासामवश्यमवबोधयति स्तुतीनाम् ॥ २३ ॥

अन्वय—नन्दिनि (द्वारपाले गणाधीशे) आसाम् (मदीयानाम्) स्तुतीनाम् गूढम् अर्थम् (श्रुत्वा) आनन्दिनि (सानन्दे) स्तुवति सति, देवः (शम्भुः) चमत्कृतिकृताङ्गुलिभङ्गभङ्गिः (सन्) अधिरूढहासाम् अङ्कस्थिताम् भगवतीम् (श्रीगिरिजाम्) आसाम् (मदीयानाम्) स्तुतीनाम् गूढम् अर्थम् अवश्यम् अवबोधयति ।

अर्थ—अहा ! जब भगवान् श्री शङ्कर का द्वारपाल (गणाधीश अर्थात् नन्दी) इन मेरी स्तुतियों को आनन्दपूर्वक सुनकर अतीव हर्ष के मारे इनके गूढ़ अर्थ (अभिप्राय) को भगवान् शिव के आगे वर्णन करने लगेगा, तब वह स्वयंप्रकाश परमेश्वर, आश्चर्य से चकित होकर (मुँह पर) अङ्गुलि दबाते हुए, अपने वामाङ्ग में बैठी हुई जगज्जननी भगवती भवानी को इन (मेरी) स्तुतियों का गूढ़ अभिप्राय अवश्य ही सुनायेंगे !

मन्ये मनोवचनकर्मभिरद्भुतानि
यान्यूर्जितानि सुकृतानि पुराकृतानि ।
एतानि तानि शिवभक्तिपवित्रितानि
कर्णामृतानि फलितानि सुभाषितानि ॥ २४ ॥

अन्वय—(अहम्) मन्ये (अस्माभिः) यानि ऊर्जितानि (बहुलानि) अद्भुतानि सुकृतानि मनोवचनकर्मभिः पुरा कृतानि; तानि एतानि शिवभक्तिपविनितानि कर्णामृतानि सुभाषितानि फलितानि ।

अर्थ—मैं समझता हूँ, कि हमने पूर्व जन्म में मन, वचन और कर्म के द्वारा जो अनेकों अद्भुत सुकृत उपार्जित किये हैं, वे ही पुण्य इस जन्म में श्री शिवभक्ति से पवित्र एवं कर्णों में अमृत बरसानेवाले इन 'सुभाषितों' (सुन्दर उक्तियों) के रूप में प्रकट हुए हैं।

एते प्रभोः प्रमथभर्तुरभीष्टमष्टा-
त्रिंशत्स्तवा विमृशतां विदुषां दिशन्तु ।
तेनैव दृक्षु धृतघर्मकरामृतांशु-
सप्तार्चिषामिव कलाः सकलार्थलाभम् ॥ २५ ॥

अन्वय—प्रभोः प्रमथभर्तुः एते अष्टात्रिंशत् स्तवाः, 'तेन एव (प्रभुणा) दृक्षु धृतघर्मकरामृतांशुसप्तार्चिषाम् कलाः इव' विमृशताम् (श्री शिवभक्तिरसामृतमास्वादयताम्) विदुषाम् अभीष्टम् सकलार्थलाभम् दिशन्तु ।

अर्थ—महाप्रभु, नन्दी-भृङ्गी आदि प्रमथगणों के अधिपति भगवान् श्री सदाशिव के ये अड़तीस स्तोत्र,—'उसी प्रभु के तत्तत नेत्रों में विराजित हुए सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि की (अड़तीस*) कलाओं की तरह' श्रीशिव-भक्तिरूपी रसायन का समास्वादन करनेवाले सहृदयों को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूपी चारों अभीष्ट पदार्थ प्रदान करें ।

[अब कवि एक श्लोक द्वारा सहृदय जनों के हृदय को परमानन्द-दायक निज रचित ग्रन्थ का महिमा-गान करते हुए इस ग्रन्थ का 'नामकरण' (अर्थात् इस ग्रन्थ का नाम अभिव्यक्त) करते हैं—]

---

* सूर्य की द्वादश कला, चन्द्रमा की षोडश (१६) कला, और अग्नि की १० कला, इन सब को मिला कर ३८ कलाएँ होती हैं ।

अयमिह किङ्करेण रचितश्चरणाम्बुजयोः
'स्तुतिकुसुमाञ्जलि'-र्भगवतस्तरुणेन्दुभृतः ।
अविरलभक्तिसिक्तनवसूक्तिलताऽवचितः
कलयतु सौरभेण सुकृतां स्पृहयालु मनः ॥ २६ ॥

अन्वय—इह, (मया) किङ्करेण भगवत. तरुणेन्दुभृत. चरणाम्बुजयो रचित., अविरलभक्तिसिक्तनवसूक्तिलताऽवचित. अयम् 'स्तुतिकुसुमाञ्जलिः' सौरभेण (परमानन्ददायिना परिमलेन) सुकृताम् मनः स्पृहयालु कलयतु ।

अर्थ—श्री सरस्वती माता की सहायता से मुझ (जगद्धर भट्ट नामक) सेवक ने—अतिगाढ़ भक्ति-सुधारस से सींची हुई नवीन सूक्तिरूपी लताओं से चुन-चुनकर संगृहीत करके 'श्री शशिशेखर भगवान सदाशिव' के चरणाम्बुजों में समर्पण किया हुआ यह 'स्तुति-कुसुमाञ्जलि' (स्तुतिरूपी कुसुमों की अञ्जलि) अपने उत्कट-सौरभ (सुमनोहर सुगन्ध) से सहृदयों के मन को सुख करे ।

[कवि इस अपने 'स्तुतिकुसुमाञ्जलि' ग्रन्थ को प्रभु-चरणाम्बुज में समर्पण करने के लिए प्रभु के गणों के नायकों से प्रार्थना करते हैं.—]

अयि प्रमथनायक त्रिजगतामधिष्ठायक
प्रमथमुख षण्मुख त्रिदशवन्द्य नन्दीश्वर ।
निवेदयत भक्तिलश्वरणकिङ्करेणार्पितं
पुरः पुररिपोरिमं विकचवाक्यपुष्पाञ्जलिम् ॥२७॥

अन्वय—अयि त्रिजगताम् अधिष्ठायक ! हे प्रमथनायक ! अयि प्रमथमुख ! हे षण्मुख ! अयि त्रिदशवन्द्य ! हे नन्दीश्वर ! ([illegible])

(१) [illegible] ।

चरणविद्वरेण (मया, जगद्धरकविना) भक्तितः अर्पितम्, इमम् विकच-वाक्यपुष्पाञ्जलिम् पुरतो पुरः निवेदयत।

अर्थ—अयि त्रैलोक्यनायक गणनाथ! (गणपते!), अयि प्रसन्न मुखवाले स्वामिकार्तिकेय! तथा हे सुरवरवन्द्य नन्दीश्वर! आप लोग मुझ दीन पर कृपा कीजिए और इस सेवक (जगद्धर भट्ट कवि) ने श्रद्धा-भक्तिपूर्वक प्रभु के आगे समर्पित की हुई विमित-वाक्य (स्तुति) रूपी पुष्पों की अञ्जलि (स्तुतिकुसुमाञ्जलि) को प्रेम-पूर्वक प्रभु (श्री सदाशिव) के आगे निवेदित (समर्पित) कर दीजिए।

इति परिषदि सिंहस्यन्दन-स्कन्द-नन्दि-
प्रभृतिभिरभिराद्धैर्वन्द्यमावेद्यमानम् ।
स्तुतिकुसुमसमूहं प्राभृतीकृत्य शंभो-
र्यदमलमुपलब्धं शर्म तेनेदमस्तु ॥ २८ ॥

भुवि भुवि कुविकल्पः स्वल्पतामेतु जेतुं
धुरि धुरि दुरितौघं वर्द्धतां शुद्धबोधः ।
पथि पथि मथितोग्रव्यापदापन्नतापा
नरि नरि परिपूर्णा जृम्भतां शम्भुभक्तिः ॥ २९ ॥

अन्वय—इति (पूर्वोक्तप्रकारेण) परिषदि अभिराद्धैः सिंहस्यन्दन-स्कन्द-नन्दिप्रभृतिभिः वन्द्यम् (प्रशस्यम्) आवेद्यमानम् (इमम्) स्तुति-कुसुमसमूहम् शम्भोः प्राभृतीकृत्य (उपायनीकृत्य) यत् अमलम् शर्म (मया) उपलब्धम्, तेन (शर्मणा) इदम् (भुविभुवीत्यादि वक्ष्यमाणम्) अस्तु; कुविकल्प भुविभुवि (देशेदेशे) स्वल्पताम् एतु; तथा शुद्धबोधः दुरितौघम् जेतुम् धुरि धुरि वर्धताम् (अग्रे अग्रे वृद्धि लभताम्) पथि पथि (प्रतिमार्गम्) मथितोग्रव्यापदापन्नतापा, परिपूर्णा शम्भुभक्तिः नरि नरि जृम्भताम्।

अर्थ—इस प्रकार गणनायक श्रीगणेशजी की सभा में विनीत प्रार्थना (अथवा पूजनादि) द्वारा आराधित (प्रसन्न) किये हुए श्री

गणेश, स्वामी कार्त्तिकेय, नन्दीश्वर, महाकाल आदि गण-नायकों से प्रशंसनीय एवं वर्णित किये जाते हुए इस 'स्तुतिकुसुमाञ्जलि' को श्री सदाशिव के चरणाम्बुज में उपहार देकर मैंने जो विशुद्ध कल्याण (अति सुनिर्मल पुण्य) प्राप्त किया है, उस पुण्य से कुमार्गगामी नास्तिकों का कुतर्क देश-देश में (अर्थात् सर्वत्र ही) क्षीण होता जाय, तथा—विशुद्ध ज्ञान का प्रकाश सकल पापों का नाश करने के लिए निरन्तर वृद्धि को प्राप्त हो। और सर्वत्र जन्म, जरा, मरण के दुःखों में डूबे हुए अनाथ-जनों के पाप-तापों को दूर करनेवाली भगवान् शङ्कर की अखण्ड भक्ति मनुष्य मात्र के (अर्थात् सभी पुरुषों के) हृदय में जागृत हो जाय।

इति शुभं भगवच्चरितस्तुति-
　　व्यतिकरेण यदर्जितमूर्जितम्।
भवतु तेन मनस्यनपायिनी
　　सुकृतिनां शिवभक्तिचमत्कृतिः॥ ३०॥

अन्वय—इति, भगवच्चरितस्तुतिव्यतिकरेण, (मया) यत् ऊर्जितम् (महत्सुकृतम्) अर्जितम्, तेन सुकृतिनाम् मनसि अनपायिनी शिवभक्तिचमत्कृतिः भवतु।

अर्थ—इस प्रकार श्री भगवान् शङ्कर की स्तुति के सम्बन्ध से मैंने जो महान् (अखण्ड) पुण्य उपार्जन किया है, उस पुण्य के प्रताप से पुण्यात्मा लोगों के अन्तःकरण में शिव-भक्ति का अविनाशी (निश्चल) चमत्कार उदय हो।

इति श्रीप्रेममकरन्दसमेते काश्मीरकमहाकविश्रीमज्जगद्धरभट्ट-
विरचिते भगवतो महेश्वरस्य स्तुतिकुसुमाञ्जलौ
'पुण्यपरिणाम स्तोत्र'मष्टात्रिंशम्

———

ग्रन्थकर्तुर्वंशवर्णनम्

अब यहाँ से ग्रन्थकार कुछ श्लोकों द्वारा अपने वंश का वर्णन करते हैं :—

पुरा पुरारेः पदधूलिधूसरः
सरस्वतीस्वैरविहारभूरभूत् ।
विशालवंशश्रुतवृत्तविश्रुतो
विपश्चितां 'गौरधरः' किलाऽग्रणीः ॥ १ ॥

अन्वय—पुरा किल, पुरारे पदधूलिधूसर, विशालवंशश्रुतवृत्तविश्रुतः, विपश्चिताम् अग्रणीः 'गौरधर' (तन्नामक.) सरस्वतीस्वैरविहारभूः[1] अभूत् ।

अर्थ—पूर्व काल में भगवान् श्री शङ्कर के चरणाम्बुज की रज से धूसर (स्वच्छ) अर्थात् श्री शिव के परमभक्त तथा भारद्वाजगोत्रीय, एवं सबल शास्त्रपारगत, और सदाचार से सम्पन्न, विद्वज्जनो में अग्रगण्य श्री 'गौरधर' भट्ट नामक ऐसे विख्यात कवि हुए, जिन्हें भगवती सरस्वती ने साक्षात् अपने 'स्वेच्छा विहार का स्थल' बनाया।

अमादनिर्माय पुरातनः कवि-
र्यमग्निमश्लोकमवश्यमग्रतः ।
विमृश्य पद्‌क्तेरुपरि द्विजन्मनां
न्यवीविशत्काकपदाङ्कितं पुनः ॥ २ ॥

---

(१) आरोपित योजना ।

अन्वय—पुरातनः कविः (ब्रह्मा) यम् अग्रिमश्लोकम् (अग्र्यय-शसम्) भ्रमात्* अवश्यम् अग्रत. (सर्वब्राह्मणजातेः आदावेव) अनिर्माय, पुनः विमृश्य (विचार्य) द्विजन्मनाम् पङ्क्तेः उपरि काकपदाङ्कितम्¹ पुनः न्यवीविशत् ।

अर्थ—जिस अग्रिमश्लोक—महायशस्वी (गौरधर) को पुरातन कवि—श्री ब्रह्मा ने अवश्य भ्रम के कारण सृष्टि के आरम्भ में न रच कर जब पुनः विचार किया, तब फिर (अपने) भ्रम के चिह्न से अङ्कित करके (अर्थात् भूल का चिह्न लगा कर) उन्हें सम्पूर्ण वर्णों (द्विजातियों) के ऊपर बिठलाया [जैसे कि कोई कवि अवश्य आदि में लिखने योग्य श्लोक को भूल के कारण पहले न लिख कर पुनः विचार करके सब वर्णों (अक्षरों) की पङ्क्ति के ऊपर अपना भ्रम-सूचक चिह्न देकर वहाँ उस श्लोक को लिख देता है] ।

अनन्तसिद्धान्तयथान्तगामिनः
समस्तशास्त्रार्णवपारदृश्वनः ।
ऋजुर्यजुर्वेदपदार्थवर्णना
व्यनक्ति यस्याऽद्भुतविश्रुतं श्रुतम् ॥ ३ ॥

अन्वय—अनन्तसिद्धान्तयथान्तगामिनः, समस्तशास्त्रार्णवपारदृश्वनः (यस्य) ऋजुः (निर्मला, निर्दोषा च) यजुर्वेदपदार्थवर्णना (यजुर्वेदस्य, वेदविलासनाम्नी भाष्यपद्धतिः) यस्य अद्भुतविश्रुतम् श्रुतम् व्यनक्ति ।

अर्थ—जिस—सम्पूर्ण सिद्धान्तों के यथार्थ रहस्य को जानने-वाले, एवं सकल शास्त्रों के पारङ्गत, महान् शक्तिशाली (गौरधर)—का

---

* भ्रमेण, सृष्ट्यानुपस्थितत्वात् ।

(१) काकपदेन भ्रमचिह्नेन चिह्नितगात्रम्, यथा कश्चित् कविः प्रथमं आदावेव लेख्यं पद्यमलिखित्वा पुनः वर्णानाम् (अक्षराणाम्) पङ्क्तेः उपरि काकपदं निजभ्रमसूचकं चिह्नं लिखति, तथेत्यर्थः ।

बनाया हुआ यजुर्वेद का 'वेदविलास' नामक भाष्य जिसके अद्भुत, प्रकाण्ड-पाण्डित्य को प्रकट करता है,

सुतोऽभवद्रत्नधरः शिरोमणि-
मंनीषिणामस्य गुणौघसागरः।
यमाश्रिताह्वास्त सरस्वती हरे-
रुरःस्थलं रत्नधर श्रितां श्रियम् ॥ ४ ॥

अन्वय—अस्य (गौरधरस्य) सुत मनीषिणाम् शिरोमणि, गुणौघसागर 'रत्नधर' (रत्नधरनामक) स अभवत्, यम् (रत्नधरम्) आश्रिता सरस्वती, रत्नधरम् (कौस्तुभधारिणम्) हरे उर स्थलम् श्रिताम् श्रियम् आह्वास्त (पस्पर्धे)।

अर्थ—उस गौरधर के सुपुत्र श्रीमान् 'रत्नधर' जी कवि, ऐसे विद्वज्जन शिरोमणि और दयादाक्षिण्यादि गुणगणों के सागर हुए कि जिसके आश्रित होकर सरस्वती (वाग्देवता) ने कौस्तुभरत्नधारी श्री विष्णु भगवान् के विशाल वक्ष स्थल में विहार करनेवाली महालक्ष्मी के साथ स्पर्धा (ईर्ष्या) की।

उदारसत्त्व विपुलं सुनिर्मल
प्ररूढमर्यादमगाधमाशयम्।
प्रविश्य यस्य स्ववशा सरस्वती
पद बबन्ध स्थिरमम्बुधेरिव ॥ ५ ॥

अन्वय—यस्य (रत्नधरस्य) उदारसत्त्वम् (प्रचुरधैर्यम्), विपुलम् सुनिर्मलम् प्ररूढमर्यादम्, अगाधम् आशयम् (मानसम्) प्रविश्य स्ववश 'सरस्वती' 'उदारसत्वम्' (महामकरादियुक्तम्) विपुलम्, सुनिर्मलम् प्ररूढमर्यादम्, अगाधम् अम्बुधे आशयम् प्रविश्य स्ववशा (सुष्ठु अवशा सरस्वती (नदी) इव स्थिरम् पदम् बबन्ध, (तत्रैव स्थानमकरादित्यर्थ)।

अर्थ—जिस 'रत्नधर' के महाधैर्यशाली, विशाल, सुनिर्मल, मर्यादा में स्थित हुए गंभीर अन्तःकरण में प्रवेश करके भगवती सरस्वती ने उसको इस प्रकार अपना स्थिर आसन बना लिया कि, जैसे सरस्वती नदी महाबलवान् जल-जन्तुओं से युक्त, अति विस्तीर्ण, निर्मल और अपनी मर्यादा में सुस्थित अगाध समुद्र में प्रविष्ट होकर पराधीन होकर उसे अपना स्थिर आसन बना लेती है अर्थात् वहीं पर स्थित हो जाती है;

कपोलदोलायितकर्णभूषणं
　　तरङ्गितभ्रूयुगभंगुरालिकम् ।
सचेतसामर्धनिमीलितेक्षणं
　　क्षणं वितन्वन्ति मुखं यदुक्तयः ॥ ६ ॥

अन्वय—यदुक्तयः सचेतसाम् (सहृदयानाम्) मुखम्, क्षणम् कपोलदोलायितकर्णभूषणम्, तरङ्गितभ्रूयुगभङ्गुरालिकम्, अर्धनिमीलितेक्षणम् वितन्वन्ति ।

अर्थ—और जिस (रत्नधर) की प्रौढ उक्तियाँ सहृदयजनों के मुख को क्षण भर (आश्चर्य की उमगों से) कपोलों पर हिलते हुए कर्ण-भूषणोंवाला, ऊपर को उठाई हुई भ्रुकुटियों के द्वारा कुटिल ललाटवाला, तथा अद्भुत रसास्वाद से अर्ध निमीलित नेत्रोंवाला बना देती हैं !

अथाऽस्य धीमानुदपादि वादिनां
　　वितीर्णमुद्रो वदनेष्वनेकशः ।
उदारसंस्कारसुसारभारती-
　　पवित्रवक्त्राम्बुरुहो 'जगद्धरः' ॥ ७ ॥

अन्वय—अथ, अस्य (रत्नधरस्य सुतः) 'जगद्धरः' धीमान् अनेकशः वादिनाम् मुखेषु वितीर्णमुद्रः उदारसंस्कारसुसारभारतीपवित्रवक्त्राम्बुरुहः अभवत् ।

अर्थ—तदनन्तर, उस रत्नधर का पुत्र यह (मैं) 'जगद्धर भट्ट' कवि हुआ; जिसने कि वादियों के मुखों पर अनेकों बार मौन-मुद्रा प्रदान की, और जिसका मुखारविन्द सकल शास्त्रों के संस्कारों से गर्भित सुमनोहर भारती (सरस्वती) के वैभव द्वारा अतीव सुपवित्र हुआ है।

अपि स्थवीयःस्वकृतस्थिरस्थितिः
कुशाग्रतीक्ष्णामधिरुह्य यन्मतिम् ।
अहो बत स्वैरविहारलीलया
पदं न्यधादस्खलितं सरस्वती ॥ ८ ॥

अन्वय—अहो ! बत ! स्थवीयःसु (स्थूलमतिषु) अपि अकृतस्थिर-स्थितिः सरस्वती, कुशाग्रतीक्ष्णाम् (अपि) यन्मतिम् अधिरुह्य, स्वैरविहार-लीलया अस्खलितम् पदम् न्यधात् । *

अर्थ—अहो ! जो (सरस्वती) अत्यन्त स्थूल बुद्धियों में भी निश्चल (स्थिर) नहीं रह सकती, उस सरस्वती ने जिस (मुझ जगद्धर) की कुशाग्र-बुद्धि (अर्थात् अत्यन्त सूक्ष्म बुद्धि) को अपने अचल स्वेच्छा-विहार करने का स्थल बनाया ;

निर्मत्सरः सहृदयः श्रुतपारदृश्वा
विश्वातिशायिविनयः प्रियवाक् सुशीलः ।
किं वाऽपरं कविगिरां सदसद्विचार-
चातुर्यधुर्यधिषणः शरणं य एकः ॥ ९ ॥

अन्वय—निर्मत्सरः सहृदयः श्रुतपारदृश्वा विश्वातिशायिविनयः प्रिय-वाक् सुशीलः, किंवा अपरम् (साधु वाक्य, ब्रूमः) सदसद्विचारचातुर्यधुर्य-धिषणः यः एकः कविगिराम् शरणम् (आसीत्) ।

---

* सूक्ष्मे हि वस्तुनि चरणवितरणमत्यद्भुतम् !

अर्थ—और जो (जगद्धर) अतीव-विमत्सर, शत्रुओं और मित्रों में समान दृष्टि रखनेवाला, सहृदय, सम्पूर्ण-शास्त्रों का पारङ्गत, संसार भर में सबसे अधिक विनयशाली, अतीव सुमधुर बोलनेवाला और सुशील अथवा अब इससे और अधिक (साधुवाद) क्या कहें कि जो सत् और असत् वस्तु के विचार के चातुर्य में सब से अधिक तीव्र बुद्धि, और सकल कवि जनों की प्रौढ़ उक्तियों का केवल एक ही शरण (आश्रय) था ;

तेनादृतेन शिशुनैव निवेद्यमान-
मानन्दकन्दलितभक्तिकुतूहलेन ।
एतं मृगाङ्ककलिकाकलितावतंस-
शंसारसायनरसं रसयन्तु सन्तः ॥ १० ॥

अन्वय—तेन (जगद्धरकविना) शिशुना एव, आदृतेन आनन्दकन्दलितभक्तिकुतूहलेन, निवेद्यमानम् (प्राभृतीकृतम्) एतम् मृगाङ्ककलिकाकलितावतसशंसारसायनरसम् सन्तः रसयन्तु (आस्वादयन्तु) ।

अर्थ—उस जगद्धर कवि के बाल्यावस्था से ही अत्यन्त आदरपूर्वक, परमानन्द से गर्भित गाढ़ भक्ति के कौतूहल से निवेदन किये जाते (अर्थात् उपहार रूप में दिये जाते हुए) इस 'श्री सदाशिव की प्रशंसारूपी' रसायन को सहृदय लोग समास्वादन करें ।

गृह्णन्तु कंचन विशेषमशेषमस्मा-
दस्माकमासवचनाः[१] ववचनाऽन्तरज्ञाः ।
छिन्दन्ति पल्वलजलाकुशला विशाल-
शैवालजालकलिलात्कमलौघमेव ॥ ११ ॥

---

(१) आप्तवचनाः, इत्यपि पाठः ।

अन्वय—अस्माकम् आत्तवचना अन्तरज्ञाः अस्मात् (सन्दर्भात्) अशेषम् कवन विशेषम् गृह्णन्तु (दृष्टान्तात्) कुशलाः विशालशैवालजाल-कलिलात् पल्वलजलात् कमलौघम् एव चिन्वन्ति ।

अर्थ—हमारे वचनों को ग्रहण करनेवाले, सत् असत् के अन्तर (विशेषता) को जाननेवाले सहृदय लोग, इस सन्दर्भ (हमारे रचे हुए काव्य) में से किसी विशेष (सारभूत) तत्त्व को अवश्य ग्रहण करें। क्योंकि चतुर लोग अत्यन्त विस्तृत शैवाल (सेवार) से छाये हुए तडागोदक में से प्राय कमलों को ही ग्रहण करते हैं।

यद्यप्यासामनलसरसस्फारसार न किंचि-
द्वाचामन्तर्विरचितचमत्कारमस्त्यर्थतत्त्वम् ।
तत्राऽप्येतास्त्रिभुवनगुरुस्तोत्रमैत्रीपवित्राः
कर्णाभ्यर्णाभरणसरणिं नेतुमर्हन्ति सन्तः ॥१२॥

अन्वय—यद्यपि, आसाम् (मदीयवाचाम्) अनलसरसस्फारसारम् तथा अन्त विरचितचमत्कारम् अर्थतत्त्वम् (लक्ष्यव्यङ्ग्यद्योत्यपरमार्थतत्त्वम्) किञ्चित् न अस्ति। तत्रापि, त्रिभुवनगुरुस्तोत्रमैत्रीपवित्रा एता (मदीया वाच) कर्णाभ्यर्णाभरणसरणिम् नेतुम् सन्त अर्हन्ति ।

अर्थ—हाँ, यद्यपि इन मेरे वचनों में अमन्द आनन्ददायक (गाढ) रस से गर्भित ऐसा कोई परमार्थ तत्त्व नहीं भरा है, जो कि लोगों के मन में अतीव चमत्कार प्रकट कर सके, तथापि—त्रैलोक्यगुरु, भगवान् सदाशिव की स्तुतियों के सम्बन्ध द्वारा अत्यन्त पवित्र हुए इन 'मेरे वचनों' को सज्जन लोग अपने कर्णों के आभूषण बना सकते हैं। अत —

प्रेमाण मणिकर्णिका प्रति सुधा मन्दीकुरुध्व मतिं
मुक्तादामनि मा कृत स्पृशत मा ताम्बूलहेवाकिताम् ।

भूपार्थं प्रभवन्ति कर्णपुलिने कण्ठे मुखाम्भोरुहे
देवस्य स्मरशासनस्य यदिमाः स्तोत्रावलीसूक्तयः ॥१३॥

अन्वय—अयि बुधाः (यूयम्) मणिकर्णिकाम्[१] प्रति प्रेमाणम् मन्दीकुरुध्वम् । मुक्तादामनि मतिम् मा कुरुत, ताम्बूलहेवाकिताम् (च) मा स्पृशत । यत् (यस्मात्) इमाः स्मरशासनस्य देवस्य (श्री शंभोः) स्तोत्रावलीसूक्तयः भवताम् कर्णपुलिने, कण्ठे, मुखाम्भोरुहे (च) भूपार्थम् प्रभवन्ति ।

अर्थ—अयि विद्वज्जनो ! अब आप लोग मणिमय कर्णभूषण पर अधिक प्रेम न करें और सुमनोहर मुक्ताहार की भी इच्छा न करें एवं सुगन्धित ताम्बूल के चर्वण करने की भी आदत छोड़ दें । क्योंकि मेरी बनाई हुई 'श्रीशङ्कर' की स्तोत्रावली की ये मनोहर सूक्तियाँ आप लोगों के कर्ण, कण्ठस्थल एवं मुखकमल को सुशोभित करने के लिए पर्याप्त हैं ।

[कवि ने इस स्तुतिकुसुमाञ्जलि ग्रन्थ में कुल जितने पद्य (श्लोक) रचे हैं, उन सब को एकत्रित (जोड़) कर 'शब्दश्लेषाऽलङ्कार' के वैचित्र्य से वर्णन करते हुए कहा—]

निक्षिप्तं शतसप्तकेन सहितं पादायुतार्धं मया
निर्हिंसे गुणिनि द्विजेन्द्रमुकुटे धर्मैकधाम्नीश्वरे ।
मायेण क्लिशितस्य दीनवचसः क्ष्माक्षिप्तमूर्ध्नोऽपि मे
पादं नैकमयं प्रयच्छति विधौ वक्रे करोम्यत्र किम् ॥१४॥

अन्वय—मया (सुवर्णानाम्[२] वृत्तानाम्) पादायुतार्धम्, शतसप्तकेन सहितम्, (अर्थात् ५७०० सङ्ख्यापरिमितम्) निर्हिंसे, गुणिनि, द्विजेन्द्रमुकुटे,

(१) मणिमयी चासौ कर्णिका = कर्णाभरणं तां प्रति ।

(२) अत्र "सुवर्णानां वृत्तानां पादायुतार्धम्" इति वक्तव्ये 'सुवर्णानां वृत्ताना'मिति हीनपदत्वेऽपि शतस्यासु भक्तिविषये न दोषः ।

धर्मैकधाम्नि, ईश्वरे निहितम् किन्तु (इदानीम्) प्रायेण खिशितस्य, दीनवचसः (देहि स्वामिनिति दीनवचसोऽपि) तथा दमाक्षिप्तमूर्ध्नः अपि मे, एकम् पादम् अयम् (ईश्वरः) न प्रयच्छति ! विधौ वक्रे (सति) अत्र (अहं वराकः) किम् करोमि ?

आपाततः प्रतीयमान अर्थ—मैंने सुवर्ण-रूपों के ५७०० पाद (चतुर्था श) अर्थात् १४२५ अशर्फियाँ अतीव सयमी, दया-दाक्षिण्यादि गुणो से सम्पन्न, ब्राह्मण-शिरोमणि, महा धर्मात्मा एव अत्यन्त वैभवशाली [अर्थात् बहुत धन्याढ्य, जो कि निक्षेप्तव्य वस्तु (धरोहर) को अच्छे प्रकार रक्षित कर सके ऐसे] प्रभु (समर्थ पुरुष) को (रखने के लिए) निक्षेप (धरोहर) रूप मे दिया था, किन्तु इस समय अत्यन्त दुःखित हुए (अकिञ्चनता को प्राप्त हुए) और 'हे स्वामिन्! मेरी धरोहर मुझे दे दीजिए!' इस प्रकार दीनता से चिल्लाने पर, एव अनेकों वार पृथ्वी पर मस्तक पटकने पर भी, मुझ बेचारे को यह (प्रभु) उसमें से अब एक भी पाद (अर्थात् एक भी अशर्फी) नहीं देते। हाय ! हाय ! मेरा भाग्य ऐसा प्रतिकूल हुआ, अब मैं क्या करूँ ?

वास्तविक अर्थ—मैंने इस स्तुतिकुसुमाञ्जलि ग्रन्थ (के ३८ स्तोत्रों) मे सुन्दर वर्णों (अर्थात् वर्णनीय रस के अनुरूप अक्षरों) वाले श्लोकों के ५७०० पाद (चरण) अर्थात् १४२५ श्लोक रच कर उन्हें माया के आवरण से शून्य, अणिमा आदि अष्ट सिद्धियों से सम्पन्न, मस्तक पर शशिकला से शोभायमान, वृषभवाहन भगवान् सदाशिव के चरणों में अर्पण किया। किन्तु इस समय अत्यन्त दुःखित हो, और 'हे प्रभो ! हे नाथ ! मुझ अनाथ पर कृपा करो' इस प्रकार अत्यन्त करुणाजनक विलाप करने पर, एव अनेकों वार मस्तक को धरती पर पटक पटक कर रोदन करने पर भी (अब) मुझ अनाथ को वह प्रभु (अपना) एक पाद भी नहीं देते। अर्थात् प्रभु एक वार भी अपने पाद-पद्म को मेरे मस्तक पर नहीं रखते। हा ! प्रभु ने उस चन्द्रकला से यह

कुटिलता सीख ली है ! हाय, यह सब मेरे ही दुर्भाग्य की महिमा है अतः क्या किया जाय ?

कारंकारमकारि वारितशमैरक्षैररक्षैरिदं
निघ्नं विघ्नितशम्भुसेवनसुखाभोगोपभोगं मनः ।
किन्तु क्वापि कदापि काऽपि पतिता सा साधुदृष्टिर्यतः
मासः सूक्तिवपुर्जितोर्जितसुधास्वादः प्रसादः प्रभोः ॥१५॥

अन्वय—वारितशमैः अरक्षैः (दस्युप्रायैः) अक्षैः, इदम् (मम) मनः निघ्नम् (परवशं सत्) विघ्नितशम्भुसेवनसुखाभोगोपभोगम् कारङ्कारम् (वैनःपुन्येन) अकारि; किन्तु, (सद्भाग्यवशेन) क्वाऽपि, कदापि (कुत्रचित्काले) काऽपि (अनिर्वाच्या) सा साधुदृष्टिः (मयि) पतिता; यतः (मयाऽयम्) सूक्तिवपुः जितोर्जितसुधास्वादः, प्रभोः प्रसादः प्राप्तः ।

अर्थ—परम-शान्ति को नष्ट करनेवाले, एवं दस्युप्राय (चोर के तुल्य) इन दुष्ट इन्द्रियों ने मेरे मन को परवश (विषयों के अधीन) करके, मुझे भगवद्भक्ति-सुधा के समास्वादन के आनन्द से बार-बार वञ्चित किया। किन्तु भाग्यवश पुण्य के उदय होने पर कहीं, किसी शुभ अवसर पर, किसी परम दयालु सद्गुरु की मुझ पर कोई अद्भुत (अनिर्वचनीय) कृपा-दृष्टि हुई, जिसके प्रसाद से कि मुझे अति गाढ सुधा के आस्वादन को (भी) फीका कर देनेवाला यह 'सूक्ति-सुधा'रूपी भगवत्प्रसाद प्राप्त हुआ।

[अब ग्रन्थकार निज ग्रन्थ की परिसमाप्ति में अपनी सरस्वती को कृतकृत्य समझकर उसे धन्यवाद देते हैं—]

यत्सत्यं सदसद्विवेकविकलग्रामीणकग्रामणी-
मिथ्यास्तोत्रपरा पराभवभुवं नीतासि भीतास्यतः ।
मातः कातरतां विमुञ्च यदसौ सौभाग्यभाग्यावधिः
सञ्जातो जगदेकनाथनुतिभिर्वाग्देवि ते विभ्रमः ॥ १६ ॥

अन्वय—हे मातः ! हे सरस्वति ! यत्, (अस्मादृशैः मन्दमतिभिः) सदसद्विवेकविकलग्रामीणकग्रामणीमिथ्यास्तोत्रपरा, पराभवभुवम् नीता असि, अतः भीता असि, एतत् सत्यम् किन्तु हे मातः ! (इदानीम्, पुनः) ताम् कातरताम् विमुञ्च, यत् जगदेकनाथनुतिभिः असौ ते सौभाग्य-भाग्यावधिः विभ्रमः (महानानन्दोल्लासः) सञ्जातः ।

अर्थ—अयि माँ, सरस्वति ! अयि वाग्देवि ! हमारे सरीखे मन्दमतियों ने जो तुम्हें, कतिपय ग्रामों का आधिपत्य पाकर नृपाभिमानी बने हुए महान् अविवेकी क्षुद्र-नृपों की मिथ्यास्तुति द्वारा, अतीव लज्जित कर दिया है, इसी से आप भयभीत हुई हो, यह बात सत्य है। किन्तु, अयि माँ ! अब तो आप उस कातरता को छोड़ दीजिए ! क्योंकि अब तो आपको अनन्तकोटिब्रह्माण्डाधीश, महाराजाधिराज, भगवान् श्री भवानीनाथ की स्तुतियों द्वारा अखण्ड सौभाग्य और भाग्य की पराकाष्ठा का 'अक्षय-आनन्द' प्राप्त हुआ है !

इति श्रीमज्जगद्धरभट्टकविवरावलीविवरणम्

---

(१)

यत्रायं सत्कविभारतीपरिणतस्फारोल्लसद्वाग्भरः
यत्राऽऽधिव्याधिशताकुलोऽतिविफलप्रज्ञोऽहमेतादृशः।
इत्थं सन्नपि भक्तिमान् पुनरहं केनाऽपि दिग्वाससा
कारुण्यामृतसागरेण हृदये संप्रेर्यमाणोऽभवम् ॥

(२)

तस्मात्संकलितो 'जगद्धरकवि-स्तोत्रप्रसूनाऽञ्जलि-
व्याख्याडम्बर' एष यः सुमनसामामोदमाधास्यति ।
तेनाऽनेन विमुग्धबालरचनातुल्येन यत्नेन मे
प्रीतः स्याद्भयभीतिभञ्जनपटुः "श्री पाणिगात्री" गुरुः ॥

(३)

यत्कीर्तिस्तिलकायते त्रिभुवने तापत्रयोन्मूलिनी
यद्वाग्यामृतजीवनी जनयति स्वान्ते सतां कौतुकम् ।
यत्पादाब्जरजःप्रसादकणतः कैवल्यमापद्यते
सोऽयं 'कोपि महेश्वरो' विजयते "श्रीपाणिपात्रो" गुरुः ॥

(४)

वाराणसीपुरपते ! भगवन्ननाथ-
नाथ !! त्वदीयपुरतो विनिवेदयामि ।
स्वैरेव दुष्कृतशतैः पतितोऽपि बालः
कारुण्यपूर्णनयनेन निरीक्षणीयः ॥

(५)

विद्यागुणविहीनेऽपि वात्सल्यमुररीकृतम् ।
मयि येन स शं कुर्यात् 'कोपि देवः' कृपापरः ॥

श्रीमदष्टोत्तरसहस्र (१००८) श्रीसंगलित-प्रातःस्मरणीय पूज्यपाद-
श्रीमत्परमहंस-परिव्राजकाचार्य "श्री श्रीहरिहरानन्द सरस्वती"-
(श्रीकरपात्री जी महाराज)भगवत्पादकिंकरेण, त्रिपाठ्युपाह्व-
प्रेम वल्लभशर्मणा कृतया 'प्रेम मकरन्द'-नाम्न्या टीकया
समेतः काश्मीरक-महाकवि "श्रीमज्जगद्धर-
भट्ट"-विरचितः 'स्तुतिकुसुमाञ्जलिः'
समाप्तः ।